राजनीति-विज्ञान के मूल सिद्धांत

लेखक

नवीन नारायण अग्रवाल

एम० ए०, पी० एच० डी०,

अध्यक्ष, राजनीति विभाग,

हिन्दू कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की मानक ग्रंथ योजना

अंतर्गत हिंदी माध्यम मंडल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली द्वारा प्रकाशित

S.N.Shah

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ को शिक्षा के माध्यम के रूप मे अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमे उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रथ अधिक से अधिक सख्या मे तैयार किए जाएं। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ मे सौंपा है और उसने इसे बडे पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अतर्गत अग्रेजी और अन्य भाषाओ के प्रामाणिक ग्रथो का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारो, विश्वविद्यालयो तथा प्रकाशको की सहायता से प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वय अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमे इस योजना मे सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नए साहित्य मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा सस्थाओ मे एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

"राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धात" नामक पुस्तक हिन्दी माध्यम मण्डल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक डा० नवीन नारायण अग्रवाल हैं। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रथो के प्रकाशन सम्बधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों मे स्वागत किया जाएगा।

भारत सरकार
शिक्षा मत्रालय,
नई दिल्ली

विश्वनाथ प्रसाद
अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

प्राक्कथन

सभी शिक्षा शास्त्री इस मत म एकमत हैं कि कोई भी विदेशी भाषा किसी देश की शिक्षा का माध्यम सदा के लिए नहीं हो सकती । अपनी मातृभाषा द्वारा ही विद्यार्थी अधिक सरलता से शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए अनेक विश्वविद्यालयों ने क्षेत्रीय भाषाओं द्वारा शीघ्रतर उच्च शिक्षा देने का निश्चय किया। हिन्दी को हमारे सविधान मे विशेष स्थान दिया गया है। दिल्ली क्षेत्र की भाषा हिन्दी है और बी० ए० मे अनलपाश विद्यार्थी समाजशास्त्र सम्बधी विषयो की परीक्षा मे अपने उत्तर हिन्दी भाषा के माध्यम से ही देते हैं। यह सुविधा कई वर्ष पूर्व दी गई थी, परतु उस समय शिक्षा का माध्यम नही बदला गया था। कुछ समय पश्चात् दिल्ली विश्वविद्यालय ने यह निश्चय किया कि शिक्षा का माध्यम हिन्दी या अग्रेजी हो और विद्यार्थियो को स्वतत्रता हो कि अपनी शिक्षा का माध्यम स्वय निर्धारित करें। यह योजना कई वर्षों से कार्यान्वित है, परतु एक कठिनाई का अनुभव हुआ और वह है उपयुक्त पाठ्य-पुस्तको का अभाव। इसको दूर करने के लिए विश्वविद्यालय ने भारत सरकार के हिन्दी तकनीकी शब्दावली आयोग की सहायता से पाठ्य पुस्तको के प्रकाशन का उत्तरदायित्व लिया है। इस योजना के अतर्गत इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि विषयो की पुस्तकें प्रकाशित की जाएँगी जिससे इन विषयो के अध्ययन मे सुविधा हो और शिक्षा का स्तर भी नीचे न गिरने पाए। मुझे हर्ष है कि विश्वविद्यालय के हिन्दी माध्यम मण्डल के प्रयास से यह काम पूरा हो रहा है।

चिंतामण द्वारकानाथ देशमुख
उपकुलपति
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

भूमिका

'राजनीति विज्ञान के मूल सिद्धांत' को प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यंत हर्ष हो रहा है। विश्वविद्यालय के छात्रो के लिए विदेशी भाषाओ के स्तर के मौलिक ग्रंथो के प्रकाशन की भारत सरकार ने जो योजना बनाई है, उसी के अंतर्गत दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्य क्रम के अनुसार इसकी रचना हुई है, और दिल्ली विश्वविद्यालय स्वयं इसे प्रकाशित कर रहा है।

इस पुस्तक मे समकालीन विद्वानो के आधुनिकतम विचारों और मान्यताओ से पाठको को सुबोध भाषा मे परिचित कराने का यत्न किया गया है। लेखक की जानकारी मे इस प्रकार का प्रयास अभी तक अंग्रेजी की पुस्तको मे भी नही किया गया। हिंदी भाषा मे तो यह प्रयत्न सर्वथा नवीन है ही। तथापि इसका पूरा ध्यान रखा गया है कि विचारो मे अस्पष्टता अथवा विशृंखलता न आने पाए। विषय का विवेचन करते हुए लेखक ने उन आदर्शों को सामने रखा है जिन्हें भारतीय संविधान मे मान्यता प्राप्त है।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, लेखक स्वयं बोलचाल की भाषा का समर्थक है। तथापि इस ग्रंथ की रचना करते समय वह इस परिणाम पर पहुँचा कि यदि हम अपने विषय को ऊँचे स्तर पर लाना चाहते हैं तो नए विचारों का प्रतिपादन और भावो की रक्षा करने के लिए हमे यथातथ शब्दावली अपनानी होगी। अतएव भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'पारिभाषिक शब्द संग्रह' का आश्रय लिया गया है। केवल चार पाँच स्थलो पर लेखक को नए शब्दो की आवश्यकता पडी जिनको गढने मे उसने कोई संकोच नही किया।

विश्वविद्यालय के उपयुक्त पाठ्य पुस्तक मे नई सामग्री और प्रकाशनों के सम्बध मे पूरी सूचना होनी चाहिए जिससे पाठको को अपनी जिज्ञासा शांत करने मे कठिनाई न उठानी पडे। अतः नई सामग्री की ओर संकेत करने के लिए विचारको और उनके ग्रंथो के सम्बध मे पूरी सूचना दी गई है। आशा है कि इससे सुयोग्य विद्यार्थियों को ही नही बल्कि जिज्ञासु अध्यापको एवं शोध कार्य मे लगे व्यक्तियो को भी इच्छानुसार सामग्री खोजने मे सहायता मिलेगी। लेखक ने विदेशी भाषाओ की पुस्तको के उद्धरणो का स्वयं अनुवाद किया है। अनुभव से उसने यह पाया कि प्रायः अनुवादक भावो की यथोचित रक्षा नही कर पाए हैं।

अपने सहयोगी अध्यापको को मेरा सुझाव है कि वे विषय का प्रारम्भ खण्ड एक से न करें। इस खण्ड को यदि वे खण्ड दो अथवा तीन के पश्चात् लें तो विषय के प्रतिपादन में सुगमता होगी।

मैं उन सभी विद्वानों और प्रकाशकों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनके ग्रंथों से मुझे सहायता मिली है। पुस्तक के अंत में उन ग्रंथों की सूची दी गई है जिनके अध्ययन से लेखक ने विशेष लाभ उठाया है। वस्तुतः लेखक का अपना योगदान विशेषत. विचारों के चयन और उन्हें एक संगत दृष्टि से शृंखला-बद्ध करने में है।

इस पुस्तक के लिखने में मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रकांता अग्रवाल, एम० ए०, एल० टी०, ने मुझे विभिन्न प्रकार से इतना सहयोग दिया है कि वस्तुतः इस पुस्तक को हमारा सम्मिलित प्रयास कहना सत्य के अधिक निकट होगा।

आशा है कि यह पुस्तक छात्रों को उपयोगी सिद्ध होगी। विद्यार्थियों, विद्वज्जनों एवं सहयोगियों से मैं प्रार्थना करता हूँ कि इस पुस्तक के सुधार के लिये वे अपने सुझाव भेजने की अवश्य कृपा करें। उनके सुझावों का हार्दिक स्वागत होगा।

22 सितम्बर, 1965 नवीन नारायण अग्रवाल

पुनश्च—

यह पुस्तक आज से लगभग 18 मास पूर्व दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी माध्यम मण्डल को दी गई थी। अनेक कारणों से इसके मुद्रण एवं प्रकाशन में देरी हो गई। लेखक ने इस विलम्ब से लाभ उठाकर नए आँकड़ों तथा तथ्यों का समावेश कर दिया है।

25 मार्च, 1967 —लेखक

विषय-सूची

पृष्ठ

खण्ड एक . प्रवेशिका

खण्ड तीन : शासन व्यवस्था

खण्ड चार . आधुनिक विचारधाराएँ

खण्ड एक

प्रवेशिका

किसी विज्ञान में सच्ची उन्नति के लिए अंतर्दृष्टि की सबसे अधिक आवश्यकता होती है और यह मानस का एक सृजनात्मक कार्य है।

—लिंडसे रौजर्स

1
राजनीति-विज्ञान की परिभाषा, स्वरूप और क्षेत्र

> जहाँ तक हो सके विज्ञान में परिभाषा की आवश्यकता होती है। यद्यपि जनता में प्रचलित प्रयोग बहुधा अस्पष्ट तथा त्रुटिपूर्ण होते है, पर वैज्ञानिक और लोकप्रचलित अर्थों में तभी अंतर आने देना चाहिए जब इसके बिना काम ही न चले। —आर. एन. गिलक्राइस्ट

1. विषय-प्रवेश

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का प्रारंभ प्राचीन यूनान से हुआ, फिर भी स्नातकोत्तर ज्ञान के रूप मे 'राजनीति-विज्ञान' अपेक्षाकृत नया है। इसका बहुत कुछ विकास पिछले 75 वर्षों मे हुआ है। इसके पूर्व, राजनीतिक अध्ययन और चिंतन केवल शासक-वर्ग, राजनीतिज्ञो, दार्शनिको और लेखको तक ही सीमित था। राजनीतिक मामलो मे जनसाधारण की कोई पहुँच न थी और वे स्वयं भी 'राजनीति' और 'राजनीतिक चिंतन' की आवश्यकता न समझते थे।

लोकतंत्र और राष्ट्रीयता की उमड़ती हुई लहरो ने राजनीति-विज्ञान की इस अनन्यता (exclusiveness) का अंत कर दिया। शिक्षा के प्रसार और राजनीतिक चेतना के विकास के कारण सार्वजनिक विषयो मे जनसाधारण की रुचि बढ़ने लगी, और आज स्थिति यह है कि कोई भी राजनीतिज्ञ या विचारक लोकहित की सर्वथा उपेक्षा नही कर सकता। अब लोकमत (public opinion) का बोलबाला है; अतः सरकार और विभिन्न राजनीतिक दल तरह-तरह से उसे प्रभावित करने के प्रयास मे लगे रहते हैं। सभाएँ और

प्रदर्शन आए दिन की घटनाएँ बन गई हैं। राजनीतिक दलों के संगठन इसलिए सुदृढ़ बनाए जाते हैं कि समय-समय पर होने वाले चुनावों को जीता जा सके। आम दिनों में भी राजनीतिक प्रचार होता रहता है जिससे नए-नए सदस्य और समर्थक भर्ती किए जा सकें। जनता का समर्थन पाकर ही ये राजनीतिक दल सत्तारूढ़ हो अपने कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप दे सकते हैं। इस प्रकार, जब 'व्यावहारिक राजनीति' लोकतन्त्रीय बन गई है, तो राजनीति-विज्ञान भी पिछड़ा नहीं रह सकता। आज यह स्वीकार किया जाता है कि अंतिम रूप में प्रभुसत्ता (sovereignty) जनसाधारण में निहित है और इस सत्ता का उपयोग जनहित के लिए होना चाहिए। वैसे भी, आज के युग में राजनीतिक सिद्धांतों एवं आस्थाओं के विवेचन और मूल्यांकन का आधार 'जनहित' अथवा 'लोक-कल्याण'[1] की भावनाएँ बन गई हैं।

अब, राजनीति-विज्ञान का अध्ययन केवल उच्च वर्गों का विशेषाधिकार नहीं रहा। अब जिन व्यक्तियों की राजनीति और सार्वजनिक विषयों में रुचि है और जो इसके अध्ययन और मनन में अपना समय लगाने को तैयार हैं, वे इच्छानुसार उसका अध्ययन करते हैं।

यथातथ पारिभाषिक शब्दावली का अभाव— राजनीति विज्ञान की शब्दावली का यथातथ (exact) न होना इसके अध्ययन के मार्ग में एक प्रारंभिक बाधा है। जैलिनेक (Jellinek) के अनुसार राजनीति विज्ञान को समुचित शब्दावली की जितनी आवश्यकता है, उतनी अन्य किसी विज्ञान को नहीं। अभी तक, इसके शब्दों के निश्चित और यथातथ अर्थ नहीं हैं। प्रायः उनके लोकप्रचलित अर्थों वैज्ञानिक अर्थों, और व्युत्पत्ति पर आधारित अर्थों में अंतर होता है, अतएव विषय को समझने में अनेक कठिनाइयाँ और उलझनें पैदा हो जाती हैं।

शब्दावली की ये कठिनाइयाँ कुछ सीमा तक अन्य सामाजिक विज्ञानों में भी हैं। यह कमी कुछ सीमा तक राजनीति विज्ञान को अपने पुराने साहित्य से एक विरासत के रूप में मिली है। इसके अन्य कारण हैं — लोगों के जीवन से

---

[1] 'लोक-कल्याण' की भावना का राजनीति-विज्ञान में एक विशेष अर्थ है। एक समय था जब राज्य के कार्य सीमित थे, और शांति तथा व्यवस्था कायम रखना ही राज्य का प्रधान कर्तव्य माना जाता था। अब राज्य जनता के चहुँमुखी विकास में योग देने को तत्पर है। 'जनहित' शब्द में उदात्त वृत्ति है जिसमें पुरानी और इस नई— दोनों ही दशाओं में समान रूप से प्रयुक्त हो सकता है। लोक-कल्याण की भावना के लिए न केवल राज्य के संकल्प की आवश्यकता है, अपितु इसके अनुरूप कार्य करने की क्षमता भी होनी चाहिए जो केवल सम्पन्न देशों में है।

इस विषय का घनिष्ठ सबध और इसका लगातार विकसित होते रहना। अनेक राजनीतिक नेता और लेखक, जिनको राजनीतिक शब्दो के यथातथ अर्थों का समुचित ज्ञान नही होता, प्राय मनमाने अर्थों मे उनका प्रयोग करते हैं। कभी-कभी, नए विचारो और सिद्धातो का प्रतिपादन करने के लिए, पुराने शब्दो को ही नए अर्थों मे प्रयुक्त कर लिया जाता है। आवश्यकतानुसार नए शब्द भी गढे जा रहे है। सभवत एक गतिशील विषय के लिए यह स्वाभाविक है, फिर भी, इनके कारण विषय के अध्ययन और मनन मे उलझनें पड जाती हैं।

यहाँ पर हम सभी राजनीतिक शब्दो के यथातथ अर्थों की व्याख्या नही करेंगे। हाँ, जैसे-जैसे नए शब्द प्रयुक्त होगे, उनका यथास्थान स्पष्टीकरण कर दिया जाएगा। साथ ही, यह भी ध्यान रखा जाएगा कि जहाँ तक सभव हो, शब्दो के वैज्ञानिक अर्थ, उनके लोकप्रचलित और व्युत्पत्ति पर आधारित अर्थों से बहुत दूर न जा पडे[1]।

2. इस विषय का नामकरण

प्रस्तुत विषय के नाम के सबध मे भी कुछ उलझनें है। कुछ विचारक इस विषय को 'पोलिटीकल साइस' (राजनीति-विज्ञान) कहना पसद करते हैं जबकि अन्य लेखक इसके पुराने यूनानी रूप 'पोलिटिक्स' (राजनीतिक) का ही प्रयोग करते हैं। ऐसे लेखक भी हैं जो 'थ्योरेटीकल पोलिटिक्स' (सैद्धातिक राजनीति) नाम को अधिक सार्थक समझते है जबकि कतिपय फ्रासीसी लेखको का कथन है कि इस विषय को 'एक राजनीति-विज्ञान' कहना चाहिए। यहाँ हम इन सभी प्रश्नो पर संक्षेप मे विचार करेंगे।

राजनीति और राजनीति-विज्ञान—'पोलिटिक्स' शब्द का सबध यूनानी शब्द 'पोलिस'[2] (Polis) से है जिसका अर्थ है 'नगर'। प्राचीन यूनानी विचारक

---

1 देखिए R. N. Gilchrist, *Principles of Political Science*, मद्रास, 1940, पृष्ठ 25.

2 इसी प्रकार 'राजनीति' का संबंध 'राज्य' से कहा जाता है। अर्नेस्ट बार्कर और कोल का मत है कि 'पोलिस' का रूपातर करने में पाश्चात्य विद्वानों ने भूल की है जिससे 'राजनीति विज्ञान' के विकास को एक गलत मोड़ मिल गया है। बार्कर के मतानुसार पोलिस 'राज्य' और 'समाज' दोनों ही थे। साथ ही इसके नैतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक पहलू भी थे। देखिए *Principles of Social and Political Theory*, ऑक्सफोर्ड, 1952, पृष्ठ 5 और G. D. H. Cole, *Essays in Social Theory*, लन्दन, 1962, पृष्ठ 13.

इसे 'नगरो की बातो से सबधित ज्ञान' मानते थे। लेकिन उस समय मे 'नगर' और राज्य मे कोई स्पष्ट भेद न था। यूनानी लोग 'नगर राज्य' मे रहते थे जिनका क्षेत्रफल एक नगर और उसके आस-पास के इलाके तक सीमित था। फिर, यूनानी भाषा मे 'पोलिस' शब्द का प्रयोग 'दुर्ग', 'समाज', 'नगर' आदि अनेक अर्थों मे होता था। यदि हम 'नगर-राज्य' का यूनानी भाषा मे रूपान्तर करने लगें तो यह एक अर्थहीन सी बात लगती। सीले के अनुसार, प्राचीन राजनीति 'स्थानीय सरकार का विज्ञान'[1] मात्र थी। किन्तु, इससे हम यह नही समझना चाहिए कि प्राचीन यूनानी विचारको के दृष्टिकोण अथवा उनके चिंतन का क्षेत्र भी सकुचित था। वस्तुत कुछ मामलो मे उनका राजनीतिक अध्ययन हमारे आज के अध्ययन से कही अधिक गहन और व्यापक था।

आज हम जिस अर्थ मे 'पोलिटिक्स' (राजनीति) शब्द का प्रयोग करते है वह 'राजनीति विज्ञान' से कही अधिक व्यापक है। गिलक्राइस्ट के अनुसार, 'राजनीति' शब्द से प्राय. हमारा अभिप्राय शासन के उन सामयिक प्रश्नो और समस्याओ से होता है जो राजनीतिक कम और आर्थिक अधिक होती हैं। इस प्रकार मजदूरो की समस्या, आयात निर्यात की समस्या कार्यांग (executive) और विधानाग (legislature) के आपसी सबधो की समस्या आदि वे सभी प्रश्न, जो हमारे विधायको के सम्मुख प्रस्तुत होते रहते हैं, राजनीति के विषय हैं[2]। इस अर्थ मे 'राजनीति' कला अधिक है और विज्ञान कम, और हमे उस व्यक्ति को 'राजनीतिज्ञ' कहना चाहिए जो राजनीति मे सक्रिय भाग लेता हो, भले ही उसे 'राजनीति-विज्ञान' के प्राथमिक सिद्धातो का भी ज्ञान न हो। दूसरे, प्रत्येक देश की 'पोलिटिक्स' भिन्न और निराली होती है। 'सोवियत पोलिटिक्स और 'अमरीकी पोलिटिक्स' एक जैसी नही है। इसके विपरीत 'राजनीति विज्ञान' सभी देशो मे समरूप होगा। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकप्रचलित अर्थ और व्युत्पत्ति दोनों के आधार पर 'पोलिटिक्स' का क्षेत्र प्रस्तुत विषय के क्षेत्र से कही अधिक व्यापक है। इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि हम 'राजनीति विज्ञान' शब्द को अपने विषय के लिए अपना लें। गैटिल, सील बर्जिस, विलोबी, गार्नर, लीकॉक, गिलक्राइस्ट आदि प्रमुख विचारकों का यही मत है। किन्तु फ्रेडरिक पोलक, वाल्टर बेजट और अपोग साइन्स ऑफ पोलिटिक्स' (राजनीति के विज्ञान) शब्द को अपेक्षाकृत अच्छा समझते हैं। तथापि सन् १९४८ मे, यूनेस्को के तत्वावधान

---

1 cf. र John R Seeley, *Introduction to Political Science*, लन्दन 1923, पृ 32.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, 1951 सस्करण, पृ 2.

मे होने वाली ससार के प्रमुख राजनीतिशास्त्रियो की परिषद् ने 'राजनीति-विज्ञान' शब्द को ही उत्तम मानकर स्वीकार किया[1]।

सैद्धान्तिक और व्यावहारिक राजनीति—अरस्तू, जैलिनेक, सिजविक, जैनेट आदि विद्वानो ने 'राजनीति-विज्ञान' के स्थान पर 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किया है। कुछ विचारको का कहना है कि राजनीतिक कार्यकलाप और गतिविधियो का वैज्ञानिक ढग से, प्राकृतिक विज्ञानो के समान, अध्ययन असभव है। अतएव, वे प्रस्तुत विषय को 'राजनीति-विज्ञान' कहने मे हिचकते हैं। किन्तु, उनमे से भी *अधिकतर यह स्वीकार करते हैं कि राजनीतिक* अध्ययन को 'चालू बातो के अध्ययन' से अलग रखना चाहिए। इनमे से कुछ का मत है कि यदि इस विषय का नामकरण 'सैद्धान्तिक राजनीति' कर दिया जाए तो इसे सरलता से 'व्यावहारिक राजनीति' से पृथक् रखा जा सकेगा।

इस सुझाव को स्वीकार नही किया जा सकता। 'राजनीति-विज्ञान' न केवल राजनीतिक शक्ति (power) सम्बन्धी सिद्धान्तो का अध्ययन करता है, अपितु वह उन अनेक दलो और सस्थाओ (institutions) के कार्यों का भी विवेचन करता है जो शक्ति प्राप्त करने के लिए उद्यत रहती है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए पोलक जैसे विद्वानो ने सुझाव दिया कि 'राजनीति-विज्ञान' को दो भागो मे बाँट दिया जाय . सैद्धान्तिक राजनीति और व्यावहारिक राजनीति[2]। गैटिल के अनुसार भी, 'व्यावहारिक राजनीति-विज्ञान' राजनीति-*विज्ञान का ही एक अग है*[3]। *इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय* के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो ही पहलू हैं। अत इसका नाम 'सैद्धान्तिक राजनीति' रखना असगत होगा।

राजनीति-विज्ञान : एक अथवा अनेक ?—कुछ फासीसी विचारक कहते हैं कि 'राजनीति-विज्ञान' एक नही, अनेक हैं। उनके मतानुसार ये 'अनेक राजनीति-विज्ञान' आपस मे सम्बन्धित ही नही, अपितु एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। इस मत के अनुसार राजनीति-विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, आदि सभी सामाजिक-विज्ञान राज्य मे रहने वाले जनसमुदायो के विभिन्न पहलुओ का अध्ययन करने के कारण राजनीति-विज्ञानो की श्रेणी मे आ जाते हैं।

---

1 देखिए *Contemporary Political Science*, Unesco, पेरिस, 1950, पृष्ठ 4.

2 देखिए उनकी पुस्तक, *An Introduction to the History of the Science of Politics*, लन्दन, 1918, पृष्ठ 2

3 देखिए R. G. Gettell, *Introduction to Political Science*, बोस्टन, 1922, पृष्ठ 4.

फ्रांसीसी लेखकों के इस विचार में कुछ सार अवश्य है। *यह मानना पड़ेगा* कि हमारे संगठित जीवन का कोई पहलू पूर्णतः पृथक् नहीं होता। अतएव, मानव समस्याओं को भलीभाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि संगठित जीवन से सम्बन्धित सभी ज्ञानों में समन्वय स्थापित किया जाए[1]। किन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि इन सामाजिक विज्ञानों का पृथक् अस्तित्व ही न हो। सच तो यह है कि सम्यक् अध्ययन के हित में इनका स्वतंत्र रहना ही श्रेयस्कर है। आज के युग में सामाजिक कार्यकलाप और गतिविधियाँ इतनी अधिक और जटिल हो गई हैं कि कोई एक व्यक्ति उन सबको आत्मसात् कर *उनका समुचित अध्ययन नहीं कर सकता। अतः इन विषयों के सम्यक् विकास* के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि इन्हें ज्ञान की स्वतंत्र शाखाओं के रूप में स्वीकार किया जाए।

फ्रांसीसी मत को स्वीकार करने में एक आपत्ति और भी है। राजनीति-विज्ञान के अतिरिक्त, वे जितने अन्य राजनीति विज्ञान बताते हैं, उनमें कोई भी शक्ति-संबंधी समस्याओं का अध्ययन नहीं करता और न वे प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक कार्यकलापों से संबंधित हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हुए वे ज्ञान की स्वतंत्र शाखाएँ बन चुके हैं। मैकीवर और पेज के *अनुसार, सामाजिक विज्ञानों में आपसी भेद केवल यह होता है* कि उनमें से प्रत्येक की रुचि का केन्द्रबिन्दु भिन्न होता है[2]। उदाहरण के लिए, यद्यपि जिन सामाजिक कार्यकलापों से राजनीति-विज्ञान सम्बन्धित है उनका अन्य सामाजिक विज्ञान भी अध्ययन करते हैं, तथापि उसका अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण और केन्द्रबिन्दु है। इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि 'राजनीति-विज्ञान' शब्द का प्रयोग केवल 'सामाजिक कार्यकलापों के राजनीतिक पहलुओं के अध्ययन' के लिए किया जाए। *सितम्बर 1948 ई० में यूनेस्को भवन, पेरिस, में होने वाली सभा में*, विभिन्न देशों के राजनीति-शास्त्रियों ने भी यही निर्णय किया कि 'राजनीति-विज्ञान' शब्द का प्रयोग बहुवचन में न किया जाए[3]।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रस्तुत विषय के लिए 'राजनीति विज्ञान' शब्द ही अधिक उपयुक्त होगा। जैसा कि हम कह आए हैं सन् १९४८ ई० में यूनेस्को के तत्वावधान में होने वाली संसार के

1 तुलना कीजिए, F. H Giddings, *Principles of Sociology*, न्यूयार्क, 1920, पृष्ठ 31.

2 देखिए R. M MacIver and C. H. Page, *Society : An Introductory Analysis*, लन्दन, 1957, पृष्ठ 5.

3 देखिए *Contemporary Political Science*, पृष्ठ 4.

प्रमुख राजनीति-शास्त्रियों की परिषद् ने भी 'पोलिटीकल साइंस' शब्द को ही सर्वोत्तम मान कर स्वीकार किया।

3. राजनीति-विज्ञान की परिभाषा

राजनीति-विज्ञान 'सामाजिक-कार्यकलापों और गतिविधियों के राजनीतिक पहलुओं से संबंधित है'। ब्लुश्ली[1], गार्नर[2], गैटिल[3], फ्रेन्क गुडनाउ, पोलक[4] और स्ट्रोंग[5] के अनुसार इसका अध्ययन 'राज्य' के इर्द-गिर्द केन्द्रित है। किन्तु सीले और स्टीफेन लीकॉक[6] का विचार है कि राजनीति-विज्ञान का सम्बन्ध 'शासन' (government) से है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान, पॉल जैनेट का मत है कि राजनीति-विज्ञान 'सामाजिक विज्ञान का वह अंग है जो राज्य के मूल आधारों और शासन के सिद्धांतों की विवेचना करता है'। जैंक्स[7] और गिलक्राइस्ट भी उक्त मत से सहमत है।

प्राय: ऐसा कहा जाता है कि राज्य के अध्ययन में 'शासन' स्वत. ही सम्मिलित है। अत: इसकी पृथक् रूप से चर्चा आवश्यक नहीं है। हमारा इस विचार से मतभेद है। यद्यपि, व्यावहारिक रूप में राज्य शासन के अंगों द्वारा ही चलता है, तथापि एक दृष्टिकोण से 'शासन' शब्द राज्य से कहीं अधिक व्यापक है। व्यापक रूप में 'शासन' नियंत्रण और आज्ञापालन की बुनियादी भावनाओं पर आधारित है। सिजविक के अनुसार राजनीति-विज्ञान का संबंध 'शासित समाजों' से है, अर्थात् ऐसे समाजों से है जिनमें व्यक्तियों को कम से कम कुछ

---

1 देखिए J. K. Bluntschli, *The Theory of the State*, 3rd English Edition, ऑक्सफोर्ड, 1895, पृष्ठ 1 : राजनीति-विज्ञान 'राज्य' से संबंधित विज्ञान है जो राज्य को उसकी दशाओं में, उसके सारभूत स्वरूप में, उसके विभिन्न रूपों अथवा अभिव्यक्तियों में तथा विकास में समझने-बूझने का प्रयास करता है।

2 देखिए J. W. Garner, *Introduction to Political Science*, न्यूयार्क, 1910, पृष्ठ 10.

3 उसके अनुसार 'राजनीति-विज्ञान "राज्य कैसा रह चुका है" की ऐतिहासिक खोज, "राज्य कैसा है" का विश्लेषणात्मक अध्ययन और "राज्य कैसा होना चाहिए" का राजनीतिक—नैतिक विवेचन है।" उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 4.

4 देखिए उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 8.

5 देखिए C. F. Strong, *Modern Political Constitutions*, लन्दन, 1939, पृष्ठ 2.

6 देखिए *The Elements of Political Science*, लन्दन, 1929, पृष्ठ 3.

7 देखिए J. W. Jenks, *Principles of Politics*, न्यूयार्क, 1916, पृष्ठ 3.

बातों में आज्ञापालन की आदत पड़ गई हो[1]। इस प्रकार, राजनीति-विज्ञान का क्षेत्र राज्य से अधिक विस्तृत हो जाता है। विलोबी का विचार है कि 'राजनीति विज्ञान केवल संगठन की दृष्टि से समाज का अध्ययन करता है—अर्थात् जिस प्रकार एक व्यवस्थित और प्रगतिशील जीवन बिताने के लिए समाज एक सत्ता के अंतर्गत प्रभावी रूप में संगठित होता है'[2]। उपर्युक्त परिभाषा यथातथ और व्यापक है। राजनीति-विज्ञान की चालू परिभाषाओं की कमियों को देखते हुए, सिजविक और विलोबी के विचार हमारे लिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

राजनीति विज्ञान का क्षेत्र अब शीघ्रता से बढ़ता जा रहा है। साथ ही, इसका अध्ययन भी नई दृष्टियों से किया जाने लगा है। अतएव यह आवश्यक है कि हम राजनीति-विज्ञान की एक ऐसी परिभाषा अपनायें जो उसके व्यापक क्षेत्र की समुचित व्याख्या कर सके और साथ ही भविष्य की संभावनाओं का भी ध्यान रखे। किन्तु इस परिभाषा में हम संगठित समाज के समस्त पहलुओं को सम्मिलित नहीं कर लेना चाहिए। कैटलिन का मत है कि हमें राजनीति विज्ञान की परिभाषा, उसके क्षेत्र में आने वाले क्रियाकलापों पर ध्यान रखते हुए करनी चाहिए। उसके अनुसार राजनीति विज्ञान मानवीय और सामाजिक नियंत्रण-कार्यों' अथवा 'इच्छाओं के नियंत्रण सम्बन्धों'[3] का एक अध्ययन है। सन् 1962 में प्रकाशित अपने ग्रंथ में, उसने इसे 'संगठित समाज का अध्ययन करने वाला ज्ञान'[4] बताया है। इसी प्रकार, अप्पादोराय का कहना है कि व्यापक रूप में, राजनीति-विज्ञान का सम्बन्ध सामाजिक संगठन से है[5]। किन्तु इन परिभाषाओं में राजनीति-विज्ञान और समाजशास्त्र का प्रभेद ही समाप्त हो गया है।

---

1 देखिए Henry Sidgwick, *The Elements of Politics*, लन्दन, 1908, पृष्ठ 2.

2 देखिए Willoughby, *An Examination of the Nature of Politics*, न्यूयार्क, 1911, पृष्ठ 2

3 देखिए G. E. G. Catlin, *A Study of the Principles of Politics*, लन्दन, 1930, पृष्ठ 75-76 कैटलिन का आशय यह है कि समाज में व्यक्तियों और समुदायों की अनगिनत इच्छायें होती हैं। किंतु इन सबको संतुष्ट नहीं किया जा सकता। अतः इन पर नियंत्रण लगते हैं। मतदाताओं के निर्णय और अन्य प्रभावों के अनुसार इनके आपसी संबंध निर्धारित होते हैं, जिनके अनुरूप शासन-कार्य चलता है।

4 *Systematic Politics*, टोरंटो, 1962

5 देखिए *Contemporary Political Science* में उसका लेख 'Political Science in India', पृष्ठ 39-40 और 10.

लासवैल ने राजनीति-विज्ञान को 'प्रभाव और प्रभावशालियो का अध्ययन'[1] कहा है। बाद की एक पुस्तक में, लासवैल और कैपलन ने इसे 'एक नीति-निर्धारित करने वाला विज्ञान' मानते हुए 'प्रभाव और शक्ति का अध्ययन'[2] कहा है। कुछ जर्मन चिन्तक भी इस 'शक्ति और सम्पता की समस्याओ से सबधित ज्ञान' बताते हैं। इन बातो का ध्यान रखते हुए राब्सन ने सक्षेप मे इसे 'समाज मे शक्ति का अध्ययन' कहा है। इसके अनुसार शक्ति ही एक ऐसी बुनियादी सकल्पना (Concept) है जो इस अध्ययन के सभी विभागो को एक सूत्र मे पिरो देती है[3]।

उक्त परिभाषाओ मे उन विभिन्न शक्तिओ की ओर ध्यान दिया गया है जो राज्य के स्वरूप,उसकी प्रक्रियाओ और व्यवहार को प्रभावित करती हैं। इससे राजनीतिक अध्ययन के यथार्थवादी बनने मे सहायता मिली है। तथापि, राजनीति-विज्ञान 'शक्ति और प्रभाव' पर निर्भर सभी सबधो पर समान रूप से ध्यान नही देता। वह केवल उन्ही सगठित सबधो पर विचार करता है जो वैध (legitimate) होने के कारण मान्य और सम्मानित होते है। अत पैनोक और स्मिथ के अनुसार, राजनीति-विज्ञान की परिभाषा देते समय शक्ति के स्थान पर वैधता (legitimacy) या सत्ता (authority) पर बल देना अधिक उपयुक्त होगा[4]। ऐस्लिगर का भी विचार है कि शक्ति पर अत्यधिक बल देना सैद्धांतिक रूप मे गलत और व्यावहारिक रूप म खतरनाक होगा। इसमे लोग शक्ति को हथियाने और व्यक्तिगत तथा सामूहिक हित के लिए उसके उपयोग को उचित ठहराने लगेंगे। उसके अनुसार व्यवस्था (order) या सगठन ही राजनीति-विज्ञान का सार है। शक्ति तो सगठन का एक परिणाम-मात्र है, उसका साध्य अथवा सार नही[5]।

पिछले दिनो से कुछ लेखक राजनीति-विज्ञान को 'राजनीतिक व्यवहार का

---

1 देखिए *Political Writings of Harold J. Lasswell*, इलीनोइस, 1951, पृष्ठ 295.

2 देखिए *Lasswell और Abraham Kaplan, Power and Society*, न्यू हावेन, 1950, पृष्ठ 12.

3 देखिए W. A Robson, Ed, *The University Teaching of Social Sciences Political Science*, यूनैस्को, पेरिस, 1954, पृष्ठ 19.

4 J. Ronald Pennock और David G. Smith, *Political Science An Introduction*, न्यूयार्क, 1964, पृष्ठ 6-8.

5 देखिए William Esslinger, *Politics and Science*, न्यूयार्क, 1955, पृष्ठ 22-23.

अध्ययन करने वाला ज्ञान'[1] कहने लगे हैं। किन्तु 'राजनीतिक व्यवहार' हमारे अध्ययन का एक पहलू मात्र है। अतः इस परिभाषा को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपयुक्त बातों पर ध्यान देते हुए हम व्यापक रूप में राजनीति-विज्ञान को 'शासन और राजनीतिक प्रक्रियाओं का विधिवत् अध्ययन' कह सकते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भले ही राज्य राजनीति-विज्ञान के अध्ययन का एक मात्र विषय न हो, फिर भी अभी तक वह इसके अध्ययन का केन्द्र अवश्य है।

4. राजनीति-विज्ञान का क्षेत्र

राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र का निश्चयात्मक विवेचन सरल नहीं है। हमारे सामान्य जीवन में शायद ही कोई ऐसा पहलू हो जो किसी न किसी समय राजनीतिक रूप न धारण कर ले[2] और हमारे अध्ययन का विषय न बन जाए। इस प्रकार कई बातों में राजनीति-विज्ञान का अध्ययन इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, सामाजिक मनोविज्ञान, विधिशास्त्र और नीतिशास्त्र आदि अन्य विज्ञानों के क्षेत्रों से जा टकराता है। किन्तु, कुछ समानताओं के रहने पर भी इन शास्त्रों की अपनी विशिष्ट दृष्टियाँ और क्षेत्र हैं।

एक गतिशील अध्ययन—राजनीति विज्ञान समाज में संगठन (शक्ति) के स्वरूप, उसके आधार, क्षेत्र, प्रक्रियाओं तथा परिणामों का अध्ययन करता है। साल्टन के अनुसार, इस सन्दर्भ में 'शक्ति' को हम केवल बल-प्रयोग के अर्थ में नहीं लेना चाहिए, शक्ति का नैतिक आधार, विचारों का इस पर प्रभाव, आदि के अध्ययन का भी राजनीति में बहुत महत्त्व है। राजनीति-विज्ञान के लिए शक्ति के स्रोत और लक्ष्य के विवेचन का उतना ही महत्त्व है जितना शक्ति के प्रयोग की विवेचना का। संगठित शक्ति का अध्ययन करते समय राजनीतिशास्त्री अपने को शासन के अंगों तक ही सीमित नहीं रखते, वे उन व्यापारिक, व्यावसायिक और श्रमिक संगठनों का भी अध्ययन करते हैं जो शक्ति प्राप्त करने को उत्सुक रहते हैं[3]। इस प्रकार, राजनीति-विज्ञान के

---

1 देखिए F. M. Watkins, 'Political Theory as a Datum in Political Science' in *Approaches to the Study of Politics*, Ed., Ronald Young, लन्दन 1957, पृष्ठ 148

2 देखिए Roger H. Soltau, *An Introduction to Politics*, लन्दन, 1951, पृष्ठ 1.

3 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 17.

अध्ययन-क्षेत्र में वे सभी विचार और सस्थाएँ आ जाती हैं जो समाज मे शक्ति और प्रभाव रखती हैं। यही नही, इसके क्षेत्र मे समूहो, दलो, सगठनो और सस्थाओ के शक्ति प्राप्त करने से सबधित ऐसे कार्य भी आ जाते हैं जो सार्वजनिक नीति मे अथवा समाज मे अपने अनुकूल परिवर्तन लाना चाहते हैं[1], और यह अध्ययन किसी देश अथवा काल तक सीमित नही है।

वर्तमान की व्याख्या—राजनीति विज्ञान वर्तमान राजनीतिक गतिविधियो और प्रक्रियाओ का अध्ययन करता है। यह अध्ययन राज्यो और शासन के अगो तक सीमित नही है। इसके क्षेत्र मे वे सभी दल, सगठन और सस्थाएँ आ जाती हैं जो समाज मे शक्ति और प्रभाव रखने की आकाक्षा रखती हैं। फिर भी, राज्य का अध्ययन हमारे विषय का प्रमुख अग है। इसमे राज्य के लक्षण, उसकी परिभाषा, उत्पत्ति, सगठन, प्रक्रियायें, लक्ष्य, कार्य, नागरिको और जन-समूहो के साथ उसके सबध तथा अन्य राज्यो और अतर्राष्ट्रीय सगठनो के साथ उसके सबधो का अध्ययन भी सम्मिलित है। वस्तुत पिछले कुछ वर्षों मे अतर्राष्ट्रीय विधि (International Law) और अतर्राष्ट्रीय सगठन के अध्ययन की प्रगति ने राजनीति-विज्ञान को एक नयी दिशा दी है, और एक अर्थ मे उसे 'विश्व राजनीतिक समुदाय का विज्ञान' बना दिया है।[2]

बीती बातो का अध्ययन—समाज मे शक्ति और प्रभाव का ऐतिहासिक अध्ययन राजनीतिक सस्थाओ, विचारो और प्रक्रियाओ को समझने मे बहुत सहायक होता है। इसमें हम बीते युगो के विचारको की राज्य और शासन सबधी मान्यताओ और सिद्धातो का भी समुचित अध्ययन करते हैं। साथ ही हम देखते हैं कि राज्य की उत्पत्ति और उसका विकास किस प्रकार हुआ, राज्य किस प्रकार सरल से जटिल बनता गया, और किस प्रकार राज्य विशेष का सविधानिक विकास हुआ। इस प्रकार, हम राजनीतिक चिन्तन की धाराओ के अध्ययन के साथ साथ उन समूहो, दलो और सगठनो की गतिविधियो का अध्ययन भी करते हैं जो समाज मे शक्ति और प्रभाव प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

भविष्य का दिशा-निर्देश—अब यह स्वीकार किया जाता है कि राजनीति विज्ञान का चरम लक्ष्य राजनीतिक घटनाओ और गतिविधियों के अध्ययन से ऐसे निष्कर्ष और सिद्धात निकालना है जो हमारे व्यावहारिक

---

1 देखिए C C Rodee in *Introduction to Political Science* by Rodee, Anderson and Christol, न्यूयार्क, 1957, पृष्ठ 5.

2 तुलना कीजिए Beni Prasad, *The Democratic Process*, ऑक्सफोर्ड, 1935, पृष्ठ 6

जीवन मे काम आ सकें। लासवेल और केप्लन ने राजनीति-विज्ञान को 'एक नीति-निर्धारण करने वाला विज्ञान' कह कर इस ओर इंगित किया है। वर्तमान प्रवृत्तियों का अध्ययन हम यह समझने के लिए करते हैं कि प्रगति का रुख किस ओर है। शासन की आलोचना इस दृष्टि से की जाती है कि क्या वह अपने उद्देश्यो को पूरा करने मे सफल हो रहा है; और हम वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था मे परिवर्तन के सुझावों को भी इसी दृष्टि से देखते हैं।

जहाँ तक राजनीति-विज्ञान आदर्शों तथा लक्ष्यों को निर्धारित करता है वह मूलत आदर्शक (normative) है अथवा गैटिल के शब्दो मे, 'एक राजनीतिक-नैतिक विवेचना' है। हम एक समाज की ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् ही उसके लक्ष्य स्थिर करते हैं, लेकिन इन लक्ष्यो के विषय मे राजनीतिज्ञ और विचारक एकमत नही हैं। रैमजे म्योर और लास्की मे मतभेद है, ब्राइस और ब्रोगन मे विचार-विभेद है, और जवाहरलाल नेहरू और ख्रुश्चोव के दृष्टिकोण भी अलग-अलग थे। इन मतभेदो को समझकर और उनकी पृष्ठभूमि का अध्ययन कर हम स्वय यह निश्चय कर सकते है कि हमारी नीति और लक्ष्य क्या होने चाहिए। यदि आवश्यक समझें तो हम अपने लिए नए लक्ष्य और उसे प्राप्त करने के लिए नई नीति भी निर्धारित कर सकते हैं।

राजनीति-विज्ञान यदि अध्ययन के इस पक्ष को छोड दे, तो यह अधूरा और निष्फल बन कर रह जाएगा, और अब साधारणत. राजनीतिक विचारक इस बात से सहमत हैं कि हमारा अध्ययन क्रियात्मक और व्यावहारिक होना चाहिए।

एक अर्द्धविकसित अध्ययन—यद्यपि राजनीतिक चितन लगभग ढाई हज़ार वर्षों से होता आ रहा है, तथापि राजनीति-विज्ञान अभी भी विकसित हो रहा है। अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार, अभी अनेक विद्वानो के लिए राजनीति-विज्ञान अस्पष्ट, सदेहास्पद और विवादग्रस्त है[2]। राब्सन के मतानुसार, इतिहास की तुलना मे राजनीति-विज्ञान असम्बद्ध और जटिल प्रतीत होता है; विधिशास्त्र और अर्थशास्त्र की तुलना मे न तो इसकी कोई विशिष्ट चितन-प्रणाली है और न कोई सर्वमान्य तकनीकी शब्दावली; भौतिक अथवा प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना मे इसकी एकता और अध्ययन सामग्री अस्पष्ट है, तथापि, यदि इसकी तुलना समाजशास्त्र से की जाए तो अपेक्षाकृत हमारा विषय सरल,

---

1 तुलना कीजिए, G C Field, *Political Theory*, लन्दन, 1956, पृष्ठ 18.

2 देखिए *The Study of Political Science and Its Relation to Cognate Studies*, कैम्ब्रिज, 1928.

सम्बद्ध और सुगठित लगता है[1]।

5. राजनीति-विज्ञान के विभाग

अनेक विद्वानो ने राजनीति-विज्ञान को तरह-तरह से विभाजित किया है। इनमे फ्रेडरिक पोलक का किया हुआ विभाजन विचार करने योग्य है। उसके विभाजन की विशेषता यह है कि उससे हमे समकालीन राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र और उसकी विविधता की अच्छी जानकारी मिल जाती है। नीचे हम पोलक के विभाजन को[2] सक्षिप्त और कुछ परिवर्तित रूप मे दे रहे हैं

सैद्धातिक राजनीति	व्यावहारिक राजनीति
१ राज्य के सिद्धात	१ राज्य के रूप
२ शासन के सिद्धात	२ शासन या सचालन
३ विधि-सम्बन्धी सिद्धात (विधि-निर्माण के उद्देश्य, सामान्य विधिशास्त्र, विधि-निर्माण की मशीनरी और विधि-सबधी अन्य प्रक्रियाओ के सिद्धात)	३ विधि और उसका निर्माण
४. राज्य के बाह्य सबधो के सिद्धात (अन्य राज्यो के साथ सबध और अन्य अतर्राष्ट्रीय सबध और अतर्राष्ट्रीय विधि)	४. राज्य के बाह्य सबध (कूटनीति, अतर्राष्ट्रीय समझौते, सधियाँ आदि)

आज भी पोलक के इस विभाजन को थोडा-सा बदल कर हम स्वीकार कर सकते हैं। जहाँ उसने राजनीति शब्द का प्रयोग किया है उसके स्थान पर 'राजनीति-विज्ञान' शब्द रखने से हमारा काम सुगमता से चल जाएगा।

यूनेस्को के तत्वाधान मे बनाई गई एक कमेटी ने राजनीति-विज्ञान के विषयो की निम्न तालिका[3] बनाई है :

1. राजनीति-सिद्धात .
   (क) राजनीतिक सिद्धात,
   (ख) राजनीतिक विचारो का इतिहास।

---

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 16

2 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 99-100

3 उपर्युक्त ग्रथ, परिशिष्ट 3, पृष्ठ 183,

2. शासन :

(क) संविधान (*Constitution*);

(ख) राष्ट्रीय शासन,

(ग) प्रादेशिक और स्थानीय शासन;

(घ) लोक प्रशासन (Public Administration);

(ङ) सरकार के आर्थिक और सामाजिक कार्य;

(च) राजनीतिक संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन।

3. राजनीतिक दल, समूह और लोकमत :

(क) राजनीतिक दल,

(ख) समूह और समुदाय;

(ग) शासन और प्रशासन में नागरिकों का सहयोग,

(घ) लोकमत।

4. अंतर्राष्ट्रीय संबंध :

(क) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति;

(ख) अंतर्राष्ट्रीय संगठन और प्रशासन;

(ग) अंतर्राष्ट्रीय विधि।

इंगलैंड, अमेरिका, फ्रांस, स्वीडन, पोलैंड, मैक्सिको, भारत, मिस्र, पश्चिमी जर्मनी और कैनेडा के राजनीति-विज्ञान के स्नातकोत्तरीय पाठ्यक्रमों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें पढ़ाए जाने वाले अधिकतर विषय ऊपर दी हुई तालिका में कहीं-न-कहीं आ जाते हैं। जो अन्तर हैं भी, वे गौण हैं। इस विषय में अच्छी तरह विचार करने के बाद संसार के राजनीति-शास्त्रियों ने सन् 1952 ई० में होने वाली ऑक्सफोर्ड की अपनी बैठक में उपर्युक्त विभाजन को स्वीकार कर लिया।

मौर्गेनथो के अनुसार, राजनीति-विज्ञान के नए पाठ्यक्रम में तीन प्रमुख आधारशिलाएँ होनी चाहिए : राजनीतिक समाज शास्त्र (Political Sociology), राजनीतिक सिद्धांत और राजनीतिक संस्थाएँ। वह 'अंतर्राष्ट्रीय संबंध' को एक पृथक् शाखा के रूप में स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार राजनीतिक समाजशास्त्र के अंतर्गत, आनुभविक (empirical) गतिविधियों और समस्याओं का अध्ययन किया जाएगा। राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत हम उन राजनीतिक विचारकों के सिद्धांतों का अवलोकन करेंगे जिन्होंने राजनीतिक कार्यकलापों और समस्याओं को समझने और सुलझाने के प्रयास किए हैं। राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन राजनीतिक सिद्धांतों का आनुभविक प्रतिरूप (*counterpart*) है। इस विभाग का अध्ययन केवल समकालीन

पाश्चात्य सस्थाओ तक सीमित नही होगा ; इसमे प्रमुख नव-विकसित राज्यो की सस्थाओ के अध्ययन का समावेश भी होगा[1]।

ऊपर जिस विभाग को मोर्गेनथो ने 'राजनीतिक समाजशास्त्र' कहा है, रोडी आदि लेखकों ने उसे 'गत्यात्मक राजनीति' (Political Dynamics) का नाम दिया है। उनके अनुसार, इसके अतर्गत राजनीतिक दल, दबाव-गुट, लोकमत एव प्रसार, प्रचार और अर्थ-विज्ञान (Semantics) की समस्याओ का अध्ययन आ जाता है[2]। हमारे मतानुसार मोर्गेनथो के विचार युक्तिसगत और राजनीति-विज्ञान के नव-विकसित स्वरूप के अनुकूल है।

6. राजनीति-विज्ञान और उसके विभेद

राजनीति-विज्ञान मे राजनीति सिद्धात, राजनीति दर्शन, और राजनीतिक विचार आदि अनेक शब्द हैं जो बहुधा अस्पष्ट अर्थों मे प्रयुक्त किए जाते हैं। यहाँ हम उनके यथातथ अर्थों पर विचार करेंगे।

राजनीति-सिद्धांत—राजनीति-सिद्धात (Political Theory) राजनीति-विज्ञान की वह शाखा है जिसमे हम विशेषज्ञो द्वारा एकत्रित किए गए तथ्यो के आधार पर सामान्यीकरण (generalise) करते हैं और सबधानुमान (inference) एव निष्कर्ष (conclusion) निकालते हैं। कोकर के अनुसार, "जब हम राजनीतिक शासन, उसके विभिन्न रूपो तथा प्रक्रियाओ का वर्णन, उनकी तुलना तथा मूल्याकन करते हैं, और ऐसा करने मे तात्कालिक एव अल्पकालीन प्रभावो की अपेक्षा हम मनुष्यो की चिरतन आवश्यकताओं, इच्छाओ और मतो को ध्यान में रखते हैं — तो यही राजनीति-सिद्धात होता है[3]। जैकोब्सन के अनुसार राजनीति-सिद्धात का उद्देश्य 'राजनीतिक प्रज्ञान (wisdom) की खोज' है। तथापि न तो राजनीति की कोई शाश्वत व्याख्या देना सभव है, और न इसका यह आग्रह ही है कि इसके सिद्धात निश्चित एव निर्विवाद हैं। वस्तुत राजनीति की समस्याएँ और प्रश्न शाश्वत है, किंतु प्रत्येक पीढी को नए सिरे से इनका समाधान करना पडता है। राजनीति-सिद्धात केवल यह चाहता है कि महत्त्वपूर्ण विचारो का विवेचन 'नीर क्षीर-विवेक'

---

1 देखिए Hans J. Morgenthau's "Power as a Political Concept" in *Approaches to the Study of Politics*, पृष्ठ 17.

2 देखिए उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 10 और 422.

3 देखिए Francis W. Coker, *Recent Political Thought*, न्यूयार्क, 1934, पृष्ठ 3.

से किया जाए[1]।

जूविनेल के अनुसार, एक विज्ञान के सिद्धांतों से पुरानी भ्रांतिपूर्ण धारणाएँ निकाल देनी चाहिए[2]; तथापि परम्परागत राजनीति-सिद्धांत केवल कालक्रमानुसार सिद्धांतो का संग्रह-मात्र बन कर रह गया है। राजनीति-शास्त्र के इस ऐतिहासिक ज्ञान को राजनीति-विज्ञान की अन्य शाखाओं से और समकालीन राजनीतिक परिस्थितियो से सम्बद्ध करने के बहुत कम प्रयास किए गए हैं[3]। एल्फ्रेड कोब्बन के अनुसार, पाश्चात्य लोकतंत्र के बुनियादी विचारो की व्याख्या 19वी शताब्दी के अंत मे हुई थी, और उसके बाद राजनीतिक सिद्धांतो की कोई नवरचना नहीं हुई। अतः राजनीतिक तथ्यों और राजनीतिक सिद्धांतो के बीच की खाई बढ़ गई है[4] और बौद्धिक रूप में राजनीतिक सिद्धांत निष्फल हो गए हैं। उदाहरण के लिए, पिछले दशकों मे राजनीतिक क्षेत्र मे अधिकतर महत्वपूर्ण विचार समाजशास्त्रियो, दार्शनिको और अर्थशास्त्रियो से आए हैं[5], राजनीतिशास्त्रियो से नही।

मोर्गेनथो के अनुसार, वर्तमान राजनीति-सिद्धांत हमारी समकालीन समस्याओं को सुलझाने मे विशेष सहायक नही होता। अतः राजनीतिशास्त्रियों ने सतत प्रयत्न किए हैं कि वे समकालीन राजनीतिक जगत् के अधिक से अधिक समीप आ सकें। पिछले दिनों काफी अनुभव पर आधारित शोध हुई है, लेकिन इनका परिणाम भी बहुत संतोषजनक नही निकला। अनेक बाधाओं के रहते हुए भी, राजनीति-विज्ञान मे शनैः शनैः अनुभव पर आधारित सिद्धांतों का उद्भव हो रहा है। तथापि, समाज को वे बातें बताना जो वह सुनना नही चाहता, लोकप्रिय नही होता। किंतु अनुभव पर आधारित सिद्धांत निहित स्वार्थों — बौद्धिक सामान्य राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक — के लिए विध्वंसक और क्रांतिकारी हुए बिना नहीं रह सकते। ऐसी अवस्था में राजनीतिशास्त्रियो के लिए सत्य के प्रति नैतिक आस्था बनाए रखना और सरल

1 Norman A Jocobson, "The Unity of Political Theory, Science, Morals and Politics" in *Approaches to the Study of Politics*, पृष्ठ 122-124

2 देखिए Bertrand de Jouvenal, *The Pure Theory of Politics*, लन्दन, 1963, पृष्ठ 31

3 मौर्गेनथो, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 71.

4 देखिए Alfred Cobban, "The Decline of Political Theory" in *Political Science Quarterly*, September, 1953.

5 देखिए मौर्गेनथो, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 71.

मार्ग द्वारा उपलब्ध सामाजिक प्रलोभनो को छोडना बडे साहस का काम है। केवल गिने चुने व्यक्ति ही लोकनिंदा, सामाजिक बहिष्कार और राजदड की चिंता किए बिना राजनीतिक सत्य की खोज मे अपना सर्वस्व अर्पण कर सकते हैं[1], और उन्ही पर राजनीति सिद्धात की प्रगति और भविष्य निर्भर है।

राजनीतिक विचारधारा और राजनीति सिद्धान्त—राजनीति-सिद्धात और राजनीतिक विचारधारा (Political Thought) मे भेद है। राजनीति-सिद्धात किसी व्यक्ति विशेष अथवा एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियो के विचार हैं। इसके विपरीत, राजनीतिक विचारधारा काल विशेष में, किसी देश अथवा समाज के मान्य राजनीतिक विचारो का द्योतक है। इस प्रकार, राजनीतिक विचारधारा में केवल वही विचार सम्मिलित होंगे जो कम से कम कुछ समय के लिए लोगो मे प्रभावी रहे हो, अथवा जिनसे लोगो को अपने व्यवहार मे प्रेरणा मिली हो, फिर चाहे इनका प्रकाशन किसी विद्वान ने प्रभावशील ढग से किसी ग्रथ में किया हो अथवा नही। उदाहरण के लिए, मध्यकालीन यूरोप को प्राय 'अराजनीतिक' घोषित कर दिया जाता है। वस्तुत यूरोप के इतिहास में यह समय बहुत सृजनात्मक रहा है। इसी युग मे अनेक नेशनैलिटियो (nationalities) की उत्पत्ति हुई, जिनमे से अनेक आगे जाकर राष्ट्रो के रूप मे प्रकट हुईं। किंतु, क्योकि वह उथल-पुथल का युग था, इसलिए जनसाधारण इस युग की राजनीतिक विचारधारा को जो अनेक वाद विवादो, आदोलनो और नई सस्थाओं के रूप मे प्रकट हुई, देख नहीं पाते।

राजनीति सिद्धात और राजनीतिक विचारधारा का भेद बार्कर ने स्पष्ट किया है। उसके अनुसार ये एक-दूसरे से भिन्न हैं। राजनीति सिद्धात कुछ चिंतको के विचारो को बताता है, भले ही ये विचार उस समय की परिस्थितियों तथा तथ्यो से कोसो दूर हो। इसके विपरीत, राजनीतिक विचारधारा एक विशेष युग का वह अतर्निहित दर्शन है जो व्यक्तियो को कार्य करने की प्रेरणा देता है अथवा उनके जीवन को प्रभावित करता है। इनमे से प्रथम सुस्पष्ट, चेतन और (बहुत कुछ) अनासक्त है जबकि दूसरा अतर्निहित, अचेतन और सजीव कार्यों के प्रवाह म डूबा रहता है[2]।

---

1 वही, पृष्ठ 71-72

2 देखिए हर्नशॉ द्वारा सम्पादित *The Social and Political Ideas of Some Great Medieval Thinkers*, लन्दन, 1923 में बार्कर का लख पृष्ठ 10-11.

उक्त भेद के महत्त्वपूर्ण होने पर भी, प्राय राजनीतिक लेखक इन शब्दों को समान अर्थ मे प्रयुक्त कर देते हैं।

राजनीति दर्शन और राजनीति विज्ञान—पिछले दिनों, कुछ विद्वान इस विषय का नामकरण 'राजनीति-दर्शन' (Political Philosophy) करना चाहते थे, किंतु उनका यह मत स्वीकार नहीं किया गया। इसका प्रथम कारण यह था कि राजनीति दर्शन का क्षेत्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा संकुचित है। दूसरे, राजनीति-दर्शन अमूर्त और आदर्शात्मक है जबकि राजनीति विज्ञान का एक भाग वर्णनात्मक और विवेचनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक तथा अनुभव-आश्रित है। तीसरे, राजनीति दर्शन राजनीतिक संगठन के सिद्धांतों की चर्चा बहुत संक्षेप मे करता है, और वह भी केवल यह बताने के लिए कि प्रस्तुत राजनीतिक व्यवस्था मे कौन-से परिवर्तन अपेक्षित हैं। भविष्य मे अपनाने योग्य मार्ग पर इसका ध्यान अधिक रहता है, जबकि राजनीति विज्ञान का वर्तमान से भी घनिष्ठ संबंध रहता है और वह यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि किस प्रकार शनै शनै वर्तमान राजनीतिक स्थिति बनी। चौथे, जैसा कि पोलक ने कहा है, राजनीति दर्शन एक अर्थ म 'राजनीति के विज्ञान से पहले जन्म लेता है। प्राचीन यूनान मे इसका उदय इसलिए संभव हो सका कि वहाँ ऐसे अनेक नगर राज्य और संविधान थे जहाँ तरह-तरह के राजनीतिक प्रयोग हो रहे थे। इनके पारस्परिक संबंध के विषय मे गिलक्राइस्ट कहते हैं कि राजनीति-विज्ञान, राजनीति दर्शन की बुनियादी मान्यताओं पर आधारित है। दूसरी ओर, राजनीति दर्शन को राजनीति विज्ञान द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर निर्भर रहना पड़ता है।

पिछले दिनों, राजनीति-दर्शन की कड़ी आलोचना की गई है। कहा गया है कि यह पुराने और पिछड़े हुए आदर्शों की स्थापना करता है। कुछ विद्वानों का सुझाव है कि ऐसे आदर्शात्मक ज्ञान के स्थान पर हमे एक आदर्शविहीन और मूल्यविहीन विज्ञान की स्थापना करनी चाहिए[1]। इस मत के अनुयायी राजनीति-दर्शन के क्षेत्र और उसके महत्त्व को कम करना चाहते हैं। वैल्डन के अनुसार, राजनीति-दर्शन का उद्देश्य पारिभाषिक उलझनों को प्रकाश मे लाकर और उन्हें दूर करना होना चाहिए, किसी सिद्धांत का खंडन-मंडन

---

1 देखिए *Approaches to the Study of Politics*, मे कार्ल जे० फ्रायडरिच का लेख "*The Political Philosophy and Science of Politics*", पृष्ठ 172

करना नहीं[1]। इसके विपरीत, दूसरा मत यह है कि राजनीति-दर्शन की समस्याएँ शाश्वत हैं और प्रत्येक नयी पीढ़ी को नए सिरे से उनका हल निकालना पड़ता है[2]। ओकशोट के अनुसार, एक अर्थ मे, राजनीति-दर्शन उन समस्याओ का इतिहास है जिनका समाधान करने के लिए दार्शनिकों ने यत्न किए। लेकिन, यह मत-मतातरो का इतिहास नहीं है, और न यह एक ऐसा प्रगतिवादी विज्ञान है जो ठोस परिणामो का सकलन करता हो अथवा ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचता हो जिनके आधार पर विश्वासपूर्वक आगे की खोजो मे लगा जा सके। इसमे यह क्षमता भी नही है कि हमे निर्देश दे सके अथवा हमारा पथ-प्रदर्शन कर सके। अधिक से अधिक धैर्यपूर्वक वह उन सामान्य विचारो की व्याख्या कर सकता है जिनका हमारी राजनीतिक गतिविधियो से गहरा सबध है। साथ ही, वह हमे सोचने-समझने की वक्रता, अस्पष्ट बयानो तथा असगत युक्तियो से बचा सकता है[3]।

कार्ल फ्राइडरिच के अनुसार 'राजनीति-दर्शन' दर्शनशास्त्र और राजनीति-विज्ञान की वह शाखा है जो इन दोनो विज्ञानो को एक सूत्र मे पिरोती है। राजनीति-दर्शन राजनीति-विज्ञान के तथ्यो और निष्कर्षों को दर्शन-शास्त्र तक लाता है; साथ ही, वह दर्शनशास्त्र के सगत पहलुओ को राजनीति-विज्ञान के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इस प्रकार राजनीति-विज्ञान और राजनीति-दर्शन का इतना घनिष्ठ सबध है कि इनमे से किसी एक का अध्ययन बिना दूसरे की सहायता के नही किया जा सकता। उसके अनुसार, आलोचको द्वारा राजनीति-विज्ञान मे 'दर्शन' के विरुद्ध प्राय. वही युक्तियाँ दी जाती हैं जो राजनीति-विज्ञान मे 'सिद्धात' के विरुद्ध दी जाती हैं। कुछ विचारको की कामना है कि एक विधिवत् राजनीति-विज्ञान बने। उनके अनुसार राजनीतिक दार्शनिक सैद्धातिक प्रश्न उठाते हैं, और ऐसा आत्मनिष्ठ (Subjective) मूल्याकन करते हैं जो मूलत. असत्य होता है[4]। किंतु डुवाइट वाल्डो कहते हैं कि ऐसे शिक्षक भी, जो राजनीति-विज्ञान को आदर्शविहीन और मूल्यविहीन रखना चाहते हैं, इसमे सफल नही हो पाते। तथ्यो को छाँटने मे, उनको

---

1 देखिए टी. डी. वेल्डन का लेख, "Political Principles" पीटर लास्लैट द्वारा संपादित ग्रन्थ, *Philosophy, Politics and Society*, ऑक्सफोर्ड, 1956, पृष्ठ 23-24.

2 वही, जिन्हसे रोजर्स अपने लेख में इस मत को उद्धरित करते हैं, पृष्ठ 212.

3 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 18-20.

4 देखिए उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 173 और 183.

प्रस्तुत करने मे, शोध का विषय निर्धारित करने मे, तथा विचारो के प्रकाशन की भावभगी और भाषा से, अनजाने मे वे मूल्यो की ओर इगित कर देते हैं। मूल्यो की शिक्षा देने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई विद्वान अपने नैतिक विचारो की स्पष्ट व्याख्या या घोषणा करे। वास्तव मे, यह एक कम प्रभावशाली ढग होगा। इससे अधिक प्रभावी विधि है—'मूल्यो को निर्धारित न करके केवल उनकी ओर इशारा भर कर देना'। अत यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि, हम चाहे या न चाहे, मूल्यो की चर्चा हमारे अध्यापन मे आ ही जाती है। हममे से सम्भवत कुछ मूल्यो की चर्चा करने मे इसलिए सकोच करते है कि जिन मूल्यो मे उनकी आस्था है उनका प्राय कोई सम्माननीय बौद्धिक आधार नही होता[1], और उनके लिए यह एक बडी द्विविधा की बात होती है। वस्तुत सभी राजनीतिशास्त्री अपने ढग पर राजनीतिक सत्य और प्रज्ञान की खोज मे सलग्न हैं। किंतु प्रश्न यह है कि यह सत्य है क्या ? इस बुनियादी प्रश्न का सही उत्तर देने पर ही उनके दावे को स्वीकार किया जा सकता है[2]।

राजनीति-दर्शन और राजनीति-सिद्धात—हम ऊपर देख आए हैं कि राजनीति-सिद्धात और राजनीति-दर्शन के बीच कोई निश्चित और सुस्पष्ट विभाजक रेखा नही है। राजनीति दर्शन का एक बडा भाग, समय पाकर राजनीति-सिद्धात के इतिहास का एक अग बन जाता है। दूसरी ओर अनेक पुराने सिद्धातों को इसलिए त्यागना पडता है कि राजनीति-दर्शन द्वारा आलोचना किए जाने पर उनकी त्रुटियाँ स्पष्ट हो गई हैं। इस प्रकार 'राजनीति-दर्शन' एक ओर तो राजनीति-सिद्धात के क्षेत्र को विशद् बनाता है और दूसरी ओर उसे निर्धारित सीमा मे रखने के लिए सकुचित भी करता रहता है। वैज्ञानिक शोध से प्राप्त तथ्यो के आधार पर, वह व्याख्या करता है कि मनुष्यों के राजनीतिक प्रयास के क्या लक्ष्य होने चाहिए[3]।

राजनीतिक तथ्यो और गतिविधियो के अध्ययन के सबध मे इन दोनो का दृष्टिकोण भी भिन्न है। राजनीति-दर्शन आदर्शात्मक है जबकि राजनीति-सिद्धात आगमिक (inductive) और फलमूलक (pragmatic) है। किंतु इन

---

1 देखिए वही, उसका लेख '"Value" in Political Science Curriculum" पृष्ठ 100

2 वही, फ्राइडरिच का लेख, पृष्ठ 188

3 तुलना कीजिए, फ्रासिस ग्रैहम विल्सन से, *The Elements of Modern Politics*, न्यूयार्क, 1936, पृष्ठ 5.

दोनो मे से किसी को भी राजनीति-विज्ञान के समकक्ष नही रक्खा जा सकता। ये दोनो ही राजनीति-विज्ञान के अतर्गत आ जाते हैं।

7. क्या हमारा विषय एक विज्ञान है ?

अभी तक हम यह मानते आये है कि राजनीतिक गतिविधियो के अध्ययन के रूप वैज्ञानिक है। किन्तु इस धारणा के सबध मे अनेक शकाएँ उठाई गई हैं। अतएव यह आवश्यक है कि हम इस विषय मे विस्तार मे विचार करे।

अनेक राजनीतिक विचारक इस बात से इन्कार करते हैं कि राजनीति का एक विज्ञान है[1]। सन् 1857 ई० मे बकिल ने कहा था कि 'ज्ञान की वर्तमान अवस्था मे, राजनीति एक विज्ञान तो है ही नही, वह एक अत्यत पिछडी हुई कला है'[2]। उसके कुछ वर्ष पूर्व सन् 1843 ई० मे जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी इसी प्रकार की शका की थी[3]। यद्यपि अब तक हमारे विषय के अध्ययन मे पर्याप्त उन्नति हो चुकी है, फिर भी ऐसी शकाएँ की जाती रही है। मेटलैण्ड ने इस बात पर दु ख प्रकट किया कि राजनीति के लिए 'विज्ञान' नामक सज्ञा का प्रयोग किया जाता है[4]। ब्राइस ने कहा था कि राजनीति के लिए विज्ञान बन सकना लगभग असभव है[5]। चार्ल्स बीयर्ड के अनुसार, न यह सभव है और न वाञ्छनीय ही कि राजनीति का एक विज्ञान हो[6]। कैटलिन भी कहता था कि अभी तक किसी मान्य अर्थ मे राजनीति एक विज्ञान नही बन पाई[7]। अर्नेस्ट बार्कर भी राजनीति के अध्ययन के साथ विज्ञान की सज्ञा के मेल को पसद नही करता[8]। यद्यपि उक्त विचार आज से कम से कम 35 वर्ष पूर्व व्यक्त किए गए थे और अब हमारे विषय ने काफी उन्नति कर ली है, तथापि यह आवश्यक हो जाता है कि इस विषय के विवेचन के पूर्व हम 'विज्ञान'

---

1 तुलना कीजिए एडवर्ड मैक्चैश्ने सेट से, *Political Institutions : A Preface*, न्यूयार्क, 1938, पृष्ठ 29-30

2 देखिए *History of Civilization in England*, लन्दन, 1936, खड 3, पृष्ठ 301.

3 देखिए *System of Logic*, आठवाँ संस्करण, लन्दन, 1900, भाग 6

4 देखिए *Collected Papers*, खड 1, पृष्ठ 302

5 देखिए *Modern Democracies*, लन्दन, 1921, भाग 1, पृष्ठ 14

6 देखिए *Research in Social Sciences* में, सम्पादक विल्सन गी, न्यूयार्क, 1929, पृष्ठ 271.

7 देखिए *The Science and Method of Politics*, न्यूयार्क, 1927, पृष्ठ 142 और 147.

8 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 3.

शब्द के अर्थ को भलीभाँति समझ लें।

'विज्ञान' शब्द का अर्थ—'विज्ञान' ज्ञान की वह शाखा है जो तथ्यों को व्यवस्थित रूप में सजोती है और सामान्य नियमों की खोज निकालने का यत्न करती है[1]। सर्वप्रथम, यह तथ्यों को एकत्रित करती है और उनके पारस्परिक कार्य-कारण-संबंध प्रदर्शित करते हुए कुछ मान्य निष्कर्षों तक पहुँचने का प्रयत्न करती है। हक्सले के अनुसार विज्ञान एक ऐसा सम्यक् ज्ञान है जो युक्ति और साक्ष्य पर आधारित है। सीयर्ड के अनुसार, इसके प्रमुख लक्षण हैं (1) एक संक्षिप्त, संगत और संबद्ध ज्ञान की संभावना, (2) तथ्यों को क्रमबद्ध करना और उनमें कार्य-कारण-संबंध स्थापित करने के उपरांत सामान्यीकरण कर सकने और पूर्वकथन (prediction) करने की क्षमता, (3) प्राप्त संबंधानुमानों और निष्कर्षों की जाँच की संभावना। इनमें कार्ल फ्राइडरिच ने दो नई बातें जोड़ने का सुझाव दिया है (1) अध्ययन विधि के संबंध में व्यापक सहमति, और (2) इसके अध्ययन में लगे हुए व्यक्तियों का समुचित प्रशिक्षण। किंतु एस्लिंगर के अनुसार, विज्ञान केवल युक्ति और तर्क पर आधारित होता है, प्रयोग और पूर्वकथन उसके लिए आवश्यक नहीं है। हाँ, उसके अध्ययन की सम्यक् प्रणालियाँ अवश्य होनी चाहिए[2]।

जो विज्ञान भौतिक अथवा प्राकृतिक बातों से संबंधित हैं, उन्हें भौतिक अथवा प्राकृतिक विज्ञान कहते हैं और सामाजिक मामलों का अध्ययन करने वाले विज्ञान सामाजिक विज्ञान कहलाते हैं। राजनीति-विज्ञान एक सामाजिक विज्ञान है।

इसके विज्ञान होने पर शंका—हम देख चुके हैं कि अनेक विद्वान इस विषय को विज्ञान मानने में संकोच करते हैं। समाजशास्त्र का जन्मदाता ऑगुस्त कौम्त (Auguste Comte) इसी विचार का था। उसके विरोध के कारण थे : (१) 'राजनीति' के लेखक इसकी अध्ययन-विधि के संबंध में एकमत नहीं हैं, (२) इसके सिद्धांत और निष्कर्ष सर्वमान्य नहीं हैं, (३) इसका लगातार विकास नहीं हुआ, और (४) हमें यह ऐसी सामग्री प्रदान नहीं करता जिसके आधार पर हम यथातथ पूर्वकथन कर सकें। बाद में आने वाले आलोचकों ने इस अध्ययन की अन्य त्रुटियों की ओर भी इशारा किया है; (५) राजनीतिक मामले इतने जटिल, परिवर्तनशील और अनियमित हैं कि खोज की वैज्ञानिक पद्धतियाँ उनके अध्ययन में कारगर नहीं हो सकतीं, (६) जो बातें राजनीतिक मामलों पर प्रभाव डालती हैं वे प्रायः अस्पष्ट और उलझी हुई होती हैं और उनको

1 देखिए *The American College Dictionary*, न्यूयार्क, 1947, पृष्ठ 1086.
2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 19 21.

समझना अथवा उन पर नियंत्रण रख सकना अत्यंत कठिन है, (७) उपर्युक्त कारणो से यथातथ्य पूर्वकथन करना और सिद्धातो की सच्चाई को परखना लगभग असभव हो जाता है, (८) तथ्यो को एकत्रित करने, उनको विधिवत् सजाने और उनसे निष्कर्ष निकालने मे राजनीतिक अनुसन्धाता का अपना व्यक्तित्व और उसका दृष्टिकोण भी कुछ न कुछ प्रभाव डाले बिना नही रहता। अनासक्त होने पर भी भौतिक और प्राकृतिक वैज्ञानिको के समान वह पूर्णत वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष नही रह सकता। उसका पालन पोषण, शिक्षा, सामाजिक वातावरण और जीवन-वृत्ति प्राय उसके दृष्टिकोण को प्रभावित किए बिना नहीं रहते।

राजनीतिक अध्ययन के 'वैज्ञानिक' होने म केवल बाहरी आलोचक ही आपत्ति नही करते, अपितु अनेक राजनीतिशास्त्री भी इस सबध मे सशकित हैं। सन् 1843 म, मिल ने इस बात पर दुख प्रकट किया कि राजनीतिक चितक स्वय भी राजनीति के विज्ञान बन जाने की सभावना को स्वीकार नही करते, और जो विद्वान ऐसा मानते हैं, उनमे अपने स्वप्नो को साकार बनाने की क्षमता नही है[1]। तथापि, मिल और बकिल[2] दोनो ने इस बात को स्वीकार किया कि आगे चलकर राजनीतिक अध्ययन, वैज्ञानिक बन सकता है। किंतु अन्य विचारक इतने आशावादी नहीं हैं। उदाहरण के लिए मोस्का का मत है कि विज्ञान विशेष सावधानी और समुचित अध्ययन विधि का प्रयोग करते हुए प्रस्तुत कार्यकलापो और गतिविधियों के अवलोकन की प्रणाली का एक ऐसा फल है जो निर्विवाद सत्य के स्तर तक पहुँच चुका हो। उसके अनुसार 'वर्तमान अवस्था मे राजनीति विज्ञान सच्चे रूप मे इस अवस्था तक नही पहुँच सका है'।

विज्ञान सदैव यथातथ्य नहीं होते—इन आलोचको के विचारो मे सत्य का कुछ अंश है। वस्तुत सामाजिक कार्यकलापो तथा गतिविधियो के वैज्ञानिक अध्ययन म अनेक बाधाएँ हैं। प्रकृति से ही, सामाजिक अध्ययन भौतिक अथवा प्राकृतिक विज्ञानो की तरह यथातथ नहीं हो सकते। फिर भी, जब आलोचक राजनीति के विज्ञान बनने की सम्भावना को नहीं मानते तब वे एक ऐसी 'अति' तक पहुँच जाते है जिसको नही माना जा सकता। सभवत, वे किसी अध्ययन के वैज्ञानिक होने के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि उसके निष्कर्ष सुस्पष्ट और यथातथ हो और साथ ही उसमे पूर्वकथन करने की क्षमता हो। यह विचार विज्ञान के स्वरूप को भलीभाँति न समझने

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 547.

2 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 361.

के कारण फैला हुआ है। वस्तुत. प्राकृतिक विज्ञानो मे भी 'ऋतु-विज्ञान आदि कुछ ऐसे ज्ञान हैं जो यथातथ पूर्वकथन नही कर पाते। किंतु उनको 'विज्ञान' मानने मे कोई आपत्ति नही करता। फिर, सामाजिक विज्ञानो के सबध मे एक भिन्न कसौटी क्यो हो ?

सामाजिक विज्ञानो की कमियाँ—यदि हम यह मान लें कि विज्ञान के लिए यह आवश्यक नही है कि उसके निष्कर्ष सर्वव्यापक हो और उसके नियम तथा पूर्वकथन यथातथ और अटल हो, तो फिर हमे नये सिरे से विचार करना पडेगा कि किसी अध्ययन को 'वैज्ञानिक' बनने के लिए उसका स्वरूप कैसा होना चाहिए। हमारा मत है कि इस परख मे उस ज्ञान का रीतिविधान (methodology) ही निर्णायक होना चाहिए। यदि किसी ज्ञान की अध्ययन-विधि वैज्ञानिक है और उसके अनुसधाता वैज्ञानिक ढग से अपने अध्ययन और खोज मे लगे हुए हैं तो कोई कारण नही कि हम ऐसे ज्ञान को 'विज्ञान' न कहे।

जहाँ तक सामाजिक शास्त्रो का प्रश्न है व इस कसौटी पर खरे उतरते है, तथापि उनके अध्ययन के मार्ग मे अनेक बाधाएं हैं। उदाहरण के लिए, जहाँ प्राकृतिक विज्ञान जड-पदार्थो अथवा पशु-पक्षियो के जीवन से सबधित हैं, सामाजिक विज्ञान मानव समाज के एक सदस्य के रूप मे व्यक्ति का अध्ययन करते हैं। भौतिक विज्ञानो मे अपनी अध्ययन-सामग्री को देखने-समझने मे और उन पर प्रयोग करने मे विशेष कठिनाई नही होती। किन्ही दी हुई स्थितियो मे, सभी जगह उनके पदार्थ एक-जैसे होगे और समान व्यवहार करेंगे। उदाहरण के लिए, पागलखाने के अतिरिक्त सभी जगह दो और दो का जोड चार होगा। इसी प्रकार, दो भाग हाइड्रोजन को एक भाग आक्सीजन से मिलाने पर सभी स्थानों पर जल बन जायगा। किंतु मानव व्यवहार के अध्ययन मे इस प्रकार की एकरूपता नही होती। मनुष्यो के उद्देश्य प्राय. मिश्रित और जटिल होते है। साथ ही, प्रत्येक मनुष्य को विवेक और इच्छाशक्ति प्राप्त है, अतएव अपेक्षाकृत वह एक स्वतत्र प्राणी होता है। अत. एक ही स्थिति मे विभिन्न व्यक्तियो का व्यवहार भिन्न हो सकता है। इसलिए, जिन तथ्यो के आधार पर हम राजनीतिक सिद्धात स्थापित करना चाहते हैं उनमे त्रुटि के रह जाने की सभावना रहती है। दूसरे प्राकृतिक पदार्थो के अध्ययन मे हम किसी पदार्थ को पृथक् कर, प्रयोगशाला की नियत्रित व्यवस्था मे, उसके व्यवहार का अध्ययन कर सकते हैं। इसलिए कार्य-कारण सबध स्थापित करने मे विशेष कठिनाई उपस्थित नही होती। किंतु, सामाजिक मामलो मे यह बात इतनी आसान नहीं है। मनुष्यो के

स्वभाव, उनके उद्देश्यो और दृष्टिकोणो मे भिन्नता के कारण हमारे लिए यह कहना बहुत कठिन होता है कि उनके राजनीतिक व्यवहार पर क्या-क्या प्रभाव पड रहे हैं अथवा वे किसी स्थिति-विशेष मे कैसा राजनीतिक व्यवहार करेंगे। उदाहरण के लिए, यदि किसी उपचुनाव मे एक कांग्रेसी सदस्य की हार हो जाती है तो उससे हम यह परिणाम नही निकाल सकते कि कांग्रेस और उसके नेता अपनी लोकप्रियता खो बैठे हैं। हो सकता है कि जो उम्मीदवार खडा किया गया था वह लोकप्रिय न हो। यह भी सभव है कि उपचुनाव के ठीक पहले उस क्षेत्र मे कोई ऐसी घटना हो गई हो जिसके कारण कांग्रेस अथवा उसका उम्मीदवार अपनी लोकप्रियता खो बैठे हो। यह भी सभव है कि कांग्रेस ने जो उम्मीदवार खडा किया हो वह उस जाति अथवा सम्प्रदाय का न हो जिसका उस क्षेत्र मे बहुमत है। इसी प्रकार की अनेक बातो के कारण कांग्रेस की हार हो सकती है। इन कारणो का ठीक से पता लगाने के लिए हमे धैर्यपूर्वक शोध करनी होगी। फिर भी, सभव है कि हमारी खोज मे कुछ बातें ध्यान से रह जाएँ। ऐसा होने पर हमारे शोध के परिणाम भी पूर्णतः ठीक न होंगे। प्राय यह देखने मे आया है कि इगलैंड और अमेरिका मे चुनावो के समय अनेक अनुसन्धाता, लोकमत का सग्रह कर, पूर्वकथन करते हैं कि कौन व्यक्ति अथवा राजनीतिक दल चुनाव म विजयी होगा। किंतु सावधानी रखने पर भी, अनेक बार उनके पूर्वकथन ठीक नही निकलते। अतः यह स्पष्ट है कि मानव व्यवहार और सामाजिक मामलो मे सही निष्कर्ष निकालना कठिन है। दूसरे, यह कठिनाई इसलिए और भी बढ जाती है कि एक राजनीतिक अनुसधाता अपनी अध्ययन-सामग्री, अर्थात् मनुष्यो को प्रयोगशाला की स्थितियो मे रखकर उनका अध्ययन नही कर सकता और न वह अपने निष्कर्षों अथवा सिद्धातों की समुचित जाँच या परीक्षा ही कर सकता है। तीसरे, जहाँ एक ओर भौतिक अथवा प्राकृतिक वैज्ञानिक के लिए माप-जोख के उपकरण प्रस्तुत होते हैं, एक समाजशास्त्री के पास उसकी सहायता के लिए ऐसे कोई साधन उपलब्ध नही हैं। इन कठिनाइयो के रहते हुए भी सामाजिक विज्ञान उन्नति की ओर अग्रसर हैं और उनके सिद्धात शनै शनै. प्रशुद्ध (precise) होते जा रहे हैं। फिर भी यह सभव नही है कि वे भौतिक विज्ञानो के समान यथातथ हो जाएँ। इसमे दोष अनुसन्धाताओ का नही, अपितु, जैसा कि अरस्तू ने बताया उनकी अध्ययन-सामग्री का है। एक विज्ञान अपने अनुसन्धाताओ से केवल यह माँग कर सकता है कि उनके अध्ययन मे किसी प्रकार का भुकाव या रुझान न हो। वे सावधानी रखें कि उनके व्यक्तिगत विचार अथवा दृष्टिकोण उनके अध्ययन मे विकार न ला दें। 'वैज्ञानिक'

होने के नाते सच्चाई की ओर उनको विशेष ध्यान देना चाहिए, परिणामों की ओर नहीं।

राजनीति एक विज्ञान बन रही है—हम यह मानते हैं कि राजनीति-विज्ञान भौतिक विज्ञानों के समान यथातथ नहीं है। इसके सिद्धांत और निष्कर्ष अनिश्चित हैं और इसके पूर्वकथन प्रशुद्ध नहीं होते। फिर भी जैसा सन् १६०६ ई० में, अमरीकी राजनीति-समिति के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए लार्ड ब्राइस ने कहा था, यह ऋतु विज्ञान के समान एक विज्ञान है। यह ठीक है कि मानव प्रवृत्तियाँ जटिल और अनिश्चित होती हैं, परम्पराएं और वातावरण भी अपना प्रभाव डालते हैं, फिर भी 'मानव स्वभाव की प्रवृत्तियों में जो तारतम्य और एकरूपता है उसे हम समझ सकते हैं और उसके अध्ययन से लाभ उठा सकते हैं'[1]। माना कि हम सही-सही पूर्वकथन नहीं कर पाते, फिर भी हम सम्भाव्य सत्यों की खोज कर सकते हैं और जैसा कि सेम्युल बटलर ने कहा है, 'सम्भावनाएँ हमारे जीवन का पथ-प्रदर्शन करती हैं'। लार्ड ब्राइस के अनुसार भी, प्रति वर्ष नए-नए अनुभव हमें जो नई सामग्री देते हैं वे राजनीति के नियमों को समझने में बहुत सहायक होते हैं।

इसके सिद्धांतों के संबंध में राजनीतिशास्त्रियों में मतभेद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। राजनीति-विज्ञान केवल एक यथार्थवादी (positive) विज्ञान ही नहीं है जो तथ्यों को एकत्रित करता हो और उनमें कार्य-कारण-संबंध स्थापित करते हुए उन्हें संयोजित करता हो। यदि राजनीति-विज्ञान केवल यही होता तो संभवतः मतभेद के अवसर कम होते और आवश्यकता केवल यह होती कि अध्ययन करने वाले का दृष्टिकोण निरपेक्ष हो और उसका विश्लेषण वैज्ञानिक। किंतु राजनीति-विज्ञान आदर्शक (normative) भी है। वह केवल तथ्यों और परिस्थितियों का अध्ययन ही नहीं करता, अपितु उन राजनीतिक परिवर्तनों का अध्ययन भी करता है जो उसे वांछित लक्ष्यों की ओर ले जाने के लिए आवश्यक हैं। यही नहीं, प्रत्येक चिंतक के मूल्यांकन का मापदण्ड एक-सा नहीं होता, अतएव राजनीतिक व्यवहार के वांछित उद्देश्यों के संबंध में भी उनमें मतभेद होता है, और इन सब का प्रभाव उसके अध्ययन पर भी पड़ता है। इन सब कठिनाइयों के रहते हुए भी, ऐसे अनेक निष्कर्ष निकल चुके हैं जिनके संबंध में विद्वान् बहुत-कुछ एकमत हैं। उदाहरण के लिए, आज विद्वानों में शायद ही इस बात पर मतभेद हो कि यदि किसी प्रशासनिक विभाग में निपुणता अपेक्षित है तो पदों को अल्पकालीन अवधि के

1 *American Political Science Review*, 1909, खंड 3, पृष्ठ 1-3.

लिए निर्वाचन से न भर कर उनके लिए स्थायी नियुक्तियाँ करनी चाहिए[1]। इसी प्रकार, यदि आप चाहते है कि न्यायाधीश निष्पक्ष, निर्भीक और स्वतंत्र हो तो उनके पद का कार्यकाल सुरक्षित होना चाहिए। इसी प्रकार, यदि शक्तियो का केन्द्रीकरण कर दिया जाए और उस पर कोई अकुश न हो तो बहुत सभव है कि पदाधिकारियो मे उत्तरदायित्व की भावना का लोप हो जाए। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे-जैसे राजनीति विज्ञान उन्नति कर रहा है, इसके सर्वमान्य सत्यो और सिद्धातो की सख्या भी उत्तरोत्तर बढती जा रही है। जैसाकि अपादोराय ने कहा, "जिस मात्रा मे अध्ययन किए जाने वाले तथ्यो की सख्या बढेगी, उनके अवलोकन के क्षेत्र की सीमा बढेगी, और वातावरण के अध्ययन मे सावधानी बढेगी, उसी मात्रा मे प्रबुद्धता और उसके निष्कर्षों का महत्त्व भी बढ जाएगा[2]।

अब राजनीतिक लेखक अपने अध्ययन की समुचित विधि के सबध मे बहुत-कुछ एकमत होने लगे हैं। ऐसी दशा मे कोई कारण नही है कि हम अपने विषय को 'विज्ञान' की सज्ञा न दें। किंतु हमे यह मानना पडेगा कि राजनीति-विज्ञान अभी भी सामाजिक विज्ञानो मे सबसे कम विकसित विज्ञान है। अतएव, राजनीति वे विज्ञान का दृढ निर्माण करने के लिए हमे बहुत प्रयत्न करने होगे। इसके लिए निरतर खोज और समुचित रीति-विधान की अत्यत आवश्यकता है। निश्चय ही, इसके अध्ययन के लिए अभी प्रशस्त राजमार्ग नही बने। लेकिन अनेक पुरोगामी विद्वानो ने सुगम पगडडियाँ अवश्य बना दी हैं जिन पर चल कर हम इसका निर्माण कर सकते है। और इसकी आवश्यकता भी है क्योकि बर्नार्ड शॉ के मतानुसार, "इस विज्ञान के बिना मानव सभ्यता की रक्षा नही हो सकती"।

राजनीति विज्ञान एक कला भी है—कला हमे व्यावहारिक निर्देश देती है। वह इस बात का प्रयास है कि आदर्शों को किस प्रकार प्राप्त किया जाए और किस प्रकार वर्तमान त्रुटियों को दूर किया जाए। हम देख चुके हैं कि बकिल के अनुसार राजनीति एक अत्यत पिछडी हुई कला है और इससे अध्ययन से अधिक *व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नही होता। ब्लुशली के अनुसार 'राजनीति'* एक कला है और इसका काम राजनीतिक मामलो मे व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन करना है, जबकि 'राजनीति विज्ञान' एक विज्ञान है।

किसी विषय के लिए यह आवश्यक नही है कि वह विज्ञान हो या कला।

---

1 देखिए W. B Munro, *The Government of the United States*, न्यूयार्क, 1946, पृष्ठ 6.

2 देखिए *The Substance of Politics*, मद्रास, 1957, पृष्ठ 7.

उदाहरण के लिए चिकित्सा-शास्त्र को ही ले लीजिए, वह दोनों ही है। विलियम ऐल्लिगर इस बात पर बल देते हैं कि 'विज्ञान' और 'कला' में अंतर्विरोध आवश्यक नहीं है, कला एक विज्ञान पर आधारित हो सकती है"[1]। हम आशा करते हैं कि निकट भविष्य में हमारा विषय भी एक उन्नत सामाजिक विज्ञान और कला बन जाएगा।

बिना राजनीति-विज्ञान के सम्यक् अध्ययन के विवेकपूर्ण निर्णय (इसका संबंध विषय के कला पक्ष से है) की अपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि अध्ययन से व्यक्ति सर्वदा दूरदर्शी नहीं बन जाता, तथापि बिना गंभीर अध्ययन के प्रज्ञान और दूरदृष्टि भी प्राप्त नहीं होती[2]। अतः यह उचित होगा कि राजनीतिक क्षेत्र में भी नीति और व्यवहार, दोनों ही वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित हों।

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 2+.

2 वही, पृष्ठ 8 और 40.

2
राजनीति-विज्ञान का रीतिविधान

> विज्ञान की प्रणाली से दर्शन और रीति-विधान का उन बौद्धिक प्रक्रियाओं से अभिप्राय है जिनके उपयोग से, प्रस्तुत सामग्री के आधार पर, वे उन सत्यों को पाने का प्रयत्न करते हैं जो उनके लक्ष्य हैं, और जिनकी वे खोज, निरूपण तथा जाँच करते हैं।
>
> —चार्ल्स आइज़नमैन

1. रीतिविधान की समस्या

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व, राजनीति-विज्ञान का विकास स्वीडन के अतिरिक्त और कहीं नहीं हुआ। पाश्चात्य बौद्धिक जगत् के लिए, आध्यात्मिक धारणाओं से मुक्ति पाने के बाद ही, सामाजिक विषयों का वैज्ञानिक अध्ययन करना संभव हो सका। तथापि, राजनीतिक विचारक एक लम्बे समय से इस विषय के रीतिविधान (Methodology) की समस्या पर ध्यान देते आए हैं। अरस्तू, माक्यावेली, बोदां, हॉब्स, वीको, लॉक, मोंटेस्क्यु आदि की अपनी-अपनी दृष्टियाँ और प्रणालियाँ थीं। जब एक उच्चतर ज्ञान के रूप में राजनीति का स्वतन्त्र विकास होने लगा, तब रीतिविधान का प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो गया। ओगुस्त कौम्त के अनुसार, सामाजिक विषयों के वैज्ञानिक अध्ययन की उचित प्रक्रियाएँ अवलोकन, प्रयोग और तुलना हैं।[1] जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार, प्रायोगिक और अमूर्त-ज्यामितीय प्रणालियाँ हमको गुमराह कर सकती हैं; अतएव, ठोस-निगमनिक (Concrete deductive) और ऐतिहासिक प्रणालियाँ ही अधिक उपयुक्त हैं[2]। ब्लुंत्शली के

1 देखिए मौर्गेनथो, वही, पृष्ठ 67.

2 देखिए उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 550-587.

के अनुसार ऐतिहासिक और दार्शनिक प्रणालियां ही ठीक हैं, यद्यपि आनुभविक (Empirical) और दार्शनिक ऐतिहासिक प्रणालियों के संयोजन में उसे कोई आपत्ति नहीं है। सीले ने भी आगमन (Inductive) प्रणाली को उचित ठहराया है। जेम्स ब्राइस के मतानुसार[1], अवलोकनात्मक, प्रायोगिक, और तुलनात्मक प्रणालियाँ ही इस अध्ययन के उपयुक्त हैं। गार्नर भी तुलनात्मक प्रणाली को अत्युत्तम मानता है। उसके अनुसार यह प्रणाली इतनी विशद है कि इसमें अतगन सग्रह, विन्यास (arrangement) वर्गीकरण, समन्वय, विलोपन (elimination) और निगमन आदि सभी प्रक्रियाएँ आ जाती हैं। इस दृष्टिकोण से, ऐतिहासिक प्रणाली भी तुलनात्मक प्रणाली का एक विशिष्ट रूप हो जाती है[2]।

मेरियम ने अमेरिका में राजनीति और उसकी अध्ययन विधि के विकास के चार चरण बताये हैं। सन् 1850 ई० तक, दार्शनिक और निगमन प्रणालियों पर अधिक बल दिया गया। तत्पश्चात् सन् 1900 ई० तक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक प्रणालियों का बोलबाला रहा। साथ ही, कानूनी और सविधानी प्रणालियों का व्यापक प्रयोग होने लगा। सन् 1900 से 1923 ई० तक, अवलोकन, सर्वेक्षण (survey) और माप जोख की रीतियाँ अपनाई गई। इसके बाद मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाने लगा। किंतु विभिन्न देशों में राजनीति-विज्ञान के विकास का विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि उपर्युक्त प्रणालियों और दृष्टिकोणों के अतिरिक्त कुछ अन्य रीतियाँ भी प्रयुक्त हो रही हैं। इनमें प्रमुख हैं - मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक (dialectical) भौतिकवादी प्रणाली जिसकी विशेषता समस्याओं का सर्वांगपूर्ण अध्ययन है, अर्थात् घटनाओं और गतिविधियों का अध्ययन करते समय यह उनके पारस्परिक सम्बन्धों और आश्रितता पर भी पूरा ध्यान रखती है[3]।

यह मानना पड़ेगा कि इनमें कोई भी प्रणाली राजनीति विज्ञान की सभी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती। अतएव, हमें राजनीति विज्ञान के उचित रीतिविधान पर गभीरतापूर्वक विचार करना होगा। कुछ विचारकों की दृष्टि में, हमारे विषय का वैज्ञानिक होना या न होना इस बात पर निर्भर है कि हमारी अध्ययन विधि कहाँ तक व्यक्तिगत रुझानों से उत्पन्न दोषों से रिक्त होकर एक वस्तुनिष्ठ (objective) अध्ययन को सभव बना सकी है? साथ ही, हमारे निष्कर्षों और सिद्धांतों की उपयोगिता और उनके महत्व भी

1 देखिए उपर्युक्त ग्रंथ, भाग 1, पृष्ठ 15-22.

2 देखिए उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 28.

3 देखिए *Contemporary Political Science*, पृष्ठ 17-18.

एक समुचित अध्ययन-विधि के अपनाए जाने पर निर्भर हैं।

'प्रणाली' शब्द स्वय भी अस्पष्टता और उलझनो से खाली नही है। मैसिनो साल्वाडोरी के मतानुसार, यह राजनीतिक सत्य की खोज मे व्यस्त मन की एक तर्कनापरक क्रिया है। किंतु कभी-कभी, तथ्यो को एकत्रित करने के तकनीकी ढग के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। अनेक बार, इसका प्रयोग विशेषज्ञो के दृष्टिकोण के लिए भी हुआ है। यही नही, अध्ययन और खोज के सामान्य वातावरण का उल्लेख करने के लिए भी इसका प्रयोग हो सकता है[1]। उपर्युक्त विविधताओ और उलझनो को भलीभाँति समझने पर यह आशा की जाती है कि राजनीतिशास्त्री अपने रीतिविधान का विश्लेषण, उसकी समालोचना और मूल्याकन करेंगे, और फिर वे निर्णय करेंगे कि जिन प्रणालियो को वे प्राय 'वैज्ञानिक' होने की सज्ञा दे देते हैं, क्या वे वस्तुत ऐसी है ?

2 राजनीति-विज्ञान की प्रणालियाँ

राजनीति विज्ञान की सामान्य पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं —

1 प्रयोग प्रणाली,

2. ऐतिहासिक प्रणाली,

3 अवलोकन-प्रणाली,

4 तुलनात्मक प्रणाली, तथा

5 दार्शनिक प्रणाली।

उपर्युक्त प्रणालियो का हम बारी बारी से विवेचन करेंगे।

प्रयोग-प्रणाली

कुछ लेखको के मतानुसार, राजनीति विज्ञान प्रयोगात्मक नही है। इनमे जॉन स्टुअर्ट मिल, लॉवेल और वोहाँ प्रमुख है। हम जानते हैं कि राजनीति के क्षेत्र म भौतिक विज्ञानो की तरह प्रयोग (experiments) नही किए जा सकते। एक रसायनशास्त्री किसी पदार्थ को लेकर उसका अच्छी तरह निरीक्षण कर सकता है, उस पर मनोवाछित प्रभाव डालकर उसकी प्रतिक्रियाओ का अवलोकन कर सकता है और इस अध्ययन से अपने निष्कर्ष निकाल सकता है। किंतु, सजीव मनुष्यो के साथ यह सभव नही है। जॉर्ज कार्नवाल ल्युइस ने इसी बात को बडे सुन्दर ढग से कहा है। उसके कथनानुसार, ब्रोब्डिग्नाग के राजा ने जिस प्रकार गुलीवर को अपने हाथ पर उठा लिया था, हम जनसमुदाय के

[1] देखिए उपर्युक्त ग्रथ में प्रस्तावना, पृ० 14

किसी भाग को, उसके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के लिए ऐसा नही कर सकते, और न उसे मनोवांछित स्थितियों मे रखकर सामाजिक समस्याओं के समाधान का प्रयास ही कर सकते हैं, और इस प्रकार न अपनी जिज्ञासा की सतुष्टि कर सकते हैं[1]। लार्ड ब्राइस ने भी कहा है कि भौतिक-विज्ञानों मे बार-बार हम एक ही प्रयोग उस समय तक कर सकते हैं जब तक हम किसी निश्चयात्मक परिणाम तक न पहुँच जाएँ, किन्तु राजनीति मे यह सभव नहीं है। राजनीति मे विशिष्ट परिस्थितियों को बार-बार उत्पन्न नही किया जा सकता। फिर, राजनीति मे माप-जोख के समुचित उपकरण भी उपलब्ध नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, राजनीति के प्रभावी तत्त्वों मे, मानवीय भावनायें और धारणायें आदि ऐसी अनेक बातें हैं जिनकी यथावत् विवेचना नही की जा सकती[2]।

हम मानते हैं कि राजनीति विज्ञान में वैज्ञानिक प्रयोग सभव नहीं है। लेकिन, एक दूसरे अर्थ मे, राजनीतिक क्षेत्र मे भी, जाने या अनजाने में, अनेक प्रयोग होते रहते हैं। जैसा कि कौम्त ने बताया, प्रत्येक राजनीतिक परिवर्तन एक प्रकार का प्रयोग है। प्रत्येक नई विधि, नई रीति और राजनीतिक सगठन मे परिवर्तन इस अर्थ मे प्रयोगात्मक है कि वह अतिम नही होता। उसका निश्चयात्मक रूप मे स्वीकृत होना या न होना उसकी स्थायी बनने की अपनी क्षमता प्रमाणित करने पर निर्भर है। उसे लागू करने पर यदि उसमे कोई दोष दृष्टिगत हो तो उसमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन किए जा सकते हैं; और यदि वह पूर्णत. असफल हो जाय तो उसे वापस ले लिया जाता है। उपर्युक्त अर्थ मे, हम सन् 1916 ई० के लखनऊ समझौते, सन् 1919 ई० के मॉटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार, सन् 1932 ई० के साम्प्रदायिक परिनिर्णय, सन् 1935 ई० का भारत का नया सविधान, सन् 1940 का अगस्त प्रस्ताव, सन् 1942 का क्रिप्स प्रस्ताव, सन् 1943 का सी० आर० फार्मूला, सन् 1946 की कैबिनेट मिशन योजना, फरवरी सन् 1947 ई० का ब्रिटिश प्रधानमत्री ऐटली का भारत पर वक्तव्य, और तत्पश्चात् भारत विभाजन की योजना, आदि सभी को भारत की शासनिक व्यवस्था को सुधारने की दिशा मे विभिन्न प्रयोग मान सकते हैं। इनका उद्देश्य यह था कि मुसलमानों तथा अन्य अल्पसख्यकों की आशकाओं को ध्यान मे रखते हुए, राष्ट्रवादियों की स्वतत्रता की आकांक्षा की

---

1 देखिए *Method of Observation and Reasoning in Politics*, लन्दन, 1842, भाग 1, पृष्ठ 165 'गुलीवर के भ्रमण' नामक पुस्तक, जिसे जोनाथन स्विफ्ट ने लिखा है, का नायक गुलीवर है और ब्रोबिंग्नाग है विशालकाय मनुष्यों के एक देश का राजा।

2 देखिए उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 14.

पूर्ति की जाय। यदि कुछ राजनीतिक प्रयोग असफल भी हो, तो भी उनसे हमें कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ और निष्कर्ष प्राप्त हो जाते हैं जिनकी सहायता से हम निश्चयात्मक सामान्यीकरणों तक पहुँच सकते हैं। स्वतंत्र भारत मे भी इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो रहे हैं। इनमे से कुछ हैं : मद्यनिषेध, सामुदायिक विकास, पचायत-राज, आर्थिक योजनाएँ, परिवार नियोजन, आदि। इसी प्रकार के प्रयोग सभी देशो म होते है और वे हमे महत्त्वपूर्ण तथ्य और सामग्री प्रदान करते हैं[1]। मेरियम के अनुसार, यद्यपि अभी तक यह प्रमाणित नही हो सका कि राजनीति विज्ञान पूर्णत प्रयोग प्रणाली को अपने अध्ययन के लिए अपना सकता है, तथापि इस सभावना को अस्वीकृत भी नहीं करना चाहिए[2]। कैटलिन के अनुसार, एक प्रयोग को कई बार दोहराये बिना उससे वैध निष्कर्ष नही निकाले जा सकते[3]। एक विचारणीय बात यह है कि राजनीतिक अनुसधाताओं के रुखो के वैज्ञानिक होने पर भी, इन प्रयोगो से निकलने वाल निष्कर्ष केवल स्थान विशेष और काल-विशेष के लिए ही वैध होंगे[4]।

राजनीति विज्ञान इस अर्थ में प्रयोगात्मक नही है कि इसमे किसी प्रयोगशाला मे नियत्रित प्रयोग हो सकते हों अपितु इस सीमित अर्थ मे प्रयोगात्मक है कि, जाने या अनजाने, राजनीति के क्षेत्र मे निरतर प्रयोग होते रहते हैं। इससे अतिरिक्त, प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा भी अनेक तथ्य एकत्रित किए जा सकते हैं। व्यक्तिगत अनुभव और विगत इतिहास भी हमे यथेष्ट सामग्री प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि इतिहास मानव द्वारा निरतर किए गए प्रयासो अथवा प्रयोगों का एक रिकॉर्ड है।

ऐतिहासिक प्रणाली

सभी विचारक यह मानते हैं कि वर्तमान की जड़ें प्राय भूतकाल मे गहराई तक गई होती हैं। अतएव, राजनीतिक सस्थाओ के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाएँ। पोलक के अनुसार [जो इस प्रणाली का विश्लेषणात्मक (analytical) प्रणाली से स्पष्ट प्रभेद करता है], ऐतिहासिक प्रणाली 'सस्थाएँ क्या हैं' और 'क्या रूप ले रही हैं' जैसे प्रश्नों की व्याख्या इस दृष्टि से करती है कि 'वे क्या थी' और 'जैसी भी वे बन

---

1 तुलना कीजिए J W. Jenks, *Principles of Politics*, न्यूयार्क 1916, पृष्ठ 21.

2 देखिए *New Aspects of Politics*, न्यूयार्क, 1925, पृष्ठ 55 और 227.

3 देखिए *The Science and Methods of Politics*, पृष्ठ 113-114

4 देखिए E M Sait का ग्रन्थ, पृष्ठ 35-36.

गई, कैसे बनी'[1]। इस प्रकार उनकी वर्तमान दशा का विश्लेषण करने पर ही वह अपना ध्यान केंद्रित नहीं करता। वस्तुतः इस प्रणाली से हमे न केवल भूतकाल की ही व्याख्या प्राप्त होती है और विश्वस्त निष्कर्षों तक पहुँचने मे सहायता मिलती है, अपितु हमे भविष्य के विवेचन के लिए भी कुछ बुनियादी सिद्धात प्राप्त हो जाते हैं। आधुनिक काल मे इस प्रणाली को अपनाने वाले लेखको मे वीको (Vico), मॉंटेस्क्यु, साविनी, हेनरी मेन, सीले और फ्रीमैन प्रमुख हैं।

सेट के अनुसार, अपने अनुभवो का सचय हमे पुरानी भूलो को दोहराने से बचाता है। विगत पीढियो के अनुभवो से लाभ उठाकर, मानव अपने लिए कुछ व्यावहारिक निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार इतिहास 'प्रज्ञान का सबसे बडा शिक्षक है' और 'बीते हुए अनुभवों का खजाना है', हालांकि यह समझना भूल होगी कि बीते हुए इतिहास का अध्ययन किए बिना हम वर्तमान के लिए कामचलाऊ तथ्यो और नियमो का सग्रह नही कर सकते। इसके अतिरिक्त, इस प्रणाली से हमारा मानसिक क्षितिज विस्तृत होता है, हमारे परिप्रेक्ष (prespective) मे सुधार होता है और घटनाओं के प्रति हमारा रुख ऐतिहासिक बनता है[2]। इन्ही कारणों से ओक्शौट ने यह दृढ विश्वास प्रकट किया है कि शैक्षिक स्तर पर राजनीति के अध्ययन को ऐतिहासिक होना चाहिए। उसके अनुसार, ऐतिहासिक अध्ययन के बिना राजनीतिक शिक्षा अधूरी रह जाएगी[3]।

अरस्तू (और मार्क्स) के अनुसार, किसी बात अथवा वस्तु को समझने के लिए हमे उसकी शुरूआत और विकास का अवलोकन करना चाहिए (मार्क्स के अनुसार, उसके विभिन्न अन्तर्संबधो का भी)। सेट ने इसे आनुवंशिक (genetic) प्रणाली कहा है और राजनीतिक सस्थाओ के समुचित अध्ययन के लिए इसे अत्यन्त आवश्यक बताया है[4]।

इस प्रणाली के उपयोग मे सावधानी की अत्यत आवश्यकता है। पोलक के अनुसार यह एक ऐसी आशावादिता उत्पन्न कर सकता है जिसके कारण हम 'जो भी बन रहा है' और 'बनता जा रहा है' उसी को सर्वश्रेष्ठ समझ बैठते हैं। वह इस 'ऐतिहासिक विकास-सबधी आशावादिता' के विरुद्ध स्पष्ट चेतावनी देता है[5]। अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार, इतिहास एक प्रक्रिया को भलीभाँति समझ

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 126.

2 वही, पृष्ठ 48-49.

3 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 18.

4 देखिए उसका उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 49-50.

5 देखिए उसका उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 128.

सकता है, किंतु वह उसके परिणाम का मूल्याकन नही कर सकता। वह 'क्या था' और 'कैसे हो गया' का रिकॉर्ड तो है, किंतु वह 'क्या होना चाहिए' के सबध मे हमे ज्ञान नही दे सकता। साथ ही, पोलक इसके अन्य कमियो की ओर भी हमारा ध्यान दिलाता है। इसके कारण कभी कभी विद्वानो मे एक प्रकार का 'विषादपूर्ण रूढिवाद' आ जाता है, जैसा हेनरी मेन के साथ हुआ। हमारी उदार मानवीय भावनाओ को कुठित कर, यह हमारे मन म ऐसी धारणा बना देता है कि 'जो कुछ भी हो सकता था, सब हो चुका है, पहले भी किए गए प्रयत्नो का विशेष परिणाम नही निकला और आगे भी उनसे विशेष आशा नही की जा सकती'। स्पष्ट है कि इस प्रकार की मनोदशा भयावह है। इसके अतिरिक्त, एक दोष यह है कि कुछ विकासवादी बिना यथेष्ट सोच विचार के व्यापक सामान्यीकरण करन लगते हैं। वे यह भुला देते हैं कि मानव विकास की कोई एकाश्मक (monolithic) दिशा नही है। 'इसकी अनेक दिशाएँ हैं—कुछ यकायक रुक जाती हैं, कुछ वापस लौट पडती हैं, कुछ एक दूसरे को काटती है, अतएव, इनको एक विस्तृत राजपथ समझने के स्थान पर एक व्यापक मैदान पर बनी हुई पगडडियो के चक्र के रूप मे देखना अधिक सगत होगा'[1]। यहाँ एक व्यापक अर्द्धसत्य की ओर इगित करना भी असगत न होगा। प्राय कहा जाता है कि इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता है। वस्तुत इस कहावत मे सच्चाई का केवल आधा अश है, सत्य का दूसरा पक्ष यह है कि इतिहास कभी अपनी पुनरावृत्ति नही करता[2], अर्थात् ऐतिहासिक दशाएँ कभी ज्यो का त्यो पुन उपस्थित नही होती। अतएव यह मान लेना कि पीछे जो हो चुका है वही आगे भी होगा, हमारे अनुसधान की वैज्ञानिक प्रवृत्ति को कुठिन कर देगा। लार्ड ब्राइस ने भी दिखावटी समानताओ से बचने की हमे चेतावनी दी है। उसके अनुसार, ऐतिहासिक समानताएँ कभी-कभी प्रस्तुत विषय पर यथेष्ट प्रकाश डालती हैं, किंतु प्राय. वे हमे पथभ्रष्ट भी कर देती हैं। इस प्रणाली के प्रयोग मे एक आशका यह भी है कि कभी-कभी हम अपने विचारो को प्रमाणित करने के लिए इतिहास का सहारा ढूंढने लगते हैं जो निश्चय ही ऐतिहासिक प्रणाली का एक दुरुपयोग है। सीले के अनुसार, इस अध्ययन-पद्धति मे *आप 'हम जैसा चाहते हैं' उसके प्रकाश मे 'जैसा है' को समझने और समझाने* का प्रयत्न करने लगते है। हेनरी सिजविक मे यही कमी थी। एक डर यह भी

---

1 देखिए बार्कर *Political Thought in England*, 1848-1914, लन्दन, 1942, पृष्ठ 166.

2 देखिए F. L. Schuman, *International Politics*, न्यूयार्क, 1933, पृष्ठ 4.

है कि आकस्मिक कारणों को हम कहीं बुनियादी कारण न समझ बैठें। अतः अनुसंधाता विभिन्न प्रकार के भावनात्मक तथा अन्य प्रभावों से अछूता नहीं रह पाता, जिनके कारण कभी-कभी उसके समस्त परिश्रम का फल व्यर्थ हो जाता है[1]। अतएव, हमें धैर्यपूर्वक कार्य करते हुए निरपेक्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। हमें अपनी व्यक्तिगत रुझानों के प्रति सजग रहना चाहिए जिससे हमारे निष्कर्ष दूषित न हों।

अवलोकन-प्रणाली

इस प्रणाली के अंतर्गत घटनाओं का निकट से प्रत्यक्ष अवलोकन (observation) किया जाता है। सर्वप्रथम, लॉवेल ने राजनीति विज्ञान के अवलोकन पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। उसका यह कदम अत्यंत महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं के विश्लेषण में अवलोकन का विशेष स्थान है। तथापि जैसाकि सीले ने कहा है, इसके लिए अनेक विश्वस्त प्रेक्षणों की आवश्यकता है। यह ठीक है कि प्रत्यक्ष अवलोकन और व्यक्तिगत साक्षात्कार से वर्तमान संस्थाओं का बहुत अच्छी प्रकार अध्ययन हो सकता है। तथापि कई बार दूसरों द्वारा प्राप्त सूचनायें विश्वस्त नहीं होतीं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए लॉवेल ने प्रभावशाली शब्दों में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि राजनीतिक संस्थाओं की सच्ची प्रयोगशाला पुस्तकालय न होकर राजनीतिक जीवन का बाह्य संसार है[2]। लार्ड ब्राइस ने जिन देशों की राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया, वहाँ वह स्वयं गए और राजनीतिज्ञों तथा विचारकों से व्यक्तिगत मुलाकातें कीं। अतः वह राजनीतिक संस्थाओं का निकट से अध्ययन कर सके और उनकी प्रक्रियाओं तथा संचालन के संबंध में अंतर्दृष्टि प्राप्त कर सके। लास्की ने भी इन्हीं के पद-चिह्नों पर चलने का सफल प्रयास किया। मेट के अनुसार, 'राजनीति का विज्ञान' अवलोकन-प्रणाली के द्वारा ही विकसित किया जा सकता है। यद्यपि यह प्रणाली कष्टसाध्य है और इसमें प्रयोग की अपेक्षा अधिक भूलों की आशंका रहती है, तथापि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती[3]।

इस प्रणाली के सफल प्रयोग में अनेक बाधाएँ हैं। सीले ने भी माना है कि अन्य विषयों की अपेक्षा राजनीति विज्ञान में तथ्यों को अधिकृत रूप से प्रमाणित करना अधिक कठिन है। लास्की के अनुसार, जो लोग राजनीतिक

---

1 देखिए मायर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 16 तुलना कीजिए **Laski**, *The American Presidency*, लन्दन, 1940, पृष्ठ 15-20.

2 देखिए *American Political Science Review*, खंड 4, 1910, पृष्ठ 8.

3 देखिए मेट का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 36.

प्रक्रियाओ से निकट सबध रखते है वे भी कभी-कभी उनके यथार्थ अभिप्राय समझने मे बडी भूलें कर देते है। इसका कारण यह है कि शासन की प्रक्रियायें बहुत कुछ एक हिमशैल के समान होती है, उनका जो भाग सतह के ऊपर दिखाई देता है वह उस भाग से अपेक्षाकृत कही छोटा होता है जो 'पानी मे डूबा रहता है'[1]। इस प्रणाली की कठिनाइयां इसलिए और भी अधिक बढ जाती हैं कि इसमे अनुसधाता का व्यक्तिगत दृष्टिकोण और उसकी अन्य कमियाँ उसके अध्ययन और निष्कर्षों पर बहुत प्रभाव डालती हैं। यदि वह अनासक्त भी हो तो भी उसका पूर्णत निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ होना अत्यत कठिन है। उसके व्यक्तिगत अनुभव और रुझान प्राय उसके अवलोकन और निरीक्षण की क्षमता को दूषित कर देते हैं। मुनरो के अनुसार, शासन के वैज्ञानिक अध्ययन मे सबसे बडी बाधा एक निरपेक्ष दृष्टिकोण का अभाव है। इसका कारण यह है कि शासन-सबधी मामले प्राय ऐसे होते है जिनका मानवीय भावनाओ और हमारी रुझानो से घनिष्ठ सबध है। अतएव बहुत थोडे व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो धैर्यपूर्वक और पूर्णतः निरपेक्ष भाव से इनका विश्लेषण कर सकें[2]।

इस प्रणाली के अपनाने मे और भी कई बाधाएँ है जिनकी ओर लार्ड ब्राइस ने ध्यान दिलाया है। उसके अनुसार, एक राजनीतिक प्रेक्षक ऐसी ऊपरी समानताओ और व्यापक सामान्यीकरणो के भुलावे मे पड सकता है जो वस्तुतः तथ्यो पर आधारित न हो। अतएव, इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि सर्वप्रथम हम तथ्यो का सग्रह करें और इस बात की जाँच कर लें कि वे यथातथ है। तत्पश्चात् इन तथ्यो को अच्छी तरह चमकाते रहना चाहिए जब तक कि वे एक जवाहर की तरह चमचमाने और जगमगाने न लगें। इसके उपरात अन्य तथ्यो से उनका सबध देखना चाहिए। फिर, इन तथ्यो से संबध जोडते हुए उसकी विवेचना करनी चाहिए, क्योकि इसी पर उसका मूल्य और महत्त्व निर्भर है। असम्बद्ध एकाकी रूप मे किसी तथ्य का विशेष महत्त्व नही होता; आप उसे कण्ठहार का एक हीरा बना लीजिए, अथवा उसे अपने भवन की आधारशिला बना लीजिए[3]। इस प्रणाली मे दूसरी अडचन यह है कि कही प्रेक्षक व्यक्तिगत अथवा आकस्मिक कारणो को सामान्य कारण न समझ बैठे और परस्पर-विरोधी तथ्यो की भूलभुलैयो मे उलझ कर खो न जाए। वस्तुतः केवल विशेष योग्यता रखने वाले व्यक्ति ही जिनकी दृष्टि प्रशिक्षित और

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 14.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 6-9.

3 *American Political Science Review*, खंड 3, 1909, पृष्ठ 10.

विवेकपूर्ण हो, ठीक निष्कर्षों तक पहुँच सकते है। उसके अनुसार, यदि हम अपने अवलोकन के क्षेत्र को बढाकर, समस्त ससार तक विस्तृत कर दें और अपनी सूचनाओ के स्रोतो की सतर्कता और आलोचनात्मक दृष्टि से परीक्षा करें तो उपर्युक्त कमियो और अडचनो मे से अनेक को पार किया जा सकता है[1]।

तुलनात्मक प्रणाली

इस प्रणाली के अतर्गत, हम तुलनाओ द्वारा सामान्यीकरण करते हैं। इस प्रणाली का उपयोग राजनीतिक सस्थाओ और विचारो के अध्ययन के लिए भी किया जाता है और विभिन्न युगो और देशो के राजनीतिक मामलो के अध्ययन के लिए भी। दोनो ही दशाओ मे इसका सार समानताओ और भेदो का ध्यानपूर्वक निरीक्षण है। प्राय परिस्थितियो की असमानताओ पर समुचित ध्यान न देने के कारण, वे राजनीतिक अनुसधाता, जो ऐतिहासिक अथवा अवलोकन प्रणाली का प्रयोग करते हैं, गहरी भूलें कर बैठते है। यदि वे साथ म तुलनात्मक प्रक्रिया का भी उपयोग करें, तो वे इनम से अनेक भूलो से बच सकते हैं। इस प्रणाली के अपनाने वालों मे अरस्तू, मोटेस्क्यु और ब्राइस जैसे विज्ञ लेखक भी हैं।

साम्यानुमानिक प्रणाली—तुलनात्मक प्रणाली का एक विशिष्ट रूप साम्यानुमानिक (analogical) प्रणाली है। इस प्रणाली का प्रयोग करने वाले विद्वान प्राय राज्य की तुलना जैविक शरीर से करते हैं। वे जीवशास्त्र और समाजशास्त्र से विकासवादी (evolutionary) सिद्धात को लेकर उसे राज्य के अध्ययन मे लागू करने का प्रयास करते हैं। राज्य की जैविक शरीर से समानता दिखाते हुए वे उसके स्वरूप, सगठन और कार्यों को समझने का प्रयत्न करते हैं और कुछ निष्कर्ष निकालते हैं। प्राचीन यूनान मे प्लेटो ने इस प्रणाली का (विकासवादी पहलू मे नही) उपयोग किया और आधुनिक काल मे कौम्त, हरबर्ट स्पेंसर, गम्प्लोविज और वोर्म्स ने इसे अपनाया। यद्यपि समाज के अध्ययन का मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी विकासवादी है, तथापि वह साम्यानुमान पर कोई भरोसा नही रखता।

यह एक अवैज्ञानिक प्रणाली है और इसके प्रयोग से काफी उलझनें पैदा हुई हैं। प्लेटो ने साम्यानुमानो का व्यापक प्रयोग किया, लेकिन उसने मानवीय बातो के विवेचन को पशु ससार की सतह पर ला दिया। इससे यह स्पष्ट हो

---

1 वही

जाना चाहिए कि यद्यपि साम्यानुमान के प्रयोग कभी-कभी बहुत प्रभावशाली होते हैं, तथापि उनको एक सीमा मे रखना चाहिए। नही तो हम ऊटपटाँग निष्कर्ष निकाल बैठगे। इस प्रणाली के अनुचित उपयोग का हरबर्ट स्पेंसर एक प्रमुख उदाहरण है। उसने राज्य और जैविक शरीर मे सादृश्य दिखाते हुए अनेक धारणाओ की स्थापना की। किंतु उनके अध्ययन मे दो प्रमुख त्रुटियाँ आ गई — प्रथम, वह यह भूल गया कि दो वस्तुओ की समानता दिखाना उनके आपसी सबधो को निर्धारित करना नही है, और दूसरे, वह इस बात को भी भुला बैठा कि सामाजिक ढाँचा कोई वास्तविक शरीर नही है। अधिक से अधिक, राज्य को सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, विभिन्न मानसो का एक सगठन' कहा जा सकता है। राज्य एक जीव के समान हो सकता है, किंतु इस समानता के कारण वह स्वत एक वास्तविक शरीर नही बन जाता। स्पष्ट है कि साम्यानुमान के प्रयोग के कारण स्पष्टीकरण के स्थान पर उलझनें ही बढी हैं। बार्कर ने भी कहा है कि हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि रूपक एक युक्ति नही है, और व्यक्ति तथा राज्य के साम्य से हमे उनके पारस्परिक सबधो का ज्ञान नही होता[1]। अतएव इस प्रणाली के प्रयोग मे अत्यत सावधानी से काम लेने की आवश्यकता है।

दार्शनिक प्रणाली

अभी तक हमने जिन प्रणालियो का विवेचन किया है वे आगमनात्मक थी, किंतु दार्शनिक प्रणाली निगमनात्मक है। इसमे हम कुछ आधारवाक्यो (premises) को लेकर चलते हैं और तर्क की प्रक्रिया द्वारा राज्य और शासन के सिद्धात स्थिर करने का प्रयत्न करते है। प्लेटो, थामस मोर, रूसो, हेगल, ग्रीन, बोसाके और सिजविक इसके प्रमुख प्रतिपादक थे। इनमे से कुछ ने राजनीतिक वास्तविकताओ की उपेक्षा करते हुए अपनी स्थापनाएँ बनाई जो काल्पनिक हो गई। उन्होने समकालीन राजनीतिक परिस्थितियो का जो विवेचन और मूल्याकन किया वह भी अशुद्ध और अवैज्ञानिक है। इससे सदेह होता है कि सम्भवत यह प्रणाली वैज्ञानिक नही है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस अमूर्त-निगमन प्रणाली को त्याग दिया और इसे सामाजिक मामलों के अध्ययन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त बताया। अन्य विद्वानो ने भी इसे वैज्ञानिक प्रणाली मानने मे द्विविधा प्रकट की है।

उपर्युक्त आलोचना मे सत्य का एक अश है। यह प्रणाली सामाजिक मामलो के वैज्ञानिक अध्ययन मे अधिक सहायक नही हुई है। फिर भी यह

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 106-108.

कहना कि सामाजिक विज्ञानो के अध्ययन मे दार्शनिक प्रणाली का कोई स्थान ही नही है इसके स्वरूप के प्रति अपनी अज्ञानता दिखाना होगा। सामाजिक विज्ञान आदर्शात्मक होते हैं और उनके अध्ययन का बहुत कुछ महत्त्व दार्शनिक प्रणाली के समुचित प्रयोग पर निर्भर है। इसका उपयोग कर हम राज्य के दार्शनिक आधारो की परीक्षा करते हैं, और उन विभिन्न सगठनो का अध्ययन करते हैं जो शक्ति और प्रभाव प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। इसके द्वारा हमे वर्तमान परिस्थितियो की व्याख्या मिल जाती है। तत्पश्चात्, इन व्याख्याओ के प्रकाश मे, हम वर्तमान सस्थाओ का मूल्याकन करते है और आवश्यकतानुसार उन्हें परिवर्तित करते हैं। सिजविक[1] के अनुसार राजनीति-विज्ञान का प्राथमिक उद्देश्य 'आदर्श' को निर्धारित करना और भविष्य के लिए मार्गदर्शन करना है। लेकिन आगमन-प्रणाली के उपयोग से इन उद्देश्यों को पूरा नही किया जा सकता। इसलिए मिल ने भी एक ठोस निगमन प्रणाली अपनाने पर बल दिया है। किंतु, इस प्रणाली का दुरुपयोग होने के कारण हमे इसे त्यागने की कोई आवश्यकता नही है। यह दोष प्रक्रिया का नहीं, बल्कि उन व्यक्तियो का है जो इसका प्रयोग करते हैं।

इन दोनो प्रणालियो में सर्वथा पारस्परिक विरोध नही है। कुछ मामलो मे ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। राजनीतिक मामलो की भूतकालीन और वर्तमान दशाओ का अध्ययन करने मे हमारी अध्ययन-विधि आनुभविक, विश्लेषणात्मक और आगमनात्मक होनी चाहिए। लेकिन परिस्थितियाँ सदैव आदर्श नही होती, और उनमे सुधार करने की आवश्यकता होती है। दार्शनिक प्रणाली द्वारा हमे वे आदर्श और सिद्धात प्राप्त हो जाते हैं जिनके आधार पर हम सोच-विचार कर राजनीतिक वास्तविकताओ का विवेचन और मूल्याकन कर सकते हैं और उनमे सुधार करने के लिए सुझाव दे सकते हैं। अमूर्त-दार्शनिक प्रणाली हमारे सम्मुख आदर्शात्मक मापदण्ड प्रस्तुत करती है। सेट के शब्दो मे, "जीवन की साधारण बातो मे उलझे हुए व्यक्तियों के लिए प्लेटो एक उत्तम प्रतिकारिक (antidote) है"। दार्शनिक युक्तियाँ बुद्धि को विकसित करती हैं और हमारे मानस को साधन-सम्पन्न और लचीला बनाती हैं[2]; और बिना इन गुणो के राजनीति-विज्ञान अपनी समस्याओ का सफलतापूर्वक समाधान कर सके, इसमे सन्देह है।

---

1 देखिए *The Development of European Polity*, लन्दन, 1920, पृष्ठ 5.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 5.

पिछले वर्षों मे दर्शनशास्त्र और दार्शनिक प्रणाली के स्वरूप मे कुछ परिवर्तन हुए है। कुछ विद्वानो का मत है कि इन्हे 'मूल्यो' (आदर्श) की बातो और मूल्याकन मे नही उलझना चाहिए। रसैल और विट्गेन्सटीन, अयेर और राइल आदि के अनुसार, कम से कम कुछ समय के लिए दार्शनिको को अन्य बातें छोडकर तर्क-सबधी और भाषा-सबधी उपकरणो की परीक्षा मे लग जाना चाहिए[1]। उनके अनुसार दार्शनिक प्रणाली का उद्देश्य भाषा-सबधी गडबडियो को प्रकाश मे लाकर उनका स्पष्टीकरण करना है। भाषा के ढाचे और शब्दो के प्रयोग के कारण जो उलझने पड गई हैं या पड सकती हैं उनको खोलकर सामने लाना है। वैल्डन के अनुसार, इस प्रकार का दार्शनिक विश्लेषण विध्वसात्मक अथवा सशयात्मक नही है। इसका उद्देश्य किन्ही सिद्धातो की स्थापना करना अथवा उनका विनाश नही है, बल्कि उनके अर्थों को स्पष्ट करना और उनकी तार्किक शक्ति की परीक्षा करना है। उसके मतानुसार, आधुनिक राजनीतिक-दार्शनिक आदेश या उपदेश नही देते; यह तो उन्नीसवी शताब्दी का एक अपसिद्धात (heresy) था[2]। हमें आशा है कि राजनीति-विज्ञान की उन्नति मे इस दार्शनिक प्रणाली से बहुत सहायता मिलेगी।

3. कतिपय दृष्टिकोण

राजनीतिक मामलो का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणो से किया जाता है। कुछ विद्वान कानूनी और सविधानी दृष्टि से इसका अध्ययन और व्याख्या करना पसन्द करते हैं, जबकि दूसरे विचारक आर्थिक दृष्टिकोण अपनाते है। कुछ लेखको ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन किया है। इनके अतिरिक्त एक दृष्टिकोण आनुभविक-वैज्ञानिक (empirical-scientific) भी है। नीचे हम सक्षेप मे इन पर विचार करेंगे।

कानूनी दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण को प्राय. कानूनी विशेषज्ञो ने अपनाया है। ये विद्वान राज्य को एक ऐसी कानूनी सस्था मानकर चलते है जिसका उद्देश्य कानून को बनाना और उसका पालन कराना है। वे प्रभुसत्ता, कानून, अधिकार आदि पर विशुद्ध कानूनी दृष्टि से विचार करते है। कानूनी क्षेत्र के बाहर उपस्थित सामाजिक शक्तियो पर वे अधिक ध्यान नही देते। इसी प्रकार, सविधान तथा शासन के

---

1 देखिए पीटर लास्लैट का उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 9.

2 वही, वैल्डन का लेख, पृष्ठ 23-24.

अध्ययन में वे सविधानी विधि, उसकी कानूनी व्याख्या और उससे सबधित न्यायालयों के निर्णयो का आश्रय लेते हैं, उसके क्रियात्मक रूप और व्यावहारिक पक्ष पर कम ध्यान देते हैं। यह स्पष्ट है कि राजनीतिक प्रश्नो के अध्ययन के लिए यह सीमित दृष्टिकोण यथेष्ट नहीं है।

यहाँ यह बता देना उचित प्रतीत होता है कि विधिवेत्ताओं की कोई विशिष्ट प्रणाली नहीं है। वस्तुत वे स्वय विभिन्न मतो तथा दृष्टिकोणो को मानते हैं। विश्लेषणात्मक पद्धति के अतिरिक्त वे भी समाजशास्त्रीय आदि अन्य दृष्टियाँ अपनाने लगे हैं। डीन रास्को पाउण्ड इसी प्रकार के विधिवेत्ता थे।

आर्थिक दृष्टिकोण

आर्थिक दृष्टिकोण का प्रयोग कुछ सीमा तक प्लेटो और अरस्तू ने भी किया। प्लेटो के अनुसार यूनान की दशा के बिगड़ने मे जिन शक्तियो का बडा हाथ था, उनमें आर्थिक विषमताएँ प्रमुख थी। अरस्तू के अनुसार, सम्पत्ति का स्वरूप और उसका वितरण शासन की पद्धति निर्धारित करने मे प्रमुख भाग लेते हैं। *नागरिको का व्यवसाय उनकी राजनीतिक क्षमता और दृष्टिकोण को* प्रभावित करता है, और प्राय क्रांतियाँ धनिको और निर्धनो के पारस्परिक सघर्ष के कारण होती है[1]। सन् 1656 ई० मे अपनी पुस्तक 'ओशियाना' में हेरिंगटन ने यह धारणा व्यक्त की कि शक्ति स्वभावत सम्पत्ति का अनुगमन करती है और राजनीतिक सविधान आर्थिक सविधान की प्रतिच्छाया मात्र होता है। अठारहवीं शताब्दी मे जॉन एडम्स और जेम्स मैडीसन ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए। एडम्स के अनुसार, समाज विरोधी वर्गों मे बँटा हुआ है और आर्थिक लाभो के लिए होने वाली स्पर्धा के कारण समाज में बडे-बडे राजनीतिक सघर्ष जन्म लेते हैं, मुख्यत. धनवान और निर्धन व्यक्तियों के बीच मे[2]। मैडीसन के शब्दों में, व्यक्तिगत सपत्ति के अधिकार के कारण व्यक्तियों के हितो में एकरूपता नहीं आने पाती। सम्पत्ति-सबधी भेद हमारी भावनाओ और विचारो पर प्रभाव डालते हैं और इनके कारण समाज विभिन्न हितो और दलो मे बँट जाता है[3]।

कार्ल मार्क्स के हाथो मे यह दृष्टिकोण विश्लेषण का एक शक्तिशाली यन्त्र

---

1 देखिए गैटिल की *History of Political Thought*, न्यूयार्क, 1924, पृष्ठ 51

2 देखिए *Economic Origins of Jeffersonian Democracy*, 1915, पृष्ठ 10.

3 देखिए सेट, उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 57-58.

बन गया। उसकी आस्था थी कि बीते हुए युग के विश्लेषण से हमे विकास के नियमो का पता लग जायगा और हमे समाज के विकास की दिशा के बारे मे भी ज्ञान हो जायगा। निर्धनता और वर्गों के विशेषाधिकारो को मिटाने के जोश मे उसने भविष्य मे होने वाले सामाजिक विकास की दिशा का वर्णन ऐसे पूर्वग्रही (dogmatic) शब्दो मे किया जिस पर आपत्ति उठाई गई। उसके विश्लेषण के ढग को 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहते हैं जिसे समाजवादी देशो के अतिरिक्त आज अन्य देशो के अनेक बुद्धिजीवी भी मानते हैं। मार्क्स के मतानुसार, जीवन की भौतिक दशाएँ मानव समाज के विकास पर सबसे अधिक प्रभाव डालती है और इन दशाओ मे उत्पादन शक्तियाँ और इनसे उत्पन्न सबधो का सबसे अधिक महत्त्व है। उसके अनुसार राजनीतिक सगठन, विधि और सस्कृति समाज के उसी वर्ग के हित मे होते है जिसका उत्पादन के साधनो और उपकरणो पर नियन्त्रण होता है[1]। सस्थाएँ बनती हैं, बिगडती हैं और परिवर्तित होती हैं, किंतु इनके कारण आर्थिक हितो के सघर्ष हैं। जब समाज का आर्थिक आधार बदल जाता है तो उसके अनुरूप सिद्धात भी शनै शनै बदल जाते हैं। वैधानिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक और सौंदर्य सबधी विचारो तथा इनसे सबधित सस्थाओ मे भी परिवर्तन आ जाते हैं। सैद्धातिक क्षेत्र मे व्यक्ति अपने आर्थिक हितो के प्रति जाग्रत हो जाते हैं और उसी के प्रागण मे वे अपने वर्ग सघर्ष का निपटारा करते हैं। मार्क्स के अनुसार किसी युग की चेतना का विवेचन उसके भौतिक जीवन के अतर्विरोधो को समझे बिना नही किया जा सकता, अर्थात् इसको समझने के लिए हमे उत्पादन की सामाजिक शक्तियो के आपसी सघर्ष को समझना होगा[2]।

मार्क्स के अनुसार निर्धनता न तो ईश्वर की देन है और न समाज के लिए आवश्यक। उसका मूल कारण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विषमताएँ हैं। औद्योगिक क्राति के पश्चात्, यह सभव हो गया है कि हम उत्पादन इतना बढा लें कि सभी व्यक्तियो की आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके, किंतु इसके लिए हमे सामाजिक स्थिति को बदलना होगा[3]। आज समाज मे आर्थिक रूप से जो वर्ग हावी है वह सुगमतापूर्वक ऐसा परिवर्तन नही होने देगा। अतएव, बिना सामाजिक क्राति के शोषक वर्ग को उसके विशेषाधिकारो और सत्ता से वचित नही किया जा सकता। क्राति हो जाने पर शोषण का अत हो सकता है

1 देखिए T. D Weldon, *The Vocabulary of Politics*, Penguin, 1953, पृष्ठ 120
2 Marx and Engels *Historical Materialism*, 1946, पृष्ठ 1-2.
3 वैल्डन का उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 120-121.

और शनै शनै वर्ग-समाज का लोप हो सकता है। ऐसा होने पर इनके अनुरूप सामाजिक चेतना भी बन जाएगी। मार्क्स ने स्वय स्वीकार किया कि उसके पूर्व अनेक विचारको ने इतिहास मे वर्ग सघर्ष और उसके महत्त्व का विवेचन किया है। उसने केवल यह प्रमाणित किया (1) कि वर्गों का अस्तित्व उत्पादन के विकास की विशिष्ट ऐतिहासिक अवस्थाओ से सबधित है, (2) कि वर्ग-सघर्ष का अवश्यम्भावी परिणाम अतत सर्वहारावर्ग (proletariate) का अधिनायकतत्र होता है, (3) कि यह अधिनायकतत्र वर्गों के अत होने और वर्गहीन समाज बनने के पूर्व की एक अतरिम अवस्था है[1]। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि मार्क्स के अनुसार वर्ग समाज मे कोई न कोई वर्ग प्रमुख स्थान रखता है या हावी होता है। इस दशा को उसने *'अधिनायकतत्र'* का नाम दिया है। उपर्युक्त अभिप्राय के अतिरिक्त उसके लिए इस शब्द के अन्य कोई राजनीतिक अर्थ नही है। फिर भी, उसका मत था कि सत्राति काल मे राजनीतिक शक्ति के प्रयोग मे वैधानिकता का ध्यान नही रखा जा सकता।

लेनिन के अनुसार यदि हम राजनीति में धोखे और आत्मवंचना से बचना चाहते हैं तो हमे समस्त नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक वाक्यों, घोषणाओं और प्रतिज्ञाओ के पीछे जिस वर्ग के हित छिपे हुए हैं उन्हे खोजना सीखना होगा। यह भी समझने की आवश्यकता है कि प्रत्येक सस्था के पीछे किसी शासक वर्ग की सत्ता रहती है। इस वर्ग पर विजय पाने का केवल एक ही उपाय है कि प्राचीन व्यवस्था को समूल उखाड फेंका जाए और एक सफल सामाजिक क्राति द्वारा नव निर्माण किया जाए[2]।

गैरमार्क्सवादी लेखकों मे जिन विद्वानों ने आर्थिक विश्लेषण की ओर ध्यान दिया है उनमे प्रमुख लोरिया[3] और बीयर्ड हैं[4]। इनके अतिरिक्त अब अन्य समकालीन लेखको ने भी महत्त्वपूर्ण आर्थिक तत्त्वो की ओर अधिक ध्यान देना शुरू कर दिया है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

मानव स्वभाव और मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन म मनो विज्ञान का उपयोग अपेक्षाकृत एक नवीन घटना है। इसका आशय यह नही है

---

1 Marx and Engels, *Correspondence*, 1846 1895, कलकत्ता, 1945, पृष्ठ *51* और *417*.

2 V I Lenin, *Selected Works in Two Volumes*, खड 1, मास्को *1946*, पृष्ठ *63*

3 Achille Loria, *The Economic Foundations of Society*, 1907

4 C A Beard, *The Economic Basis of Politics*, 1922

कि पुराने राजनीतिक विचारको ने मानव स्वभाव को समझने के प्रयत्न नही किए और मानव स्वभाव के सबध मे अपने विचार प्रकट नही किए। वास्तव में प्लेटो, मावयावैली, हॉब्स, लॉक, रूसो, बैन्थम, कौम्त, आदि सभी विचारको के मानव स्वभाव के बारे मे अपने अपने विचार थे ; लेकिन उनके सामान्यीकरण मनोविज्ञान के व्यवस्थित अध्ययन पर आधारित नही थे। आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण राजनीतिक कार्यकलापो के अध्ययन की इस कमी को दूर करने का प्रयास है। इसके अनुयायियो का विचार है कि उन्नत सामाजिक मनोविज्ञान के वैज्ञानिक प्रयोग से हम मानव-स्वभाव और मानव-व्यवहार के बुनियादी तथ्यो का पता लगा सकते हैं। वे आशा करते हैं कि इन मनोवैज्ञानिक आधारो पर वे नए राजनीतिक सिद्धात निर्मित कर सकेंगे। इनके लिए मानव कार्यकलापो की गुत्थी को सुलझाने मे मनोवैज्ञानिक कुजी का प्रयोग एक फैशन बन गया है[1]।

इस प्रकार के अध्ययन की नीव लॉवेल ने डाली और लासवैल ने इसमे विशेष योग दिया। फिर भी, जैसा कि राब्सन कहते हैं, राजनीतिशास्त्रियो की दृष्टि से सामाजिक मनोविज्ञान की वर्तमान अवस्था अत्यत असतोषजनक है। सही और व्यवस्थित ज्ञान के रूप मे उन्हे उससे एक ऐसा ठोस आधार नही मिलता जिस पर वे राजनीतिक व्यवहार से सबधित सिद्धात स्थिर कर सकें अथवा लोकमत के सबध मे निश्चित विचार प्रस्तुत कर सकें। फ्रॉइड और उसके उत्तराधिकारियो, एव जग और उसके शिष्यो के कार्यों ने मनुष्य के मन को समझने मे बहुत सहायता दी है ; मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने व्यक्तियो की मनोविकार-उपचर्या मे क्रातिकारी उन्नति की है — तथापि इन सब ने राजनीति-विज्ञान के अध्ययन को आगे बढाने मे विशेष सहयोग नही दिया[2]। यह बात कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होती है, क्योकि पिछले वर्षों मे राजनीति-विज्ञान काफी यथार्थवादी हो गया है। अब यह शासन के औपचारिक (formal) रूप पर कम बल देता है और इस ओर अधिक ध्यान देता है कि वास्तव मे शासन किस प्रकार चलता है। यह शक्ति पर कम बल देता है और इस बात पर अधिक ध्यान देता है कि इस शक्ति का उपयोग कैसे हो रहा है[3]।

वाटकिन्स के अनुसार, ध्यान देने योग्य बात यह है कि राजनीतिशास्त्री जिन व्यक्तियो के व्यवहार का अध्ययन करता है वे जीवित प्राणी हैं। उनके

---

1 बार्कर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 108.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 20

3 वही

कार्यों का निरीक्षण किया जा सकता है और नियंत्रित अवलोकन और प्रयोग प्रणाली द्वारा अनेक ऐसे तत्वों को, — जो हमारे राजनीतिक निर्णयों पर प्रभाव डालते हैं[1], पृथक् करके मापा जा सकता है। यद्यपि इस पद्धति से अभी तक प्राप्त होने वाले परिणाम बहुत साधारण हैं तथापि यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जिससे भविष्य में विशेष सफलता की आशाएँ की जा सकती हैं। इसका सबसे बड़ा दोष इसके निष्कर्षों का विश्लेषणात्मक और अचल (static) होना है[2]। यही नहीं इस दृष्टिकोण का उपयोग उन सामाजिक स्थितियों तक सीमित है जो अपेक्षाकृत सरल और स्थिर हों। जटिल परिस्थितियों और गतिशील राजनीतिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करने में इससे अधिक सहायता नहीं मिलती। यद्यपि यह प्रणाली विशिष्ट दृष्टिकोणों का अच्छी तरह विश्लेषण करती है और माप-जोख करती है, तथापि वह हमें यह समझने में कोई सहायता नहीं देती कि ये दृष्टिकोण कैसे बने और किस प्रकार वे प्रभावशाली वैचारिकी (ideology) का रूप धारण कर लेते हैं[3]।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण बुद्धि और विवेक को अपने ऊँचे पद से हटाकर *मानव स्वभाव के बुद्धि-विरोधी तत्वों को प्रधानता देता है। अत यह रचना*त्मक सिद्धांत निर्मित करने में असफल रहा है।

आनुभविक-वैज्ञानिक दृष्टिकोण

शासन के प्रति हमारे नए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण *आनुभविक-प्रणाली* का अधिक प्रयोग होने लगा है। इसके अंतर्गत हम मानव संस्थाओं और प्रक्रियाओं का इस प्रकार अध्ययन करते हैं कि अपने काम लायक कुछ बुनियादी राजनीतिक सिद्धांतों की खोज कर सकें। आनुभविक-वैज्ञानिक प्रणाली ने निरीक्षण, परवेक्षण, संख्यात्मक माप जोख आदि उपकरणों के प्रयोग करने की प्रवृति सांख्यिकीशास्त्र, मनोविज्ञान और मानव विज्ञान से ग्रहण की है[4]।

प्रचलित फैशन यह है कि तथ्यों और मूल्यों में स्पष्ट विभेद किया जाए। *तर्कनिष्ठ व्यवहारवादी विद्वान् (logical positivists) तत्वशास्त्र* से दूर रहने का दावा करते हैं और अनुभव पर भरोसा रखते हैं[5]। राब्सन ने इससे मिलते-

1 F. M. Watkins in *Approaches to the Study of Politics*, पृ 151.

2 वही, पृ 152.

3 वही, पृ 153.

4 रोब्सो, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 8.

5 वाल्डो का उपर्युक्त लेख, पृष्ठ 103

जुलते 'सत्यात्मक दृष्टिकोण' की चर्चा की है। इसमे यथावत् अवलोकन किया जाता है और परिकल्पना (hypothesis), अनुमान, जांच और सामान्यीकरण, कार्य-कारण सबध के विश्लेषण आदि प्रक्रियाओ का, जो प्राणिशास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, रसायनशास्त्र अथवा भौतिकशास्त्र मे काम आती हैं, प्रयोग होता है[1]। राब्सन के अनुसार इस दृष्टिकोण को सिडनी और बीट्रिस वैब्स ने, जिन्होंने 'लन्दन स्कूल ऑफ इकनोमिक्स और पोलिटिकल साइन्स' की स्थापना की, ब्रिटेन मे लोकप्रिय बनाया[2]। अब इसे शासन और प्रशासन के अध्ययन के लिए एक आवश्यक प्रणाली माना जाता है। इस दृष्टिकोण से साख्यिकी प्रणाली का घनिष्ठ सबध है। बीट्रिस वैब्स के अनुसार हम 'अवलोकन' और 'प्रयोग' द्वारा जो निष्कर्ष निकालते हैं साख्यिकी तथ्यो द्वारा उनकी जाँच करना और फिर उनकी सीमा निर्धारित करना आवश्यक है[3]।

जुविनैल का कहना है कि तथ्यो मात्र से ज्ञान नही बनता, उन्हे सजोना पडता है और सजोने मे उनकी विविधता मे सामान्य सिद्धात खोजने होते हैं। ये सिद्धान्त हम तथ्यो को एकत्रित करने मे सहायता देते हैं। इन तथ्यो के आधार पर हमे अपने सिद्धातो मे कुछ परिवर्तन करने पडते हैं। इस प्रकार, हम एक साधारण सिद्धात से चलकर जटिलता से भरे हुए सिद्धात पर पहुँचते हैं, और यह जटिल सिद्धात तथ्यो को समझने और उनकी व्याख्या करने मे ठीक-ठीक काम देते हैं। उसे इसका दु ख है कि राजनीति विज्ञान मे आदर्शात्मक सिद्धात तो बहुत हैं किंतु तथ्यो पर आधारित और जाँचे हुए निर्धारित सिद्धात बहुत कम हैं[4]। फिर भी, राजनीति के यथार्थवादी ज्ञान के विकसित होने की अच्छी सभावना है[5]। वह स्वीकार करता है कि इस प्रकार के ज्ञान मे भी कुछ दोष हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, राजनीतिक व्यवहार की अनिश्चित सभावनाएँ इसकी पकड मे नही आती[6]। किंतु वाल्डो के अनुसार, इसमे एक बुनियादी कमी है। जिस मूल्य विहीन विज्ञान की यह कल्पना करता है, वह एक मृगतृष्णा है। वस्तुत बिना 'मूल्यो' की धारणा के शोध-कार्य रूपहीन और खोखला हो जाता है। सच तो यह है कि विचारको के कुछ न कुछ मूल्य होते हैं। अत एक लेखक से केवल यही आशा की जा सकती है कि वह अपने मूल्याकन के दृष्टिकोण को स्पष्टत

1 *Contemporary Political Science*, पृष्ठ 306

2 वही, पृष्ठ 307.

3 Beatrice Webb, *My Apprenticeship*, लन्दन, 1926, पृष्ठ 340

4 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 30-31.

5 तुलना कीजिए रोडी के उपर्युक्त ग्रथ मे, पृष्ठ 8

6 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 101-106 और 111.

व्यक्त कर दे।

नार्मन जैकोब्सन, जो कि *ज्ञानवाद और नीतिवाद दोनों का* विरोधी है, *कहता* है कि इन दोनों ही पक्षों में कट्टरपंथी लोग हैं। उसके अनुसार, कुछ हद तक राजनीति सिद्धांत राजनीतिक प्रज्ञान की खोज में प्रयुक्त होने वाली तकनीक के प्रति लापरवाह होता है। किंतु उसमें सार्वजनिक हितों के प्रति जागरूकता अवश्य होनी चाहिए। ज्ञान की प्राप्ति बहुत कुछ जागरूकता और अंतर्दृष्टि पर निर्भर होती है। इसके लिए महत्त्वपूर्ण विचारों को भेदमूलक बुद्धि की छलनी से *निकालना होता है*। वस्तुतः *विज्ञानवाद का अनुयायी भी मानवता* को नहीं छोड़ सकता[1]।

निष्कर्ष

हम विभिन्न प्रणालियों और दृष्टियों के गुणों और दोषों पर विचार कर चुके हैं। आज सबसे बड़ा विरोध राजनीति विज्ञान की परम्परागत प्रणालियों और दृष्टिकोणों को मानने वालों और आनुभविक वैज्ञानिकों में है। इस संबंध में कुछ अधिक न कहकर हम केवल मोर्गेन्थो की इस उक्ति को दुहराना चाहते हैं कि समकालीन राजनीति विज्ञान के दृष्टिकोण, रीतिविधान और उद्देश्यों में एकरूपता नहीं है[2]।

●

1 वही, पृष्ठ 117-124.

2 वही, पृष्ठ 68.

3

राजनीति-विज्ञान और संबंधित अध्ययन

> समवत: राजनीति-विज्ञान का सबसे बड़ा गुण उसकी विनम्रता है। अन्य ज्ञानों से शिक्षा लेने की तत्परता और अन्य सहयोगी विज्ञानों के सम्मुख अंतिम और निश्चयात्मक सिद्धांत बनाने का दावा न करना, राजनीति-विज्ञान की जीवनशक्ति और उसके उन्नत विकास का प्रमाण है।
>
> —कार्लटन क्लीमर रोडी

एक नया संश्लेषणात्मक संबंध—उन्नीसवी शताब्दी मे सामाजिक विज्ञानो को दर्शनशास्त्र से मुक्ति मिली और वे स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगे। निरंतर वर्धमान तथ्यो से इसमें सहायता मिली। ओगुस्त कौम्त का एक व्यापक सामाजिक विज्ञान बनाने का प्रयास विद्वानो को पसंद नही आया। उनके मतानुसार सामाजिक गतिविधियो और कार्यकलापो का क्षेत्र इतना व्यापक है और उनका स्वरूप इतना जटिल है कि कोई एक व्यक्ति अथवा ज्ञान इन समस्त बातो का विश्लेषण और व्याख्या नही कर सकता। अतएव अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से यह आवश्यक हो गया कि मानव समाज के जीवन के विभिन्न पहलुओ पर विभिन्न सामाजिक विज्ञान स्वतंत्रतापूर्वक विचार करें[1]। इस प्रकार, राजनीतिक कार्यकलाप और गतिविधियो का अध्ययन इतिहास और दर्शन के अध्ययन से पृथक् हो गया और स्वतंत्र रूप मे राजनीति-विज्ञान का जन्म हुआ।

बीसवी शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश मे सामाजिक विज्ञानों के विशिष्टीकरण से उत्पन्न दोष दृष्टिगत होने लगे। अनेक विचारक यह समझने लगे कि मनुष्य के सामाजिक कार्यों को विभक्त करके उपयोगितापूर्वक उनका अध्ययन नही किया जा सकता। उदाहरण के लिए, मनुष्य के राजनीतिक विचारो और

---

1 डा० बेनीप्रसाद, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 2.

व्यवहार को उसके जीवन की भौतिक दशाओं और उसके सामाजिक तथा नैतिक दृष्टिकोण से एकदम पृथक् करके नहीं समझा जा सकता। अतएव, सामाजिक विज्ञान अपने क्षेत्र की व्याख्या करते समय अब सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हैं, यद्यपि उनके अध्ययन का केंद्रबिंदु विशिष्ट और सीमित रहता है। अतत. सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन का उद्देश्य समाज में रहने वाले मनुष्यों का अध्ययन है। अत. राजनीति-विज्ञान जिन घटनाओ और हलचलों का अध्ययन करता है वे अन्य सामाजिक विज्ञानो के वाद-विषय से भिन्न नहीं होती। वस्तुतः वह उन्ही को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखता है। यद्यपि इन सामाजिक विज्ञानों में प्रभेद बनाए रखने के कई लाभ हैं, तथापि शनैः शनै. ये विषय अब एक-दूसरे के समीप आते जा रहे हैं। पुरानी संकीर्णताएँ समाप्त हो रही हैं और सश्लेषणात्मक अध्ययन और अनुसधान की चर्चा जोरों पर है।

अत. यह स्पष्ट है कि अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए भी, *राजनीति-विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों और विषयों से घनिष्ठ रूप से सबधित है। अब यह विचार बल पकडता जा रहा है कि राजनीति-विज्ञान का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों की वृहद् परिधि का पूरा ध्यान रखते हुए ही होना चाहिए।*

दूसरों से ग्रहण करने में तत्परता—राजनीति-विज्ञान का सबसे बडा गुण मानव-ज्ञान की अन्य शाखाओं के निष्कर्षों को ग्रहण करने की तत्परता है। इतिहास, दर्शन, नीतिशास्त्र और विधिशास्त्र सभी ने राजनीति-विज्ञान के विकास में योग दिया है। १६वी शताब्दी के मध्य मे जब डार्विन ने विकासवादी सिद्धात का प्रतिपादन किया तो उसका प्रभाव राजनीतिक सस्थाओ के अध्ययन पर भी पडा, और उनके विकास का अध्ययन भी विकासवाद को आधार मान कर किया जाने लगा। समाजशास्त्र के उदय के पश्चात् राजनीति-विचारदों ने शासन पर सामाजिक शक्तियो के प्रभाव का अध्ययन करना शुरू कर दिया। राजनीतिक समाजशास्त्र (Political Sociology) एक ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है जिसके प्रकाश मे राजनीतिक अध्ययन अधिक अर्थपूर्ण बन जाता है। समाजवादी और साम्यवादी विचारधारा के प्रभाव में आकर आर्थिक तत्त्वो, शक्तियों और प्रवृत्तियों पर समुचित ध्यान दिया जाने लगा है और इनसे उत्पन्न राजनीतिक समस्याओं पर भी[1]। राजनीतिक व्यवहार पर प्रभाव डालने वाले अन्य सामाजिक तत्त्वों का भी गभीर अध्ययन किया जा रहा है। उधर सामाजिक मनोविज्ञान के विकास के फलस्वरूप राजनीति-विज्ञान में एक नये दृष्टिकोण का जन्म हुआ है जो राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन मनोवैज्ञानिक

1 देखिए रोड़ी का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 8.

दृष्टिकोण से करता है। सांख्यिकीशास्त्र ने हमे माप जोख के उपकरण और सख्यात्मक विश्लेषण की विधि सुझाई है। सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology) ने औपनिवेशिक प्रशासन की समस्याओ और उनके आचरणो को समझने मे सहायता दी है। साथ ही, वह हमे जाति-भेद और रग-भेद से उत्पन्न झगडो, अतर्राष्ट्रीय सगठन की समस्याओ, नवविकसित देशो की समस्याओ और आप्रवास तथा उत्प्रवास के प्रश्नो को समझने और सुलझाने मे सहायता देता है[1]। भूगोल के अतर्गत भू-राजनीति (Geopolitics) नामक राजनीति-विज्ञान की एक नई शाखा बन गई है जो अतर्राष्ट्रीय सबधो को समझने मे अत्यत सहायक होती है।

जो ज्ञान राजनीति-शास्त्र के अध्ययन मे विशेष रूप से सहायक होते हैं उनमे अर्थशास्त्र, विधिशास्त्र, इतिहास और समाजशास्त्र प्रमुख हैं। राब्सन के अनुसार अन्य विषयो को हम ऐसे उपकरण मान सकते हैं जो हमारे विषय के विभिन्न पहलुओ को समझने मे अत्यत सहायक होते हैं। ऐसे विषयो मे वह सांख्यिकी-शास्त्र, दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र और अर्थ-विज्ञान को सम्मिलित करता है।

राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र—समाजशास्त्र अपेक्षाकृत एक नया विषय है। इसका जन्मदाता ओगुस्त कौम्त था। कौम्त इसे एक व्यापक सामाजिक विज्ञान बनाना चाहता था जिसमे उसे सफलता नही मिली और समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान बन कर रह गया है। डा० बेनीप्रसाद के मतानुसार, यह सामाजिक विकास और सगठन को अध्ययन करने वाला एक बुनियादी विज्ञान है जो समाज की उत्पत्ति और विकास, उसकी व्यवस्था और कार्यों का अध्ययन करता है[2]।

राजनीति-शास्त्र और समाजशास्त्र दो स्वतत्र सामाजिक विज्ञान हैं तथापि वे अन्योन्याश्रित है। उनके विभेद और अन्योन्याश्रिता सबधी मुख्य बातें ये हैं: सर्वप्रथम, समाजशास्त्र का क्षेत्र अधिक व्यापक है। वह समाज का एक सामान्य और व्यापक विज्ञान है। 'राज्य' जो राजनीतिशास्त्रियो के लिए महत्त्वपूर्ण है, इसके लिए केवल एक सामाजिक सगठन-मात्र है। समाजशास्त्र के अध्ययन की सामग्री मे समस्त सामाजिक सस्थाओ की उत्पत्ति और उनके स्वरूप आ जाते हैं, और राज्य इसमे एक है[3]। इसके विपरीत राजनीतिशास्त्र समाज मे

1 देखिए राब्सन का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 59.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 3.

3 देखिए *Twentieth Century Political Thought*, 1948, में हैरी एमर बार्न्स का लेख जिसके सम्पादक जोसफ एस० राउसैक हैं, पृष्ठ 37.

संगठन और शक्ति से संबंधित बातों का गंभीर अध्ययन करता है। दूसरे, समाजशास्त्र संगठित समाज और समाज के प्रारम्भिक रूपों का भी अध्ययन करता है जिनमें राजनीतिक और अराजनीतिक सभी पहलू सम्मिलित हैं। प्रत्यक्ष रूप में राजनीति विज्ञान का इस अध्ययन से कोई संबंध नहीं है, लेकिन समाज की उत्पत्ति और विकास के संबंध में वह समाजशास्त्र द्वारा निकाले गए निष्कर्ष सहर्ष स्वीकार कर लेता है[1]। इसी प्रकार, राजनीतिक शक्ति और सत्ता की उत्पत्ति के संबंध में भी वह समाजशास्त्र से तथ्य और विचार ग्रहण कर लेता है। दूसरी ओर, समाजशास्त्र भी राज्य के संगठन और कार्यों के संबंध में राजनीति-विज्ञान से तथ्य और विचार एकत्रित करता है। इस प्रकार, ये *दोनों सामाजिक विज्ञान एक दूसरे को सहयोग देते हैं।*

राजनीति विज्ञान और इतिहास—राजनीति विज्ञान के लिए इतिहास का समुचित ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। इतिहास बीती घटनाओं का एक रिकॉर्ड है। वह हमें बताता है कि 'जैसी भी स्थिति है' वह ऐसी कैसे हो गई। एक अर्थ में, इतिहास मनुष्य के कार्यों की एक गाथा है अथवा यह उसके प्रयत्नों, सफलताओं और असफलताओं की कथा है। इस दृष्टि से, इतिहास मानव अनुभवों का एक खजाना प्रतीत होता है। व्यापक अर्थ में, हम इसे मानव सभ्यता की कहानी कह सकते हैं।

राजनीति-विज्ञान का इतिहास से अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। जैसा कि प्रो० सीले ने कहा है, राजनीति-विज्ञान पर दिया जाने वाला भाषण वस्तुतः इतिहास पर एक भाषण होता है। उसके अनुसार, राजनीति-विज्ञान इतिहास से भिन्न नहीं, वरन् संलग्न है। सन् १८८५ ई० में, अपने विचार व्यक्त करते हुए उसने घोषणा की कि जो तथ्य अब तक इतिहासकार की निर्विवाद सम्पत्ति बन रहे हैं, उन्हें *धीरे-धीरे एक नया विज्ञान अपने में समावेश कर लेगा और यह विज्ञान* 'राजनीति विज्ञान' होगा[2]। कहने की आवश्यकता नहीं कि सीले की यह प्रत्याशा पूरी नहीं हुई और इस बात की कोई संभावना भी नहीं है कि इतिहास कभी पूर्णतः राजनीति-विज्ञान में विलीन हो जाएगा। फ्रीमैन ने भी एक बार घोषणा की थी कि 'इतिहास' बीती राजनीति है और 'राजनीति' वर्तमान

---

1 देखिए उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 37. गिडिंग्स के अनुसार, बिना समाज-शास्त्र के ज्ञान के किसी को राजनीति-विज्ञान पढ़ाना वैसा ही होगा जैसा बिना न्यूटन के 'गति-सिद्धांत' जानने वाले व्यक्ति को खगोल-विज्ञान या ऊष्मागति विज्ञान की शिक्षा देना।

2 देखिए उसका उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 4, 12-13.

इतिहास है। निश्चय ही, फ्रीमैन ने राजनीति विज्ञान के स्वरूप को समझने मे भूल की। वस्तुत समस्त इतिहास बीती राजनीति नही है ; उसका एक बडा भाग राजनीति-विज्ञान के क्षेत्र के बाहर है। जैसा कि लीकौक ने बताया, राजनीति विज्ञान का इतिहास के विशुद्ध वर्णनात्मक पहलू से कोई सबध नही है, केवल तथ्यो को सग्रह करने मे इसकी कोई रुचि नही हैं, इतिहास के सैनिक, व्यापारिक या आर्थिक पहलू मे भी इसकी विशेष रुचि नही है, राजनीति-विज्ञान के लिए इतिहास का महत्त्व केवल उसी सीमा तक है, जहाँ तक कि वह 'सगठित समाज मे नियत्रण' के विकास और राज्य के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार, अपने अध्ययन की सामग्री प्राप्त करने के लिए 'राजनीति विज्ञान' को इतिहास की शरण लेनी पडती है। लेकिन इसके तथ्यो का सग्रह चयनात्मक होता है और उन तथ्यो को यह एक विशेष दृष्टिकोण से समन्वित करता है[1]। *अतएव, इतिहास का कुछ अश ही राजनीति विज्ञान का भाग बन सकता है।* दूसरी ओर, सम्पूर्ण राजनीति विज्ञान 'चालू इतिहास' नही है। उदाहरण के लिए, यद्यपि *'समाज के सगठन और शक्ति सबधी राजनीतिक विकास' का अध्ययन इतिहास के प्रवाहों और दिशाओ को समझने मे विशेष सहायता दे सकते हैं, तथापि वह उसका केवल एक अश बनकर नही रह सकता। यह मानना होगा कि बीती घटनाओ के रिकॉर्ड के रूप मे इतिहास का* विशेष महत्त्व नही है और बिना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझे राजनीति-विज्ञान भी सारहीन हो जाता है। तथापि, ये दोनो ज्ञान कभी एकरूप नही बन सकते हैं। इतिहास का अध्ययन प्रधानत तिथिक्रम पर निर्भर होता है जबकि राजनीति का अध्ययन आगमनात्मक और परवर्ती होता है। इन दोनो का क्षेत्र भी भिन्न है। इतिहास अधिक व्यापक है और उसमे राजनीति तथा सविधानी विकास के अतिरिक्त और भी बातें सम्मिलित हैं। अपेक्षाकृत, राजनीति विज्ञान का क्षेत्र सीमित है, किन्तु इस सीमित क्षेत्र मे वह गहराई के साथ अध्ययन करता है। 'राजनीति विज्ञान' का एक आदर्शक (normative) पहलू भी है। वह लोक कल्याण की दृष्टि से अपने लक्ष्य स्थिर करता है और उनकी पूर्ति के *साधनो और उपायो पर भी विचार करता है। इतिहास से हमे इस प्रकार के* लक्ष्य स्थिर करने मे विशेष सहायता प्राप्त नही होती। वस्तुत प्रत्येक पीढी की अपनी भिन्न राजनीतिक समस्याएं होती हैं जिनको सुलझाने मे बीते युगो की घटनाएँ और अनुभव बहुत थोडी सीमा तक ही सहायक होते हैं। इस प्रकार, इतिहास के अध्ययन से जिन व्यावहारिक सबधानुमानो को हम ग्रहण कर पाते

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 7.

है वे बहुत अनिश्चित ढग के होते हैं[1]।

यद्यपि राजनीति-विज्ञान और इतिहास मे भेद है, तथापि वे एक-दूसरे को सहयोग देने वाले और एक अर्थ मे पूरक हैं। जैसा सीकौक ने कहा है, *बिना इतिहास के राजनीति-विज्ञान का अस्तित्व ही न होता, क्योंकि राजनीति-विज्ञान को अपने भवन को निर्मित करने के लिए इतिहास ही सामग्री प्रदान करता है*[2]। राजनीतिक विचारों का इतिहास राजनीति-विज्ञान का एक अभिन्न अग है ; लेकिन प्राचीन युग के विचार उसी काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे भलीभांति समझे जा सकते हैं। यदि राजनीति-विज्ञान का अध्ययन इतिहास की सहायता से नही किया जाएगा तो राजनीति की रूपरेखा एक उलझे हुए रूप मे हमारे सम्मुख प्रस्तुत होगी। उदाहरण के लिए 'प्लेटो और अरस्तू के राजनीतिक विचारो को समझने के लिए प्राचीन यूनान की ऐतिहासिक अवस्था को समझना अत्यन्त आवश्यक है। यही बात अन्य कालो के लिए भी लागू होती है। *राजनीतिक सस्थाओ के अध्ययन मे भी उनके ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि बहुत काम आती है*। राफ्नन ने उचित ही कहा है कि किसी विदेशी सविधान का अध्ययन करने के लिए अथवा उसकी परराष्ट्रनीति समझने के लिए हमे उस देश के ऐतिहासिक विकास को भी जानना चाहिए जिसके प्रकाश मे हम उसकी सस्थाओ अथवा नीति का उचित मूल्याकन कर सकें[3]।

एक अर्थ मे, राजनीति-विज्ञान के सिद्धांत इतिहास के तथ्यो द्वारा प्राप्त निष्कर्ष मात्र हैं। माक्यावेली वह प्रथम विचारक था जिसने पिछले अनुभवो का अध्ययन कर समकालीन नीति निर्धारित करने मे क्रियात्मक सहयोग दिया। इसी प्रकार मोंटेस्क्यु ने भी अपने मतो के समर्थन मे ऐतिहासिक पूर्व-दृष्टांतों का उपयोग किया। जेम्स ब्राइस तुलनात्मक इतिहास के एक ऐसे विद्वान् थे, जिन्होंने राजनीति-विज्ञान के अध्ययन मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। जैसा लार्ड एक्टन ने कहा है, इतिहास की धारा 'राजनीति के विज्ञान' को स्वर्णकणो के सदृश जमा कर जाती है, और हम प्रस्तुत राजनीतिक स्थिति को सुव्यवस्थित करने मे इसका उपयोग करते हैं। सम्भवत इसी कारण विलोबी ने इतिहास को 'राजनीति विज्ञान का तृतीय परिमाप' (dimension) बताया है[4]।

यह आदान-प्रदान एकपक्षीय नही है। यदि इतिहास कुछ देता है तो वह

---

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 7-10.

2 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 6.

3 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 57.

4 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 5.

ग्रहण भी करता है, और राजनीति-विज्ञान से ग्रहण किए बिना वह अपेक्षाकृत निर्धन हो जाएगा। राजनीति-विज्ञान से घटनाओ के विवेचन और व्याख्या के लिए इतिहास को एक दृष्टिकोण प्राप्त होता है। तथ्यो का स्वय अपने मे एक सीमित महत्त्व होता है; उनमे अतर्निहित सत्य का उद्घाटन करने के लिए राजनीति-विज्ञान की सहायता अपेक्षित है। लीकौक के अनुसार, एक अतर्निहित राजनीति-विज्ञान के अभाव मे इतिहास का सारा महत्त्व नष्ट हो जाएगा[1]। उपर्युक्त बातो को ध्यान मे रखते हुए हम क्यो न सीले की यह बात मान लें कि 'बिना राजनीति-विज्ञान के इतिहास का अध्ययन अपूर्ण तथा खडित है और, दूसरी ओर, बिना इतिहास के राजनीति-विज्ञान खोखला और निराधार है' — अथवा अन्य शब्दो मे

'बिना राजनीति-विज्ञान के इतिहास फलहीन है,
बिना इतिहास के राजनीति-विज्ञान मूलहीन है'[2]।

बर्जिस के अनुसार, उन्हे पृथक् कर दीजिए तो उनमें से एक यदि शव नही होगा तो अपग अवश्य हो जाएगा और दूसरा मृग-मारीचका बनकर रह जाएगा।

राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र वह सामाजिक विज्ञान है जो सम्पत्ति अथवा आर्थिक कल्याण से सबधित मानव कार्य क्लापो का अध्ययन करता है। राजनीति-विज्ञान का अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सबध है। आधुनिक अर्थशास्त्र वस्तुत: पुराने 'राज्य के लिए आय एकत्रित करने वाले ज्ञान' से विकसित हुआ जिसे पहले 'राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था' (पोलिटिकल इकोनोमी) कहते थे। अब अर्थशास्त्र ने बहुत उन्नति कर ली है और 'राजवित्त' अर्थशास्त्र का एक विभाग-मात्र रह गया है। तथापि इन दोनो सामाजिक-विज्ञानो का निकट सबध है। डा० बेनीप्रसाद के अनुसार राजनीति-विज्ञान को अर्थशास्त्र से अलग करने से वह खडित हो जायगा[3]। अप्रैल सन् 1952 ई० मे, यूनैस्को के तत्त्वावधान मे सयोजित कैम्ब्रिज राउंड टेबिल ने सिफारिश की कि राजनीति के किसी भी सुगठित पाठ्यक्रम मे अर्थशास्त्र को अनिवार्य रूप से सम्बद्ध होना चाहिए[4]। दूसरी ओर, अर्थशास्त्र के शिक्षको और चिंतको ने भी अपनी यूनैस्को की रिपोर्ट मे यह मत प्रकट किया कि अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम से राजनीति के

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 6.
2 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 4.
3 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 3.
4 राब्सन, उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 55.

सिद्धातो और सस्थाओ का अध्ययन अवश्य सम्मिलित होना चाहिए[1]।

आधुनिक जटिल जीवन म राजनीतिक समस्याएँ, और कुछ राजनीतिक सिद्धात भी, अर्थशास्त्र से इतने सम्बद्ध हो गए हैं कि राजनीति के विद्यार्थी का अर्थशास्त्र के मूल सिद्धातों से परिचय अनिवार्य हो गया है। कार्ल मार्क्स ने राजनीतिक जीवन पर आर्थिक प्रक्रियाओ के प्रभाव का धैर्यपूर्वक गवेषण किया। उसके पूर्ववर्ती अनुसधाताओ मे प्लेटो और अरस्तू फिजिओक्रेट्स और एडम स्मिथ के नाम उल्लखनीय हैं। समकालीन राजनीतिशास्त्री आर्थिक जीवन के दो रूपा का अध्ययन कर सकते है (1) आर्थिक सगठन और उसके सम्भाव्य प्रभावो का अध्ययन, और (2) इस सगठन के अतर्निहित प्रयोजनो का अध्ययन। *यदि आर्थिक प्रयोजन (motive) शक्तिशाली हो तो राजनीतिक सस्थाओ को* उसकी प्रक्रियाओ का आदर करने क लिए विवश होना पडता है[2]। उदाहरण के लिए प्रदाय (supply) म व्यवधान पड जाने से सामाजिक जीवन को गहरी क्षति पहुँचती है। अतएव उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशक से राज्य ने उत्पादन के ढग और अवस्था एव उनमे उत्पन्न सबधी के राजनीतिक प्रभावों के अध्ययन पर विशेष रूप स ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया है। तभी से राज्य के उचित कार्यक्षेत्र का प्रश्न अत्यत महत्वपूर्ण बन गया है। यह प्रश्न जितना आर्थिक है, उतना ही राजनीतिक। इसी प्रकार राज्य के उद्देश्यो और कार्यों स सबधित अनेक विचारधाराओ के महत्त्वपूर्ण आर्थिक पहलू और प्रभाव होते हैं।

जनता भी अब जाग्रत हो चुकी है, विशेषत इस कारण कि लोकतत्रीय प्रक्रियाओ के प्रचलित रहने से समय समय पर सार्वजनिक चुनाव कराने पडते हैं। नागरिक अब यह नही मानते कि वर्तमान सामाजिक आर्थिक ढाँचा ईश्वर-प्रणीत है। व यह समझने लगे है कि इस व्यवस्था के प्रमुख दोष सम्पत्ति के विषम वितरण के कारण हैं, जिससे कुछ लोग धनी होते हैं और अधिकतर निर्धन। आज नागरिक यह आशा करते हैं कि शासन और राजनीतिक-प्रक्रियाएँ इन विषमताओ को दूर करने का प्रयत्न करेंगी और अब इस व्यवस्था की अच्छाई अथवा बुराई का निर्णय भी इसी आधार पर किया जाता है कि इस कार्य मे उसे कितनी सफलता मिली है आज जनता आर्थिक उन्नति एव कल्याण के लिए लालायित है[3] और आर्थिक मामलो की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया

1 वही

2 देखिए Herman Finer, *The Theory and Practice of Modern Governments*, लन्दन, 1932, पृष्ठ 35 और 37

3 वही, पृष्ठ 34

जाने लगा है। अत राजनीति विज्ञान मे आर्थिक समानता, न्यूनतम आय, अवसर की समानता, औद्योगिक लोकतत्र, वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व, उत्पादन और वितरण के साधनों और उपकरणो का राष्ट्रीयकरण, प्रचुरता और समृद्धि के हेतु लोकतत्रीय आयोजन, प्रबध म श्रमिको का योग, विटले काउसिलस, औद्योगिक न्यायाधिकरण (tribunal) आदि की विशेष चर्चा होने लगी है। आज का विवेकशील नागरिक राजनीतिक सस्थाओ और उनकी प्रक्रियाओं का मूल्यांकन इस दृष्टि का करना चाहता है कि उसके भौतिक कल्याण म वे कहाँ तक योग देती हैं। 'कल्याणकारी राज्य' की सकल्पना जनता की बढ़ती हुई प्रत्याशाओ का प्रतीक है, यद्यपि केवल बहुत थोडे राज्य लोक-कल्याण की ओर अग्रसर हो सके हैं।

इसम कोई सदेह नही कि आर्थिक सगठन राजनीतिक कार्यकलाप और सस्थाओ को बहुत प्रभावित करते हैं, और नागरिक उनकी उपेक्षा नही कर सकते। राज्य भी कानून और राज्यादेशो द्वारा आर्थिक जीवन को नियत्रित करता है। वर्ग-हितो का ध्यान रखा जाता है और सामाजिक हित के नाम पर इनमे समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की जाती है। विभिन्न आर्थिक समूहो के हितो म पारस्परिक विरोध क कारण राजनीतिक तनाव पैदा हो जाते हैं और राज्य इन्हे कम करने का भरसक प्रयत्न करता है। समाज के वर्तमान आर्थिक सगठन के बुनियादी ढाचे के अतर्गत ही प्राय यह ऐसा करता है। एक विवेकशील और सवेदनशील कार्यकर्ता अथवा बुद्धजीवी के मन मे सामाजिक अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना का होना स्वाभाविक है। वह देखता है कि दुनिया आगे बढ़ती जा रही है और उसके गुणो की कोई कद्र नही करता। वह जानता है कि उसके बच्चो मे चाहे असाधारण योग्यता भले ही हो, साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति अपने पैत्रिक अधिकार के दावे से बिना विशेष परिश्रम अथवा यत्न किए ऊँचे चढ़ते चले जाएँगे जबकि उसके बच्चो को आगे बढ़ने के अवसर नहीं मिलेंगे। कोई आश्चर्य नही यदि यह देखकर उसमे क्रातिकारी प्रवृत्तियाँ पैदा हों। यदि अन्य बातों ने उसमे पहले से ही समाजवादी आदर्शों के प्रति झुकाव पैदा न भी किया हो तो भी यह अन्याय देखकर उसके मन मे कामना होगी कि जैसे भी हो इस व्यवस्था से छुटकारा पाया जाए, और वह किसी ऐसे दल का अनुयायी बनने के लिए उद्यत हो जाएगा जो उसे विश्वास दिला दे कि उसका जीवन बहुत शीघ्र सम्पन्न और सुखमय बन सकेगा। इसके अतिरिक्त, जब श्रमिक अपनी निर्बल दशा की अपने मालिक की शक्ति के साथ तुलना करता है और सोचता है कि उसके मालिक को यह स्थिति कैसे प्राप्त हुई और उसकी शक्ति का वास्तविक आधार क्या है तो उसके मन मे सामाजिक

व्यवस्था के प्रति विद्रोह मभक उठता है[1]। वह एक ऐसा ससार बनाना चाहता है जिसम उन्नति केवल गुणों पर अवलम्बित हो और सभी व्यक्तियों को समान अवसर मिलें। इसी प्रकार की भावनाएँ और विचार वर्ग-सघर्ष के इतिहास मे भी अतर्निहित हैं। वस्तुत शिक्षा और सस्कृति पर भी आर्थिक व्यवस्था की प्रतिक्रिया होती है।

कानून पर आधारित आधुनिक अर्थव्यवस्था लोगों मे असतोष को जन्म देती है और इसका प्रदर्शन हडताल आदि रूपो में होता है। इस सामाजिक विचार-भेद को प्रकट करने अथवा उन पर रोक लगाने के लिए राजनीतिक सस्थाएँ बनाई जाती हैं जो वर्तमान सम्पत्ति, उत्तराधिकार के कानूनों और कर-व्यवस्था का समर्थन और उनकी रक्षा करती हैं। अब राज्य उद्योग और आर्थिक वितरण की व्यवस्था पर काफी नियत्रण करने लगा है, और राजनीतिक विज्ञान का सबसे अधिक विवादास्पद प्रश्न भी आज यही है कि आर्थिक मामलो मे राज्य का किस रूप मे और कितना नियत्रण हो[2]?

राजनीति विज्ञान मे आर्थिक प्रश्नों और समस्याओ का स्थान अब स्पष्ट हो गया होगा। विलियम ऐल्लिगर का सुभाव है कि पाठ्य-क्रमो और विचार-गोष्ठियो के द्वारा अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान म समाकलन (integration) होना चाहिए[3]।

राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र—नीतिशास्त्र (Ethics) का सबध मानव आचरण से है और वह हमे 'उचित' तथा 'अनुचित' का बोध कराता है। वह हम बताता है कि हम क्यो 'उचित' कार्य करने चाहिएँ और क्यो 'अनुचित' कार्यों से दूर रहना चाहिए। इस प्रकार, यह हमे उचित आचरण की शिक्षा देता है। इसका सबध नैतिकता से है जो अंत करण से सबधित है। एक प्रकार से, ये बातें धर्म के क्षेत्र से भी सबध रखती हैं। किन्तु मनुष्य अनेकानेक धर्मों अथवा पथो के अनुयायी हैं, और देखा गया है कि बहुधा एक ही मत के अनुयायियो मे भी नैतिकता के प्रश्न पर मतभेद हो जाते हैं। अतएव धर्म का स्थान नीतिशास्त्र न ले लिया है और अब वही नैतिकता के आधारों की व्याख्या करता है[4]।

राजनीति-विज्ञान और नीतिशास्त्र मे घनिष्ठ सबध है। इस बात का

---

1 वही, पृष्ठ 42-43

2 वही, पृष्ठ 43 और 46.

3 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 99.

4 देखिए Herbert Samuel, *Practical Ethics*, लन्दन, 1935, पृष्ठ 7-9.

स्पष्टीकरण कानून और नैतिकता के पारस्परिक सबंधो का अध्ययन करने से हो जाता है। यह दोनो ही प्रारम्भिक सामाजिक जीवन मे प्रथाओ के रूप मे विकसित हुए। सभ्यता के विकास के साथ उत्पन्न व्यक्तिगत और सामूहिक हितो के संघर्ष के कारण, व्यक्तिगत नैतिकता (अर्थात् अतरात्मा) ने प्रथाओ का स्थान ग्रहण कर लिया, तथा दूसरी ओर सार्वजनिक नैतिकता के नियम (अर्थात् कानून) बने[1]। तथापि दोनो के सबध अभी भी अत्यत घनिष्ठ हैं। जब नैतिक विचार व्यापक रूप से प्रसारित हो जाते हैं तो समय पाकर वे ही कानून मे परिणत हो जाते हैं, इसके विपरीत जो कानून समाज से मान्यता मिले बिना नैतिक सिद्धातो को लागू करने की चेष्टा करते हैं, उनको जनता द्वारा मनवाना एक विकट समस्या बन जाती है। यही नहीं, नैतिकता और कानून दोनो में से कोई अचर-अटल नही है। नैतिक सहिता परिवर्तित होती रहती है, और बदलते हुए विचारो, नई खोजो और पर्यावरण (environment) मे परिवर्तनो के अनुरूप अपने को ढालने का प्रयत्न करती है[2]। अपने सदस्यो को उचित आचरण करने की प्रेरणा देने के लिए समाज के पास जो साधन उपलब्ध हैं, उनमे लोकमत[3] भी एक है, जो राजनीतिशास्त्रियो के लिए विशेष महत्त्व रखता है। राजनीतिक समस्याओ के अध्ययन के नैतिक पहलू का एक अन्य उदाहरण प्राकृत कानून अथवा प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) हैं जिनकी चर्चा पाश्चात्य राजनीति दर्शन मे लगभग दो सहस्र वर्षों से चल रही है और जिनकी कसौटी पर राज्य के निश्चयात्मक कानूनों का मूल्याकन किया जाता रहा है। 17 वी शताब्दी मे 'सार्वजनिक अतर्राष्ट्रीय विधि' का उदय भी इस कारण हुआ कि विचारक युद्ध काल मे अनावश्यक निर्दयता और बर्बरता को सीमित करने के लिए साधनो की खोज मे थे। नीति शास्त्र के प्रभाव से मानवतावाद का विकास हुआ जो 18 वी शताब्दी मे अपनी चरमसीमा पर पहुँचा। इसी भावना से प्रभावित होकर मोटेस्क्यु ने लिखा, 'यदि कोई ऐसा कार्य हो जो मेरे देश के लिए हितकर हो किंतु यूरोप के लिए हानिकारक, अथवा यूरोप के लिए तो लाभदायक हो किंतु मानव-जाति को हानि पहुँचाने वाला हो, तो मैं ऐसे कार्य को अपराध समझूँगा'[4]। बाद मे राष्ट्रवाद की प्रबल धारा ने इस प्रकार की मानवतावादी भावनाओ को कुठित कर दिया, और राष्ट्रीय समूहो मे पृथक्ता और सकीर्णता

---

1 देखिए गैटिल का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 6.

2 देखिए सैबुमल का उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 132-133

3 वही, पृष्ठ 153.

4 Bernard Croce, *My Philosophy*, 1949, पृष्ठ 154 से उद्धृत।

के भाव बढ़ने लगे (उदाहरणार्थ, "उचित हो या अनुचित, मेरा प्यारा देश" जैसे विचार)। हमारे युग के अव्यवस्थित विचारो का एक कारण यह भी है कि उग्र राष्ट्रवाद और मानवतावाद मे सघर्ष रहता है[1]। यद्यपि हमारे राजनीतिज्ञ सार्वजनिक रूप से राजनीति मे नैतिकता अपनाने का परामर्श देते हैं, किंतु व्यवहार मे वे ठीक इसके विपरीत आचरण करते हैं। सभवत वे नैतिकता के आदर्शों और नियमो का पालन करना तो चाहते हैं किंतु ऐसा नही कर पाते। नैतिकता और राज्य के प्रति अनुरक्ति मे सघर्ष इसलिए उत्पन्न हो जाता है कि अनेक लोग राज्य को अन्य सभी हितो और मूल्यो से ऊपर मानने लगे हैं[2]।

प्राचीन और मध्यकालीन यूरोप मे राजनीतिक विचारक नीति-शास्त्र को राजनीति के अध्ययन के लिए एक आवश्यक भूमिका मानते थे। प्लेटो के अनुसार 'राजनीति' नीति शास्त्र की एक अग थी। अरस्तू के कथनानुसार, जो राजनीति को एक सर्वोत्तम एव सर्वोपरि विज्ञान मानता था, राज्य का उद्देश्य 'उत्तम जीवन की प्राप्ति' है। मध्यकालीन यूरोप मे धर्म और धर्म-दर्शन राजनीति के अध्ययन पर हावी रहे। आधुनिक युग मे भी रूसो से लेकर कान्ट और हेगल के साथ राजनीति सिद्धांत मे एक आदर्शवादी विचारधारा का जन्म हुआ जिसके ऑक्सफोर्ड मे ग्रीन, ब्रैडले और बोसाके प्रमुख प्रतिपादक थे। हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाधी सदैव इस बात पर बल देते रहे कि हमारे साधन और साध्य दोनो ही नैतिक होने चाहिएं। ऐप्लिगर के अनुसार, हमारे प्रयोजन की अच्छाई और ध्येय प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा भी किसी अनैतिक कार्य को नैतिक नही बना सकते। हमारे उद्देश्य चाहे जो भी हो, हमे नैतिकता के प्राथमिक नियमों का उल्लघन नही करना चाहिए। इन नियमो का पालन मानव सहकारिता के लिए नितात आवश्यक है, और सहकारिता के बिना विकास के क्रम मे मनुष्य जीवन की रक्षा भी असम्भव हो जाएगी[3]। अत मानव सभ्यता की ज्योति को जगाये रखने के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि हम नैतिकता के साधारण नियमों का पालन करें।

कुछ ऐसे विचारक और लेखक हैं जो नीति-शास्त्र और दर्शनशास्त्र को राजनीति विज्ञान के क्षेत्र मे नही आने देना चाहते। इस प्रकार के विचार भारत मे कौटिल्य ने और यूरोप मे मावयावैली ने प्रकट किए हैं। इन दोनो के अनुसार राजनीतिक शक्ति ही राजनीति अध्ययन का केंद्रबिंदु है। मावयावैली का कहना था कि शक्ति और छल-कपट राजनीतिक मामलो मे महत्वपूर्ण

1 देखिए ऐप्लिगर का उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 63.

2 वही, पृष्ठ 64

3 वही, पृष्ठ 66

स्थान रखते हैं। उसके अनुसार व्यक्तिगत नैतिकता की बातें राज्य की गतिविधियो पर लागू नही की जा सकती। किसी शासक का सबसे बड़ा गुण 'सत्ता' बनाए रखने मे सफलता है, भले ही इसके लिए उसे कुछ भी करना पड़े[1]। 19वीं शताब्दी के कुछ विद्वानो ने 'शक्ति' को ही राज्य का आधार माना है। फाइनर के अनुसार कोई भी राज्य, चाहे उसके शासक सत ही क्यो न हो, बिना रक्तपात के स्थापित और सचालित नही होता, और न कोई राज्य बल-प्रयोग के बिना उलटा ही गया है। सम्भवत इसी सत्य को समझकर बर्क ने यह आग्रह किया कि हम शासन के आधारो के सबध मे अनुसधान न करें[2]। पिछले दिनो, लासवैल और जुविनैल जैसे लेखको ने माग की है कि एक मूल्यविहीन 'राजनीति का विज्ञान' बनाया जाए। सभी समझदार व्यक्ति यह जानते हैं कि सामान्यतः दलबन्दी मे नैतिकता का कोई स्थान नही होता। सम्भवतः यही कारण है कि कुछ लोग 'राजनीति' शब्द को उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखते है।

राजनीति मे 'शक्ति' के महत्त्व को स्वीकार करने के उपरान्त भी राजनीतिक उद्देश्यो के प्रश्न का हल रह जाता है। एक लोकतन्त्रीय शासन के अतर्गत शक्ति के उपयोग की व्याख्या जनसमुदाय के सामान्य हितो के रूप मे करनी पडती है। लोकमत का समुचित आदर किया जाता है, अथवा उसे प्रभावित करने की चेष्टा की जाती है। अत यह स्पष्ट है कि राजनीतिक अध्ययन से मूल्यो के प्रश्न को पृथक् नही किया जा सकता। अपने आदर्शात्मक पक्ष मे, राजनीति-विज्ञान, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र और धर्म दर्शन से प्रेरणा लेता रहा है। कैटलिन के मतानुसार, राजनीतिज्ञो को नीति शास्त्र से यह सीखना चाहिए कि क्या कार्य उचित हैं, और राजनीति विज्ञान से यह सीखना चाहिए कि अनेको मार्गों मे से कौन-सा मार्ग ग्रहण करना सम्भव है? बिना नीतिशास्त्र के राजनीति-विज्ञान का अध्ययन बालू पर दीवार खडी करने की चेष्टा होगी। आइवर ब्राउन के मतानुसार, इन दोनो विषयो का भेद मौलिक नही है। उसके शब्दों मे, नैतिक सिद्धात बिना राजनीतिक सिद्धात के अपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है और वह पूर्णत एकाकी जीवन व्यतीत नही कर सकता। बिना नैतिक सिद्धातों के राजनीति-सिद्धात अर्थहीन है क्योंकि इसका अध्ययन और परिणाम बुनियादी रूप मे हमारे नैतिक मूल्यो और हमारी 'उचित' और 'अनुचित' की धारणाओ पर आधारित है[3]।

1 देखिए Niccolo Machiavelli, *The Prince*, लन्दन, 1952, पृष्ठ 68, 73, 77, 79 (रिकी का रूपान्तर और क्रिस्टैट का सम्पादन)।

2 फाइनर का उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 29.

3 देखिए Ivor Brown, *English Political Theory*, लन्दन, 1929, पृष्ठ 2.

सच्ची नैतिकता दूसरो को उपदेश देने मे नहीं होती। इसका सबध अपने कार्यों से अधिक है और दूसरो से कम। इतिहास साक्षी है कि लोकमत को भ्रम मे डालकर अनेक बार व्यक्तियों, अल्पसख्यको और राष्ट्रो को अपराधी घोषित कर दिया गया है जिसके कारण अविश्वास, घृणा और कभी-कभी युद्ध तक की नौबत आ गई है। जटिल मामलो मे वैज्ञानिक ढग से सोच सकने की क्षमता न होने के कारण ही प्राय ऐसा होता है, लेकिन वैज्ञानिक बनने के लिए हमारी वृत्ति तटस्थ होनी चाहिए। ऐस्लिगर के अनुसार इसके लिए नैतिक चेष्टा अपेक्षित है और यदि किसी व्यक्ति का यह मत है कि व्यावहारिक राजनीति अनैतिक होनी है तो उसके लिए इस प्रकार के नैतिक प्रयास और भी अधिक कठिन होते हैं"[1]।

राजनीति विज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान—कैटलिन के मतानुसार राजनीति विज्ञान के साथ मनोविज्ञान का व्यावहारिक दृष्टि से अत्यत घनिष्ठ सबध है। सामाजिक मनोविज्ञान मनुष्य के सामाजिक आचरण का विज्ञान है। यद्यपि यह विषय अभी नया है तथापि इसने सामाजिक विज्ञानो के विकास पर विशेष प्रभाव डाला है। सामान्यत अब यह माना जाने लगा है कि सामाजिक क्रियाकलाप के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक आधार नितात आवश्यक हैं, मानव-स्वभाव सबधी मनोवैज्ञानिक तथ्यों के सबध मे हमे पूर्वानुभावो से काम नही लेना चाहिए, बल्कि प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा अथवा प्रयोगात्मक विधि से उनकी खोज करनी चाहिए। ऐसा करने से अध्ययन यथार्थवत् और फलदायक बन जायगा। सामाजिक अनुसधाताओं ने अब इस विचार को मान लिया है, और मानवीय कार्यों की जटिल पहेलियो को सुलझाने के लिए वे अब मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं[2]। जब से बैजट ने फिजिक्स और पोलिटिक्स (न्यूयार्क, 1873 ई०) नामक पुस्तक लिखी, राजनीति शास्त्री अध्ययन के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का अधिकाधिक प्रयोग करते रहे हैं। ग्रेहम वैलास की 'ह्यूमेन नेचर इन पोलिटिक्स' (तृतीय सस्करण, 1921 ई०) और रिवर्स की 'साइकोलोजी एण्ड पोलिटिक्स' (लन्दन, 1923 ई०) इस दिशा मे प्रशसनीय प्रयास हैं। इस प्रकार, अब सामाजिक मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों और राजनीतिशास्त्रियो के पारस्परिक सहयोग के द्वार खुल गए हैं[3]।

इन दोनों विज्ञानो के पारस्परिक सबधो के विषय मे ग्रेहम वैलास ने सर्वोत्तम

---

1 देखिए ऐस्लिंगर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 68 69 तथा 62

2 Ernest Barker, *Political Thought in England*, पृष्ठ 148.

3 देखिए टालकाट पार्सन्स, ई० ए० शिल्स और एडवर्ड सी० टालमैन रचित *Towards a General Theory of Action*, 1951.

पथ प्रदर्शन किया। लार्ड ब्राइस ने भी कहा कि राजनीति की जड़ें मनोविज्ञान पर आधारित हैं[1], किंतु अनेक कारणो से वह स्वय इस ओर अधिक ध्यान न दे सका। समकालीन लेखको में हैरोल्ड लासवेल और जॉर्ज कैटलिन ने एक समाकलित दृष्टिकोण की आवश्यकता पर विशेष बल दिया[2]। लोकतन्त्र के प्रसार और लोकमत के महत्त्व के बढ जाने से प्रचार-कार्य की आवश्यकता भी बहुत बढ गई है और उसे अब मनोविज्ञान पर आधारित किया जाने लगा है। अतएव *राजनीतिशास्त्री अब सामाजिक-मनोवैज्ञानिको और समाजशास्त्रियों की सहायता* से राजनीतिक गतिविधियो के व्यापक क्षेत्र के अनुसधान मे लगे हुए हैं।

सामाजिक-मनोविज्ञान ने राजनीति विज्ञान को महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रदान किए हैं। इसने राजनीतिशास्त्रियो को राजनीतिक आचरण का आनुभविक अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया है। साथ ही इसने राजनीतिक विचारको को इस तथ्य से अवगत करा दिया है कि मनुष्य के अचेतन मन का अध्ययन अति आवश्यक है और उसका अध्ययन करने से हमे ऐसे अविवेकी तत्त्वो का ज्ञान होगा जो मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं। अब यह भी स्पष्ट हो गया है कि यद्यपि मनुष्य मे विवेक होता है, तथापि बहुत बार वह बिना सोचे-समझे कार्य कर बैठता है। इस अध्ययन से कुछ हानि भी हुई है। मनुष्यो के पूर्वाग्रहो (prejudices) और अज्ञान से लाभ उठाने के लिए, मनोविज्ञान की सहायता लेकर, प्रचार की कला का भरपूर उपयोग किया गया। इससे मनुष्यो की मानसिक प्रक्रियाओ के समझने मे विशेष सहायता मिली है। जिन लोगो ने विश्व-युद्ध के समय जनता का मनोबल बनाए रखने का कार्य अपने हाथो मे लिया, उन्होंने निश्चय ही मानव व्यवहार के उद्देश्यो का अच्छा अध्ययन किया होगा[3]। किंतु इस अध्ययन से बड यह भी स्पष्ट हो गया है कि साक्ष्य और तर्क पर आधारित मनोस्थिति और भावावेग पर आधारित मनोदशा के बीच की विभाजक रेखा अत्यत बारीक और अस्पष्ट है।

सामाजिक-मनोविज्ञान की सहायता से राजनीतिक अनुसधाता के लिए अब यह सभव हो गया है कि वह लोकमत और मतदाताओ के आचरण के सबध में शोध कर सके। वह सर्वेक्षण और विश्लेषण के आधार पर आगामी चुनाव के सबध मे पूर्वानुमान लगा सकता है। वह इस बात का भी अनुमान लगा सकता है कि किसी प्रायोजित कानून की प्रतिक्रिया जनता पर क्या होगी। इसने हमे सिखाया कि किसी नई नीति को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि

1 उनकी माडर्न डेमोक्रेसीज, पृष्ठ 17

2 देखिए *A Study of the Principles of Politics*, पृष्ठ 42-43.

3 देखिए ग्राहम वालस (?) का उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 36.

उसकी जनसाधारण में पहले से चर्चा हो जिससे नागरिक उसके गुण-दोषों का विवेचन कर सकें।

इस अध्ययन से हमें लोकतंत्रीय प्रक्रियाओं के खतरों से सावधान रहने की चेतावनी भी मिली है। ये खतरे इसलिए उत्पन्न होते हैं कि नागरिक अशिक्षित, अज्ञानी और अविवेकी हैं। ऐसी दशा में वह सरलता से अंधविश्वासों, भावनाओं और अन्य अविवेकी प्रभावों में आकर बह जाते हैं। साथ ही, इससे पता चला कि किस प्रकार लगातार प्रचार द्वारा मानव भावनाओं को उकसाकर उनकी दुर्बलताओं से लाभ उठाया जा सकता है। साथ ही इस अध्ययन से हमें यह भी ज्ञात हुआ कि इन मानवीय भावनाओं को किस प्रकार क्रियात्मक मोड़ दिया जा सकता है। कहने का आशय यह है कि मानवीय भावनाएँ एक दुधारी तलवार के समान हैं और उन्हें रचनात्मक तथा ध्वंसात्मक दोनों ही उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। राजनीतिशास्त्री सामाजिक-मनोवैज्ञानिकों के प्रति कृतज्ञ हैं कि उन्होंने मानस को समझने के लिए उन्हें एक अन्तर्दृष्टि दी और मनुष्य के सामाजिक आचरणों को समझने की एक कुंजी। सामाजिक-मनोवैज्ञानिकों के इस योगदान के पश्चात् राजनीति-विज्ञान से यह आशा की जा सकती है कि अब वह अधिक यथार्थवत् और वस्तुनिष्ठ बन जाएगा।

सामाजिक-मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की कमियों पर ध्यान देना भी आवश्यक है। मारिस जिंसबर्ग ने चेतावनी दी है कि कहीं हम यह न समझ बैठें कि अब हमारे सम्मुख एक ऐसा विज्ञान प्रस्तुत है जो हमें मानव-चरित्र और उसके आचरणों के विषय में निश्चयात्मक बातें बता सकेगा और यह भी कह सकेगा कि मानव प्रयास के द्वारा क्या संभव नहीं है। उसके अनुसार, सच तो यह है कि यह विज्ञान अभी भी अपनी बाल्यावस्था में है और इसका अध्ययन अनुभवों पर आधारित सामान्यीकरणों की सीढ़ी से आगे नहीं बढ़ पाया[1]। राब्सन के मतानुसार, सामाजिक-मनोविज्ञान हमें ऐसी दृढ़ भूमि प्रदान नहीं करता जिसके यथातथ और व्यवस्थित ज्ञान पर हम राजनीति के सिद्धांत स्थापित कर सकें अथवा लोकमत के संबंध में निश्चयात्मक विचार प्रकट कर सकें। यह सच है कि फ्रायड और उसके उत्तराधिकारियों जंग और उसके शिष्यों के महान् उद्यम ने मनुष्य के मन को समझने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है; मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने व्यक्तियों की मनोविकार-उपचर्या में क्रान्तिकारी उन्नति की है—किन्तु इन सबके बाद भी राजनीति विज्ञान को काम आने योग्य निष्कर्ष

---

1 देखिए Morris Ginsberg, *The Psychology of Society*, आठवाँ संस्करण, लन्दन, 1951, पृष्ठ 8.

प्राप्त नहीं हुए[1]। अतएव राजनीति विज्ञान को आगे बढ़ने में विशेष सहायता नही मिली। अर्नेस्ट बार्कर के मतानुसार, सामाजिक मनोविज्ञान पहले तो हमे भौतिकवाद की ओर ले जाकर 'निम्नतर' की सहायता से 'उच्चतर' की व्याख्या कराता है और फिर अबुद्धिवाद की ओर ले जाता है जिससे हम समाज को 'अनुकरण' का परिणाम-मात्र और उसके नागरिको को मनमाने सुझावो द्वारा सम्मोहित व्यक्ति समझने लगते हैं[2]। जिसबर्ग के अनुसार, यह 'आनुभविक' का 'बौद्धिक' से एक भ्रमोत्पादक पृथक्करण है जिसके आधार पर सामाजिक जीवन मे 'बुद्धि' अथवा 'विचार' की महत्ता के विरुद्ध युक्तियाँ दी जाने लगी हैं[3]। अतः यह स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान को सामाजिक-मनोविज्ञान के निष्कर्ष ग्रहण करने मे बहुत सोच विचार से काम लेना चाहिए। कैटलिन के अनुसार उसको केवल ऐसे निष्कर्ष ग्रहण करने चाहिए जो उसके क्षेत्र पर प्रकाश डालने मे विशेष रूप से सहायक हो[4]।

राजनीति विज्ञान और विधिशास्त्र—सार्वजनिक विधि (Public Law) का ज्ञान राजनीति-शास्त्रियो के लिए अत्यन्त आवश्यक है। किसी देश के सविधान (Constitution) को उसकी 'सविधानी विधि' की सहायता के बिना नही समझा जा सकता। लोक प्रशासन मे भी 'प्रशासनिक कानून' का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' का अध्ययन आवश्यक है। विधि की इन शाखाओ के अतिरिक्त, राजनीतिशास्त्रियो को शासन के अग के रूप मे न्याय व्यवस्था का भी अध्ययन करना पडता है। अतएव कुछ लेखको और विश्वविद्यालयो का यह मत है कि राजनीति-विज्ञान के अतर्गत 'विधिशास्त्र' (Jurisprudence) का अध्ययन भी होना चाहिए[5]। ऐल्लिगर के अनुसार राजनीति-विज्ञान और विधिशास्त्र का सबध बहुत घनिष्ठ है। वस्तुत आधुनिक समय मे, कानून और शासन अपृथक् हो गए हैं और सभी सस्थाओ के प्राय कानूनी और राजनीतिक दोनो पहलू होते हैं। विधिशास्त्र की उपयोगिता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि यदि राजनीतिशास्त्रियो ने हान्स केलसन आदि विधिशास्त्रियो के प्रभुसत्ता सबधी विचारों का अध्ययन किया होता तो सम्भवत वे इस सबध मे प्रचलित अनेक भ्रमो से बच गए

1 देखिए उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 20

2 देखिए बार्कर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 150-51. यहाँ बार्कर मनुष्य जीवन को पशु-पक्षियों के सदृश मानकर अध्ययन करने की प्रवृत्ति की ओर इंगित कर रहा है।

3 देखिए, उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 16

4 देखिए उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 31

5 राम्मन, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 55.

होते[1]। यही नहीं, कानून की उत्पत्ति और उसके स्रोत, प्रभुसत्ता की सकल्पना, नागरिकों के अधिकार तथा कर्त्तव्य, आदि अनेक ऐसे विषय हैं जिनका राजनीति विज्ञान और विधिशास्त्र दोनों से ही समान सबध है। किंतु, राब्सन इस पक्ष में नही है कि राजनीति विज्ञान मे कानूनी अध्ययन का क्षेत्र बहुत बढा दिया जाए। उसके अनुसार राजनीति-विज्ञान मे हमे कानून-सबधी केवल उन्हीं बातों का अध्ययन करना चाहिए जिनसे हमारा सीधा सबध है[2]। चैपमल के मतानुसार, यद्यपि राजनीति विज्ञान मे कानून का काफी अश है तथापि इसका अध्यापन उन्ही व्यक्तियो द्वारा होना चाहिए जो राजनीति-विज्ञान की भावना और दृष्टिकोण से भलीभांति परिचित हों। उनके अनुसार यह बहुत-कुछ अध्यापक की अभिवृत्ति पर निर्भर है कि राजनीति-विज्ञान म कितना कानून सम्मिलित किया जाए।

राजनीति विज्ञान और सामाजिक मानव-विज्ञान—कुछ समय पूर्व सामाजिक मानव-विज्ञान को प्राथमिक समाजों से सबधित एक ज्ञान माना जाता था, किंतु अब यह सभी प्रकार के समाजों का अध्ययन करने लगा है। व्यावहारिक रूप मे इस विषय का ज्ञान औपनिवेशिक शासन की समस्याओ, रग भेद और जाति-भेद के प्रश्नो, आप्रवास और उत्प्रवास की उलझनों, तथा नवविकसित देशो की विकास-सबधी समस्याओं को हल करने म विशेष रूप से सहायक होता है[3]।

राजनीति-विज्ञान और सांख्यिकीशास्त्र—सामाजिक विज्ञान दिन पर दिन अपनी अध्ययन-विधि मे सांख्यिकीमूलक होते जा रहे हैं। यद्यपि राजनीति-विज्ञान में अभी तक सांख्यिकीमूलक दृष्टिकोण का कम उपयोग हुआ है, तथापि इसमें वृद्धि होने की सभावना और आशा है। राब्सन के मतानुसार लोक प्रशासन का व्यवहार काफ़ी सीमा तक सांख्यिकी सूचना और उन पर आधारित पूर्वानुमानों पर निर्भर है। अतएव उच्च पदाधिकारियों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे सांख्यिकी विधि को समझें और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग करें। अतएव राजनीतिशास्त्रियों के लिए भी सांख्यिकी सिद्धातो को समझना और प्रतिचयन विधि (sampling method) के उपयोग का ज्ञान आवश्यक हो गया है।

राजनीति विज्ञान और भूगोल—भूगोल उन प्राकृतिक दशाओं का वर्णन करता है जिनका मनुष्य के जीवन पर विशेष प्रभाव होता है। अरस्तू, बोदाँ,

---

1 देखिए ऐस्लिगर का उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 92.

2 देखिए उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 55.

3 वही, पृष्ठ 59.

मोटेंस्क्यु और बकिल ने इस पहलू पर अपने विचार उपस्थित किए। यह एक आश्चर्य की बात है कि इनमे से प्रत्येक अपने देश के गुणो को बढ़ा-चढ़ा कर बखान करता है। इससे स्वभावत. इस विज्ञान के सामान्यीकरणो की वैज्ञानिकता मे सदेह होता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि भौतिक वातावरण जनता के चरित्र, उनकी सस्थाओ आदि पर प्रभाव डालता है तो भी यह नही माना जा सकता कि यह प्रभाव निर्णयात्मक है। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ, दिन पर दिन मनुष्य प्राकृतिक शक्तियो पर विजय प्राप्त करता जा रहा है और उन पर नियत्रण रखने की क्षमता पा गया है।

भूगोल के अतर्गत 'भूराजनीति' नाम का एक नया विज्ञान बना है जो भौगोलिक तत्त्वो के राजनीतिक प्रभावो का अध्ययन करता है, विशेषत: उन प्रभावो का जो अतर्राष्ट्रीय राजनीति और परराष्ट्र नीति पर पडते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन है और प्राकृतिक सीमाएँ जैसे प्रश्न, जिनका सैनिक समस्याओ से निकट सबध है, अतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन मे विशेष महत्त्व रखते हैं।

राजनीति विकास के स्तर का प्रभाव—राजनीति-विज्ञान का क्षेत्र और उसके अध्यापन पर किसी न किसी रूप मे राजनीतिक विकास के स्तर का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, राजनीतिक रूप से अविकसित राष्ट्र मे राजनीति विज्ञान की स्नातकोत्तर शिक्षा का स्तर भी पिछडा हुआ होगा। विश्वविद्यालय के प्रागण से बाहर, राजनीतिक साहित्य के सृजन के अभाव मे इस विषय का शिक्षण भी शुष्क और सकीर्ण बन कर रह जाएगा[1]।

---

1 वही, पृ॰ 38.

खण्ड दो

राज्य तथा नागरिक

मनुष्य स्वतत्र जन्म लेता है , और सर्वत्र वह बधनो मे जकडा है। व्यक्ति समझता है कि वह दूसरो का स्वामी है, किंतु वस्तुतः वह दूसरो से भी अधिक गुलाम होता है। यह परिवर्तन कैसे हुआ ? मै नही जानता। यह वैध कैसे बन सकता है ? इस प्रश्न का समाधान मै कर सकता हूँ।

—जा जाक्स रूसो

4

प्रारम्भिक परिभाषाएँ और प्रभेद

> राजनीतिक संस्थाएँ और शासन केवल राज्य के अंतर्गत ही नहीं होते। ऐसा विचार राज्य के स्वरूप का एक विशिष्ट अर्थ दे देता है। अपने में तो यह गलत है ही, साथ ही यह एक अन्य भूल को भी जन्म देता है कि राज्य की क्रियाओं का रहस्य समझने के लिए केवल उसी का अवलोकन पर्याप्त है। राजनीतिशास्त्रियों के लिए महत्त्वपूर्ण सत्य है कि राज्य में मनुष्यों आदि के व्यवहार राज्य से बाहर व्यक्तियों और समाजों के व्यवहार से न अधिक श्रेष्ठ होते हैं और न बुरे, न अधिक सरल होते हैं और न जटिल।
>
> —हर्मन फाइनर

हम राजनीति-विज्ञान के अनेक बुनियादी शब्दों जैसे राज्य, शासन, समाज आदि को बिना उनकी परिभाषा दिए प्रयोग करते आए हैं। अब हम इन शब्दों और उनके समरूप अन्य शब्दो, जैसे समुदाय (association), जन-समुदाय (Community), नेशनैलिटी (nationality) और राष्ट्र (nation) का ध्यान-पूर्वक विवेचन करेंगे, और उनके यथातथ अर्थों और प्रभेदों (*distinctions*) को समझाने का प्रयत्न करेंगे।

1. आधुनिक राज्य और उसके तत्व

'राज्य' शब्द का, वर्तमान अर्थ में, सर्वप्रथम प्रयोग निकोलो मायावैली (1469-1527 ई०) ने किया। प्राचीन यूनान मे यह शब्द प्रचलित न था। यूनानी विचारक 'पोलिस' शब्द का व्यवहार करते थे जिसका हिन्दी रूपान्तर 'नगर-राज्य' किया जाता है। प्राचीन यूनान के इन छोटे और अति-घनिष्ठ समुदायो मे साहचर्य और अधिकारो के उपभोग पर बल दिया जाता था,

सर्वोपरिता (supremacy) और आज्ञापालन पर नहीं[1]। कैटलिन के अनुसार, हम इन प्राचीन जन-समुदायों को 'नगर-समुदाय' कह सकते हैं[2]। प्राचीन रोम का 'सिविटास' शब्द भी ऐसे जन समुदायों का द्योतक था जो पूर्ण नागरिक अधिकारों और कर्त्तव्यों का उपभोग करते थे। अतः प्राचीन यूनान और रोम के नगर-राज्य संवृत्त (closed) जन-समुदाय थे जो दासों के शोषण पर आधारित थे। इसी प्रकार मध्यकालीन यूरोप में भी आधुनिक राज्य का विचार स्पष्ट नहीं हो पाया था। इन युगों की राजनीतिक परिकल्पना साम्राज्य और रजवाड़ों के इर्द गिर्द केंद्रित थी। मध्यकाल के अंतिम चरण में राज्य की संकल्पना का उदय होने लगा, लेकिन किसी विचारक ने इसकी स्पष्ट मीमांसा नहीं की। जिस समय यह शब्द प्रयोग में आने लगा, राज्य जनता का न था, और प्रभुसत्ता राजाओं में निहित थी। उस समय राज्य को सर्वोपरि सत्ता का द्योतक माना जाता था, किंतु कभी-कभी इस शब्द को सामाजिक संस्थाओं के लिए भी प्रयुक्त किया जाता था। शनैः शनैः राज्य शब्द का प्रयोग राजनीतिक सत्ता के लिए किया जाने लगा। किसी भी संविधान के लिए इसको प्रयुक्त करते समय इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता था कि इस संविधान का रूप और उसके सिद्धांत क्या हैं।

राज्य शब्द के अशुद्ध प्रयोग—सामान्य प्रयोग में 'राज्य' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए संघीय राज्य के घटक अंगों को भी 'राज्य' कह देते हैं। संयुक्त राज्य (अमरीका) और भारतीय जनतंत्र में ऐसा होता है। इसी प्रकार, हम राजकीय सहायता, राजकीय नियंत्रण, राजकीय शिक्षा आदि की चर्चा करते हैं जबकि वस्तु-स्थिति के अनुसार हमारा आशय सरकारी सहायता, सरकारी नियंत्रण आदि से होता है। वस्तुतः राज्य और शासन में भेद है, और सरकार राज्य की एक एजेन्सी-मात्र है। इसी प्रकार 'राज्य' समाज, जन-समुदाय और राष्ट्र से भी भिन्न है। राज्य की संकल्पना का विश्लेषण करने के बाद हम इन शब्दों के पारस्परिक भेदों का विवेचन करेंगे।

राज्य का स्वरूप—यह आश्चर्य की बात है कि राजनीति-विज्ञान के लेखकों और विचारकों में राज्य की परिभाषा के संबंध में भी मतभेद हैं। ये मतभेद प्रधानतः राज्य के स्वरूप के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों और विचारों के कारण हैं जिनका प्रभाव उनकी परिभाषाओं पर पड़ा है। एक ओर कुछ लेखक राज्य को सार रूप में एक वर्ग-रचना मानते हैं, तो दूसरी ओर अन्य लेखकों का विचार है कि राज्य वर्गों से परे है और समस्त जन-समुदाय का प्रतिनिधित्व करता है।

1 इर्नेस्ट बार्कर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 8.

2 देखिए *The Science and Method of Politics*, पृष्ठ 139.

इसी प्रकार जहाँ एक ओर कुछ विचारक इसे एक शक्ति-पुंज के रूप में देखते हैं, वहाँ अन्य विचारक इसे एक लोक-कल्याणकारी व्यवस्था समझते हैं। जहाँ कुछ चिंतक इसे केवल पारस्परिक बीमा-समाज बताते हैं, वहाँ अन्य लोग इसे एक ऐसी नैतिक संस्था मानते हैं जिसके बिना मनुष्य का नैतिक उत्थान असम्भव है। जहाँ कुछ लेखक कानूनी दृष्टिकोण को अपनाते हुए इसे एक ऐसा लोक समाज बताते हैं जो कानूनी आधार पर संगठित है, वहाँ अन्य विचारक इसे 'राष्ट्र' और 'समाज' से भिन्न नहीं मानते।

राज्य के स्वरूप के संबंध में ये मतभेद राजनीतिक चिंतन के प्रारम्भ से चलते आए हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन यूनान में सोफिस्टों का मत था कि राज्य रूढ़िगत (conventional) है। उनका कहना था कि राज्य उपयोगिता और सुविधा पर आधारित है, अतएव प्रभावशाली व्यक्ति इच्छानुसार इसकी उपेक्षा कर सकते हैं। बाद के यूनानी विचारकों में सुकरात (470-399 ई० पू०), प्लेटो (428-347 ई० पू०) ने उक्त विचार का खण्डन किया। इन विचारकों के अनुसार राज्य स्वाभाविक है और नागरिकों के नैतिक विकास के लिए अत्यतावश्यक है। अरस्तू के अनुसार, राज्य का जन्म मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के कारण होता है, और यह मनुष्यों की सामाजिक जीवन के प्रति अभिलाषा का प्रतिफल है। राज्य मनुष्यों के चहुँमुखी विकास के लिए अपरिहार्य है। उसके अनुसार जो व्यक्ति राज्य से बाहर रहता है वह या तो देवता है अथवा पशु ; ऐसे व्यक्ति को सामान्य मनुष्य नहीं माना जा सकता। आधुनिक आदर्शवादियों में रूसो (1712-1778 ई०), इमानुएल कान्ट (1724-1804 ई०), हेगल (1770-1831 ई०), ग्रीन (1836-1882 ई०), ब्रैडले (1846-1924 ई०) और बर्नार्ड बोसांके (1848-1924 ई०) उक्त मत से बहुत कुछ सहमत हैं। इन सभी विचारकों के अनुसार, राज्य के बिना मनुष्य का पूर्ण नैतिक विकास असम्भव है। उपर्युक्त विचारकों के सदृश्य अल्थ्यूसियस (1557-1638 ई०) और ह्यूगो ग्रोशस (1583-1645 ई०) का यह मत है कि राज्य मानव कल्याण के हेतु निर्मित एक सामान्य जन-समुदाय है। इन्हीं विचारकों से प्रभावित होकर आधुनिक 'लोक-कल्याणकारी राज्य' की सकल्पना का उदय हुआ, जिसका सम्पन्न समाजों से विशिष्ट रूप से संबंध है और वहीं इस प्रकार के राज्य बनने की सम्भावना हो सकती है।

इनसे भिन्न विचार रखने वाले लेखकों का अभिमत यह है कि राज्य व्यक्ति की प्राकृत स्वतन्त्रता को सीमित करता है। अतएव अधिक से अधिक उसे "एक आवश्यक बुराई" माना जा सकता है। इस विचार के समर्थकों में हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1903 ई०) प्रमुख हैं। उनके मतानुसार राज्य 'पारस्परिक बीमा

के हेतु निर्मित एक संयुक्त साभा-कम्पनी' है जिसकी सदस्यता ऐच्छिक और वैकल्पिक होनी चाहिए। वह इस बात पर बहुत बल देता है कि राज्य को नागरिकों को खुली छूट देनी चाहिए कि वे यदि चाहें तो राज्य द्वारा दिए जाने वाले लाभों का परित्याग कर दें और साथ ही नागरिकों के दायित्वों का भार भी उतार फेंके। इस दृष्टिकोण को पराकाष्ठा तक ले जाने वाले अराजकवादी दार्शनिकों में प्रूधों (1809-1865 ई०) और क्रोपाटकिन (1842-1921 ई०) प्रमुख हैं। इन विद्वानों के अनुसार राज्य शक्ति का प्रतीक और एक भीषण बुराई है। इसने चाहे जिसे लाभ पहुँचाया हो, सामान्य जनता का हित कभी नहीं किया। अतएव उनका विचार है कि शक्ति पर आधारित राज्य का जितना शीघ्र अंत हो जाए उतनी ही पीड़ित मानवता को राहत मिलेगी। यहाँ यह बताना असंगत न होगा कि मैक्यावेली और ट्रीटस्के ने भी राज्य को एक शक्ति-पुंज माना था। इसी प्रकार ओपेनहीमर और कार्ल मार्क्स (1818-1883 ई०) भी मानते हैं कि राज्य एक ऐसा संगठन है जिसमें एक वर्ग शेष लोगों का शोषण करता है। मार्क्स के कथनानुसार राज्य 'शासक-वर्ग की एक प्रबन्धक समिति' है।

उपर्युक्त मतों के विवेचन के साथ टी० ई० हालैंड जैसे विद्वान जिन्होंने, राज्य का कानूनी दृष्टि से अध्ययन किया है, की चर्चा करना भी आवश्यक प्रतीत होता है[1]। इससे मिलते-जुलते विचार रखने वाले विद्वान, राबर्ट फिलीमोर हैं जिन्होंने राज्य का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से किया है[2]। उपर्युक्त विवेचन में सभी विचारकों के प्रतिनिधि विद्वान नहीं आये। हमने यहाँ केवल उन मतों का संक्षिप्त विवरण दिया है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं और जिन्होंने राजनीति के अध्ययन पर अपनी स्पष्ट छाप छोड़ी है। तथापि इस विवेचन से

1 देखिए *Elements of Jurisprudence*, तेरहवाँ संस्करण, ऑक्सफोर्ड, 1924 पृष्ठ 46. राज्य 'अनेक व्यक्तियों का एक संगठित समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग पर रहता है और जहाँ बहुमत अथवा व्यक्तियों के एक निश्चित वर्ग की इच्छा उन सब व्यक्तियों पर भी लागू की जाती है जो इसका विरोध करते हैं।

2 देखिए Robert Philimore, *International Law*, द्वितीय संस्करण, लन्दन, 1871, पृष्ठ 18: राज्य 'एक नियत भूभाग पर स्थायी रूप से रहने वाले व्यक्तियों का राजनीतिक संगठन है जो सामान्य कानूनों, आदतों और प्रथाओं में आबद्ध है और एक संगठित सरकार के माध्यम से अपनी सीमा में स्थित सभी व्यक्तियों और वस्तुओं पर स्वतन्त्र प्रभुसत्ता और नियन्त्रण रखते हैं और जो युद्ध तथा शान्ति की क्षमता रखते हुए विश्व के अन्य समुदायों से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करते हैं।'

यह स्पष्ट हो जाएगा कि राजनीतिक चितको के दृष्टिकोणों मे अनेक भेद हैं और इन्ही के अनुरूप उनकी परिभाषाओ मे भी विविधता आ गई है। इस विविधता से बचने का मार्ग केवल यह है कि राज्य की उन समस्त परिभाषाओ को जो किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से की गई हैं और जिनमे राज्य के तत्त्वो की समुचित व्याख्या नही होती, हम एकदम त्याग दें और केवल उन्ही परिभाषाओ पर विचार करें जो राज्य के वस्तुनिष्ठ तत्त्वो के विवरण पर आधारित हैं।

राज्य की परिभाषा—बर्जिस, ब्लुश्ली और वुड्रो विलसन ने जो परिभाषाएँ दी हैं वे वस्तुनिष्ठ होते हुए भी राज्य के समस्त आवश्यक तत्त्वो का समावेश नही करती। जॉन बर्जिस के अनुसार, राज्य 'सगठित इकाई के रूप मे मानव समुदाय का एक विशिष्ट भाग है'[1]। ब्लुश्ली के अनुसार 'एक निश्चित भूभाग पर राजनीतिक रूप से सगठित जनता'[2] का नाम ही राज्य है। वुड्रो विलसन भी राज्य को 'एक निश्चित भूभाग पर कानूनी रूप से सगठित जनता' कहता है। ये लेखक सभवतः भूल जाते हैं कि मानव इतिहास मे अनेक ऐसे राजनीतिक रूप से सगठित जनसमुदाय हुए है जिनकी निश्चित सीमाएँ थीं किंतु वे राज्य नही थे। उनके 'राज्य' कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि निश्चित भूभाग पर रहने वाला ऐसा सगठित जनसमुदाय स्वतत्र हो और उसे प्रभुसत्ता प्राप्त हो। उदाहरण के लिए, जब तक 15 अगस्त सन् 1947 ई० को भारत स्वाधीन नही हो गया, वह 'राज्य' नही था। ससार मे अब भी ऐसे अनेक जनसमुदाय और क्षेत्र हैं जिनकी अपनी सगठित सरकारें हैं, भूभाग की निश्चित सीमाएँ हैं, किंतु वे राज्य नही है।

गार्नर की परिभाषा मे यह दोष नही है। उनके अनुसार राज्य 'न्यूनाधिक बहुसख्यक मनुष्यो के एक ऐसे समुदाय को कह सकते हैं जो स्थायी रूप से एक निश्चित भूभाग पर निवास करता हो, जो बाह्य नियत्रण से लगभग अथवा सर्वथा स्वतत्र हो, और जिसकी एक ऐसी सगठित सरकार हो जिसके आदेशो का उसके निवासियो का एक बहुत बडा भाग स्वाभाविक रूप से पालन करता हो'[3]। इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि किसी निश्चित भूभाग पर रहने वाला सगठित जन-समूह यदि पूर्ण स्वाधीनता का उपभोग नही करता तो वह 'राज्य' कहलाने का अधिकारी नही हो सकता। उपर्युक्त धारणा प्रभुसत्ता प्राप्त

1 *Political Science and Constitutional Law,* बोस्टन, 1898, खंड 1, पृष्ठ 50.
2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 3
3 *Political Science and Government,* कलकत्ता, 1951, पृष्ठ 49.

राजनीतिक सगठन के अस्तित्व पर बल देती है। यदि सगठित जनसमुदाय के पास प्रभुसत्ता है, और वह उसका एक निश्चित भूभाग पर प्रयोग कर पाता है, तथा सामान्यत जनता उसका अनुशासन मानती है और उसकी आज्ञा का पालन करती है, तो हम कह सकते हैं कि 'राज्य' वर्तमान है।

अन्य वस्तुनिष्ठ परिभाषाओ मे मैकीवर और लास्की की परिभाषाएँ उल्लेखनीय हैं। मैकीवर के मतानुसार राज्य 'उस समुदाय को कहते है जो अपनी सरकार द्वारा लागू किए जाने वाले विधि के अनुसार कार्य करता है और जिसे इसके लिए बलप्रयोग की अनुमति है तथा जो एक निश्चित सीमा-क्षेत्र मे सामाजिक व्यवस्था की सर्वमान्य बाह्य स्थितियाँ बनाए रखता है[1]। लास्की के मतानुसार राज्य ऐसा प्रादेशिक समाज है जो शासन और प्रजा मे विभक्त होता है जिसमे प्रजा व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमुदायो के रूप मे होती है और शासन सर्वोपरि बलप्रयोग पर आधारित अपनी शक्ति द्वारा प्रजा के साथ अपने सबध निर्धारित करता है[2]। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि उपर्युक्त दोनो विद्वान् प्रभुसत्ता के बहुलवादी सिद्धात को मानते हैं। अत अपनी परिभाषाएँ देते समय जानबूझ कर उन्होने इस बात का ध्यान रखा है कि उनकी परिभाषाओ म ऐसे भाव न आएँ जो राज्य की निरकुशता की पुष्टि करते हो।

राज्य के आवश्यक तत्व—उपर्युक्त परिभाषाओ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य मे कुछ तत्वो का होना अपरिहार्य है। यदि इनमे से एक भी तत्व की कमी हो, तो हम ऐसे जनसमुदाय को 'राज्य' नही कह सकेंगे। राज्य के अनिवार्य तत्व निम्नलिखित है

1 जनता
2 भूभाग
3 शासन अथवा सगठन
4 प्रभुसत्ता

नीचे हम इन तत्वो पर विस्तार से विचार करेंगे।

जनता अथवा जनसख्या—मनुष्यो के बिना कोई मानव समुदाय नहीं बन सकता। अत राज्य के लिए यह एक बुनियादी आवश्यकता है जिसके बिना इसकी कल्पना नही की जा सकती। मनुष्यो के अतिरिक्त अन्य प्राणी, चाहे वे सामाजिक रूप से कितने ही उन्नत क्यो न हो, राज्य को सगठित नही कर सकते।

---

1 R M MacIver, *The Modern State*, न्यूयार्क, 1932, पृष्ठ 22.

2 H J Laski, *The State in Theory and Practice*, लन्दन, 1951, पृष्ठ 21

लीकौक के कथनानुसार, बिना जीवित मनुष्यो के पृथ्वी के किसी खाली भाग मे राज्य नही बन सकता।

प्रश्न यह है कि राज्य मे कितने व्यक्तियो का होना आवश्यक है? रोबिन्सन क्रूसो की प्रसिद्ध कहानी म वह एक एकात द्वीप म केवल अपन सहायक फ्राइडे के साथ रहता था। वह निश्चित ही उस समस्त प्रदेश का, जिसे वह देख पाता था, सर्वेसर्वा था। किंतु क्या ये दोनो व्यक्ति मिलकर एक राज्य को बना सकते थे? इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। राज्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमे काफी सख्या म व्यक्ति हो, कम से कम इतने हो कि उन्हे शासक और शासित वर्ग म बाँटा जा सके।

प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि इन व्यक्तियो की सख्या कितनी हो अथवा क्या एक राज्य के लिए किसी सख्या को निर्धारित किया जा सकता है? प्रसिद्ध यूनानी विचारक, प्लेटो के अनुसार नागरिको की सख्या 5040 यथेष्ट होगी। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि इस सख्या मे न तो दास सम्मिलित किए गए हैं और न वे बच्चे, स्त्रियाँ और पुरुष जो सावजनिक कार्यो मे सक्रिय भाग नही लेते। अरस्तू के अनुसार, राज्य के लिए किसी निश्चित सख्या को निर्धारित करना आवश्यक नही है। किंतु उसका मत था कि एक आदर्श राज्य मे न तो बहुत कम व्यक्ति होने चाहिए और न अत्यधिक। उसके अनुसार 100 व्यक्ति सख्या मे कम होगे, किंतु 100,000 व्यक्ति सख्या म बहुत अधिक होगे, और इतने बडे राज्य का समुचित प्रबध करना अत्यत कठिन हो जाएगा। रूसो भी छोटे छोटे गणराज्यो का समर्थक था और प्रत्यक्ष लोकतत्र म आस्था रखता था। उसके अनुसार लगभग 10 000 नागरिक एक आदर्श राज्य के लिए यथेष्ट होगे। वह समय अब बीत गया जब उपर्युक्त सख्याओ को स्वीकार किया जा सकता था। आज के आधुनिक राज्यो मे अनक बडे-बडे नगर होते हैं जिनकी जनसख्या बीसियो लाख होती है। जनसख्या की दृष्टि से ससार का सबसे बडा राज्य चीन का जनतत्र है। वह अपनी आबादी 65 करोड से भी ऊपर बताता है। स्वय भारत की आबादी अब 50 करोड से ऊपर है। जहाँ एक ओर इतने बडे राज्य हैं, वहाँ दूसरी ओर एडोरा जैसा छोटा प्रदेश भी है जिसकी जनसख्या हजारो मे गिनी जा सकती है। इसी प्रकार का एक राज्य सैन मैरिनो है जिसकी जनसख्या पाँच अको से ऊपर नही जाती। स्पष्ट है कि जनसख्या की दृष्टि से आज के राज्य बहुत असमान हैं अतएव आधुनिक चितक अब जनसख्या के प्रश्न को उठाना ही निरर्थक समझते हैं।

अधिक जनसख्या का होना न तो किसी राज्य को शक्तिशाली बनाता है और न समृद्ध। भारत और चीन जनसख्या की दृष्टि से ससार के सबसे बडे

दो राज्य हैं, किंतु कुछ छोटे यूरोपीय राज्यों की तुलना में भी न तो उनके नागरिकों का जीवन स्तर ही ऊँचा है और न औद्योगिक शक्ति ही है। स्पष्ट है कि भारत जैसे विशाल देश को भी आर्थिक दृष्टि से समृद्ध और सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली होने के लिए अथक प्रयत्न करने पड़ेंगे। जनसंख्या के अधिक होने का लाभ केवल यह है कि राज्य के पास जनशक्ति बहुत होती है, किंतु केवल जनशक्ति से कुछ नहीं बनता। कभी-कभी तो जनसंख्या का अधिक होना हानिकारक बन जाता है जैसे कि भारत मे, जहाँ लोगों को खाने के लिए अन्न, पहनने के लिए कपडे और रहने के लिए मकानो का अभाव है। इसीलिए कुछ दिनों से कुछ राज्य परिवार नियोजन पर बल देने लगे हैं जिससे उनकी जनसंख्या सीमित रहे ताकि जनवृद्धि का कुप्रभाव उनके जीवन-स्तर पर न पडे। तथापि यदि देश का समुचित औद्योगिक और तकनीकी विकास हो चुका हो तो यही जनशक्ति देश की अमूल्य निधि बन जाती है।

20वीं शताब्दी में जनता के गठन के प्रश्न की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा है। प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि राज्य की जनता का एक होना कहाँ तक राष्ट्रीय दृष्टि से आवश्यक और लाभदायक है। विद्वानों मे इस सबध मे मतभेद है। जॉन स्टुअर्ट मिल(1806 1873 ई०) राष्ट्र-राज्यों का हिमायती था[1]। दूसरी ओर लार्ड ऐक्टन बहुराष्ट्रीय राज्यो के अनन्य समर्थक थे[2]। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोप में अनेक राष्ट्रीय राज्यो की स्थापना हुई और ये क्रम आज भी जारी है। किंतु दूसरी ओर, बहुराष्ट्रीय राज्यों के लाभ भी दृष्टिगत होने लगे हैं। सोवियत सघ इसी प्रकार का एक राज्य है। एक अर्थ मे, भारतीय जनतत्र भी इसी प्रकार का एक बहुल राज्य है। सयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) भी इसी प्रकार का राज्य है। पाश्चात्य यूरोप, अरब देशो और अफ्रीका मे बहु-राष्ट्रीय राज्य बनाने की कुछ योजनाएँ और प्रस्ताव हैं। भले ही ये अभी क्रियात्मक रूप धारण न करें, तथापि एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि अब राज-नीतिज्ञ बडे-बडे राज्यों के लाभों को समझने लगे हैं और वे बहुराष्ट्रीय राज्य बनाने के स्वप्न देखने लगे हैं। इन्हे साकार रूप देने मे अभी अनेक बाधाओं को पार करना पडेगा और अनेक कठिनाइयो को दूर करना होगा। तथापि, भविष्य में ऐसे राज्य बनने की समावना बढ़ती जा रही है।

भूभाग—यह एक निर्विवाद बात है कि राज्य के लिए एक निश्चित भूभाग

1 J S Mill, *Utilitarianism, Liberty and Representative Government, लिंडसे द्वारा सम्पादित, लन्दन, 1931, पृष्ठ 360-382.*

2 J S Acton, *The History of Freedom and Other Essays,* फिगिस और लोरेंस द्वारा सम्पादित, लन्दन, 1909, पृष्ठ 273-300,

होना चाहिए। 19वीं शताब्दी मे, कुछ विचारक, जिनमे हॉल और सीले भी हैं, समझते थे कि बिना एक निश्चित भूभाग के भी राज्य बन सकता है। किंतु समकालीन राजनीतिक विचारक इस विचार को त्याग चुके हैं और वे एकमत हैं कि जब तक मनुष्य खानाबदोश बनकर विचरण करते रहते हैं, वे राज्य नही बना पाते। इतिहास मे ऐसे अनेक सगठित जनसमुदाय रहे हैं जिनकी कोई निश्चित भूमि न थी। विद्वान् अब यह मानते हैं कि इस प्रकार के कबीली सगठन निश्चित भूभाग पर स्थायी रूप से रहने पर ही राज्य बना पाते हैं। यदि डाकुओ का एक गिरोह एक निश्चित क्षेत्र मे छापा मारता फिरे, और जनता पर आतक स्थापित कर अपनी आज्ञा मनवाने लगे, तो भी वह 'राज्य' नही कहलायेगा। इसी प्रकार, एक लुटेरे सामुद्रिक जहाज का कप्तान पूर्णत. स्वतत्र होने पर भी किसी नये राज्य को जन्म नही देता। जब तक यहूदी लोग सारे ससार मे बिखरे रहे और किसी निश्चित भूभाग पर नही बसे, वे कोई राज्य नही बना सके। किंतु अब इजराइल नामक एक 'राज्य' है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि एक निश्चित भूभाग का होना 'राज्य' की एक बुनियादी आवश्यकता है।

भूमि के क्षेत्रफल के सबध मे कोई नियम नही बनाए जा सकते। आधुनिक राज्यो का क्षेत्रफल बहुत असमान है। क्षेत्रफल की दृष्टि से, ससार का सबसे बडा राज्य सोवियत सघ है, जिसका प्रदेश दुनिया के छठवें भाग से भी अधिक पर फैला हुआ है। दूसरी ओर सनमैरिनो जैसा इटली के प्रदेश से घिरा हुआ एक छोटा-सा राज्य है जिसका क्षेत्रफल केवल 38 वर्ग मील है।

प्राचीन युग में कुछ राजनीतिक विचारकों का मत था कि राज्य जितने छोटे होगे उतनी ही सुगमता से वे स्वतत्र और आत्म निर्भर रह सकेंगे और अपनी आत्म-रक्षा भी भलीभांति कर सकेंगे। वस्तुत एक समय वह था जब सभी सभ्य लोगो मे छोटे-छोटे नगर-राज्य फैले हुए थे। तत्पश्चात्, इन छोटे राज्यो को आत्मसात् कर बडे-बडे साम्राज्य स्थापित हुए। सामतवादी युग मे इन साम्राज्यो की सत्ता का विकेंद्रीकरण हो गया और आधुनिक युग के प्रारम्भ में नए देश-राज्यो की नीव पडी। प्राचीन काल मे, जब यातायात और प्रसार के साधन अविकसित थे, प्रतिनिधिक सस्थाएँ सगठित नहीं हुई थी, आधुनिक स्थानीय स्वराज्य का जन्म न हुआ था, सघ द्वारा बहुरूपता की रक्षा करते हुए एक सामान्य शासन-व्यवस्था बनाने की सभावना का कोई ज्ञान न था, और नागरिको को सक्रिय रूप से सार्वजनिक जीवन मे भाग लेने की सुविधा न थी, यह स्वाभाविक था कि राजनीतिक विचारक छोटे राज्यो के महत्त्व पर बल देते। किंतु आज यह सभव हो गया है कि एक बड़े से बडा राज्य बनाया जा

सके और नागरिकों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता भी सुरक्षित रहे। आज बड़े राज्यों के आर्थिक और सामाजिक लाभ दृष्टिगत होने लगे हैं। साथ ही, लार्ड एक्टन के इस विचार की सत्यता कि छोटे-छोटे राज्य अपने निवासियों के मानसिक क्षितिज को सीमित बना देते हैं, भलीभाँति प्रगट हो चुकी है। तथापि, बड़े राज्यों के नागरिकों में भी मानसिक दृष्टिकोण की संकीर्णता हो सकती है। और वे भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अपहरण कर सकते हैं।

क्षेत्रफल का महत्व इसलिए और अधिक बढ़ गया है कि साधारणतः बड़े राज्यों के प्राकृतिक साधन भी अधिक होंगे और उनके आर्थिक विकास की सम्भावनाएँ भी अधिक होंगी। इस युग में किसी देश का सैन्य-बल बहुत कुछ उसके आर्थिक विकास पर निर्भर है और एक समृद्धिशाली देश ही अपने नागरिकों के जीवन स्तर को ऊँचा उठा सकता है।

किसी राज्य की जनसंख्या से उसके क्षेत्रफल का प्रत्यक्ष संबंध है। यदि राज्य की जनसंख्या अधिक हो और उसका क्षेत्रफल कम तो अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने का उपाय केवल यह है कि ऐसे राज्य की औद्योगिक उन्नति तेजी से की जाय। दूसरी ओर, यदि जनसंख्या कम हो और क्षेत्रफल बहुत अधिक तो इसका निश्चित परिणाम यह होगा कि उसके अनेक प्रदेश मनुष्यविहीन रह जाएँगे और ऐसे प्रदेशों के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग न हो सकेगा। सम्भवतः अभी समय नहीं आया कि इस समस्या पर समस्त मानव समाज के हित की दृष्टि से विचार किया जा सके। इस समय, जहाँ कुछ राज्य जनसंख्या की कमी के कारण अन्य उन्नत देशों से नागरिकों को आकर्षित करने की चेष्टा करते हैं, वहाँ दूसरी ओर ऐसे देश भी हैं जिनकी जनसंख्या इतनी अधिक है कि वे उनकी समुचित देखभाल नहीं कर पाते और उनका जीवन स्तर ऊँचा उठाने में अपने को असमर्थ पाते हैं। यदि इस प्रश्न पर मानव दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो कोई कारण नहीं है कि इस समस्या का सतोषजनक समाधान न हो सके।

राज्य के क्षेत्रफल में भूमि, उनकी नदियाँ, झीलें और सागर, तथा वायु-क्षेत्र भी सम्मिलित हैं। परम्परा के अनुसार राज्य की सीमा में समुद्र के किनारे से केवल तीन मील दूर तक सागर के जल को सम्मिलित किया जाता था, किंतु अब कुछ राज्यों ने अपने समुद्री अधिकार क्षेत्र को 12 मील तक बढ़ा लिया है। राज्य की सत्ता समुद्रों पर चलने वाले उन जलपोतों पर भी लागू होती है जो उस राज्य की ध्वजा फहराते हैं। इसी प्रकार विदेशों में स्थापित दूतावास भी राज्य की भूमि का अंश मान लिए जाते हैं। यद्यपि राज्य की प्रादेशिक सीमाओं में वायु-क्षेत्र भी सम्मिलित हैं, किंतु इस संबंध में कोई मतैक्य नहीं है कि राज्य के प्रदेश

के ऊपर कितनी दूरी तक राज्य का अधिकार माना जाय।

राज्यो के भूभागो के सबद्ध और सहत होने के अनेक लाभ हैं, किंतु यातायात और प्रसार के साधनो मे अब इतनी उन्नति हो चुकी है कि राज्य के विभिन्न प्रदेश यदि असबद्ध भी हो तो अब विशेष कठिनाई नही होती। यूनाइटेड किंगडम सैकडो वर्षों से इसी प्रकार के एक साम्राज्य पर सुगमता से शासन करता आया है। पाकिस्तान का राज्य भी ऐसे दो भागो मे बँटा हुआ है जो एक दूसरे से सैकडों मील दूर हैं और जिन तक स्थल अथवा वायु मार्ग से पहुँचने के लिए भारतीय प्रदेश से होकर जाना पडता है। अत यह स्पष्ट है कि भौगोलिक दृष्टि से असबद्ध होने पर भी राज्यो के लिए अब यह सभव हो गया है कि वे अपना शासन कार्य चला सकें, यद्यपि इस प्रकार की स्थिति सुविधाजनक नहीं मानी जाती।

सरकार अथवा सगठन—राज्य राजनीतिक रूप से सगठित एक समाज है। राज्य के अस्तित्व के लिए राजनीतिक सगठन का होना अत्यत आवश्यक है। बिना सरकार के राज्य नही हो सकता, यद्यपि बिना राज्य के सरकार का अस्तित्व सभव है। सरकार वह एजेन्सी है जिसके माध्यम से राज्य के सकल्प बनते हैं और उनकी अभिव्यक्ति तथा पूर्ति होती है। राज्य के शासन का रूप और उसकी बनावट विविध प्रकार की हो सकती है। प्रसिद्ध विद्वान लीकौक के अनुसार, आवश्यकता केवल इस बात की है कि प्रभुसत्ता के अतर्गत निश्चित आज्ञापालन के भाव उपस्थित हो। ऐसा होने पर किसी प्रकार का शासन, चाहे वह निरकुश और अत्याचारी ही क्यो न हो, राज्य के अस्तित्व का प्रतीक होता है।

राज्य के लिए सरकार को इसलिए आवश्यक माना गया है कि उसके बिना सभ्य समाज का अस्तित्व ही असभव है। वे अराजकवादी भी, जो बलप्रयोग पर आधारित राज्य का विध्वस करना चाहते है, यह मानते हैं कि किसी न किसी रूप मे अनुशासन और आज्ञापालन राज्य के लिए नितात आवश्यक है। उनकी अभिलाषा केवल यह है कि इस प्रकार का अनुशासन, शक्ति पर आधारित न होकर, स्वेच्छा पर निर्भर हो। साम्यवादी भी, जो अतिम रूप मे राज्य के शनै शनै विलुप्त होने की कल्पना करते हैं यह स्वीकार करते है कि समाज मे सत्ता की सदैव आवश्यकता रहेगी[1]। अब यह माना जाता है कि जब तक समाज मे विभिन्न और परस्पर विरोधी हित रहेगे, जनसमुदाय मे साहचर्य कायम रखने के लिए एक कामचलाऊ व्यवस्था करनी पडेगी। ल्नुइनी के अनुसार, यदि राज्य

1 देखिए Marx and Engels, *Selected Works in Two Volumes*, खड I, मास्को, 1951, पृष्ठ 575 578.

में ऐसे व्यक्ति न हो जिनके पास सत्ता है और न ऐसे व्यक्ति हों जो आज्ञा-पालन करते हैं, तो अराजकता फैल जाएगी और राज्य का अंत हो जायगा[1]।

प्रभुसत्ता—आधुनिक राज्य के लिए प्रभुसत्ता का होना सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है। प्रभुसत्ता ही राज्य का वह तत्त्व और लक्षण है जो उसे अन्य समूहो और समुदायो से पृथक् करता है। लीकौक के अनुसार, प्रभुसत्ता से हमारा अभिप्राय यह है कि अमुक प्रदेश और जनता किसी अन्य व्यापक राजनीतिक इकाई के भाग न हो और उसके भूभाग मे ऐसे भी कोई भाग न हो जो भौगो-लिक रूप से उसमे सम्मिलित होने पर भी राजनीतिक रूप से पृथक् हो[2]। सक्षेप मे, जनता को स्वाधीन होना चाहिए। स्वाधीनता का अभिप्राय यह है कि आतरिक दृष्टि से राज्य मे कोई विरोधी अथवा समानातर सत्ता नही होनी चाहिए, और बाह्य रूप मे उसे विदेशी नियत्रण अथवा आदेश से मुक्त होना चाहिए। इसका आशय यह नही है कि राज्य अन्य राज्यो अथवा अतर्राष्ट्रीय संगठनो से सधि तथा समझौते करने और अपने दायित्वो को स्वीकार करने के लिए स्वतत्र नही है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के दायित्व स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किए हुए हो।

इन प्रमुख तत्त्वो के अतिरिक्त, विद्वान लेखकों ने समय समय पर अन्य तत्त्वों की भी चर्चा की है। विलोबी ने जनता की "आत्मनिष्ठ भावना" की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है[3]। उसके कथनानुसार, लोकतत्र और राष्ट्रीयता के इस युग मे हम जनता की कामना की उपेक्षा नही कर सकते। हमारे मतानुसार यह तत्त्व राज्य के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य नहीं है। अनेक ऐसे पुराने राज्य रहे हैं जिनकी जनता उनके शासन का विरोध करती रही, और ऐसे भी अनेक राज्य रहे हैं जिन्होने जनता की इच्छाओ, अभि-लाषाओं और भावनाओं का कोई आदर नही किया। अतएव जनता की 'आत्मनिष्ठ भावना' का होना राज्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नहीं हो सकता। जैसा कि लीकौक ने कहा है, शासन के निरंकुश अथवा अत्याचारी होने से राज्य के अस्तित्व मे कोई अतर नही पडता। वस्तुतः राज्य के अस्तित्व की केवल यही आवश्यकता है कि उसमे उत्कृष्ट बल के अतर्गत आज्ञा-पालन की भावना प्रस्तुत हो।

कुछ लेखकों के अनुसार, राज्य के अस्तित्व के लिए 'अतर्राष्ट्रीय मान्यता' आवश्यक है, और वे इसे पूर्ण राजत्व का एक लक्षण मानते हैं। विवेचनात्मक

---

1 देखिए ब्लुन्शली, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 18.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 13.

3 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 12.

दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को मान्यता देना उसकी कूटनीतिक नीति पर निर्भर है जो वस्तुनिष्ठ परख पर निर्भर न होकर राष्ट्रीय हितो की धारणा पर अवलम्बित है। इतिहास से हमे ऐसे अनेकानेक उदाहरण मिल जाएँगे जबकि शक्तिशाली राज्यो ने नव-निर्मित राज्यो को मान्यता नही दी। उदाहरणार्थ, सयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) ने स्थापित होने के लगभग 15 वर्ष बाद सोवियत सघ को मान्यता दी। इसी प्रकार, चीन के जनवादी प्रजातत्र को अभी भी कुछ राज्यो ने मान्यता नही दी है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मान्यता देने या न देने की बात हमे व्यवहार के आत्मनिष्ठ स्तर पर ले जाती है, जिससे प्रारभ से ही हम बचने का प्रयास कर रहे है। अतएव हम 'अतर्राष्ट्रीय मान्यता' को राज्य के अस्तित्व अथवा उसके बने होने का लक्षण अथवा प्रमाण नही मान सकते, यद्यपि इस प्रकार की मान्यता अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे बहुत महत्त्व रखती है।

2. अन्य समरूप शब्दो से राज्य का प्रभेद

राज्य के आवश्यक तत्त्वों की व्याख्या और उसकी परिभाषा देने के उपरात, हम कुछ प्रचलित मिलते-जुलते शब्दो से इसका प्रभेद कर सकते हैं। इसी प्रकार का एक शब्द 'समाज' है।

राज्य और समाज—समाज एक बहुत सामान्य शब्द है। मैकीवर और पेज के अनुसार, इसका प्रयोग 'सामाजिक सबधो के ताने-बाने'[1] का अध्ययन करने के लिए किया जाता है। यह शब्द केवल मनुष्यो के लिए ही प्रयुक्त नही होता। जीवन की निम्नतम अवस्थाओ मे भी, जहाँ सामाजिक चेतना अत्यत अविकसित होती है और सामाजिक सम्पर्क सीमित और क्षणिक होते हैं, समाज होता है। सभी उच्चतर पशुओ मे भी किसी न किसी रूप मे समाज होता है जो उनके स्वभाव और जाति-प्रजनन की आवश्यकताओ की पूर्ति करता है[2]।

मैकीवर के अनुसार, समाज सामाजिक सबधो के बदलते हुए रूपो का अध्ययन है। समाज के अस्तित्व का अर्थ होता है: (1) इन सबधो के प्रति चेतना, और (2) एक विशेष प्रकार की साहचर्य-भावना। मनुष्य समाज के ऊपर अपनी रक्षा, लालन-पालन, शिक्षा, सुख, साधनों, अवसरो, और अनेकानेक

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 5.

2 वही, पृष्ठ 6-7.

ऐसी सेवाओं के लिए निर्भर रहता है जिन्हें समाज प्रदान करता है। वह अपने विचारों, स्वप्नों, अभिलाषाओं, और यहाँ तक कि अपने शारीरिक और मानसिक विकास के लिए भी समाज पर अवलम्बित है। जन्म से ही व्यक्ति के लिए समाज की परमावश्यकता स्पष्ट हो जाती है। उसका जीवित रहना और मनुष्योचित गुणों का विकास भी समाज में ही संभव है[1]।

अपने एक अन्य ग्रंथ में, मैकीवर ने समाज को 'मनुष्यों के समस्त ऐच्छिक संबंधों का समुच्चय बताया है। लीकोक के अनुसार, 'समाज' शब्द से हमारा अभिप्राय केवल राजनीतिक संबंधों से नहीं है, किंतु उन समस्त मानवीय संबंधों और सामूहिक कार्यों से है जो अपने ताने-बाने से मनुष्यों को एक-दूसरे से बाँधे रहते हैं[2]। जी० डी० एच० कोल ने समाज को जनसमुदाय के अंतर्गत संगठित समुदायों और संस्थाओं की ग्रंथि बताया है[3]।

अब यह एक सामान्य कथन बन गया है कि मनुष्य समाज में जन्म लेता है, और समाज की आवश्यकता उसकी प्रकृति में निहित है। जैसा कि मैकीवर कहते हैं, समाज केवल एक सायोगिक संयोजन नहीं है। वह एक ऐसा साहचर्य है जो इच्छित अथवा अभिप्रेत हो। दूसरे, इसमें मनुष्यों के सभी सचेतन कार्य आ जाते हैं। तीसरे, यह मानव संबंधों की ग्रंथि का परिचायक है, उसके किसी विशिष्ट अंश अथवा पहलू का नहीं। इस अर्थ में, एक व्यापकतम रूप में 'समाज' शब्द सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए प्रयुक्त हो सकता है और संकीर्णतम रूप में कुछ व्यक्तियों के आपसी संबंधों के लिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज और राज्य एक-दूसरे से भिन्न हैं। मैकीवर के कथनानुसार सामाजिक और राजनीतिक बातों को एकसमान समझ लेना एक घोर सभ्रांति होगी जिसके फलस्वरूप समाज अथवा राज्य, दोनों में से किसी को समझने में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी[4]। अतएव यदि हम इस प्रभेद को ध्यान में रखें तो हमारे सोचने समझने और विश्लेषण में स्पष्टता आ सकेगी।

समय की दृष्टि से समाज राज्य का पूर्ववर्ती है। बॉसन्स के अनुसार समाज राज्य से उसी प्रकार पूर्ववर्ती है जैसा कि वह परिवार, चर्च, निगम और राजनीतिक दलों से है। समाज इन सब को उसी प्रकार आबद्ध करता है जैसे

---

1 वही, पृष्ठ 6 और 8.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 18.

3 *Social Theory*, तृतीय संस्करण, लन्दन, 1923, पृष्ठ 29.

4 वही, पृष्ठ 5.

कि एक वृक्ष अपनी शाखाओ को। अब यह माना जाने लगा है कि मनुष्य बहुत लम्बे समय तक राज्य के बिना रहा होगा। आदिकालीन व्यक्ति वश पर आधारित समूहो मे रहा करते थे जिनको 'टोटेम' भी कहा जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य की स्थापना मानव-इतिहास मे बहुत देर से हुई। *किंतु समाज और राज्य के इस प्रभेद को प्राचीन राजनीतिक लेखक कर नही* पाए। यह दोष हमे प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिंतको के राज्यदर्शन मे मिलता है। सभवतः उनकी इस भूल का प्रमुख कारण यह था कि उनके नगर-राज्य क्षेत्रफल मे बहुत छोटे और जनसख्या की दृष्टि से बहुत सहृत थे। साथ ही, इन नगर-राज्यो के बाह्य सम्पर्क अत्यत सीमित थे (वस्तुत. वे आत्म-निर्भरता और स्वाधीनता को अपने देश के दो बड़े गुण मानते थे)। एक टीकाकार ने तो इनके सबध मे यह अभिमत व्यक्त किया है कि ये नगर केवल राज्य ही नही थे बल्कि 'समाज', 'दुर्ग', 'मडी', 'चर्च', 'विश्वविद्यालय' आदि सभी कुछ थे। तथापि अब समय और स्थिति इतनी अधिक परिवर्तित हो *चुकी है कि समाज और राज्य के प्रभेद को स्पष्ट न करने का कोई कारण नही* है।

कार्यात्मक रूप मे भी ये दोनो भिन्न हैं। राज्य का मुख्य उद्देश्य 'शांति और नियत्रण की व्यवस्था' स्थापित करना है और वह इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कानूनो द्वारा लोगो को आज्ञापालन के लिए बाध्य करता है।

रचना की दृष्टि से भी समाज और राज्य मे अतर है। राज्य समस्त सगठित जीवन और समूचे मानवीय सबधो को समाविष्ट नही कर सकता। मैकीवर के अनुसार राज्य का अस्तित्व समाज के अतर्गत है किंतु वह समाज का प्रतिरूप तक नही है ··· राज्य उस सामाजिक जीवन का, जिस पर उसका *नियत्रण है, समर्थन करता है अथवा शोषण करता है, उस पर बधन लगाता* है अथवा उसे स्वतत्रता देता है, उसे पूर्ण बनाता है अथवा विध्वस करता है — किंतु राज्य समाज का उपकरण मात्र है उसका जीवन नही[1]।

इन दोनो के कार्य करने के ढग भी भिन्न है। राज्य शक्ति का प्रयोग *करता है और जनता को आज्ञापालन के लिए बाध्य करता है जबकि समाज* प्रथाओ और परम्पराओ के माध्यम से लोगो को मनाता है। लेकिन हमे इस प्रभेद पर अत्यधिक बल नही देना चाहिए। अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार, 'कई बातो मे, राज्य और समाज एक दूसरे को अतिव्याप्त (overlap) करते हैं, घुल मिल जाते है और एक दूसरे के प्रति ऋणी होते है। किंतु मोटे रूप

---

1 वही, पृ 5.

मे कहा जा सकता है कि इनमे से एक का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग है, उसकी ऊर्जा (energy) सद्भावना पर निर्भर है, उसके ढग लचीले हैं, जबकि दूसरे का क्षेत्र यत्रवत् क्रिया है, उसकी ऊर्जा शक्ति पर आधारित है, और उसकी पद्धति म लोच का अभाव है'[1]। तथापि बार्कर यह मानता है कि यदि राज्य आधुनिक समाज को सम्बद्ध करके न रखे तो उसका अस्तित्व ही खतरे मे पड जाए[2]।

मैकीवर ने समाज और राज्य का प्रभेद बताते हुए कहा है कि राज्य एक एसी रचना है जो समाज के समकालीन और समविस्तृत नही अपितु विशिष्ट लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए एक निश्चयात्मक व्यवस्था के रूप मे समाज के अतर्गत बनी हुई है[3]। इस प्रभेद को स्पष्ट करते हुए मैकीवर कहता है कि राज्य की स्थापना के पूर्व समाज वर्तमान था। वस्तुत समाज मानव जीवन के लिए अत्यत आवश्यक है। जैसा कि बार्कर ने कहा है रचना की दृष्टि से राज्य (जो एक कानूनी समुदाय है) और सामाजिक सगठन भिन्न नही है दोना म एक ही जनसमुदाय के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं[4]। दूसरे, मैकीवर क कथनानुसार राज्य द्वारा स्थापित कानूनी व्यवस्था समस्त सामाजिक जीवन और मनुष्यो के समस्त सामाजिक उद्देश्यो को समावृत नही कर सकती[5]। बार्कर भी कहता है कि सामाजिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए व्यक्ति अनेक सगठना — आर्थिक, शैक्षिक, सास्कृतिक, परोपकारी आदि — के सदस्य बन जाते हैं जिनके सम्मिलन और सम्मिश्रण से समाज बनता है। वस्तुत मनुष्यो की आवश्यकतानुसार समाज क अनेक और विविध रूप हो गए हैं। अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए व्यक्ति अनेक समुदायो के सदस्य बन जाते हैं क्योकि वे जान गए हैं कि बिना सामूहिक कार्यो के अपने उद्देश्यो की प्राप्ति अत्यत कठिन है। इस प्रकार, जहाँ छोटे और बड उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अनेक सामाजिक सगठन होते हैं, वहाँ राज्य का केवल एक परम उद्देश्य होता है अर्थात् शाति और व्यवस्था को बनाए रखना और उन्हें लागू करना[6]। तीसरे, राज्य का उद्देश्य सीमित है और उसके उद्दश्य की प्राप्ति के साधन भी सीमित हैं। राज्य अपने सदस्यो के उद्देश्यो की पूर्ति के हेतु साधन मात्र है

1 दखिए *Political Thought in England*, पृष्ठ 67
2 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 40
3 वही, पृष्ठ 179-183
4 दखिए *Principles of Social and Political Theory*, पृष्ठ 43
5 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 445-46
6 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 43

और इसी उद्देश्य से इसको स्थापित किया जाता है और बनाए रखा जाता है। इसकी प्रभुसत्ता एक 'ट्रस्ट' के रूप मे होती है और इस प्रभुसत्ता के प्रयोग की कुछ सीमाएँ हैं[1]। यह सत्य है कि अन्तिम रूप मे, राज्य शक्ति का प्रयोग कर सकता है अथवा आज्ञा-पालन के लिए लोगो को बाध्य कर सकता है, जबकि समाज केवल लोगो की सद्भावना के आधार पर अपना काम निकालता है। तथापि, एक लोकतत्रीय व्यवस्था के अतर्गत, शक्ति पर आधारित राज्य को भी अपने नागरिको को समुचित स्वाधीनता देनी पडती है और अन्य समुदायो के साथ विचार-विमर्श और समझा-बुझा कर काम करना पडता है। दूसरी ओर, यद्यपि समूह वैकल्पिक और ऐच्छिक होते है, तथापि कभी-कभी वे इतने शक्तिशाली बन जाते हैं कि उनके आदेशो का पालन करना उनके सदस्यों के लिए अनिवार्य हो जाता है। इतिहास साक्षी है कि मध्यकालीन यूरोप मे चर्च जैसी ऐच्छिक सस्था इतनी शक्तिशाली बन गई कि उसने बडे-बडे साम्राज्यो और रजवाडो के छक्के छुडा दिए और उन्हे चर्च की सर्वोपरिता को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। इसी प्रकार, समकालीन युग मे अनेक व्यापारिक और श्रमिक सघ इतने प्रभावशाली बन गए है कि उनसे सबधित उद्योगो मे लगे हुए व्यक्तियो को उनके नियमो का चुपचाप पालन करना होता है[2]। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि आज लोकतत्रीय राज्य से एसा वातावरण बनाने की आशा की जाती है जिसमे सभी नागरिक अपना बहुमुखी विकास कर सकें। विभिन्न समुदाय इस कार्य मे राज्य की सहायता कर सकते हैं। समाज अपने समुदायो और समूहो द्वारा जनता की जो सेवा करता है वह राज्यो के कार्यों से कम महत्त्वपूर्ण नही होती। तथापि, यह स्मरण रखना चाहिए कि राज्य का कार्यक्षेत्र भी दिन पर दिन बढता जा रहा है और राज्य ने अब अनेक ऐसे कार्य करने शुरु कर दिए है जो लोककल्याण के लिए आवश्यक हैं, किंतु जिन्हे केवल ५० वर्ष पूर्व राज्य अपने कार्यक्षेत्र से परे समझता था।

राज्य और समाज के इस प्रभेद को निम्न तालिका मे प्रस्तुत किया जाता

राज्य	समाज
राज्य अपने सदस्यो के उद्देश्यो की पूर्ति का एक साधन है।	1. समाज सामाजिक सबधो की एक ग्रथि है।

1 मैकीवर का उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 451-521.

2 *Principles of Social and Political Theory*, पृष्ठ 43-44

2. राज्य मानव-जीवन के विकास की एक सीढ़ी है।	2 समाज तर्क और इतिहास दोनों ही दृष्टि से राज्य से पूर्ववर्ती है।
3. राज्य के लिए स्थायी और निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक है।	3 समाज के लिए यह आवश्यक नहीं है। घुमन्तू समाज भी हो सकते हैं।
4. मानव जीवन में ऐसा समय रहा है जब राज्य नहीं थे, किंतु वर्तमान दशा में राज्य आवश्यक हैं।	4 समाज मनुष्यों के लिए स्वाभाविक है और आज के युग में वे समाज से बाहर नहीं रह सकते।
5. राज्य का केवल एक परम उद्देश्य होता है, अर्थात् शांति और व्यवस्था लागू करना।	5. समाज के विभिन्न उद्देश्य होते हैं।
6 राज्य बलप्रयोग और शक्ति पर आधारित है।	6 समाज साधारणतः समझा-बुझाकर अपने नैतिक प्रभाव का प्रयोग करता है।
7. राज्य सर्वदा संगठित होता है।	7 समाज के लिए सुगठित व्यवस्था आवश्यकता नहीं है।
8. राज्य कानूनों की सहायता से अपनी सत्ता कायम रखता है।	8 समाज प्रथाओं, परम्पराओं और सद्भावना के आधार पर अपना काम चलाता है।

राज्य और जनसमुदाय के प्रभेद—जहाँ भी व्यक्ति समूह बनाकर रहते हैं और उनके सामान्य जीवन की बुनियादी दशाएँ एकसमान होती हैं, वही जनसमुदाय (community) बन जाता है। यह 'सामान्य सामाजिक जीवन का एक क्षेत्र' है। इसके अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि सामान्य प्रदेश पर रहने वाले जनसमूह में यह चेतना हो कि वे एकसमान जीवन व्यतीत करते हैं। मैकीवर के अनुसार, एक जनसमुदाय की विशेषता यह है कि उसमें मनुष्यों का समस्त जीवन व्यतीत किया जा सकता है अर्थात् उसके अंतर्गत समस्त सामाजिक संबंधों का समावेश सम्भव है। तथापि, अब सभ्य जनसमुदायों में इस प्रकार की आत्म निर्भरता कम होती जा रही है। अब जनसमुदायों के चारों ओर ऐसी दीवारें नहीं रह गई हैं जो उनको अन्य व्यक्तियों से सर्वथा पृथक् रख सकें। बड़े-बड़े जनसमुदायों के अंतर्गत अनेक छोटे जनसमुदाय भी होते हैं। उदाहरण के लिए, व्यक्ति एक गाँव में रहकर भी मानव समाज का सदस्य

होता है[1]।

जनसमुदाय सदैव प्रादेशिक होता है। इसके सगठन का आधार सामान्य भूमि है। एक दृष्टि से, घुमतू समुदायो का भी एक स्थानीय, किंतु निरतर बदलते रहने वाला, निवास-स्थान होता है। तथापि आज के युग मे अधिकतर जनसमूह निश्चित भू-भागो पर स्थायी रूप से रहने लगे हैं। यही नहीं, यातायात और प्रसार के साधनो मे उन्नति के कारण स्थानीय बधन और दायित्व ढीले पडते जा रहे हैं। अतएव 'पडोस' का महत्त्व कम होता जा रहा है। उसका सामाजिक महत्त्व अब बडे जनसमुदायो को मिलता जा रहा है। मैकीवर और पेज के कथनानुसार, सभ्य प्राणी होने के नाते, हमको छोटे और बडे सभी प्रकार के जनसमुदायो की आवश्यकता है। वृहद् जनसमुदायो मे हमे सुअवसर, स्थिरता, बचत और एक रगीन और विविधतापूर्ण सस्कृति का आकर्षण मिल जाता है जबकि छोटे जनसमुदायों मे हमे निकटता और घनिष्ठता स्थापित करने का सतोष प्राप्त होता है। बडे जनसमुदाय हमें शाति और सुरक्षा, देशभक्ति और कभी-कभी युद्ध, स्वचालित परिवहन और रेडियो प्रस्तुत करते हैं, जबकि छोटे जनसमुदाय हमे मित्र और मित्रता, विचार-विमर्श और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, स्थानीय गौरव और निवास प्रदान करते हैं। पूर्ण जीवन के लिए दोनो ही आवश्यक है[2]।

जैसा कि कोल ने कहा है, मनुष्य जनसमुदायो को बनाते नही हैं, वे उनमे जन्म लेते हैं और वही उनका पालन-पोषण होता है। किंतु इसका आशय यह नही है कि इस प्रकार के सामाजिक सगठनों का एक विशिष्ट रूप होता है। उसके अनुसार यह एक आत्मनिष्ठ भावना है और सदस्यो की चेतना मे इसकी वास्तविकता निहित है। जनसमुदाय के अस्तित्व के लिए एक ऐसा जनसमूह होना चाहिए जो 'उत्तम जीवन की प्राप्ति' के लिए उत्सुक हो, और जिसका ध्यान केवल विशिष्ट उद्देश्यो की प्राप्ति की ओर न हो। यह सामाजिक जीवन का एक समावेशकारी (inclusive) वर्ग है। ऐसे बडे वर्ग भी बन सकते है। फिर भी ये व्यापक वर्ग सीमित वर्गों को पूर्णत आत्मसात् नही कर लेते। वृहद् जनसमुदायो के अतर्गत भी वे सामाजिक जीवन के वास्तविक केन्द्रो के रूप मे बने रहते हैं। कभी-कभी अनेक जनसमुदायो की सदस्यता के कारण उनके प्रति सदस्यो की अनुरक्ति मे स्पर्धा उत्पन्न हो जाती है[3] जिसको समझदार नागरिक विवेकपूर्ण ढग से सुलझा सकते हैं।

---

1 मैकीवर तथा पेज का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 8-10.

2 वही, पृष्ठ 11.

3 देखिए Cole, *Social Theory*, पृष्ठ 25-27.

राज्य और समुदाय—बहुत समय से, समाज मे अनेकानेक समुदाय होते आए हैं। समुदाय की परिभाषा देते हुए, मेकीवर और पेज ने कहा है कि यह एक ऐसा व्यक्तिसमूह है जो किसी विशिष्ट अथवा सामान्य हित की प्राप्ति लिए सगठित होता है। इन विद्वान लेखकों के मतानुसार, 'परिवार' और 'राज्य' समुदायो और जनसमुदायो दोनो ही श्रेणियो मे आ जाते हैं। जो नए प्राणी जन्म लेते हैं उनके लिए परिवार एक प्रारम्भिक जनसमुदाय है जो उन्हे बृहत् जनसमुदाय के योग्य बनाता है। किंतु, उनके लिए भी शनै शनै परिवार एक स्वेच्छित समुदाय का रूप धारण कर लेता है[1]।

बहुत समय तक राजनीतिक विचारकों ने समुदायो के अस्तित्व पर कोई ध्यान नही दिया। उन्होने केवल यह विचार व्यक्त किया कि समुदाय और व्यक्तिसमूह राज्य के सौजन्य से बने हुए हैं। नागरिकों के जीवन को समृद्ध बनाने मे वे जो विशेष कार्य करते हैं उसका महत्त्व या तो वे समझ नही पाए अथवा उस पर उन्होने विशेष ध्यान नही दिया। उदाहरणार्थ, ह्हींग ने पूर्वकथन किया कि, विकास की प्रक्रिया मे, समुदाय अपने सारे कार्य राज्य को दे बैठेंगे। किंतु मेकीवर के मतानुसार यदि समुदायो के कुछ कार्य राज्य को हस्तातरित हो भी जाएँ, तो भी समुदाय राज्य मे पूर्णत विलीन नही होगे। इनम से कम से कम कुछ नागरिको के जीवन को उत्तम बनाने मे अवश्य अपना योग देते रहेगे।

स्वत: उत्पन्न होने वाले ये ऐच्छिक समूह विशिष्ट उद्देश्यो की प्राप्ति मे नागरिकों को सहायता देते हैं। बहुलवादियो के प्रयास से समुदायो के महत्त्व को अब समुचित मान्यता दी जाने लगी है। अब कोई कारण नहीं है कि हम इन समुदायो को — जो स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय स्तरो पर काम करते हैं और जिनमे व्यक्ति प्राय. स्वेच्छा से सम्मिलित होता है (और जब चाहे इन्हे छोड सकता है) — समाज के लिए उपयोगिता स्वीकार न करें। एक व्यक्ति चाहे जितने समुदायों का सदस्य हो सकता है (यदि वे परस्पर विरोधी उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए न बने हो)। आवश्यकतानुसार समुदाय जन्म लेते रहते हैं और उद्देश्यो की पूर्ति के पश्चात् ये विलीन हो जाते हैं। यह देखते हुए कि इन समुदायो की सदस्यता ऐच्छिक है और इनका जन्म स्वत होता है, लोकतन्त्रीय राज्यो को हर प्रकार से इन्हे प्रोत्साहन देना चाहिए और इनको सहायता करनी चाहिए। इनके प्रति अविश्वास का भाव रखने का कोई तर्कसगत कारण प्रतीत नहीं होता। वस्तुत. इन समुदायो की

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 11-13.

स्वायतता (autonomy) मे कमी करने अथवा उनके कार्यों मे हस्तक्षेप करने[1] की आवश्यकता केवल उसी दशा मे होनी चाहिए जब वे सामान्य हितो के विरुद्ध कार्य करें।

समुदायो को मनमाने ढग से व्यवहार करने की अनुमति नही दी जा सकती। कोई राज्य समुदायो पर नियत्रण रखने के उत्तरदायित्व को नही छोड सकता। राज्य के लिए यह समुचित प्रबध करना आवश्यक है, कि ये समुदाय सामान्य हितो के विरुद्ध कार्य न करें। अतएव राज्य को इन समुदायो के ऊपर केवल नियत्रण ही नही रखना पडता, उसे विभिन्न समुदायो मे समन्वय स्थापित करने का कार्य भी करना होता है।

राज्य और समुदाय के प्रभेद की मुख्य बातें निम्न तालिका मे दी जाती है

राज्य	समुदाय
1. राज्य का एक निश्चित भू-भाग होता है।	1 समुदायो के कार्य क्षेत्र स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय अथवा अतर्राष्ट्रीय हो सकते हैं।
2 राज्य एक स्थायी सगठन है।	2. समुदाय अल्पस्थायी होते हैं और बनते बिगडते रहते हैं।
3. राज्य की सदस्यता नागरिको के लिए अनिवार्य है।	3. साधारणत इसकी सदस्यता वैकल्पिक है।
4 एक नागरिक एक ही राज्य का सदस्य रह सकता है।	4 वह अनेक समुदायो का सदस्य बन सकता है यदि वे परस्पर विरोधी न हो।
5 राज्य को अपनी आज्ञाओ और कानूनो को मनवाने के लिए सैन्यबल प्राप्त है और यह मृत्यु-दण्ड भी दे सकता है।	5 समुदाय केवल समझा-बुझाकर काम चलाते हैं और आदेश न मानने पर केवल जुर्माना अथवा सदस्यता से पृथक् कर सकते हैं।
6. राज्य एक प्रभुसत्तात्मक समुदाय है। कानूनी रूप मे उसके ऊपर कोई शक्ति नही है।	6. इनके नियम और नियमन सदस्यो को बाध्य करते हैं और उनको दृढ़ता से लागू भी किया जाता है, किंतु वे स्वय राज्य के नियत्रण मे होते हैं।
7. राज्य का महत् उद्देश्य होता है,	7. इनके उद्देश्य प्राय. सीमित और

1 देखिए बार्कर का ग्रथ *Political Theory in England*, पृष्ठ 177.

कानून और प्रबंध की एक व्यवस्था लागू करना और उसके अंतर्गत लोक-कल्याण के कार्य करना।	विशिष्ट होते हैं।
8. राज्य में अनेक समुदाय होते हैं जिनके कार्यों पर सामान्य हित की दृष्टि से वह नियंत्रण रखता है।	8 इतिहास मे अनेक ऐसे उदाहरण हैं जब सदस्यों ने राज्य की अपेक्षा अपने समुदायों को अधिक निष्ठा दी है (मध्यकालीन यूरोप मे चर्च को और समकालीन युग मे श्रमिक संघों को)।

राज्य और शासन—प्राय राज्य और शासन अथवा सरकार के प्रभेद को भुला दिया जाता है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, 'शासन' राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व है। वह एक ऐसी एजेन्सी है जिसके द्वारा राज्य अपने उद्देश्यो की पूर्ति का प्रयत्न करता है। सरकार के माध्यम से राज्य की इच्छा निर्मित होती है, अभिव्यक्त होती है और पूर्ण होती है। लीकौक के शब्दो मे, व्यापकतम अर्थ मे 'शासन' से हमारा अभिप्राय नियंत्रण और आज्ञापालन के बुनियादी विचार से है, इसका आशय सत्ता और उस सत्ता के प्रति आधीनता से है। बिना 'शासन' के राज्य नही हो सकता। सरकार चाहे किसी प्रकार संगठित हो, उसकी उपस्थिति राज्य के अस्तित्व के लिए अत्यंत आवश्यक है। किंतु, इसके विपरीत 'सरकार' बिना राज्य के भी हो सकती है जैसे कि स्थानीय और प्राथमिक स्तरों पर, और हम ऐसे अनेक अंतर्राष्ट्रीय समुदायो और एजेंसियों के संबंध में भी 'सरकार' अथवा संगठन शब्द का प्रयोग करते हैं जो राज्य नहीं हैं।

हैरोल्ड जे० लास्की और जी० डी० एच० कोल के अनुसार व्यावहारिक रूप मे, इस प्रभेद का कोई महत्त्व नही है। कोल के अनुसार, राज्य 'जन-समुदाय के शासन की राजनीतिक मशीनरी' के अतिरिक्त और कुछ नही है[1]। इसी प्रकार लास्की का भी मत है कि क्रियात्मक प्रशासन के उद्देश्यो की दृष्टि से राज्य शासन के अतिरिक्त कुछ नही है[2]। हम मानते हैं कि प्राय सरकार राज्य के नाम से शासन करती है फिर भी इन दोनो को एक समझ बैठना हानिकारक हो सकता है, और इस प्रभेद को स्वीकार करने से हमारे विचारों मे स्पष्टता आ जाएगी। यदि हम यह समझ लें कि सरकारें अस्थिर होती हैं, वे आती-जाती रहती हैं, किंतु राज्य अपेक्षाकृत स्थायी होता है, तो हम अनेक उलझनों से बच जाएंगे। इस दशा मे हम प्रभुसत्ता को सरकार का

1 देखिए *Self-government in Industry*, संशोधित संस्करण, लंदन, 1919, पृष्ठ 119.

2 *A Grammar of Politics*, लन्दन, 1948, पृष्ठ 26

लक्षण नहीं, राज्य का लक्षण मानेंगे और हम यह भी नही कहेंगे कि सरकार की सत्ता निरकुश होती है। फिर हमारी समझ मे यह भी सरलता से आ जाएगा कि सरकार को सविधान और विधि के अतर्गत कार्य करना चाहिए और अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर नही जाना चाहिए। यही नही, इससे यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि लोकतत्रीय समाज मे, जहाँ अतिम रूप मे प्रभुशक्ति जनता मे निहित होती है, वहाँ सरकार के निर्णयो और कार्यों मे 'अतिमता' नही हो सकती। यदि यथेष्ट सार्वजनिक दबाव पडे तो सरकार को झुकना पडता है और लोकमत के अनुरूप बनाने के लिए अपनी नीतियो और व्यवहारो में परिवर्तन करना पडता है।

राज्य और सरकार को एक समझने की भूल सामान्य बोलचाल की भाषा मे भी की जाती है। जब हम सघीय राज्य की चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय सरकार के सघीय रूप से होता है। जब हम राज्य के हस्तक्षेप या राजकीय सहायता की बातें करते हैं तो वस्तुत हम सरकारी कार्यों के सबध में सोच रहे होते हैं। उपर्युक्त बातो को ध्यान मे रखते हुए कोल ने यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य और सरकार मे कोई प्रभेद नही है[1]। किंतु सेट के अनुसार, ठीक निष्कर्ष यह निकलता है कि यहाँ शब्दो का प्रयोग अस्पष्ट और भ्रमोत्पादक ढग से किया गया है। इस प्रकार की भूलें प्रचलित भाषा मे इसलिए हो जाती हैं कि राज्य और सरकार का निकट सबध है। राज्य एक प्रादेशिक समुदाय है, किंतु प्रभावी रूप मे वह केवल सरकार के माध्यम द्वारा ही कार्य कर सकता है। जब सरकार राज्य के नाम से कोई कार्य करती है तो यह भी कहा जा सकता है कि राज्य सरकार के माध्यम से कार्य कर रहा है[2]। इस स्थिति के कारण लास्की का कहना है कि हमे राज्य के कामचलाऊ सिद्धात का विचार प्रशासनिक शब्दो मे करना चाहिए। 'राज्य की इच्छा वस्तुतः उन थोडे से व्यक्तियो द्वारा किए गए निर्णय होते हैं जिन्हे कानूनी शक्ति प्राप्त है, . क्योकि क्रियात्मक प्रशासन की दृष्टि से, सरकार राज्य है'[3]। फिर भी लास्की इन दोनो को एक नही मानता[4]।

लास्की के मतानुसार राज्य और सरकार मे प्रभेद करने का एक बडा लाभ सरकार के अधिकार-क्षेत्र की मर्यादा पर ध्यान रखना है। सरकार को राज्य के उद्देश्यो का ध्यान रखना चाहिए और नागरिको के लिए ऐसी दशाएँ उत्पन्न

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 119-121.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 87.

3 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 35 और 131.

4 देखिए *The State in Theory and Practice*, पृष्ठ 8-9.

करने का यत्न करते रहना चाहिए जिसमे उनकी इच्छाओं की अधिकतम तुष्टि हो सके। उसे अनुभव पर आधारित सभी सुझावों पर ध्यान देना चाहिए जिससे सरकार राज्य की प्रभुसत्ता का दुरुपयोग न कर सके। लास्की के कथनानुसार, प्रत्येक सरकार मे कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके भ्रष्ट होने की सम्भावना रहती है। वे जानबूझकर सत्ता का दुरुपयोग कर सकते हैं। सदस्य होते हुए भी, वे अपने व्यक्तिगत हितो को ही जनसमुदाय का कल्याण समझ बैठने की भूल कर सकते हैं। हो सकता है कि उन्हें यथार्थ स्थिति का ज्ञान न हो अथवा उस पर काबू पाने की उनम योग्यता न हो। प्रत्येक राजनीतिक समाज के इतिहास मे किसी न किसी समय इस प्रकार की परिस्थितियां उत्पन्न हुई हैं। राज्य और सरकार के प्रभेद को मान्यता देने का एक लाभ यह है कि जब हमे सरकार राज्य के एजेन्ट (अभिकर्ता) के रूप मे अपने उत्तरदायित्वों को निभाने मे असमर्थ दिखाई दे, तब निर्धारित प्रक्रिया द्वारा हम उसे परिवर्तित कर सकते हैं।[1] इस प्रभेद को हम निम्न तालिका के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं :

राज्य	सरकार
1. राज्य एक पूर्ण सकल्पना (concept) है।	1. सरकार राज्य का एक तत्व है। जो राज्य के एजेंट (अभिकर्त्ता) के समान कार्य करता है।
2 यह अमूर्त है।	2 यह मूर्त है।
3. सभी नागरिक इसके सदस्य होते हैं।	3 नागरिकों का केवल एक छोटा भाग सरकार के विभिन्न अगो के सचालन म सक्रिय रूप से भाग लेता है।
4 यह स्थायी है। सरकार के परिवर्तनों का इसके अस्तित्व पर प्रभाव नहीं पडता।	4 सरकारें बदलती रहती हैं।
5 राज्यो के आवश्यक तत्त्व एक-समान होते हैं। केवल उसकी सरकारो के रूप भिन्न होते हैं।	5 सरकारों के रूप विभिन्न प्रकार के होते हैं।
6. बिना सरकार के राज्य नहीं हो सकता।	6 बिना राज्य के सरकार हो सकती है।
7 प्रभुसत्ता राज्य का एक अनिवार्य तत्त्व है।	7. व्यवहार रूप मे, सभी सरकारों के अधिकार सीमित होते हैं।

1 वही, पृ 24-25.

8 कुछ राज्यो का विचार है कि नागरिको को उनके विरुद्ध कोई शिकायत नही हो सकती और न अधिकार ही हो सकते हैं।	8 सरकार के विरुद्ध नागरिको को शिकायतें भी हो सकती हैं और उसके विरुद्ध अपने अधिकारो की रक्षा के हेतु कानूनी कार्यवाही करने की अनुमति भी है।

3. 'जाति' और राष्ट्र

नेशनैलिटी ('जाति') और 'राष्ट्र' (nation) शब्दो की व्याख्या करना सरल नहीं है। विद्वान लेखको और विचारको ने इन शब्दो का विभिन्न अर्थों मे प्रयोग किया है। प्राय 'नेशनैलिटी' और 'राष्ट्र' मे स्पष्ट भेद नही किया जाता, और इन दोनो का राज्य से भी बहुत कम स्पष्ट प्रभेद किया गया है। अत इन शब्दो के उपयोग मे बहुत ढीलापन आ गया है। उदाहरण के लिए, कुछ यूरोपीय[1] और भारतीय विद्वानो ने कहा है मानव इतिहास के प्राचीन काल मे भी 'राष्ट्र' वर्तमान थे। तथापि, अधिकतर राजनीतिक विचारक अब इस मत के हो गए हैं कि इन दोनो का रूप ऐतिहासिक है[2]।

'जाति'—व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'नेशनैलिटी' और 'नेशन' शब्द लैटिन धातु 'नेटियों' से निकले हैं जिसका अभिप्राय 'जन्म' अथवा 'सामान्य वश' से है। किंतु अनेक विद्वान विचारक अब इन दोनो शब्दो का प्रयोग भिन्न अर्थों मे करते हैं।

जिमर्न ने नेशनैलिटी' की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'यह एक ऐसी विशिष्ट तीव्रता, निकटता और गौरव से युक्त सामूहिक भावना है जो एक निश्चित निवास स्थान से सम्बद्ध है'[3]। बार्न्स के अनुसार 'नेशनैलिटी' एक सामूहिक नाम है जो उन मनोवैज्ञानिक और सास्कृतिक तत्त्वो की ग्रथि को दिया जाता है जो राष्ट्र को एकता के सूत्र मे बाधने वाला सिद्धात प्रस्तुत करती हैं'। ओपॅनहीमर के अनुसार, राष्ट्रीय चेतना राष्ट्र को जन्म देती है। किंतु ब्राइस का मत इससे भिन्न है। उसके अनुसार 'नेशनैलिटी' हमे उस राजनीतिक रूप से सगठित जनसमूह को कहना चाहिए जो या तो स्वाधीन है अथवा स्वा-

---

1 C. J H Hayes, *Essays on Nationalism*, न्यूयार्क, 1928, पृष्ठ 6

2 इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए N N Agarwal, *The Nationalities Problems in the U S S R*, 1959, अध्याय तीन, (अप्रकाशित शोध ग्रथ, प्रयाग एव आगरा विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में उपलब्ध)

3 Alfred E. Zimmern, *Nationality and Government*, लन्दन, 1919, पृष्ठ 52

धीनता प्राप्ति के लिए उद्योग कर रहा है। स्तालिन ने भी 'नेशनैलिटी' शब्द का प्रयोग ऐसे प्रादेशिक जनसमूहों के लिए किया है जो मानव इतिहास में प्राचीन और सामन्तवादी युगों में विभिन्न कबीलों और वर्गों के सम्मिश्रण से बन गए हैं। उसके अनुसार सामान्य भाषा 'नेशनैलिटी' का एक प्रमुख लक्षण है[1]।

'नेशनैलिटी' के संबंध में ऊपर दिए हुए विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि इस संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पहले तीन लेखक 'नेशनैलिटी' को आत्मनिष्ठ अथवा मनोवैज्ञानिक भावना मानते हैं जबकि शेष दो लेखक उसे एक ऐसा विशिष्ट जनसमुदाय समझते हैं जिसे मानव विकास की निश्चित दशा कहा जा सकता है। ब्राइस और स्टालिन[2] दोनों ही 'नेशनैलिटी' और 'राष्ट्र' में प्रभेद करते हैं और वे 'राष्ट्र' को ऐतिहासिक दृष्टि से अपेक्षाकृत एक उन्नत दशा मानते हैं। किंतु ब्राइस के मतानुसार इन दोनों के प्रभेद का मुख्य आधार है राष्ट्र का राजनीतिक रूप से संगठित होना और उसका या तो स्वाधीन होना अथवा इसके लिए तीव्र उत्कंठा का होना। इसके विपरीत स्तालिन का मत है कि राष्ट्र 'नेशनैलिटी' की अपेक्षा अधिक सुगठित होता है, यद्यपि नेशनैलिटी के लिए भी एक सामान्य भाषा का होना आवश्यक है। राष्ट्र में यह सुगठन प्रधानतः आर्थिक कारणों से आता है। दूसरे, स्तालिन यह स्वीकार नहीं करता कि प्रत्येक राष्ट्र का पृथक् अस्तित्व आवश्यक है और उसके लिए एक स्वाधीन राज्य बनाए रखना अपरिहार्य है। उसके अनुसार, किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कई राष्ट्र मिल कर एक बहुराष्ट्रीय राज्य की स्थापना कर सकते हैं और यदि ऐसा राज्य पूर्ण राष्ट्रीय एकता, संगत (consistent) लोकतंत्र, और अभेद नीति (non-discrimination) पर आधारित हो तो आपत्ति उठाने का प्रश्न नहीं रहता[3]।

यहाँ यह बता देना उचित प्रतीत होता है कि 'नेशनैलिटी' शब्द का प्रयोग नागरिकों की कानूनी स्थिति के लिए भी होता है। जब एक नागरिक विदेश-यात्रा के लिए जाता है, तो उससे प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि आपकी 'नेशनैलिटी' (राष्ट्रिकता) क्या है। इस प्रश्न का आशय यह होता है कि वह किस देश का नागरिक है।

सामान्य लोकप्रयोग में 'नेशनैलिटी' शब्द को बहुधा एक बहुराष्ट्रीय राज्य की जातियों के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए, स्विटज़रलैंड

1 *National Question and Leninism*, मास्को, 1950, पृष्ठ 11-12.
2 *Concerning Marxism in Linguistics*, नई दिल्ली, 1953, पृष्ठ 10.
3 *National Question and Leninism*, पृष्ठ 11-12 और 27.

मे तीन जातियाँ मानी जाती है : जर्मन स्विस, इटेलियन स्विस और फ्रासीसी स्विस। कभी-कभी 'नेशनैलिटी' शब्द का प्रयोग यूनाइटेड किंगडम मे स्काटलैंड निवासियो और उत्तरी आयरलैंड मे रहने वालो के लिए भी किया जाता है।

राष्ट्र क्या है ?—'राष्ट्र' शब्द के प्रयोग मे भी बहुत अस्पष्टता, ढिलाई और विविधता है। कुछ लेखक इसे राजत्व (statehood) के अर्थ मे प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि एक राज्य मे रहने वाले व्यक्तियो को राष्ट्र कहना चाहिए। किंतु विवेकशील लेखक जल्दबाजी मे किए हुए ऐसे सामान्यीकरणो से बचने का प्रयत्न करते हैं। हास कोहन्[1], अर्नेस्ट रेनन[2], फ्रैडरिक हर्ट्ज[3], शूमैन[4], कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगिल्स, लेनिन और स्तालिन ने इसे प्रादेशिक जनसमूहो की एक विशिष्ट ऐतिहासिक अवस्था माना है। डा० ताराचन्द ने भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया है[5]। इन विचारको के मतानुसार राष्ट्र एक ऐसा ऐतिहासिक तथ्य है जो अनेक जातीय और रक्त पर आधारित जनसमूहो के सम्मिश्रण के फलस्वरूप उस समय विकसित होता है जब दास-प्रथा पर आधारित समाज और सामती समाज का अत हो चुकता है। इन विद्वानो की मान्यता है कि राष्ट्र एक प्रादेशिक जनसमुदाय है, कबीलाई, जातीय, अथवा धार्मिक जनसमूह नही।

राष्ट्र के वस्तुनिष्ठ तत्त्व—अनेक विद्वान लेखको ने ऐसे वस्तुनिष्ठ तत्त्वो की चर्चा की है जिनके उपस्थित रहने से राष्ट्र के विकास की सम्भावना रहती है। किंतु कुछ लेखक इस बात पर बल देते हैं कि इनमे से प्रत्येक तत्त्व की उपस्थिति राष्ट्र के विकास के लिए नितात आवश्यक नही है। इन तत्त्वो मे से कुछ हैं : भाषा की समानता, भौगोलिक एकता, सामान्य आर्थिक कड़ियाँ, सामान्य इतिहास और परम्पराएँ आदि। किंतु इनके सबध मे भी लेखक एकमत नही हैं। मैकीवर के अनुसार, कठिनाई से ही कोई ऐसे दो राष्ट्र होंगे जिनका विकास एक ही प्रकार के वस्तुनिष्ठ तत्त्वो के कारण हुआ हो। अतः यह आवश्यक है कि हम इन तत्त्वो पर सक्षेप मे विचार करें।

नस्ल और रक्त की एकता—जिन जनसमूहो मे रक्त अथवा नस्ल (race) की एकता होती है उनमे सरलता से 'जातीय' भावना उत्पन्न हो जाती है।

1 *The Idea of Nationalism*, न्यूयार्क, 1946, पृष्ठ 13.
2 'What is a Nation ?' in *Modern Political Doctrines*, सम्पादक : जिमर्न, लदन, 1939, पृष्ठ 187.
3 *Nationality in History and Politics*, लन्दन, 1944, पृष्ठ 28.
4 *International Politics*, न्यूयार्क, 1948, पृष्ठ 425.
5 *History of Freedom in India*, नई दिल्ली, 1961, खड 1.

इसके विपरीत जहाँ जाति विद्वेष रहता है, वहाँ इस भावना का उदय होना अत्यंत कठिन है। नस्ल अथवा रक्त की एकता का विचार किसी जनसमुदाय को एकता के सूत्र में बाँधने में अत्यंत सहायक हो सकता है। किंतु प्रश्न यह उठता है कि क्या विशुद्ध 'नस्ल' नाम की कोई वस्तु है? रेनन के अनुसार, इस प्रकार की कोई वस्तु नहीं है[1]। आधुनिक जातियों में इतना अधिक सम्मिश्रण हो चुका है कि विशुद्ध रक्त की चर्चा विशेष अर्थ नहीं रखती। ज़ूमॅन के मतानुसार, विशुद्ध रक्त यदि कभी रहा भी हो, तो भी हज़ारों वर्षों से होने वाले प्रवसन (migration), युद्ध, विजय, परिभ्रमण, अंतर्विवाह आदि के कारण इस प्रकार की स्थिति कभी की समाप्त हो चुकी है[2]। इस प्रकार सभी आधुनिक राष्ट्र अनेक कबीलों, नस्लों और जातियों के सम्मिश्रण से बने हैं। तथापि, प्रश्न यह नहीं है कि रक्त और नस्ल की एकता की बात वैज्ञानिक रूप से सत्य है अथवा नहीं। यदि किसी कारणवश एक जनसमुदाय में यह विश्वास पैदा हो जाए कि रक्त और नस्ल की दृष्टि से वे एक हैं तो सम्भवतः इससे भी जातीय भावना का उदय हो सकता है, फिर भले ही इस विश्वास का आधार भ्रमपूर्ण ही क्यों न हो।

धार्मिक एकता—धर्म की एकता एक दृढ़ सामाजिक बंधन है। सामान्य धार्मिक विश्वास और रीतियाँ व्यक्तिसमूहों में एकता की भावना विकसित करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। यद्यपि विगत जीवन में राष्ट्रों को दृढ़ बनाने में इसने बहुत सहायता दी है, तथापि इसे राष्ट्र का एक वस्तुनिष्ठ तत्व नहीं माना जा सकता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धार्मिक एकता के अभाव में भी राष्ट्र विकसित हुए हैं। स्विट्जरलैंड में विभिन्न मतावलम्बी रहते हैं, किंतु इससे उनकी राष्ट्रीयता में कोई बाधा नहीं पड़ती। जैसा कि हम कह चुके हैं, आधुनिक राष्ट्र प्रादेशिक समुदाय होते हैं। वे अनेक जातियों के सम्मिश्रण से बनते हैं और उनमें विभिन्न धर्मों के मानने वाले व्यक्ति हो सकते हैं। केवल आवश्यकता यह है कि वे सामान्य भूमि पर स्थायी रूप से रहते हों और देश के इतिहास, परम्पराओं और आकांक्षाओं में समान रूप से भागीदार हों। अर्वाचीन काल में लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता पर बल दिया जाता है। धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धांत को मान्यता देकर सभ्य संसार ने धार्मिक भेदभाव की जड़ें काट दी हैं। अतएव धर्म को राष्ट्र के विकास में एक अपरिहार्य और वस्तुनिष्ठ तत्व बताना धार्मिक कट्टरता और अल्पसंख्यकों के

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 195
2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 438

उत्पीडन को प्रोत्साहन देना होगा ; और इससे धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रीय राज्यों की जडो पर कुठाराघात होगा ।

भाषा की एकता—जाति तथा नस्ल की एकता का भाषा की एकता से अत्यत घनिष्ठ सबध है । वस्तुत वश अथवा रक्त की एकता के अन्य परिचयात्मक चिन्हों के अभाव मे, सामान्य भाषा और सस्कृति के आधार पर ही जातीय एकता का अनुमान लगाया जाता है । अत. जाति और भाषा की एकता लगभग एक ही बात होती है ।

कुछ विचारको ने भाषा की एकता पर बहुत अधिक बल दिया है । हर्डर (1744-1803) और फिन्टे (1762 1814) उन विद्वानो मे हैं जिन्होंने सर्वप्रथम भाषा की एकता के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया । फिन्टे का कहना था कि सामान्य अनुभवो, हितो और आदर्शों से भाषा का घनिष्ठ सबध है । केवल सामान्य हित और आदर्श किसी व्यक्तिसमूह को जातीय एकता के सूत्र म उस समय तक नही पिरो सकते जब तक उनमे विचारो के आदान-प्रदान के लिए एक सामान्य भाषा का माध्यम न हो। अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार भाषा और राष्ट्र मे घनिष्ठ साहचर्य है । भाषा केवल शब्द मात्र नही होती । प्रत्येक शब्द से सबधित अनेक भाव और विचार होते हैं जो हमे अपनी परम्पराओं का स्मरण कराते हैं । अतएव, हम सामान्य भावनाओं और विचारो के उस समय तक भागीदार नही बन सकते जब तक हम साहचर्य के द्वार को भाषा की कुजी से नही खोल लेते । फ्रेडरिक शूमॅन के मतानुसार भाषा व्यक्तियो के सास्कृतिक वातावरण की सर्वोत्तम सूचक होती है । राष्ट्र केवल इसलिए एकता के सूत्र मे आबद्ध नही हो जाते कि वे राजनीतिक रूप से स्वतत्र हैं और सामाजिक रूप से सगठित है, अपितु इसलिए कि वे एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं जो अन्य राष्ट्रीय जनसमूहो की भाषा से भिन्न है[1] । भाषा के महत्त्व पर बल देने वाले अन्य लेखको ने रैमज़े म्योर, हास कोहन, स्तालीन आदि प्रमुख है । वे विचारक, जो इस मत को स्वीकार नही करते, प्राय यूनाइटेड किंगडम, स्विटजरलैंड और नीदरलैंड के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । यद्यपि उपर्युक्त राज्यो में विभिन्न भाषा-भाषी व्यक्ति रहते हैं, फिर भी वे राष्ट्र कहलाते है । कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो इस युक्ति को सगत नही मानते । उनके अनुसार, उपर्युक्त सभी राज्य वस्तुत 'बहुराष्ट्रीय' राज्य हैं । कुछ लेखकों ने सुझाव दिया है कि इस समस्या का हल करने के लिए अच्छा होगा कि हम एक राज्य के समस्त व्यक्तियो के लिए सामूहिक रूप म 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग करें और उनमे रहने वाले विभिन्न भाषा-

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 439-40.

भाषियो को 'नेशनैलिटी' अथवा जातियाँ मान लें।

भौगोलिक एकता—सामान्य भाषा के रहने पर भी यह आवश्यक नही है कि उस भाषा के बोलने वाले सभी व्यक्तियो का एक राष्ट्र हो। उदाहरण के लिए अंग्रेजी भाषा बोलने वाले व्यक्ति यूनाइटेड किंगडम मे भी रहते हैं, और कैनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, सयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) आदि म भी। किंतु इनके अपने पृथक् राष्ट्र हैं। वस्तुत राष्ट्र केवल तभी विकसित हो पाते हैं जब एक जनसमुदाय अनेक पीढियो तक विचारो के व्यवस्थित आदान-प्रदान में सलग्न रह। इसका आशय यह हुआ कि राष्ट्र बनने के लिए व्यक्ति-समूह का मिलकर एक सामान्य भू-भाग पर रहना अपरिहार्य है। इधर उधर बँट जाने से जातीय भावना का अत हो सकता है, विशेषत जब व अपने से अधिक प्रबल किसी जाति के निकट सम्पर्क मे आ जाएँ। इतिहास म ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब निर्बल जातियाँ शनै शनै अपने से प्रबल जातियो मे खप जाती हैं और अपना स्वतत्र अस्तित्व खो बैठती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक साथ मिलकर एक ही भू भाग मे रहने का बहुत बडा प्रभाव होता है।

बहुत दिनों तक लेखको का यह मत रहा कि राष्ट्र के विकास और अस्तित्व क लिए एक सलग्न भौगोलिक क्षेत्र का होना अपरिहार्य है। इस मत के विरुद्ध प्राय यहूदियों का उदाहरण दिया जाता है। किंतु 'इजराइल' नामक राज्य के स्थापित होने के पूर्व यद्यपि यहूदियो का अपना कोई देश न था, तथापि उनकी भावनाएँ और विचार एक निश्चित प्रदेश स सबधित थी। एक सलग्न भौगोलिक क्षेत्र मे साथ-साथ रहने, एक ही भाषा मे विचार विमर्श करने तथा सामान्य ऐतिहासिक अनुभवो और आकाक्षाओ के कारण व्यक्ति-समूह म बहुधा सामान्य भावनाएँ और दृष्टिकोण का उद्भव हो जाता है और उन्हें अपने देश से अनुराग हो जाता है। अपने देश क प्रति अनुराग का ही दूसरा नाम देशप्रेम अथवा देशभक्ति है।

सामान्य आर्थिक कड़ियाँ—सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स ने इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। तब से इसका महत्व अधिकाधिक विद्वानो द्वारा स्वीकार किया जाने लगा है। अनेक विद्वानो ने जब यह स्वीकार कर लिया कि राष्ट्र एक ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय वस्तु है तो उनका ध्यान उन दशाओ की ओर गया जिनमे राष्ट्र विकसित होत हैं। थोडे स अनुसधान से यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्र ऐसे प्रादेशिक जनसमुदाय है जो प्राचीन काल मे नही थे और न वे दास प्रथा अथवा सामती व्यवस्था के अतर्गत सम्भव हो सकते थ। राष्ट्र कुनबा, कबीला और वशगत समूहो के सम्मिश्रण से बनते हैं। लेनिन के मता-

नुसार, प्रदेशो मे विनिमय के बढने से और एक घरेलू मण्डी के बनने से राष्ट्रीय कडियो का निर्माण होता है[1]। उनका कहना है कि एक जनसमुदाय उस समय तक राष्ट्र मे दृढीभूत नही होता जब तक वह सामान्य आर्थिक कडियो से आवद्ध न हो जाए, और ऐसा उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली के विकास से सम्भव होता है।

सामान्य इतिहास, परम्पराएँ और आकाक्षाएं—सामान्य भाषा, भौगोलिक सलग्नता और सामान्य आर्थिक कडियो के होने से एक व्यक्तिसमूह मिल-जुल कर रहता है, उसके सामान्य अनुभव होते हैं और उनमे सामान्य दृष्टिकोण और सामान्य अभिलाषाओ का जन्म हो जाता है। प्राय इन व्यक्तियो ने साथ-साथ दुख झेले है, मिलकर कार्य किए है और एक ही प्रकार के अनुभव किए है। फलस्वरूप उनमे एक सामान्य मनोवैज्ञानिक रूप और भावना उत्पन्न हो जाती है।

हमारे कहने का आशय यह नही है कि 'राष्ट्रीय चरित्र' स्थायी और गतिहीन होता है। यह कहना असगत न होगा कि एक जनसमुदाय का चरित्र उसके सामाजिक जीवन की प्रतिछाया मात्र होता है। अतएव जैसे-जैसे सामाजिक दशाओ मे परिवर्तन होता जाता है उनके अनुरूप लोकचरित्र मे भी शनै. शनै परिवर्तन आ जाता है। दूसरे, जब हम राष्ट्रीय चरित्र की बातें करते हैं तो हमे यह नही भूलना चाहिए कि प्रत्येक राष्ट्र मे वैयक्तिक विविधताएँ होती हैं। अत राष्ट्रीय चरित्र से हमारा अभिप्राय केवल यही हो सकता है कि उक्त जनसमुदाय मे कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ होती है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त वस्तुनिष्ठ तत्त्वो पर विचार करने के उपरात हम कह सकते हैं कि राष्ट्र के विकास के लिए इनमे से प्रत्येक का होना अपरिहार्य नही। नितात आवश्यक तत्त्वो के सबध मे भी मतभेद हैं। अपने देश का उदाहरण लेने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि हमारी सामान्य भाषा नही है। भारतीय विचारको और विद्वानो मे के० एम० पन्नीकर और प्रो० गाडगिल आदि ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि वस्तुत भारत एक बहुल (plural) समाज और बहुराष्ट्रीय राज्य है। अन्य लेखक भारत के बहुराष्ट्रीय रूप को मानने मे हिचकते हैं। उन्हे भय है कि कही ऐसा करने से देश के अन्दर पृथक्करण की भावना को बल न मिल जाए अथवा इस मान्यता से कही हमारी राष्ट्रीय सुदृढता मे बाधा उपस्थित न हो जाए। इसी प्रकार, बहुत कम पाकिस्तानी होगे जो धर्म को राष्ट्रत्व का आधार न मानते हो। यह भी सम्भव है

1 *Development of Capitalism in Russia*, मास्को, 1956, पृष्ठ 358.

कि वह राष्ट्र के प्रादेशिक आधार को भी न मानें। वे यह भी नहीं मानना चाहते कि भौगोलिक संलग्नता और सामान्य भाषा के अभाव में पूर्ण राष्ट्रत्व का उदय यदि असम्भव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है। वे अपने जनसमुदाय को बहुराष्ट्रीय भी नहीं मानना चाहते। वस्तुस्थिति यह है कि हम राजनीतिक दृष्टिकोण से अभी जागृति और पूर्णता की उस स्थिति में नहीं पहुँचे हैं जब हम अपने लिए यह गर्व की बात समझें कि हमारा समाज विविधता से पूर्ण है और हमारा राज्य बहुराष्ट्रीय है। संक्षेप में, इस संबंध में हमारा दृष्टिकोण ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय नहीं है। हमें इसमें सुविधा दिखाई देती है कि यथासम्भव राष्ट्रत्व और राजत्व को एक-जैसा मान लिया जाए।

4 राष्ट्रवाद का उदय

राष्ट्रवाद (nationalism) अपेक्षाकृत एक अर्वाचीन भावना है। प्राचीन यूरोपीय व्यवस्था में 'नेशनेलिटी' (जातियों) को सरकारी मान्यता प्राप्त न थी और जनता भी अपने अधिकारों की रक्षा के प्रति विशेष सजग न थी। समस्त यूरोप का ढाँचा अराष्ट्रीय था। राष्ट्रीय स्वतंत्रता की माँग अन्य व्यक्तिगत अधिकारों की माँगों के समान ही अस्वीकृत कर दी जाती थी। प्रशासनिक कार्यों में जनता की भावनाओं और अभिलाषाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। शासकों के परिवारों के हित ही राज्यों की सीमाएँ निर्धारित करते थे। पोलैंड के खंडित होने के उपरांत इस स्थिति में एक परिवर्तन आया और एक नई भावना ने बल पकड़ा कि कुछ राजकीय सीमाएँ अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण भी हैं। शनैः शनैः राष्ट्रीय भावना की प्रबलता और राष्ट्रीय समस्या की जटिलता दृष्टिगत होने लगी और राष्ट्रीय प्रश्नों पर राजनीतिज्ञों और विचारकों द्वारा ध्यान दिया जाने लगा।

इस समस्या के समाधान के लिए अनेक योजनाएँ और सिद्धांत प्रस्तुत किए गए। इनमें सर्वप्रथम 'राष्ट्रीयता का सिद्धांत' है। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य को अपना पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने का अधिकार है। कुछ विचारक इस सिद्धांत को संदेह की दृष्टि से देखते थे। उनके मतानुसार, इस सिद्धांत को कार्य रूप में परिणत करने से राष्ट्रीय अनन्यता और असहिष्णुता को प्रोत्साहन मिलेगा और अंततः यह सिद्धांत वैयक्तिक स्वतंत्रता का शत्रु सिद्ध होगा। अतएव उन्होंने बहुराष्ट्रीय राज्यों के बनाए रखने पर बल दिया और ऐसे राज्यों को सामान्य प्रगति की सबसे बड़ी गारंटी बताया। इनके अतिरिक्त ऐसे विचारक भी हैं जो, राष्ट्रीयता की शक्ति और प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी, इस बात पर बल देते हैं कि पुरानी राजनीतिक कड़ियों को बिना

समझे बूझे नही तोड देना चाहिए। उनके कथनानुसार प्रादेशिक, भाषाजनित और सास्कृतिक अल्पसख्यको को सास्कृतिक स्वायत्तता दी जा सकती है जिससे उनकी राष्ट्रीय भावना की तुष्टि हो जाय और वे एक बृहत् राजनीतिक सगठन के अतर्गत बने रहे। इसी उद्देश्य से अतर्राष्ट्रीय गारटी देने और सविधानी सरक्षण की योजनाएँ भी बनी और लागू की गई[1]।

बीसवी शताब्दी में राष्ट्रवाद की भावना ने बहुत बल पकडा है, विशेषत एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के उन देशो मे जो अभी तक पराधीन थे। जहाँ तक यह भावना साम्राज्यवाद विरोधी और राष्ट्रीय स्वाधीनता की समर्थक रही है यह एक स्वस्थ विचार है। इस रूप मे, इसने राष्ट्रीय स्वाधीनता और वैयक्तिक स्वतत्रता के क्षेत्र को बढाया है। राष्ट्रवाद के समर्थको का कहना है कि स्वाधीन राष्ट्रो के स्थापित होने से प्रत्येक जनसमूह को अपने सुख और समृद्धि के लिए भरसक प्रयत्न करने के अवसर मिल जाते है। साम्राज्यवादियो द्वारा राष्ट्रीय जागृति की इस लहर को रोकने के सभी प्रयत्न असफल हुए है और वह दिन दूर नही है जब ससार के सभी पराधीन देश स्वतत्र हो जाएँगे। हमे स्वाधीनता सग्राम के उन अनगिनत वीर सिपाहियो के प्रति नतमस्तक होना चाहिए जिन्होने अपने जीवन की बाजी लगाकर स्वाधीनता की ज्योति जगाए रखने के लिए अथक प्रयत्न किए।

'एक राष्ट्र, एक राज्य' का सिद्धात—'एक राष्ट्र, एक राज्य' का सिद्धात अब पुराना हो चला है। इसे राष्ट्रीय राज्य का सिद्धात भी कहते हैं। सभवत मात्सिनी (1805-1872 ई०) वह सर्वप्रथम राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने इस सिद्धात की खुली घोषणा की। इसके प्रतिपादको मे जॉन स्टुअर्ट मिल प्रमुख है। कार्ल मार्क्स, एँगिल्स और लेनिन ने भी राष्ट्रो के 'स्वभाग्य निर्णय के अधिकार' के रूप मे इस सिद्धात को अपना प्रबल समर्थन दिया। प्रथम महायुद्ध के समय, प्रेसीडेंट वुड्रो विल्सन ने भी इसके समर्थन मे अपनी शक्तिशाली आवाज बुलन्द की।

इस सिद्धात का आशय यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना स्वाधीन राज्य बनाने की स्वतत्रता होनी चाहिए। मिल के अनुसार, जहाँ भी राष्ट्रीयता की प्रबल भावना उपस्थित हो, वहाँ उस राष्ट्र के सभी सदस्यो को एक पृथक् और स्वाधीन शासन के अतर्गत रखने के यथेष्ट कारण हैं। उसके कथनानुसार, यह स्वशासन के सिद्धात का ही एक तर्कसगत उपयोग है। उसका मत था कि किसी

---

1 इस विषय मे विस्तारपूर्वक विवेचन के लिए, देखिए नवल नारायण अग्रवाल का उपर्युक्त ग्रथ, अध्याय 5

ऐसे देश मे, जहाँ विभिन्न राष्ट्र मिलकर रह रहे हो, स्वतन्त्र संस्थाएँ असम्भव हैं। ऐसे जनसमुदायो मे शासन सरलतापूर्वक भेद-नीति से काम ले सकता है। एक बहुराष्ट्रीय राज्य के सैनिको म जनता के प्रति लगाव न होने के कारण शासन की निरंकुशता से बचने के कोई प्रभावी साधन भी उपलब्ध नही होते[1]।

उन्नीसवी शताब्दी के दूसरे चरण म, कार्ल मार्क्स ने भी राष्ट्रीय प्रश्न के महत्त्व को स्वीकार किया और इस बात पर बल दिया कि जिन जनसमुदायो मे स्वाधीनता के सबध म प्रबल भावना हो वहाँ साम्यवादियो को ऐसे आदोलनो का खुला समर्थन करना चाहिए। प्रथम महायुद्ध के पश्चात्, शाति स्थापना के समय जहाँ तक सम्भव हो सका, यूरोप मे इस सिद्धात को कार्यरूप मे परिणत करने का प्रयत्न किया गया। सयुक्त-राष्ट्र सगठन (U N. O) के घोषणा-पत्र ने भी इस सिद्धात को मान्यता दी है और पराधीन जनसमुदायो को परतत्रता से छुटकारा दिलाने म विशेष योग दिया है। फलस्वरूप, थोडे से जन-समुदायो को छोडकर, ससार की जनता का एक बहुत बडा अश अब राज-नीतिक रूप म स्वतन्त्र हो चुका है। उपयुक्त घोषणापत्र ने औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी दशा को विजित और पराधीन देशा के शासन के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए यह माँग की कि व इन पराधीन दशो की जनता के स्वतन्त्र होने की निश्चित योजनाएँ बनाएं। घोषणापत्र के इस अध्याय का परिणाम बहुत सुखद हुआ है और घोषणापत्र के जारी होने के 20 वर्षों म ही ऐसा प्रतीत होने लगा है कि वह दिन अब दूर नही है जब ससार म कोई पराधीन देश अथवा जनसमुदाय नही रह जाएगा।

आलोचना—राष्ट्रीय स्वाधीनता की इस प्रबल लहर के साथ एक विपरीत प्रवृत्ति भी दृष्टिगत हो रही है। पाश्चात्य यूरोप म, अरब देशो मे और अफ्रीका के कुछ भागो म बडी राजनीतिक इकाइयो को बनाने की योजनाएँ बनाई जा रही हैं। यह स्पष्ट दिखाई दने लगा है कि छोटे छोटे राष्ट्रीय राज्य जनता की भौतिक समृद्धि म विशेष सहायक नहीं होत। साथ ही, इनकी अत्यधिक सख्या होने के कारण अतर्राष्ट्रीय राजनीति की समस्याएँ कम होने के स्थान पर बढ गई हैं। इन बृहत् राजनीतिक सगठनो की योजनाओ को ध्यान मे रखकर, मृतप्राय साम्राज्यवादी व्यवस्था के समर्थकों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया है कि हम पुरानी व्यवस्था को ही क्यो न एक परिवर्तित रूप मे स्वीकार कर लें? कहने का आवश्यकता नही कि ऐसे विचार नवविकसित राज्यो मे लोकप्रिय नही हो सकते। तथ्य यह है कि जब तक समस्त पराधीन देश स्वतन्त्र नहीं हो जाते, इस प्रकार की सभी योजनाएँ सदहास्पद बनी रहेंगी।

1 देखिए *Utilitarianism*, etc. पृष्ठ 360-362

कुछ राजनीतिक चितको ने राष्ट्रीय राज्य के सिद्धात की कडी आलोचना की है। लार्ड ऐक्टन (1834-1902) इनमे प्रमुख है। उनका मत है कि यह सिद्धात स्वाधीनता का दुश्मन और मानव इतिहास मे एक उलटा कदम है। उसके मतानुसार, यह सिद्धात राष्ट्र को निरकुश बना देगा और व्यक्तियो से राष्ट्रीय एकता के नाम पर वैयक्तिक स्वतत्रता के परित्याग की मांग की जाएगी। साथ ही, इसस असहिष्णुता और दृष्टिकोण मे सकुचित अनन्यता पनपने लगगी। एकरूपता के नाम पर, अनागरिको को समानता के पद से वचित कर दिया जाएगा। अन्तत यह सिद्धात वैयक्तिक स्वतत्रता और स्वशासन दोना का शत्रु सिद्ध होगा।

बहुराष्ट्रीय राज्य का सिद्धान्त—ऐक्टन के मतानुसार विभिन्न राष्ट्रो का सहयोग सभ्य अस्तित्व की चरम आवश्यकता है। उनके पारस्परिक समागम से, पिछडे व्यक्ति ऊँचे स्तर पर आ जाते है जीर्ण-शीर्ण और मृतप्राय राष्ट्र जी उठते हैं और पुन शक्ति प्राप्त कर लेते है तथा राष्ट्रो को अनुशासित होने के अवसर मिल जाते हैं। इस प्रकार, एक राज्य के अतर्गत अनेक राष्ट्रो का सम्मिश्रण शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करता है। अतएव, इस प्रक्रिया से मानवता और सभ्यता दोनो की ही उन्नति होती है। सक्षेप मे, अनक राष्ट्रो की एक राज्य के अतर्गत उपस्थिति उसकी स्वतत्रता की कसौटी ही नही, अपितु सर्वोत्तम सुरक्षा भी है। राज्य को विभिन्न समूहो, और जनसमुदायो मे सामजस्य स्थापित करने के लिए बाध्य कर, यह स्वाधीनता और स्वराज्य का पोषक बन जाता है। साथ ही, उन विभिन्न समुदायो को भी जो सामाजिक जीवन मे विविधता और रग लाते हैं, व्यक्ति के विकास म सहायक होते हैं एव व्यक्तिगत अधिकारो का सरक्षण करते है, समुचित प्रोत्साहन मिल जाता है[1]।

मूल्याकन—मिल और ऐक्टन दोनो ने ही अपने मतो का जोरदार समर्थन किया है। मिल प्रत्येक राष्ट्र को एक स्वतत्र राज्य के रूप मे दखने के मोह मे यह भूल जाता है कि वह राष्ट्र को 'स्वभाग्य निर्णय (self-determination) का अधिकार' नही दे रहा। उसकी यह धारणा कि प्रत्येक बहुराष्ट्रीय राज्य अवश्य निरकुश होगा असगत प्रतीत होती है। यदि कई राष्ट्र आपस मे मिलकर पूर्ण राष्ट्रीय समता, सगत लोकतत्र और अभेद नीति के सिद्धांतों को स्वीकार कर स्वेच्छापूर्वक एक बहुराष्ट्रीय राज्य सगठित करना चाहे तो इसमे क्या आपति हो सकती है ? दूसरी ओर, ऐक्टन यह भूल जाता है कि जब तक

1 *The History of Freedom and Other Essays*, पृष्ठ 283-285 और 289-292.

प्रत्येक राष्ट्र को अपना पृथक् और स्वाधीन राज्य बनाने की स्वतन्त्रता न होगी, बहुराष्ट्रीय राज्य मे जो एक प्रबल राष्ट्र होगा वह (ऐक्टन के तर्कों के आधार पर) निर्बल राष्ट्रो को आत्मसात करने का यत्न करेगा। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि ऐक्टन ऐसे कोई ठोस सुझाव नही देता जिससे अल्पसख्यको और निर्बल राष्ट्रो के हितो का सरक्षण किया जा सके और व्यक्तियो की दमन से रक्षा की जा सके। हमारे मतानुसार, राष्ट्रो को स्वभाग्य-निर्णय का पूर्णाधिकार होना चाहिए अर्थात् उन्हे स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे यदि चाहे तो अपना पृथक् राज्य बनाएँ, और यदि उचित समझें तो समानता के आधार पर अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर एक बहुराष्ट्रीय राज्य सगठित कर लें। दोनों ही अवस्थाओं मे 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता, अल्पसख्यको के हितो की सुरक्षा और निर्बल राष्ट्रो के सरक्षण' का समुचित प्रबध होना चाहिए।

o

5

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत

उत्पत्ति के संबंध में मनुष्यों को सदैव जिज्ञासा रही है। विगत रहस्यों के उद्‌घाटन और वस्तुएं 'कैसे' और 'क्यों' बनीं—इन समस्याओं का समाधान करने वाली व्याख्याएँ भी युग की मान्यताओं के साथ बदलती रही हैं।
—ई० एम० सेट

यह कहना कठिन है कि राज्य की उत्पत्ति कब हुई। जाति-विज्ञान (एथनोलोजी) और मानव-विज्ञान (एन्थ्रोपोलोजी) जैसे आधुनिक विज्ञान भी जिन्होंने हमारे विगत जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों को बताया है, इस विषय पर प्रकाश डालने मे असमर्थ हैं। ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव मे, विचारकों ने कल्पना का सहारा लिया और राज्य की उत्पत्ति के सबध मे अनेक धारणाएँ और सिद्धात बन गए। इनमें से प्रमुख है . दैवी सिद्धात, शक्ति-सिद्धात समाज-सविदा-सिद्धात, आनुवशिक सिद्धात, और विकासवादी सिद्धात। अब हम इन सिद्धातों पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

1. दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत

राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धात बहुत पुराना है। जिस समय विचारकों के सम्मुख कोई निश्चित और पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री न थी, उनके लिए यह स्वाभाविक था कि वे राज्य की उत्पत्ति को दैवी इच्छा के आधीन मानते। जब किसी वस्तु की उत्पत्ति के कारण स्पष्ट नही होते, तब प्राय. उन्हे 'दैवी' कह दिया जाता है। दैवी सिद्धात के अनुसार, राज्य ईश्वर के द्वारा अथवा उसकी इच्छानुसार बना। अनेक धार्मिक ग्रथ इस सिद्धात का समर्थन करते हैं। मनुस्मृति मे कहा गया है कि ससार की रक्षा और कल्याण के हेतु ईश्वर ने

राजा को उत्पन्न किया और राज्य की नींव डाली। महाभारत में भी इस सिद्धांत की चर्चा है। शांति पर्व में कहा गया है कि जब अराजकता असह्य हो उठी तो मनुष्यों ने भगवान से प्रार्थना की, और उनकी विनती से प्रसन्न होकर भगवान् ने मनु को उनके ऊपर शासन के लिए नियुक्त किया[1]। वैसे भी, हिन्दू परम्परा के अनुसार, संकट पड़ने पर भगवान स्वयं अवतरित होकर अपने भक्तों का दुःख दूर करते हैं। इसी प्रकार, यहूदियों के धर्मग्रंथ के अनुसार ईश्वर ने स्वयं अपनी प्यारी जनता पर राज्य किया। मिस्र में भी राजा को सूर्य देवता का पुत्र कहा जाता था और चीन में सम्राट् को स्वर्ग-पुत्र। ईसाई धर्मग्रंथ, बाइबिल में भी यह उल्लेख है कि सभी सत्ताएँ ईश्वर के आदेश से बनती हैं। इस्लाम धर्म में मोहम्मद साहब को एक ईश्वरीय दूत माना गया है। इसी प्रकार के विचार विभिन्न धर्मग्रंथों में पाए जाते हैं।

इस सिद्धांत की व्याख्या तीन रूपों में की गई है प्रथम, भगवान् ने स्वयं इस पृथ्वी पर आकर राज्य और शासन की स्थापना की, दूसरे, ईश्वर ने अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता पर शासन स्थापित किया, और तीसरे, भगवान् ने मनुष्यों में ऐसी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कीं जिनसे उन्हें शासन और व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई और उनमें अनुशासन और आज्ञापालन की भावना का जन्म हुआ। फलस्वरूप, बुद्ध व्यक्ति शासक बन और शेष प्रजा। इस प्रकार राज्य एक ईश्वरीय देन है। मध्यकालीन यूरोप में इस सिद्धांत को लेकर बहुत खींचातानी हुई। इसका सहारा लेकर चर्च ने अपनी सर्वोपरिता को प्रमाणित करना चाहा और राज्य पर अपने प्रभुत्व का दावा किया। मध्यकाल में यह एक आम धारणा थी कि सभी सत्ताएँ ईश्वरप्रदत्त हैं। मतभेद केवल इस प्रश्न पर था कि शासकों को राजकीय सत्ता ईश्वर से सीधे मिली अथवा चर्च के माध्यम से। समय के प्रवाह के साथ विचारों में भी परिवर्तन आ गया है और अब इस सिद्धांत में लोगों की आस्था नहीं रही।

राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धांत[2]—यद्यपि राजाओं के दैवी अधिकारों का सिद्धांत और राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धांत भिन्न है, तथापि अनेक लेखक इस संबंध में भूल कर बैठते हैं। वस्तुतः राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धांत दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत से संबंधित होने पर भी उससे पूर्णतः भिन्न है। यह सिद्धांत राज्य की उत्पत्ति पर प्रकाश नहीं डालता, अपितु राजसत्ता के स्वरूप

1 Ghoshal, *History of Hindu Political Theories*, पृष्ठ 175, अनन्त सदाशिव अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, प्रयाग, 1959, पृष्ठ 21-23.

2 यह सिद्धांत राज्य की उत्पत्ति से संबंधित नहीं है। तथापि सुविधा की दृष्टि से यहाँ इसका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

पर प्रकाश डालता है। इस सिद्धांत के बीज मध्यकालीन विचारधारा में मौजूद हैं, किंतु इस सिद्धांत का पूर्ण विकास सोलहवीं शताब्दी में हुआ। राबर्ट फिल्मर और इंगलैंड का राजा प्रथम जेम्स इसके प्रमुख प्रतिपादक थे। इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए प्रथम जेम्स ने कहा है कि राजा को शक्ति सीधे ईश्वर से प्राप्त होती है। अतः वह जनता और कानून दोनों से ऊपर है। राजा केवल ईश्वर के अधीन है और उसके आचरण का संबंध केवल उसके अंतःकरण से है। जनता के प्रति उसके कोई कानूनी दायित्व नहीं है। किसी व्यक्ति द्वारा इस प्रश्न का उठाया जाना, कि राजा क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता, नास्तिकता और घोर पाप है। राजा का नैतिक दायित्व केवल ईश्वर के प्रति है; अन्य कोई व्यक्ति राजा के कार्यों के औचित्य के संबंध में प्रश्न नहीं उठा सकता। इस प्रकार, इस सिद्धांत ने राजाओं की निरंकुशता और उनकी असीमित सत्ता का समर्थन किया।

यदि राजा दुष्ट भी हो, तो यह समझना चाहिए कि उसे प्रजा से उसके पाप-कर्मों का प्रायश्चित कराने के लिए भेजा गया है। दुष्ट और पतित राजा के प्रति भी विद्रोह करना, भगवान के प्रति विद्रोह है। डा० गिलिस के अनुसार इस सिद्धांत की चार प्रमुख मान्यताएँ हैं : (1) राजतंत्र दैवी इच्छा के अनुकूल है; (2) वंशानुगत अधिकार अटल हैं; (3) राजा केवल भगवान् के प्रति उत्तरदायी है, और (4) किसी वैधानिक राजा के प्रति विद्रोह करना केवल अपराध ही नहीं अपितु एक पाप है। इस प्रकार राजसत्ता के दैवी अधिकार का यह सिद्धांत, जिसे सर्वप्रथम चर्च के दावों के विरुद्ध प्रयुक्त किया गया था, राजाओं की निरंकुशता का प्रबल समर्थक बन गया। चर्च के विरुद्ध, राजाओं के अधिकारों का समर्थन करते समय लोग यह भूल गए कि एक दिन राजा भी उलट कर इसी अस्त्र को उनके विरुद्ध प्रयोग में ला सकता है, किंतु हुआ यही। जनता में जब राजनीतिक चेतना विकसित होने लगी और लोकतंत्रीय भावना बढ़ी, तो उनको नियंत्रण में रखने के लिए राजाओं द्वारा इस सिद्धांत का उपयोग किया गया। राजनीतिक चेतना के बढ़ने और बुद्धिवाद के विकास का एक परिणाम यह हुआ है कि धर्म के प्रति लोगों की अंध-श्रद्धा नहीं रही, राजनीति को धर्म से पृथक् किया गया और राज्य के लौकिक रूप को प्राथमिकता दी जाने लगी।

निरंकुशता का समर्थक होने के कारण, दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत प्रतिक्रियावाद का पर्यायवाची बन गया और कुछ पिछड़े और अनपढ़ लोगों को छोड़कर शेष का इसमें विश्वास उठ गया। सत्तरहवीं शताब्दी के अंत तक लोग इस सिद्धांत के दोषों और दुष्परिणामों से भलीभाँति परिचित हो गए और वे

राज्य की उत्पत्ति के अन्य किसी सतोषजनक सिद्धांत की खोज में संलग्न हो गए। गिलक्राइस्ट के अनुसार, इस सिद्धांत के प्रति अश्रद्धा होने के दो प्रमुख कारण थे : (1) समाज-संविदा-सिद्धांत का उदय; और (2) चर्च की शक्ति का ह्रास, जिससे हमारा आशय है, धर्म का राज्य से पृथक् किया जाना और जीवन में लौकिक प्रश्नों के महत्त्व को सर्वोपरि माना जाना। यहाँ यह कहना भी उचित प्रतीत होता है कि इस सिद्धांत को सबसे करारी चोट लोकतंत्रवाद की भावना के विकास से मिली।

आलोचना—दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत की कड़ी आलोचना की गई है। पहले, यह सिद्धांत राजनीतिक विकास में मनुष्य के योग की उपेक्षा करता है। इतिहास बताता है कि राज्य स्वतः विकसित नहीं हो गया; उसको विकसित करने में मनुष्य का भी बड़ा हाथ रहा है। विकसित होने के बाद, राज्य के स्वरूप में जो परिवर्तन हुए हैं, वे भी ईश्वरकृत न होकर मनुष्यों द्वारा किए गए हैं। अतएव, मनुष्यों के योग की उपेक्षा नहीं की जा सकती। दूसरे, यह कहना, कि ईश्वर ने केवल राजतंत्र को ही जन्म दिया, युक्तिसंगत नहीं लगता और इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाए कि सबसे पहले राजतंत्र का विकास हुआ, तो भी यह कहना कि केवल राजतंत्र ही ईश्वरीय इच्छा के अनुकूल है, उचित नहीं लगता। यदि ईश्वर की इच्छा केवल एक ही प्रकार का शासन बनाने की होती, तो शासन के अन्य रूप कैसे विकसित और प्रचलित हो पाते। अतः यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के विचार अनर्गल हैं। तीसरे, इस सिद्धांत ने अनुत्तरदायित्व की भावना को प्रोत्साहित किया है। इसका एक उदाहरण चौदहवें लुई का यह वाक्य है कि 'मैं ही राज्य हूँ'। इसके अनुसार, शासक भगवान् की जीवित प्रतिमूर्ति होते हैं। वे धार्मिक रूप से पवित्र और राजनीतिक रूप में सर्वशक्तिमान होते हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार के विचार हमारी लोकतान्त्रिक भावनाओं से मेल नहीं खाते। चौथे, यह सिद्धांत प्रतिक्रियावादी है और अनुदारता एवं निरंकुशता का समर्थक है। साथ ही, इससे जनता के आगे बढ़ने में बाधा पड़ती है। अतः इसे मानव-प्रकृति-विरोधी कहना भी अनुचित न होगा। पाँचवें, इस सिद्धांत ने अयोग्य और भ्रष्ट शासकों को भी भगवान की प्रतिमूर्ति बना कर धर्म और बुद्धि दोनों का अपमान किया है। छठे, यदि यह मान भी लिया जाए कि राजा की नियुक्ति भगवान् द्वारा होती है, तो इन देशों में राजा के स्थान पर निर्वाचित राष्ट्रपति हैं उन की नियुक्ति कौन करता है? उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धांत में अनेक दोष हैं, और विवेकपूर्ण व्यक्तियों के लिए इसे मानना सम्भव नहीं है।

और कुछ समाजशास्त्री भी इसको मान्यता देते हैं।

ओपेनहीमर ने, इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए, मानव समाज की प्रगति के छै सोपानो का वर्णन किया है। राज्य की उत्पत्ति के पूर्व की प्रथम अवस्था मे लगातार लड़ाई-झगडे होते रहते थे। चोरी और मारकाट का बाजार गर्म था, शांति और व्यवस्था का सर्वथा अभाव था। विजेता युद्ध मे हारे हुए जन-समुदाय के पुरुषो को तत्काल मौत के घाट उतार देते थे, किंतु वे युवा स्त्रियो और बच्चो को लूट का माल समझकर अपना लेते थे। सम्भवत इसका कारण यह रहा हो कि बालकों और स्त्रियों से उन्हे कोई विद्रोह का डर न था। द्वितीय अवस्था मे, जनसमूह निश्चित भू भाग पर बस गए और उन्होने कृषि-कार्य अपना लिया। ये कृषि समाज शिकार और चारागाह पर निर्भर रहने वाले जनसमुदायो से लडते रहते थे और इन्हें मार भगाने का प्रयत्न करते थे। विजित लोगो ने विजेताओ के विरुद्ध बार-बार विद्रोह करने के प्रयत्न किए किंतु उन्हे इसमे बहुत अधिक सफलता नही मिली। अतएव उन्होंने संघर्ष करना छोड दिया। विजेताओ ने भी यह अनुभव किया कि विजित शत्रुओ को मौत के घाट उतार देने से उन्हें कोई लाभ नही होता। धीरे धीरे उन्हे अनुभव हुआ कि इन्हे दास बनाकर रखने मे अधिक लाभ है। इस प्रकार 'मनुष्यों द्वारा मनुष्य के शोषण' का सूत्रपात हुआ। तीसरी अवस्था मे, युद्ध मे हारे हुए व्यक्ति विजेताओ को अपने उत्पादन का एक बडा भाग देने लगे और बदले मे, विजेता नए आक्रमणों से उनकी रक्षा करने लगे। इस प्रकार के पारस्परिक सहयोग से दोनों को लाभ हुआ और दोनों मे एक कामचलाऊ मेल हो गया, जिसने आगे चलकर उनके सम्मिश्रण की सम्भावना उत्पन्न कर दी। चौथी अवस्था मे, साथ-साथ रहने के कारण ये लोग मिलकर बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा करने लगे, इस प्रकार, सामान्य आवश्यकताओ, कठिनाइयो, सुख-दुख और हार जीत ने धीरे धीरे उन्हे एकता के सूत्र मे बांध दिया। पाँचवी अवस्था मे उन्हे इस बात की आवश्यकता का अनुभव हुआ कि आपसी लड़ाई-झगड़ों को शांतिपूर्ण ढग से सुलझाया जाय। अतएव जब एक गाँव और दूसरे गाँव मे झगडे होते थे अथवा एक बस्ती और दूसरी बस्ती मे मतमुटाव हो जाता था, तो उसे निपटाने के लिए वे पच चुनने लगे। व्यक्तिगत झगडों को सुलझाने के लिए विजेताओ के नेता ने अपने सहयोगियो को नियुक्त कर दिया और इस प्रकार सगठित सरकार के प्राथमिक चिन्ह दृष्टिगत हुए। अतिम अवस्था मे, सगठित सरकार पूरी तरह स्थापित हो गई। सैनिक नेता राजा बन गए और उसके सहयोगी मन्त्रि-परिषद् के सदस्य। राजा मामलों को सुनता था, अपराधियों को दण्ड देता था और आज्ञाएँ जारी करता था। इस प्रकार, शांति और व्यवस्था पूर्ण रूप से स्थापित हो गयी और लोगो मे अनु-

शासन और आज्ञापालन की भावनाओ ने जड़े पकड़ ली, जिसके फलस्वरूप राज्य का जन्म हुआ।

विभिन्न धर्म-ग्रंथो मे और प्राचीन रचनाओ मे इस सिद्धात के समर्थन में बातें मिलती हैं। मध्यकालीन यूरोप मे, चर्च की महत्ता पर बल देने के लिए इस विचार को प्रचारित किया कि राज्य 'शक्ति' पर आधारित है और उसका जन्म, मनुष्यो को उनके पापो और दुष्कर्मो से बचाने के लिए दैवी आदेश से हुआ है। आधुनिक यूरोप मे मावयावेली और हॉब्स आदि लेखको ने इस सिद्धात का समर्थन किया। उन्नीसवी शताब्दी मे, स्पेंसर जैसे व्यक्तिवादियो ने भी अपने विचारो के समर्थन करने के लिए इसका सहारा लिया। उसका कहना था कि प्रकृति का यह नियम है कि शक्तिशाली जीव निर्बल जीवो का विध्वस करते हैं। अतएव मानव समाज में भी हमे व्यक्तिवादी सिद्धातो के आधार पर कार्य करना चाहिए जिससे शक्तिशाली और योग्य व्यक्तियो को प्रोत्साहन मिले और वे अपने व्यक्तिगत विकास द्वारा समाज को भी उन्नत बनाएँ। समाजवाद और साम्य-वाद को मानने वाले अनेक विद्वानों ने भी इस सिद्धात का समर्थन दूसरे रूप मे किया है। उनका कहना है कि राज्य बल प्रयोग पर आधारित है और वह बल-वान वर्गों द्वारा शक्तिहीन जनसमुदायो के शोषण से बना है। इस प्रकार, सर-कार शोषित वर्गों को अनुशासन मे रखने वाली शोषकों की एक कार्यकारिणी समिति है। इनके अतिरिक्त, निरकुशता और अधिनायक तत्र मे विश्वास रखने-वाले विचारक भी 'शक्ति' को राज्य का आधार मानते हैं। ऐसे चिंतको मे ट्री-टश्के और नीत्से प्रमुख हैं। अराजकतावादी दार्शनिक भी वर्तमान राज्य को बलप्रयोग पर आधारित बताते हैं। उनके अनुसार राज्य निहित स्वार्थों का हित-साधन करने वाला एक उपकरण है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ इसका उदय हुआ और उसी की रक्षा में यह लगा रहता है। धर्म के ढकोसले भी इन्ही स्वार्थों की रक्षा के लिए बनाए गए हैं। अत राज्य, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म, ये तीनो ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मार्ग मे बाधक हैं और जब तक इन्हे दूर नही किया जाएगा, व्यक्तियों को सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त नही होगी।

आलोचना—अनेक विद्वानो ने इस सिद्धात की कड़ी आलोचना की है। सुक़-रात और प्लेटो ने इसका विरोध करते हुए राज्य को 'अच्छे जीवन प्राप्ति का एक साधन' बताया। आधुनिक काल मे लॉक और रूसो जैसे विचारको ने इसकी कड़ी आलोचना करते हुए कहा कि 'शक्ति' लोगो को आज्ञापालन के लिए विवश तो कर सकती है, किंतु उनमे राज्य और शासन के प्रति अनुराग उत्पन्न नही कर सकती। यही नही, जो शासन केवल 'शक्ति' पर आधारित होगा उसे अधिक शक्तिशाली बल द्वारा बदला भी जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि

केवल पशुबल के आधार पर राज्य को सुदृढ़ नहीं बनाया जा सकता। वस्तुतः राज्य का स्थायित्व उसके प्रति लोगों की अनुरक्ति पर निर्भर है, और जनसाधारण की राज्य के प्रति अनुरक्ति तभी हो सकती है जब राज्य लोकहित का लक्ष्य अपने सम्मुख रखे तथा जनसमुदाय की कामनाओं और आकांक्षाओं को पूरा करने का प्रयत्न करे। जिस राज्य में लोकमत का समुचित आदर न होगा उसकी नीवें सदैव खोखली बनी रहेंगी।

इस सिद्धांत का खंडन करने वाले विद्वानों में सुप्रसिद्ध दार्शनिक अराजकतावादी क्रोपाटकिन भी हैं। उसने स्पेंसर जैसे व्यक्तिवादियों की कड़ी आलोचना की। उसके अनुसार, युद्ध और संघर्ष ने मानव उत्थान में कुछ सहायता अवश्य दी है, किंतु बिना आंतरिक सहयोग के न युद्ध हो सकते हैं और न संघर्ष। सफलतापूर्वक युद्ध करने के लिए जनसमुदायों में आंतरिक एकता और सहयोग अपेक्षित है। यही नहीं, विजय प्राप्त करने के पश्चात् भी शक्ति की अपेक्षा मेल-जोल और समझौते की प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य के विकास में अधिक सहायक होती हैं। रूसो और ग्रीन जैसे आदर्शवादियों ने बल-प्रयोग के सिद्धांत की आलोचना इस आधार पर की है कि शक्ति के ऊपर आधारित शासन का कोई औचित्य नहीं होता। कोई भी अधिक बलशाली जनसमूह उसे पलटकर नई सरकार बनाने के लिए स्वतंत्र होता है। अतएव, इस सिद्धांत के अनुसार एक स्थायी सरकार का बनना असम्भव हो जाता है। अर्वाचीन लेखकों ने भी इस सिद्धांत का विरोध करते हुए कहा है कि इससे निर्बल व्यक्तियों, शोषित वर्गों, अल्पसंख्यकों आदि के प्रति लापरवाही दिखाए जाने की आशंका रहती है। यही नहीं, इससे निरंकुशता को प्रोत्साहन मिलता है, लोकमत का अनादर होता है, लोककल्याण की भावना की उपेक्षा होती है और अंतर्राष्ट्रीय जगत् में पशुबल का बोलबाला हो जाता है[1]। अतः राज्य की उत्पत्ति और उसके आधार की व्याख्या करने वाले इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सत्य का अंश—इन आलोचनाओं के रहते हुए भी, इस सिद्धांत में सत्य के कुछ अंश हैं। ब्लुंत्शली के अनुसार यह सिद्धांत राज्य के उदय और उसके विकास में बलप्रयोग के महत्त्वपूर्ण योग की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। साथ ही, यह हमें बताता है कि राज्य के लिए शक्ति का होना नितांत आवश्यक है जिसका उपयोग आज्ञाओं और कानूनों को मनवाने के लिए किया जा सकता है। है। फिर भी, हम रूसो के इस मत की उपेक्षा नहीं कर सकते कि शक्ति के सम्मुख व्यक्ति आज्ञापालन के लिए विवश हो सकता है, किंतु शक्ति पर स्थापित किसी

1 तुलना कीजिए Francis W. Coker, *Recent Political Thought*, न्यूयार्क, 1934, पृष्ठ 439.

सत्ता को न तो स्थायी रखा जा सकता और न उसका कोई नैतिक आधार ही होता है।

3. समाज-संविदा-सिद्धात

समाज-सविदा-सिद्वात (Social Contract Theory) का राजनीति-दर्शन मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह सिद्धात पूर्णत कल्पना पर आश्रित है। इसका प्रचार ऐसे समय हुआ जब समाजशास्त्र, मानव शास्त्र, आदिकालीन इतिहास आदि विषय विकसित नही हुए थे और मनुष्य की आदिम अवस्था के सबध मे हमारा ज्ञान अधूरा था। इस सिद्धात के अनुसार, मानव जीवन मे एक समय ऐसा था जब मनुष्य विना राज्य के रहते थे। इस दशा से तग आकर उन्होने यह सोचा कि किसी प्रकार मिलजुल कर, सविदा द्वारा, एक ऐसी व्यवस्था बनाई जाय जिसमे राजसत्ता हो, शासन हो और अनुशासन भी।

यह सिद्धात बहुत पुराना है। महाभारत के शातिपर्व और कौटिल्य के 'अर्थ-शास्त्र' म भी इसका उल्लेख है। प्राचीन यूनान मे कुछ सोफिस्ट विचारक, आज से लगभग चौबीस सौ वर्ष पूर्व, अविकसित रूप म इस सिद्धात को मानते थे। उनका मत था कि राज्य प्राकृतिक नही, अपितु मनुष्यकृत है और मनुष्यो ने मिलजुल कर इसका निर्माण किया है। बाद म भी, यह सिद्धात किसी न किसी रूप मे प्रचलित रहा। मध्यकालीन सामतवादी समाज मे सविदा के कुछ ऐसे तत्त्व वर्तमान थे जिन्होने इस सिद्धात मे एक नया विश्वास उत्पन्न कर दिया। किंतु आधुनिक रूप मे इस सिद्धात का विकास उत्तर मध्यकाल मे हुआ जब राज-नीतिशास्त्री यह मानने लगे कि किसी न किसी रूप म राज्य और सरकार दोनो ही सविदा पर आधारित हैं। सोलहवी शताब्दी मे इस सिद्धात का उपयोग चर्च के समर्थकों ने राजाओ की असीमित सत्ता का विरोध करने के लिए किया। 'सविदा' को शासन का आधार बताकर वे यह माग करते थे कि यदि राजा सच्चे धर्म का समर्थन नही करता अथवा चर्च (पोप) की उपेक्षा करता है तो उसकी प्रजा को यह अधिकार होना चाहिए कि वे ऐसे राजा की आज्ञाओ को न मानें। इस सिद्धात का पूर्ण विकास सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियो मे हुआ जब हॉब्स, स्पिनोजा, लॉक, रूसो आदि लेखको ने उसका समर्थन करते हुए अपने मतो का प्रतिपादन किया। तत्पश्चात् विचारको का इससे विश्वास हटता गया।

इस सिद्धात की रूपरेखा—इस सिद्धात के सबध मे इसके समर्थको मे अनेक मतभेद हैं। उनके विचारो की विस्तारपूर्वक व्याख्या करने से पूर्व यह उचित प्रतीत होता है कि हम यह जान ले कि इस सिद्धात की क्या प्रमुख स्थापनाएँ हैं। इसके समर्थक एकमत है कि एक समय ऐसा था जब मनुष्य राज्य के बिना रहता

था। मनुष्यों की इस अवस्था को उन्होंने 'प्राकृतिक अवस्था' (state of nature) कहा है। इस अवस्था के संबंध में उनके विचार भिन्न हैं। एक ओर हॉब्स जैसे विद्वान् इसे बहुत बुरी अवस्था बताते हैं जिसमें मनुष्यों का जीवन भी सुरक्षित न था, तो दूसरी ओर लाक के अनुसार यह अवस्था 'सुख, शांति और पारस्परिक आदर' पर निर्भर थी। इस संबंध में विभिन्न विचारकों में मतभेद होते हुए भी, सभी इस बात से सहमत हैं कि किन्हीं कठिनाइयों के कारण मनुष्यों ने इस अवस्था का परित्याग कर देना चाहा अर्थात् उनके मन में दशा-परिवर्तन की इच्छा हुई। इस कामना की पूर्ति का साधन उन्हें एक ही दिखाई दिया अर्थात् मिलकर एक संविदा के लिए सहमत होना। इस संविदा के स्वरूप, शर्तों और परिणामों के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं, तथापि वे मानते हैं कि इसी के आधार पर राज्य का जन्म हुआ। इस नवनिर्मित राज्य के स्वरूप और उसकी सत्ता के संबंध में भी मतैक्य नहीं है। इस राज्य में व्यक्तियों की दशा के संबंध में भी उनके विचार भिन्न हैं। अतः यह स्पष्ट है कि इस सिद्धांत के विस्तृत विवरण में अनेक विविधताएँ हैं, जिनका मूल कारण निश्चित ऐतिहासिक तत्त्वों का अभाव है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि 'सामाजिक संविदा' एक ऐसी 'सुनम्य कल्पना' (plastic fiction) है जिसे लेखकों ने इच्छानुसार मोड़कर अपने विचारों के अनुकूल ढाल लिया है।

थॉमस हॉब्स (1588–1679)

इस अंग्रेज विद्वान का जन्म उस वर्ष हुआ जब स्पेन के 'अजेय' जलबेड़े के समाचार से इंगलैंड-निवासी बहुत भयभीत हो रहे थे। बड़े होने पर हाब्स ने गृह-युद्ध की विभीषिका का अनुभव किया। इस प्रकार की घटनाओं के कारण हॉब्स के मन पर भय का एक आतंक-सा छा गया। अतः एक टीकाकार ने हॉब्स को 'भय से आतंकित दार्शनिक' कह दिया है। गृह-युद्ध (1641–1649 ई०) से उत्पन्न अराजकता और अत्याचारों को देख कर उसने यह अनुभव किया कि शक्तिशाली शासन के अभाव में जीवन अरक्षित बन जाता है। वैसे भी उसका झुकाव राजतंत्र की ओर था, यद्यपि अपने प्रमुख ग्रंथ 'लेवियाथन' (1651 ई०) में वह किसी भी शक्तिशाली सरकार का समर्थन करने के लिए तत्पर प्रतीत होता है। हाब्स की कुशलता इस बात में है कि राजतंत्र के समर्थन के लिए उसने 'राजाओं के दैवी अधिकार' नामक मत का सहारा नहीं लिया क्योंकि उसके प्रति लोगों में अश्रद्धा उत्पन्न हो गयी थी। अतएव उसने सामाजिक संविदा के उस अस्त्र को अपनाया जिसको अभी तक राजाओं की सत्ता के विरोधी उपयोग में ला रहे थे। इस प्रकार उसने राजतंत्र-विरोधी अस्त्र का उसी के समर्थन

मे सफल प्रयोग किया।

हॉब्स[1] के अनुसार मनुष्य एक आत्मकेंद्रित प्राणी है। जिन वस्तुओ के सम्पर्क में आकर उसे सुख का अनुभव होता है, उन्हे पाने की वह इच्छा करता है और जो वस्तुएँ उसे दुखदायी लगती है, उनसे वह दूर रहना चाहता है। सुख के प्रति उसकी कामना असीम है और उसे यह अनुभव होता है कि शक्ति द्वारा सुख प्राप्त किया जा सकता है। किंतु सुख-प्राप्ति के मार्ग मे एक बडी बाधा यह है कि उसी के समान अन्य व्यक्ति भी सुख की खोज मे सलग्न हैं और ये सभी व्यक्ति लगभग एक-दूसरे के समान हैं। यदि किसी मे कुछ शारीरिक बल अधिक है तो किसी मे विवेक अथवा चालाकी की अधिकता है जिसका समुचित उपयोग कर वह अपने से शक्तिशाली व्यक्ति की बराबरी कर सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सब मिलाकर व्यक्तियो मे एक 'प्राकृतिक समानता' है अर्थात् *न कोई किसी से कम है और न किसी से अधिक*। फलस्वरूप सभी को यह आशा बनी रहती है कि सुख की प्राप्ति हो सकती है। किंतु यह आशा फलीभूत नही हो पाती क्योकि सभी व्यक्ति सुखो के उपकरणो की खोज मे समान रूप से सलग्न हैं। इसके परिणामस्वरूप आपस मे स्पर्धा होती है जिसके कारण अरक्षा की भावना उत्पन्न हो जाती है। सब एक दूसरे से डरते है, फिर भी, वे एक दूसरे से लडते हैं और उनमे से कोई भी किसी का बडप्पन स्वीकार नही करता। जीवन मे अरक्षा के तीन प्रमुख कारण है स्पर्धा, आत्मविश्वास की कमी और यश की कामना। परिणामस्वरूप, सघर्ष की सभावना रहती है और मनुष्य का एकाकी जीवन 'हीन, घृणास्पद, जगली और अल्पकालीन' बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के विरुद्ध होता है। अच्छे बुरे और न्याय-अन्याय की कोई पहचान नही होती। *'मेरे' और 'तेरे' का कोई प्रश्न नही उठता, क्योकि केवल शक्ति के आधार* पर वस्तुओ को सुरक्षित रखा जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती है। ऐसी दशा मे शक्ति और कपट, ये ही दो प्रमुख गुण माने जाते है। सत्ता के अभाव मे लडाई को सभावना बनी रहती है और इस लडाई मे कोई किसी का साथी नही होता। फलस्वरूप, जीवन मे न शांति होती है न सुरक्षा, न कोई कला होती है और न उद्योग, न कोई साहित्य होता है और न सस्कृति। प्रत्येक व्यक्ति को यह डर लगा रहता है कि न जाने कब, कौन उसके प्राण ले ले। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यो की दशा असहनीय बन जाती है।

---

1 हॉब्स के मत को प्रतिपादित करने वाली सर्वोत्तम पुस्तक है, ओकशॉट द्वारा सम्पादित *Leviathan* (लैवियाथन), ऑक्सफोर्ड। देखिए भूमिका, पृष्ठ 30 65.

प्राकृतिक अवस्था की इस असहनीय स्थिति से कैसे छुटकारा पाया जाए ? हॉब्स के अनुसार मनुष्यों में कुछ ऐसे भावावेश भी हैं जो उसे शांति की ओर प्रेरित करते हैं। उदाहरण के लिए उसे मृत्यु से भय लगता है, उसे जीवन में उपलब्ध वस्तुओं से प्यार है और यह आशा भी है कि वह उन्हें प्राप्त कर सकेगा। यही नहीं, मनुष्य का विवेक उसे समझाता है कि ऐसी दशा बना रहने देना वांछनीय नहीं है। उसका विवेक शांतिपूर्ण जीवन सम्भव बनाने के लिए कुछ 'आचरण के नियम' भी सुझाता है। इन नियमों को हॉब्स ने 'प्राकृतिक नियमों' की संज्ञा दी है। उसके अनुसार ये नियम शाश्वत और अपरिवर्तनशील हैं। इन नियमों का सार यह है कि जैसे भी सम्भव हो अपने जीवन की रक्षा करो और ऐसे कोई कार्य न करो जिनमें प्राण-हानि का भय हो। हाब्स ने ऐसे अनेक नियमों की चर्चा की है, किन्तु इनमें तीन नियम प्रमुख हैं (1) शांति की खोज में रहो और शांति बनाए रखो, किन्तु यदि ऐसा सम्भव न हो तो जैसे भी बने अपनी जीवन रक्षा करो, (2) जैसा आप चाहते हैं कि दूसरे आपके प्रति व्यवहार करें वैसा ही व्यवहार स्वयं दूसरों के प्रति करो, और इस नियम के अनुसार, शांति बनाए रखने के लिए, जितना त्याग दूसरे व्यक्ति करने को तत्पर हों आप स्वयं भी उतना त्याग करने के लिए तैयार रहो, और (3) मनुष्य जो प्रसंविदा (covenants) बनाते हैं उसका पालन करते हैं। इन नियमों की चर्चा करते समय हाब्स यह स्पष्ट कर देता है कि व्यक्ति कोई ऐसी प्रसंविदा नहीं बना सकता जिसकी शर्त यह हो कि वह आत्मरक्षा नहीं करेगा क्योंकि ऐसी प्रसंविदा अवैध होगी।

भावावेशों में रहने वाले मनुष्यों के लिए इन विवेकजन्य नियमों के अनुसार आचरण करना सरल नहीं है। वैसे भी, उसका कहना है कि कोरी बातों से भावावेशों को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। यदि विवेक की सहायता देने के लिए 'शक्ति' भी साथ में हो तो काम चल सकता है। ऐसी शक्ति सामाजिक संविदा द्वारा उत्पन्न की जा सकती है। यदि सभी व्यक्ति विवेकपूर्ण आचरण करें, इन विवेकजन्य नियमों को मानें और अपनी सुरक्षा के लिए सामाजिक संविदा द्वारा, अपनी प्राकृतिक शक्तियों को एक सामान्य व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को सौंपने को उद्यत हो जाएँ, तो समस्या हल हो सकती है। इससे एक बृहद् सर्वोच्च सत्ता का जन्म होगा जिसकी सहायता से इस संविदा को लागू किया जा सकेगा और शांति तथा सुरक्षा स्थापित हो सकेगी। हाब्स के अनुसार, अपनी प्राकृतिक शक्ति को परित्याग करते हुए प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से यह कहता है : "मैं अपने ऊपर स्वयं शासन करने के अधिकार को इस व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समुदाय को इस शर्त पर देता हूँ कि आप सब भी अपने अधिकारों को उसे सौंप दें और जिस प्रकार मैं इसे प्राधिकार दे रहा हूँ उसी प्रकार से भी इसे सभी कार्यों के लिए

प्राधिकार दे दें'। हॉब्स के अनुसार, (1) व्यक्ति जब उपर्युक्त सामाजिक सविदा करते है तब उससे उत्पन्न सत्ताधारी के साथ कोई शर्त नही होती। वस्तुतः जिस व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह को सत्ता सौपी जाती है वह इस सविदा मे भाग नही लेता। वह केवल सत्ता प्राप्त करता है, उसके बदले म किसी प्रकार वचनबद्ध नही होता। (2) एक बार अपनी प्राकृतिक शक्ति को हस्तातरित करने के पश्चात् वे इस सविदा का न भग कर सकते हैं और न अपने अधिकार को वापस ही ले सकते हैं। (3) यह नवनिर्मित सत्ता इन व्यक्तियो के प्रति उत्तरदायी नही होती। अत वे इस सत्ता के सबध मे कोई प्रश्न नही उठा सकते, क्योकि सविदा करते समय उन्होने यह स्वय मान लिया है कि भविष्य म सत्ताधारी व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह जो कार्य करगा वे उनके द्वारा किए हुए कार्य माने जाएँगे। अतएव न तो इस सत्ता का विरोध किया जा सकता है और न उसकी आज्ञा का उल्लघन ही। ऐसा करना सविदा के विरुद्ध होगा जिसके परिणामस्वरूप ऐसा व्यक्ति वापस 'प्राकृतिक अवस्था' म पहुँच जाएगा जहाँ कोई भी व्यक्ति उसके विरुद्ध कुछ भी कर सकता है। अतएव उसको कोई सुरक्षा प्राप्त न होगी, और सरकार अथवा अन्य कोई व्यक्ति जब चाहे उसके प्राण ले सकेगा। इस सविदा का परिणाम यह होता है कि अभी तक बिखरे हुए एकाकी व्यक्ति एक राज्य म सगठित हो जाते हैं। हॉब्स के अनुसार इस सविदा की वैधता केवल सविदा की शर्तों पर ही निर्भर नही है। उस मनवाने के लिए अब एक वृहत्काय राजनीतिक सत्ता (Leviathan) भी प्रस्तुत है, और जो व्यक्ति अपने वचनो को भग कर इस सविदा को तोडने अथवा राज्य की आज्ञा का उल्लघन करने का साहस करेगा, उसे इसके लिए दण्ड भुगतने होगे।

इस सविदा के बनने से जो राज्य बनता है उसमे एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता (sovereign power) होती है। हॉब्स के अनुसार, बिना ऐसी सत्ता के राज्य नही बन सकता। यह सत्ता सर्वोच्च भी नही, असीमित भी है। क्योकि सत्ताधारी स्वय कानूनो का निर्माण करने वाला अर्थात् उनका रचयिता होता है, अतएव कोई राजकीय कानून उसकी सत्ता और अधिकारो को सीमित नही कर सकते। क्योकि राज्य के बनने के पूर्व नैतिकता की कोई भावना नही होती और सविदा का पालन ही न्याय है, अतएव नैतिक रूप से राज्यसत्ता असीमित है। सत्ताधारी स्वय नैतिकता को निर्धारित करता है और सविदा के अनुसार आचरण ही सच्ची नैतिकता है, अतएव नैतिकता क आधार पर राज्यसत्ता का कभी विरोध नही किया जा सकता। यही नही, हॉब्स का मत है कि प्राकृतिक नियम शास्वत तथा अपरिवर्तनशील हैं, अर्थात् राज्य के बन जाने पर भी व पूर्ववत् व्याप्त रहते है। प्रश्न रह जाता है केवल इन नियमो की व्याख्या

करने का ; और हॉब्स के अनुसार केवल नवनिर्मित सत्ता द्वारा दी गई व्याख्या ही सर्वोपरि एवं अधिकृत है। इस प्रकार, हॉब्स के अनुसार राजकीय सत्ता द्वारा कभी कोई कानूनी अथवा नैतिक अपराध नहीं हो सकता। उसके कथनानुसार, बिना राजाज्ञा के समाज में कोई दल अथवा समूह नहीं रह सकते। उसकी धारणा है कि इस प्रकार के समूह प्रायः राज्य रूपी जीव की अंतड़ियों में परजीवी कीड़ों के समान रहकर उसे निर्बल करते रहते हैं। यही नहीं, हॉब्स का मत है कि यदि समाज में तरह-तरह के विचार और सिद्धांतों का खुला प्रचार होता रहे, तो इसके अनेक दुष्परिणाम हो सकते हैं। अतएव वह विचारों और विश्वासों के संगठन पर नियंत्रण करने का अधिकार भी सत्ता को दे देता है अर्थात् यदि सर्वोपरि सत्ता यह समझे कि कुछ संगठित विचार और मत ऐसे हैं जो शांति और व्यवस्था में और सत्ता के उचित प्रयोग में बाधक हो सकते हैं, तो वह उन पर रोक लगा सकती है।

धर्म के क्षेत्र में भी हॉब्स इस सत्ता को विशेषाधिकार देता है। उसके अनुसार धर्म के संबंध में अनेक आस्थाएँ हो सकती हैं और धार्मिक मतभेदों के कारण राजकीय सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। अतएव, उसके अनुसार सत्ताधारी को राज्य में स्थित संगठित चर्च का प्रधान होना चाहिए। इस प्रकार हॉब्स मार्सग्लियो से भी आगे बढ़कर चर्च को राज्य के सर्वथा अधीन कर देता है। उसके अनुसार चर्च-व्यवस्था का प्रयोग राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होना चाहिए। उदाहरण के लिए, वह कहता है कि 'दैवी नियमों' की व्याख्या के संबंध में मतभेदों का होना सम्भव है, अतएव अनुशासन एवं सुरक्षा की दृष्टि से सर्वोच्च प्रभुसत्ताधारी को ही इनकी अधिकृत व्याख्या करने का अधिकार होना चाहिए। उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि, हॉब्स के मतानुसार, राज्य की संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न सत्ता पर कोई कानूनी, नैतिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रतिबंध नहीं लगाए जा सकते। इस प्रकार, हॉब्स प्रभुसत्ता को उन समस्त बंधनों से छुटकारा दिला देता है जिन्हें बोदाँ ने छोड़ रखा था, अर्थात् हॉब्स ने प्रभुसत्ता को निरंकुश बना दिया है।

इसका आशय यह नहीं है कि हॉब्स के सभ्य समाज में व्यक्ति अधिकारों से वंचित रहेगा अथवा उसे कोई स्वतंत्रता न होगी। हॉब्स के अनुसार जहाँ कानून की रोक नहीं है, वहाँ व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र है, और क्योंकि राज्य और कानून का क्षेत्र उस समय अत्यंत सीमित था, अतएव व्यक्तिगत स्वतंत्रता का दायरा भी यथेष्ट हो जाता है। यही नहीं, हॉब्स बार-बार इस बात को दुहराता है कि व्यक्ति का एक प्राकृतिक अधिकार ऐसा है जिसे वह कभी समर्पण नहीं कर सकता, अर्थात् 'जीवन का अधिकार'। इस संबंध में हॉब्स यहाँ

तक आगे बढ जाता है कि यदि राज्य ऐसी आज्ञा दे जिसके पालन से जीवन-संकट अथवा शारीरिक यातना का भय हो, तो व्यक्ति ऐसी राजाज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य नहीं है, यद्यपि इसके दुष्परिणाम उसे अवश्य भुगतने पड़ेंगे। इसी प्रकार यद्यपि हॉब्स व्यक्ति को विद्रोह करने की आज्ञा नहीं देता, तथापि वह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि यदि किन्हीं कारणों से सत्ताधारी इतना निर्बल हो जाए कि वह व्यक्तियों की आत्मरक्षा भी न कर सके और एक समानांतर सरकार बन गई हो, तो व्यक्ति इस बात के लिए स्वतंत्र होंगे कि वह अपनी राज्यभक्ति को हस्तांतरित कर दे। हॉब्स को इस बात की तनिक भी चिंता नहीं है कि विरोधी सरकार नियमित (वैध) है अथवा नहीं। वह किसी भी ऐसी सरकार का समर्थन करने के लिए सदैव तैयार है जो शांति और व्यवस्था को बनाए रखे और लोगों को जीवन-सुरक्षा की गारंटी दे सके।

आलोचना—आलोचकों ने हाब्स के विचारों का कड़ा विरोध किया है। उनके अनुसार हॉब्स के सिद्धान्त न केवल इतिहास-विरुद्ध है, अपितु मनोविज्ञान के विरुद्ध भी है और व्यावहारिक रूप मे सुविधाजनक भी नहीं हैं। यही नहीं, उनका मत है कि हाब्स के विचारों मे इतना अंतर्विरोध है और वे इतने घृणास्पद हैं कि उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। संक्षेप मे, उसकी राज्य-संबंधी व्याख्या पूर्णत असंतोषजनक है।

मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का जो चित्रण उसने किया है वह इतिहास और मनोविज्ञान दोनों के प्रतिकूल है। उसका यह विचार, कि मनुष्य प्राकृतिक अवस्था मे एकाकी जीवन व्यतीत करना पसंद करता था और उस समय न समाज था, न भले-बुरे की पहचान और न पारस्परिक सहयोग की भावना, किसी साक्ष्य पर आधारित नहीं है। सब मिलाकर हम उसके द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था को असामाजिक और अराजनीतिक कह सकते है। किंतु प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार का असामाजिक व्यक्ति, जो बराबर एक-दूसरे से लडता रहता है और जिसके मन मे दूसरों के लिए कोई आदर-भाव नहीं है, यकायक संविदा द्वारा राज्य बनाने की कल्पना कर सकता है? अर्थात् क्या मानव स्वभाव का इस प्रकार एकदम बदल जाना सम्भव है? ऐतिहासिक तथ्य यह है कि व्यक्ति कभी इस प्रकार अकेले नहीं रहे, वे किसी न किसी प्रकार के समाज मे रहते आए है। यदि हॉब्स का 'प्राकृतिक व्यक्ति' वस्तुत जंगली था, तो क्या वह कभी भी समाज और राज्य बना सकता था? दूसरी ओर, यदि उसमे इतना विवेक रह गया था कि सोच-समझकर और आपस मे मिलकर संविदा बनाए, तो क्या वह कभी मार-काट पर उतारू हो सकता था? स्पष्ट है कि हॉब्स ने जो चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया है वह आदिम-कालीन

पुरुष के संबंध में हमारे ऐतिहासिक ज्ञान से मेल नहीं खाता। यही नहीं हॉब्स ने इस अवस्था में मनुष्य के जो दो विशिष्ट गुण बतलाए हैं—शक्ति और कपट वे मनुष्यों की प्राकृतिक अवस्था में कभी एक साथ नहीं हो सकते। वे केवल सभ्य समाज की अवनति और ह्रास की दशा में एक-साथ हो सकते हैं। सम्भवतः हाब्स ने समकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसके दोषों को विकृत रूप देकर *प्राकृतिक अवस्था का चित्रण कर दिया है जो निश्चित* ही अनतिहासिक है।

प्रकृति के नियमों के संबंध में उसकी धारणा भी युक्तिसंगत नहीं है। उसके कथनानुसार ये नियम विवेक पर आधारित हैं और आचरण के ऐसे नियमों के रूप में हैं जो सुखी जीवन को सम्भव बनाते हैं। हाब्स स्पष्ट कहता है *कि इस अवस्था में न नैतिकता होती है और न कानून। किंतु उसका तीसरा* नियम' उसके बताये हुए आधारों के प्रतिकूल लगता है। यदि हाब्स के विचार तर्कसंगत होते तो इस नियम के स्थान पर वह यह कहता कि मनुष्य जिन प्रसंविदा को बनाते हैं वे उसी अवस्था में उसका पालन करेंगे जब ऐसा करने में उन्हें सुख प्राप्ति में सुविधा होगी। किंतु ऐसा न कहकर हाब्स बताता है कि मनुष्य जो प्रसंविदा बनाते हैं वे उसका पालन करते हैं। इस नियम का विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह विवेक पर आधारित न होकर नैतिकता पर आधारित है। इस प्रकार हाब्स जिस भावना (नैतिकता) की उपस्थिति से इनकार कर चुका है उसी को चुपचाप प्राकृतिक नियम के रूप में लाकर खड़ा कर देता है। सम्भवतः वह अनुभव करता है कि बिना इस नैतिक नियम के केवल पशुबल पर राज्य को आधारित नहीं किया जा सकता।

संविदा के स्वरूप के संबंध में भी हॉब्स के विचार तर्कसंगत नहीं है। एक ओर वह राज्य की उत्पत्ति संविदा पर आधारित करता है और दूसरी ओर *वह कहता है कि बिना शक्ति के संविदा कोरी बकवास है और खाली बातों से* मनुष्यों के भावावेगों पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हाब्स शक्ति सिद्धांत और संविदा सिद्धांत दोनों का पूरा लाभ उठाना चाहता है। यही नहीं हाब्स के विचारों से यह स्पष्ट है कि उसके समाज-संबंधी विचार भी भ्रमपूर्ण हैं और वस्तुतः संविदा बनने के पश्चात भी हम एक समाज के दर्शन नहीं पाते। समाज से हमारा अभिप्राय यह होता है कि लोगों में पारस्परिक सहयोग हो और वे विभिन्न संबंधों के तानेबाने से बंधे हुए हों। किंतु हाब्स के सभ्य समाज में व्यक्तियों के एक साथ रहने का एकमात्र आधार है अपने जीवन की सुरक्षा के लिए प्रभुसत्ताधारी के प्रति उनकी आज्ञापालन की भावना। हाब्स ने इस बात का कहीं संकेत नहीं

मिलता कि इन व्यक्तियो के कोई आपसी सबध भी है । अतएव हॉब्स का राज्य व्यक्तियो का एक समुच्चय-मात्र है ; न तो इसके सदस्यो मे कोई पारस्परिक सामाजिक सबध हैं और न कोई सामान्य भावनाएँ । इस प्रकार हॉब्स का सिद्धात जिस नए राज्य को जन्म देता है, उसमें अन्य समस्त इच्छाओ को वशीभूत करके सत्ताधारी की इच्छा लाद दी जाती है, और इसकी उत्पत्ति के पश्चात् व्यक्तियो का राज्य की गतिविधियो मे कोई भाग नही होता । कहने का अभिप्राय यह है कि सत्ताधारी की इच्छा पूर्णत निरकुश और लोकविरोधी हो सकती है । हॉब्स ने अपने सिद्धात का निरूपण करते समय जीवन-रक्षा के अतिरिक्त व्यक्तियो के अन्य अधिकारो पर कोई ध्यान नही दिया और न उनकी रक्षा के प्रश्न पर विचार किया है । उसने प्रभुसत्ताधारी को केवल राजनीतिक और कानूनी रूप मे ही असीमित नही बना दिया , अपितु नैतिक और धार्मिक क्षेत्र मे भी अधिकृत व्याख्या का अधिकार देकर उसने प्रभुसत्ता पर नैतिक अथवा धार्मिक अकुश लगाए जाने की सम्भावना को नष्ट कर दिया । समूहो, विचारो और मतो के सबध मे उसने प्रभुसत्ता को जो अधिकार दिए हैं वे उसकी अनुदार प्रवृत्ति के परिचायक हैं और निरकुशता को खुला प्रोत्साहन देते हैं । उपर्युक्त कारणो से हॉब्स की दार्शनिक महानता को स्वीकार करते हुए भी, हम उसके विचारो और निष्कर्षो का आदर नही कर सकते ।

जान लॉक (1632-1704 ई०)

लॉक दूसरा अग्रेज विद्वान् है जिसने इस सविदा-सिद्धात का प्रतिपादन किया है । लॉक अपने जीवन काल मे अर्ल ऑफ सैफ्ट्सबरी के निकट सम्पर्क मे आया और ये दोनो एक-दूसरे से अत्यत प्रभावित हुए । अर्ल ऑफ सैफ्ट्सबरी ने बाद मे इगलैंड की ह्विग पार्टी की स्थापना की और वे दोनो इस पार्टी के कार्यों मे सक्रिय रूप से भाग लेते रहे । लॉक के जीवन-काल मे बहुत समय तक राजा और पार्लियामेंट मे सघर्ष चलता रहा । लॉक ने अपनी पुस्तक 'आन सिविल गवर्नमेंट' को 1679 ई० मे लिखना प्रारभ कर दिया था और इसे सन् 1688 ई० की 'रक्तहीन राज्यक्राति' के पूर्व ही लगभग समाप्त कर लिया था , तथापि इसका प्रकाशन क्राति के बाद हुआ । वस्तुत यह पुस्तक इस क्राति का समर्थन करने के लिए नही लिखी गयी थी, यद्यपि इस ग्रथ के विचार इस क्राति के अनुकूल हैं और उसका समर्थन करते हैं । लॉक ने इसे मुख्य रूप मे राबर्ट फिल्मर के दैवी सिद्धात के विरोध मे लिखा था ; तथापि इसकी भाषा और भावो से ऐसा प्रतीत होता है कि हॉब्स के विचारो से वह परिचित था । लास्लैट के मतानुसार, इस बात का कोई प्रमाण नही मिलता कि लॉक ने हॉब्स की पुस्तक, लैवियायन, का विधिवत्

अध्ययन किया था; तथापि यह भ्रान्तिपूर्ण धारणा चल निकली है कि इस ग्रंथ के रचने में लॉक का मुख्य उद्देश्य हॉब्स की आलोचना करना और 'रक्तहीन राज्यक्रांति' का समर्थन था[1]।

लॉक के मतानुसार, व्यक्ति अपनी प्राकृतिक अवस्था मे, अपने साथियों के साथ मिलजुल कर रहना पसद करता था। आवश्यकता की सभी वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध थीं, अतएव प्रतियोगिता अथवा सघर्ष के कोई कारण न थे। मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। सभी व्यक्ति समान माने जाते थे और छोटे-बड़े का कोई विचार न था: स्वतन्त्र होने पर भी वे मनमानी नही कर सकते थे और दूसरों को हानि पहुँचाने की न उन्हें इच्छा थी और न अवसर[2]। सक्षेप मे, प्राकृतिक अवस्था म पूर्ण शाति, मगलकामना, पारस्परिक सहयोग और आदर-भाव का साम्राज्य था। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) थे जिनमे जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारो की उसने विशेष रूप मे चर्चा की है। लॉक के अनुसार ये अधिकार मनुष्यों के व्यक्तित्व के विकास के लिए नितात आवश्यक हैं, और व्यक्ति किसी भी दशा मे इनको हस्तातरित अथवा सीमित नही कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति बिना हस्तक्षेप शारीरिक छेड़छाड़ के जीवन व्यतीत करता था। उसकी स्वतन्त्रता का आदर किया जाता था और उसके परिश्रम की कमाई को सुरक्षित रखा जाता था। नैतिकता की भावना विद्यमान थी और विवेक पर आधारित आचरण के नियम भी थ जिनको लॉक 'प्रकृति के नियम' (Laws of Nature) कहता है। लॉक इन नियमो को शाश्वत और अपरिवर्तनशील मानता है। यद्यपि यह नियम अलिखित और कुछ सीमा तक अस्पष्ट भी थे, तथापि वे सर्वमान्य थे। अन्य व्यक्तियो के अधिकारो का आदर करना सदाचरण का अग माना जाता था। इस प्रकार लॉक के अनुसार मनुष्यों की प्राकृतिक अवस्था अराजनीतिक थी, असामाजिक नहीं।

फिर परिवर्तन की आवश्यकता क्यों हुई? यदि जीवन शातिपूर्ण था और द्वेष, घृणा और हिंसा का नामोनिशान न था, तो इस दशा को परिवर्तित करने की आवश्यकता क्यों आ पड़ी? लॉक के मतानुसार, इसका कारण कुछ असुविधाओं का होना था। सामाजिक होते हुए भी व्यक्ति एकदम पक्षपातहीन नहीं थे। जब किसी व्यक्ति का अपना मामला आ जाता था तो प्राकृतिक

---

1 देखिए *The Second Treatise of Government*, Ed, Thomas P. Peardon, न्यूयार्क, 1952, पृष्ठ 5.

2 देखिए Peter Laslett, *John Locke: Two Treatises of Government*, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 1960, पृष्ठ 47, यह पुस्तक प्रामाणिक है।

नियमों की व्याख्या करने में वह पूर्णतः निष्पक्ष नहीं रह पाता था और झगड़ा हो जाने पर वह निरपेक्ष भाव से नियमों के अनुसार निर्णय न कर पाता था। कहने का आशय यह है कि उस समय नियमों की व्याख्या करने और झगड़ों को निपटाने के लिए, निर्णय करने और उसको लागू करने के लिए एक सामान्य सत्ता का पूर्ण अभाव था। इन असुविधाओं के कारण, व्यक्तिगत अधिकारों का उपभोग कुछ सीमा तक अनिश्चित और अरक्षित रहता था। अपने अधिकारों के सरक्षण के लिए मनुष्यों ने यह उचित समझा कि वे मिलजुल कर सामाजिक संविदा द्वारा एक नई स्थिति का निर्माण करें। इस संविदा में सभी व्यक्ति सम्मिलित हुए कोई व्यक्ति इससे बाहर नहीं रहा। लाक के अनुसार, इस संविदा के लिए सर्वसम्मति अति आवश्यक है। ऐसा मतैक्य हो जाने पर मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था को छोड़कर एक राज्य को जन्म देते हैं।

संविदा बनाते समय, व्यक्ति अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने की शक्ति को एक नवनिर्मित राज्यसत्ता को सौंप देते हैं। वे इस शक्ति को किसी व्यक्ति अथवा समूह को न देकर एक दूसरे को अर्थात् पूरे समाज को सौंपते हैं। उनके प्राकृतिक अधिकार यथावत् सुरक्षित रहते हैं। वस्तुतः इनको अधिक सुरक्षित करने की दृष्टि से ही वे संविदा बनाते हैं और राज्य को जन्म देते हैं। अतः व्यक्तियों के अधिकारों में कोई कमी नहीं आती और वे अपने को किसी नई सत्ता के अधीन नहीं कर देते। इस प्रकार व्यक्तियों की सहमति के आधार पर लोक कल्याण के हेतु राज्य की स्थापना होती है। इस प्राथमिक सहमति के कारण भविष्य में वे संगठित जनसमुदाय के निर्णय मानने के लिए बाध्य हैं। ये निर्णय साधारण बहुमत से किए जा सकते हैं। लॉक के मतानुसार, यह संविदा आने वाली पीढ़ियों पर भी लागू होती है। वयस्क हो जाने पर यदि व्यक्ति राज्य छोड़कर नहीं चले जाते तो इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्होंने राज्य के पक्ष में अपनी सहमति दे दी है। जिन लोगों के पास सम्पत्ति है, उनके ऊपर यह बात और भी अधिक लागू होती है।

राज्य उत्पन्न तो हो गया, किंतु काम चलाने के लिए शासन के अंग भी चाहिए। प्रत्येक राज्य में एक विधानांग का होना अत्यंत आवश्यक है जो कानून बना सके। इसका निर्माण जनता की सहमति से होता है और यह राज्य में सर्वोपरि सत्ता होती है, तथापि यह निरंकुश नहीं हो सकती। यह सत्ता एक व्यक्ति, अनेक व्यक्तियों अथवा समूचे जनसमुदाय में निहित हो सकती है। स्थापित हो जाने पर उसे अपरिवर्तनशील और पवित्र मानना चाहिए। लॉक के अनुसार विधानांग अपने अधिकार हस्तांतरित नहीं कर सकता। इस सत्ता के अतिरिक्त एक कार्यांग की आवश्यकता भी होती है। लॉक ने यह स्पष्ट नहीं

किया कि कार्यांग को सम्पूर्ण जनसमुदाय स्थापित करता है अथवा केवल विधानांग, और उसे एकमत से स्थापित किया जाता है अथवा केवल बहुमत से, तथापि कार्यांग को सदैव विधानांग के अधीन होना चाहिए। जो शक्ति कार्यांग को दी गयी है, लॉक के अनुसार वह 'प्रत्ययी ट्रस्ट' के रूप में विशिष्ट उद्देश्यों के लिए है और उसका सदुपयोग केवल लोकहित में होना चाहिए[1]।

सत्ता के दुरुपयोग को रोकथाम के लिए लॉक ने दो प्रमुख अनुशास्तियों (sanctions) का वर्णन किया है जिनमें एक आन्तरिक है और दूसरी बाह्य। आन्तरिक अनुशास्ति से उसका अभिप्राय प्रकृति के उन नियमों से है जो राज्य में पूर्ववत् चालू रहते हैं और जिनका नियन्त्रण व्यक्तियों तथा सरकार पर समान रूप से रहता है। बाह्य अनुशास्ति से लॉक का आशय यह है कि अन्तत सत्ता के दुरुपयोग को रोकने की शक्ति जनसमुदाय में निहित है। शक्ति का दुरुपयोग करने वाली संस्था अपने उत्तरदायित्व को निभाने में सर्वथा अयोग्य प्रमाणित होती है और ऐसी दशा में वह स्वत 'ट्रस्ट' खो बैठती है। ऐसी अवस्था में, जिन्होंने उसे अधिकार सौंपे थे उन्हें यह स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है कि वे पुन जिसे चाहें अपने हितों की रक्षा के लिए सत्ता सौंप दें। इस प्रकार, सरकार को बदलने से राज्य के जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। यदि अल्पकाल के लिए कुछ अव्यवस्था फैल भी जाए, तो भी आशंका की कोई बात नहीं होती, क्योंकि एक बार जब मनुष्य संगठित जीवन के लाभों को समझ लेते हैं तो व सरलता से उसे छोड़ने के लिए उद्यत नहीं होते। लॉक मानता है कि जनसाधारण के इन अधिकारों के कारण विद्रोह को प्रोत्साहन मिलता है और इस प्रकार शांति-व्यवस्था भंग हो सकती है, तथापि उसके मतानुसार कुशासन को रोकने का इससे अधिक उत्तम कोई उपाय नहीं है। कठिनाई यह निश्चय करने में है कि क्या शासन की व्यवस्था वस्तुत इतनी बुरी हो गई है कि विद्रोह का झण्डा उठाना अच्छा होगा? फिर भी, लॉक का कहना है कि यह बात मनुष्यों की सामान्य बुद्धि और उनके व्यावहारिक निर्णय पर छोड़ी जा सकती है। उसका विश्वास है कि जनता स्वभाव से ही विद्रोह और उससे उत्पन्न अव्यवस्था के विरुद्ध होती है, अतएव उसके लिए वह केवल तभी तत्पर होगी जब अवस्था इतनी बिगड़ चुकी हो कि थोड़े समय के लिए सामाजिक अव्यवस्था को भी सहन किया जा सके।

स्वेच्छापूर्वक राज्य केवल सर्वसम्मति से नष्ट किया जा सकता है; अत राज्य का स्वेच्छापूर्वक विनाश कल्पनातीत है। बाहर से, इसे बलप्रयोग द्वारा नष्ट

1 देखिए E Barker, *Social Contract*, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1946, भूमिका पृ 28 से 32.

किया जा सकता है ; किंतु विजेता आक्रमणकारी को सफल होने पर भी विजित व्यक्तियों पर नैतिक अधिकार नहीं होते । हाँ, यदि विजित जनसमुदाय ने अकारण ही युद्ध को प्रारम्भ किया है, तो बात दूसरी है। ऐसी दशा मे भूल का परिमार्जन उन लोगो द्वारा होना चाहिए जिन्होंने भूल की है । ऐसे व्यक्तियो को मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता है ; वे अपनी भूल के कारण कम-से-कम अपनी स्वतत्रता अवश्य खो देते हैं । किंतु इससे उनके सम्पत्ति के अधिकार पर आँच नही आनी चाहिए, क्योकि उस पर उन अबोध बच्चो और उन निरपराध स्त्रियो का भी हक है जिन्होने कोई भूल नही की है ।

आलोचना—लॉक के विचारो की कुछ टीकाकारो ने कडी आलोचना की है। उनके अनुसार यदि मनुष्यो की प्राकृतिक अवस्था सुखमय थी तो उन्हें राज्य स्थापित करने की क्या आवश्यकता थी, और यदि यथार्थ मे वह कठिनाइयो से भरपूर थी तो फिर लॉक ने हमे भ्रम मे क्यो डाला ? लॉक के विचारो से ऐसी ध्वनि निकलती है मानो राज्य की स्थापना मानवसमाज के विकास मे एक उलटा कदम हो। यदि प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियम, प्राकृतिक अधिकार, नैतिकता, कानून आदि सभी कुछ थे, तो मनुष्य ने राज्य की रचना करके क्या उन्नति की ? स्पष्ट है कि लॉक ने जो चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया है उसमे एक भारी कमी है अर्थात् लॉक स्पष्ट रूप से यह नही कहता कि यद्यपि प्राकृतिक अवस्था मे नीति और कानून दोनो ही थे तथापि व्यक्ति इतने निष्पक्ष न थे कि वे अपने झगडो का निपटारा स्वय कर सकते । यही नहीं, लॉक इस बात को भुला देता है कि प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य को कोई ऐसे अनुभव नही हो सकते जिनके आधार पर वह यह निर्णय कर सके कि सामाजिक सविदा सर्वसम्मति के आधार पर होनी चाहिए और शेष निर्णय केवल बहुमत के आधार पर। यही नही, यद्यपि लॉक प्राकृतिक अवस्था को पूर्णत ऐतिहासिक नही मानता और केवल मान्य ऐतिहासिक तथ्यो को लेकर ही उसने प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की, तथापि वह ऐसी व्याख्या देता है मानो सामाजिक सविदा वस्तुतः हुई हो। अन्यथा उसका यह कहना कि वयस्क हो जाने पर जब व्यक्ति राज्य मे बसे रहने का निर्णय करता है तो इस निर्णय मे उसकी सविदा के प्रति सहमति निहित है, निरर्थक हो जाता है।

प्राकृतिक नियम और प्राकृतिक अधिकारो के सबध मे भी लॉक की धारणा युक्तिसगत नही है, यह कहना कि प्रकृति के नियम शाश्वत और अटल हैं, जिन्हें ईश्वरीय इच्छा भी माना जा सकता है, इतिहास और अनुभव का विरोध करना है, विशेषत इसलिए कि इन नियमो मे वह सम्पत्ति के अधिकार, वशानुगत उत्तराधिकार और बहुमत के नियम को भी सम्मिलित करता है। यह

मानना अत्यत कठिन है कि ये बातें शाश्वत और अपरिवर्तनशील हैं। वस्तुत लॉक की प्राकृतिक नियमो की सकल्पना गतिहीन है। आगे चलकर, बीको और मोटेस्क्यु आदि ऐतिहासिक विचारको ने इस धारणा को निर्मूल बताया। लॉक के प्राकृतिक नियम सबधी विचारों से एक अन्य कठिनाई यह उपस्थित हो जाती है कि कोई भी व्यक्ति 'प्राकृतिक नियम' के नाम पर राजकीय नियमो को मानने से इकार कर सकता है। इस रूप मे उसके विचार सामाजिक व्यवस्था के मार्ग मे बाधक बन जाते हैं। सम्पत्ति के अधिकार को भी वह शाश्वत और अदेय मानता है। इस अधिकार की व्याख्या करते समय वह कहता है कि व्यक्तियो का प्राकृतिक साधनों की उपज पर केवल उसी सीमा तक अधिकार है जहाँ तक बिना नष्ट किए वे उसका सदुपयोग कर सकें। किंतु जहाँ वह राज्य मे सम्पत्ति के अधिकार की चर्चा करता है, वह इस बात को ध्यान मे नही रखता और न वास्तविक जीवन मे ही किसी राज्य मे सम्पत्ति के अधिकार पर ऐसा बधन स्वीकार किया गया है। लॉक यह भी भूल जाता है कि 'उत्तराधिकार' की सकल्पना प्राकृतिक नही है और समाज में ही इस प्रकार के विचार का जन्म हो सकता है। जैसा कि रूसो ने कहा है, सामाजिक सविदा का प्रतिपादन करने वाले विद्वान् आदिमकालीन व्यक्ति की बातें तो करते हैं किंतु जब वे उसका वर्णन करने लगते हैं तो जो चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है वह एक 'नागरिक' का होता है।

यद्यपि लॉक कहता है कि प्राकृतिक अवस्था में भी व्यक्ति समाज मे रहता था, तथापि समाज के स्वरूप के सबध मे उसके विचार खटकते हैं। वस्तुत उसका सभ्य समाज अथवा राज्य एक 'लिमिटेड कम्पनी' के अतिरिक्त और कुछ नही है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपने 'शेयर' (सामित हित) के अनुसार रुचि लेता है। राज्य से उसका सबध केवल उसी सीमा तक है जहाँ तक वह उसका हित साधन करता है।

जाँ जाक्स रूसो (1712-1778 ई०)

रूसो का जन्म जिनेवा मे हुआ था। उसका समुचित पालन-पोषण नही हो सका। उसका जीवन अव्यवस्थित, किंतु काफी रगीन रहा। पहले वह फ्रांस के बुद्धिवादियो के निकट सम्पर्क मे आया, किंतु थोड़े ही दिनो मे वह बुद्धिवाद को सदेह की दृष्टि से देखने लगा और उसने भावनाओ की नैतिक अन्तप्रज्ञा (intution) के महत्त्व पर बल देना प्रारम्भ कर दिया। उसके अनुसार बुद्धि श्रद्धा की विरोधी है विज्ञान आस्था को नष्ट कर देता है, और तर्क-बुद्धि नैतिक अत प्रज्ञा का विरोध करती है। किंतु बिना नैतिक श्रद्धा, विश्वास और अन्तप्रज्ञा के न तो व्यक्तिगत चरित्र का निर्माण हो सकता है और न समाज का

कल्याण। रूसो ने अनेक ग्रथो की रचना की है। इनमे उसका ग्रथ, 'सोशल कान्ट्रैक्ट'[1], जो सन् 1762 मे प्रकाशित हुआ, सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस पुस्तक के अतिरिक्त, 1754 ई० मे लिखे हुए 'मनुष्यो की असमानता' पर अपने लेख मे उसने एक कल्पित प्राकृतिक अवस्था का वर्णन किया है. यद्यपि बाद मे प्रकाशित एक पुस्तक मे उसने यह स्वीकार किया है कि प्राकृतिक अवस्था के सबध मे उसके विचार बदल गए हैं, तथापि उसने यह नही बताया कि उसके परिवर्तित विचार क्या हैं? अत हमको इसी लेख के आधार पर उसके विचारो का प्रतिपादन करना होगा।

रूसो के लेख से ऐसा लगता है कि वह मनुष्यो की प्रारम्भिक अवस्था को यदि आदर्श नही तो कम से कम अपेक्षाकृत उत्तम अवस्य समझता था। इस अवस्था को उसने तीन भिन्न चरणों मे बाँटा है। पहले चरण मे मनुष्य निश्चित और एकाकी जीवन व्यतीत करता है। वह सीधा-साधा और स्वस्थ था। उसकी आवश्यकताएँ बहुत कम थी और वे सुगमतापूर्वक पूरी हो जाती थी। वह केवल दो दुखो को जानता था शारीरिक कष्ट और भूख-प्यास। वह अबोध था और पाप-पुण्य तथा अच्छाई-बुराइयो के विचारो से सर्वथा अपरिचित था। उसकी तर्क-बुद्धि का विकास नहीं हुआ था और सब मिलाकर उसका जीवन पशुओं के जीवन से बहुत भिन्न न था। मनुष्य की न कोई इच्छाएँ थी, और न वह भविष्य की चिंता करता था। वह पूर्णत स्वतत्र था और आनद से जीवन व्यतीत करता था। प्राकृतिक अवस्था के दूसरे चरण मे जनसख्या के बढ़ने से परिवर्तन आने लगे। शिकार के लिए प्रतियोगिता होने लगी। अनेक कारणो से मनुष्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह एक-दूसरे से मिलकर काम करें। परिवार का उदय हुआ। वह कुटिया बनाकर रहने लगा और चर्म के कपड़े भी पहनने लगा। धीरे-धीरे 'मेरे' और 'तेरे' का भाव बढ़ने लगा और उसे भविष्य की चिंता होने लगी। मनुष्य अब समझदार बन रहा था। उसकी कल्पना, भाषा और तर्क-बुद्धि का भी धीरे-धीरे विकास हो रहा था। इस अवस्था के तीसरे चरण मे मनुष्य वनस्पति और वन्य प्राणियो को धीरे-धीरे अपने नियत्रण और अधिकार मे लाने लगता है। शिल्प और कला का विकास होता है। लोग खेती करने लगते हैं। लोगो मे गर्व बढ़ जाता है और वे अपनी बुद्धि का उपयोग अपनी आकाक्षाओ और अभिलाषाओ की पूर्ति के लिए करने लगते हैं[2]। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य धीरे-धीरे अपनी प्राकृतिक

1 देखिए उसका ग्रथ *Social Contract*, सम्पादक जी डी. एच. कोल, लन्दन, डेंट, 1935.

2 देखिए Lord, *Principles of Politics*, लन्दन, पृ० 40,

अवस्था को छोड़कर एक नयी स्थिति में आने लगता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म होता है जिसके कारण असमानता, ईर्ष्या और संघर्ष बढ़ जाते हैं। लोग भूमि का घेरा बनाकर उसे अपना कहने लगते हैं और इस प्रकार सम्पत्ति की नींव सुदृढ़ हो जाती है। इसी के साथ ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और छोटे-बड़े के भेद भी बढ़ने लगते हैं। लोगों में द्वेषभाव फैलने लगता है और असमानता, अन्याय, अत्याचार और उत्पीड़न का बोलबाला हो जाता है। इस तरह मनुष्य जो जन्म के समय स्वतंत्र था, अनेक बंधनों में जकड़ जाता है।

रूसो स्वीकार करता है कि इन बंधनों से छुटकारा पाकर पुनः प्रारम्भिक अवस्था को लौट जाना सम्भव नहीं। किंतु इतना अवश्य किया जा सकता है कि जिन जंजीरों ने मनुष्यों को जकड़ रखा है उन्हें आभूषणों का रूप दे दिया जाए। रूसो का कहना है कि यह तभी सम्भव हो सकता है जब राज्य शक्ति के ऊपर आधारित न होकर जनता की 'सामान्य इच्छा' (general will) पर आधारित हो। अतएव रूसो का उद्देश्य एक ऐसा राज्य स्थापित करना है जिसमें सब लोग मिलकर रहें और सामूहिक शक्ति द्वारा उनके जन-धन की रक्षा की जा सके। लोकतंत्र का प्रबल समर्थक होने के कारण वह व्यक्तिगत निरंकुशता का उन्मूलन करना चाहता था और इसके लिए उसने सामाजिक संविदा के सिद्धांत का आश्रय लिया।

राज्य के स्वरूप की व्याख्या करते हुए रूसो कहता है कि राज्य न तो परिवार के स्वाभाविक प्रसार से बना है और न वह शक्ति के ही ऊपर आधारित है, वस्तुतः राज्य मनुष्यकृत है। जब मनुष्य प्राकृतिक अवस्था से तंग आकर यह समझता है कि बिना अन्य व्यक्तियों से मिले वह अपनी समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता और लोगों के सम्मिलित कार्य पर ही समस्त आशाएँ निर्भर हैं, तो वह इस दिशा में प्रयास करता है। यह प्रयास सामाजिक संविदा का रूप लेता है। संविदा द्वारा रूसो एक ऐसी एकता स्थापित करना चाहता है जो स्वतंत्रता का अपहरण करने के स्थान पर उसका रक्षण करे अर्थात् उसके लिए समस्या यह है कि एक ऐसा जनसमुदाय बनाया जाए जिसमें कि सामान्य शक्ति द्वारा उसके प्रत्येक सदस्य के तन और धन को संरक्षण दिया जा सके और जिसमें सब लोग एक होकर भी अपनी स्वतंत्रता को पूर्ववत् बनाए रख सकें। रूसो के मतानुसार ऐसा होना तभी सम्भव है जब सभी व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों को बिना शर्त पूरे जनसमुदाय को सौंप दें। इसमें थोड़ा-सा परिवर्तन करने पर भी यह योजना निष्फल हो जाएगी। इस सामाजिक संविदा से एक नये जनसमुदाय का जन्म होता है जिसे 'राज्य' कहते हैं। इसमें कोई व्यक्ति किसी के अधीन नहीं होता, क्योंकि अधिकार समष्टि को दिए गए

हैं और सभी की स्थिति बराबर है। वस्तुत व्यक्ति जो एक हाथ से देता है, उसे वह समष्टि से दूसरे हाथ से प्राप्त कर लेता है। अतर केवल इतना है कि पहले अपनी स्वतत्रता और अधिकारो की रक्षा वह स्वत करता था किंतु अब राज्य उनके सरक्षण के लिए सम्मिलित शक्ति का प्रयोग करता है।

इस सविदा के फलस्वरूप एक नए नैतिक और सामूहिक जनसमुदाय का जन्म होता है जिसमे पूर्ण एकता और सामजस्य रहता है। रूसो इसे 'राज्य', 'सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता' और 'शक्ति' ये तीन सज्ञाएँ देता है जो उसके विभिन्न रूपो की परिचायक हैं। इसी प्रकार, राज्य के जनसमुदाय को भी वह क्रमश 'जनता', नागरिको' और 'प्रजा' की सज्ञाएँ देता है जो व्यक्तियो के विभिन्न पहलुओ को प्रकट करती हैं। रूसो के अनुसार सामूहिक रूप से जनता म प्रभुसत्ता निहित होती है। जनता किसी दशा मे भी प्रभुसत्ता को अपने से पृथक् नही कर सकती और न इस प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व ही किया जा सकता है। उसके अनुसार, प्रत्येक नागरिक 'सामान्य इच्छा' (general will) के निर्माण मे सहयोग देता है। एक प्रकार से, 'सामान्य इच्छा' नागरिको की यथार्थ इच्छा का ही प्रतिरूप है। रूसो के अनुसार प्रत्येक नागरिक मे दो प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। इनमे से एक को उसने 'विशिष्ट इच्छा' (particular will) का नाम दिया है। यह व्यक्ति की उस इच्छा का नाम है जब वह अपने व्यक्तिगत अथवा अन्य किसी सकुचित हित अथवा स्वार्थ की भावना से प्रेरित होता है। किंतु जिस समय वही नागरिक लोकहित की भावना से प्रेरित होता है, रूसो उसकी इच्छा को 'सामान्य इच्छा' कहता है। रूसो के अनुसार जब व्यक्ति 'विशिष्ट इच्छा' से प्रभावित होते है तब उनका आपस में और राज्य के साथ सघर्ष हो सकता है। इसके विपरीत यदि वह 'सामान्य इच्छा' के अनुसार आचरण करें तो इस प्रकार का विरोध नही हो सकता। अतएव रूसो इस परिणाम पर पहुँचता है कि जो व्यक्ति 'सामान्य इच्छा' के अनुकूल कार्य करने से इकार करता है उसको बलपूर्वक ऐसा आचरण करने के लिए बाध्य करना चाहिए। रूसो का विश्वास है कि यह बलप्रयोग उस व्यक्ति के सच्चे हितो के अनुकूल होगा और वस्तुत उसे नैतिक रूप से स्वतत्र बनाएगा। इस बात को स्पष्ट करते हुए रूसो कहता है कि मनुष्य जब अपनी 'विशिष्ट इच्छा' से प्रेरित होकर कार्य करता है तब वह अपने व्यक्तिगत अथवा अन्य सकुचित स्वार्थी प्रवृत्तियो और इच्छाओ के वश मे होता है। इसके विपरीत जब वह उन कानूनो का पालन करता है जो उसकी 'सामान्य इच्छा' पर निर्भर हैं, तब वह सच्ची स्वतत्रता का उपभोग करता है। रूसो के अनुसार, जीवन मे व्यक्ति नैतिक स्वतत्रता का उपभोग सर्वप्रथम इस नवनिर्मित राज्य मे करता है। उसकी सम्पत्ति

भी वह समाज के कानूनों के अनुकूल राज्य का संरक्षण प्राप्त करती है।

सामान्य इच्छा—रूसो के अनुसार 'सामान्य इच्छा' सर्वदा सामान्य हित में होती है। रूसो सामान्य इच्छा के पाँच प्रमुख लक्षण बताता है। सर्वप्रथम, वह नैतिक होती है अर्थात् सभी के हित में है। दूसरे, यह हमेशा एक और अविभाज्य होती है अर्थात् उसे बाँटा नहीं जा सकता। तीसरे, यह क्षणिक न होकर स्थायी होती है। चौथे, यह तर्कसंगत होती है। पाँचवे, उसमें आत्म-चेतना होती है। इससे रूसो का अभिप्राय यह है कि न तो यह अज्ञानी होती है और न स्वार्थी। इससे ज्ञात हो जाता है कि जनता की सच्ची भलाई किस में है?

प्रभुसत्ता के लक्षणों का वर्णन करते समय रूसो ने उसे अदेय, अविभाजित, अमोघ और निरंकुश बतलाया है। साथ ही उसका कहना यह है कि उसका प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता। रूसो के विचारों से स्पष्ट प्रतीत होता है *कि वह राज्य को एक जीव के सदृश मानता है जिसकी अपनी इच्छा है और* जो समष्टि के संरक्षण और कल्याण की कामना करती है। यही नहीं सामान्य इच्छा' कानूनों का स्रोत भी है।

प्रश्न उठता है कि 'सामान्य इच्छा' कहाँ स्थित होती है? रूसो का कहना है कि प्रायः सामान्य इच्छा और सबकी इच्छा (will of all) में काफी अंतर होता है[1]। इसी प्रकार, उसका कहना है कि सामान्य इच्छा बहुमत के अनुकूल *भी हो सकती है और प्रतिकूल भी।* इसी प्रकार वह क्रमशः *अल्पमत, समझौते* और एक व्यक्ति की इच्छा के समक्ष उसे रखकर यह परीक्षा करना चाहता है कि क्या सामान्य इच्छा इनमें किसी के अनुरूप बताई जा सकती है। अतः वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि सामान्य इच्छा के लिए सर्वसम्मति आवश्यक नहीं है। वस्तुतः यहाँ प्रश्न इच्छाओं की गणना का नहीं है अपितु उसके स्वरूप का है, अर्थात् उस सबके सहयोग से निर्मित होना चाहिए और सबके ऊपर समान रूप से लागू होना चाहिए। साथ ही उसका उद्देश्य सामान्य हित होना चाहिए। तभी उसे सामान्य इच्छा कहा जा सकता है। रूसो का विचार है कि इस प्रकार की सामान्य इच्छा के निर्माण के लिए कुछ हालतों का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए उसका कहना है कि जब तक जनता को समुचित सूचनाएँ प्राप्त न होंगी, सामान्य इच्छा के विकास में बाधा पड़ेगी। रूसो के अनुसार जब व्यक्ति सामान्य इच्छा पर विचार करने के लिए एकत्रित हों तो उन्हें एक दूसरे से विचार-विमर्श नहीं करना चाहिए। उसका ख्याल था कि राजनीतिक गुट और समुदाय 'सामान्य इच्छा' को विकृत कर देते हैं। यदि

1 देखिए *Social Contract* में कोल की भूमिका, पृष्ठ 25.

इनमे कोई समुदाय अधिक बडा और प्रभावशाली हो, तो सामान्य इच्छा के सफल विकास मे बहुत बाधा पडेगी। अत वह परामर्श देता है कि यदि गुट्ट अथवा दल हों हो, तो उनकी सख्या अधिक हो और उनमे बहुत पारस्परिक असमानताएँ न हो। रूसो कहता है कि सामान्य इच्छा कभी अनुचित नही हो सकती, लेकिन जनता के विचार-सग्रह मे दोष हो सकता है। यह भी सम्भव है कि हम अपने भले को समुचित रूप म पहचान न सकें। रूसो इस सम्भावना को भी स्वीकार करता है कि जनता धोखे म आकर ऐसे निर्णय कर ले जो वस्तुत उस हानि पहुँचाते हो। हो सकता है कि इन भूलो और कमियो के कारण जनता का निर्णय 'सामान्य इच्छा' का सच्चा प्रतीक न हो, किंतु 'सामान्य इच्छा' स्वय कभी भूल नही करती[1]।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नही किया जा सकता। यही नही, वह इस बात पर भी बल देता है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियो की इच्छा का प्रतिनिधित्व नही कर सकता। यदि इस धारणा को माना जाए, तो स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिनिधिक (representative) सस्थाएँ रूसो के मत के प्रतिकूल थी। वस्तुत रूसो ने एक बार कहा भी था कि इगलैड मे जनता पाँच वर्ष मे केवल एक बार (मतदान के समय) स्वतत्र होती है और वह अपने मतदान के अधिकार का उपयोग कर पुन दास बन जाती है। कहने का आशय यह है कि रूसो के अनुसार सच्चा लोकतत्र वही सम्भव है जहाँ सभी नागरिक सार्वजनिक कार्यों मे प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते हो। इस प्रकार, उसके विचार आधुनिक राज्यो पर लागू नही होते।

रूसो ने यह स्पष्ट नही बताया कि शासन को कौन जन्म देता है और वह कैसे उत्पन्न होता है ? तथापि रूसो का यह दृढ विश्वास है कि सभी राज्य-कर्मचारी और पदाधिकारी समाज के एजेंट के समान है और यदि वे 'सामान्य इच्छा' के अनुकूल कार्य नही करते तो उन्हे पदच्युत किया जा सकता है।

आलोचना—रूसो के विचारो मे अनेक अस्पष्टताएँ और असगतियाँ हैं। यह कहना कठिन है कि रूसो वस्तुत प्राकृतिक अवस्था की कल्पना को स्वीकार करता था अथवा नही, और उसके मतानुसार यह अवस्था अच्छी थी या बुरी, तथापि वह इस बात पर बल देता था कि बिना 'सहमति' के राज्य की उचित स्थापना नही हो सकती। इसी प्रकार, यह स्पष्ट नही होता कि रूसो का प्राकृतिक व्यक्ति किस प्रकार विवेकशील बनकर सविदा बना लेता है। रूसो की व्याख्या मे यह भी स्पष्ट नहीं है कि राज्य मे शासन का निर्माण कौन और

1 वही, पृ॰ 25-26.

कैसे करता है ? यही नहीं, रूसो का यह विचार कि जनता कभी भ्रष्ट नहीं होती यद्यपि वह धोखा खा जाती है जिसके कारण वह एक गलत धारणा को 'सामान्य इच्छा' मान बैठती है, केवल शब्द-चातुर्य मात्र है। इसके अतिरिक्त, रूसो का यह कथन कि प्रत्येक नागरिक प्रभुसत्ता का आंशिक भागीदार है, उसके इस विचार के प्रतिकूल है कि प्रभुसत्ता अखण्ड और अविभाजित होती है। उसका यह विचार कि जो व्यक्ति स्वतः सामान्य इच्छा का पालन न करें उन्हें बल-पूर्वक इसके लिए बाध्य किया जाए, स्वतन्त्रता का उपहास लगता है।

'सामान्य इच्छा' की धारणा की भी काफी आलोचना हुई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसका यह विचार अमूर्त और अस्पष्ट है। साथ ही, यह केवल छोटे-छोटे जनसमुदायों पर ही लागू हो सकता है जहाँ प्रत्यक्ष शासन सम्भव है। रूसो का यह सोचना कि यदि लोगों में सामान्य हित की भावना हो तो उनके विचार भी एकरूप होंगे' भ्रांतिपूर्ण है। इसी प्रकार, रूसो का यह कथन कि सामान्य इच्छा व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा को प्रकट करती है, इस बुनियादी प्रश्न की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि 'वास्तविक' शब्द के क्या अभिप्राय हैं ? मनोवैज्ञानिकों ने भी इस धारणा की आलोचना करते हुए कहा है कि वस्तुतः यह एक सामान्य धारणा नहीं है। यदि यह एक 'इच्छा' के रूप में है तो उसके पीछे इच्छा करने वाले किसी व्यक्ति का आधार होना चाहिए, और यदि यह 'सामान्य' है तो यह इच्छा नहीं हो सकती। रूसो की आलोचना में यह भी कहा गया है कि वह मनुष्यों की इच्छा ('सामान्य इच्छा') को मनुष्य से भी ऊँचा (उन्हें बाध्य करके) बना देता है, और इस बात को भूल जाता है कि मनुष्य साध्य हैं, साधन मात्र नहीं। इसके अतिरिक्त, रूसो इस बात को भी भूल जाता है कि एक वर्ग-समाज में 'सामान्य इच्छा' का होना आवश्यक नहीं है। मार्क्स के अनुसार, जहाँ जनता वर्गों में बँटी हुई है वहाँ शोषित वर्ग और शोषक वर्गों के हितों में कोई समानता नहीं होती। यदि यह विचार ठीक है तो सामान्य इच्छा और सामान्य हितों की बातें करना निरर्थक हो जाता है। यही नहीं, रूसो जब यह कहता है कि यदि व्यक्ति को बलपूर्वक 'सामान्य इच्छा' के अनुकूल कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सकता है तो वह यह भूल जाता है कि प्रायः इसी युक्ति के आधार पर निरंकुश शासन का औचित्य सिद्ध किया जाता है।

इन आलोचनाओं के रहते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रूसो के विचार अत्यंत प्रभावशाली थे और उसने समय-समय पर अनेक विचारकों और दर्शों को प्रभावित किया है। अस्पष्ट होने पर भी उसकी 'सामान्य इच्छा' की कल्पना ने अनेक दार्शनिकों और चिंतकों को प्रेरणा दी है और यूरोप में आधु-

निक आदर्शवादी राजनीतिक विचारधारा को जन्म दिया है। सब मिलाकर, रूसो के विचार क्रांतिकारी प्रमाणित हुए हैं और उसने लोकतन्त्र की भावना का प्रसार किया किया है[1]।

तुलनात्मक विवेचन

सामाजिक संविदा का सिद्धांत एक सुनम्य कल्पना (plastic fiction) है। अतएव, विभिन्न प्रतिपादकों ने इसे अपनी इच्छानुसार तोड़ा-मरोड़ा है और जिन विचारों की वे स्थापना करना चाहते हैं उसके अनुकूल उसे ढाल लिया है। फलस्वरूप, इन लेखकों के विचारों में अनेक असमानताएँ पाई जाती हैं। नीचे हम कुछ प्रमुख प्रभेदों पर विचार करेंगे।

रूसो हॉब्स से सहमत है कि प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति सामाजिक नहीं होते, किंतु वह यह स्वीकार नहीं करता कि वे एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। सामाजिकता के विषय में रूसो का लॉक से मतभेद है किंतु लॉक के साथ उसकी इस संबंध में सहमति है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य एक-दूसरे के शत्रु नहीं होते। दूसरे, हॉब्स की आत्मकेंद्रीयता की भावना की पुष्टि करते हुए, रूसो व्यक्ति में दया और सहानुभूति के भावों की भी चर्चा करता है। इन दोनों के विपरीत लॉक के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य पारस्परिक सद्भाव और सम्मान की भावनाओं से ओतप्रोत थे। तीसरे, रूसो हॉब्स से सहमत है कि प्राकृतिक व्यक्ति में नैतिक भावनाएँ नहीं होती थीं और इन भावनाओं का जन्म सभ्य समाज में हुआ। इन दोनों के विपरीत लॉक का मत है कि अपनी प्राकृतिक अवस्था में भी मनुष्य में नैतिक भावनाएँ विद्यमान थीं। चौथे, रूसो हॉब्स के इस विचार का समर्थन करता है कि शासित और शासकों के मध्य कोई संविदा नहीं बनाई जाती। इन दोनों के मतानुसार केवल एक संविदा होती है जो राज्य को जन्म देती है। दूसरी ओर, लॉक का विचार है कि राज्य प्रसंविदा पर आधारित है, किंतु शासन के अंगों का निर्माण बाद में होता है। पाँचवे, हाब्स राज्य और शासन में प्रभेद नहीं करता जबकि लॉक और रूसो स्पष्ट रूप से ऐसा करते हैं। छठे, हाब्स तथा रूसो के अनुसार राज्य में एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता का होना अपरिहार्य है, किंतु लॉक यह नहीं मानता। क्योंकि हाब्स राजसत्ता का प्रधान उद्देश्य जीवन की सुरक्षा समझता है, अत. वह असीमित सत्ता की उपस्थिति और आज्ञापालन पर विशेष बल देता है। इसके विपरीत, लॉक तथा रूसो जनहित में शासन होने के पक्ष में

1 देखिए Dunning, *A History of Political Theories*, From Rousseau to Spencer, न्यूयार्क, 1933, पृष्ठ 38-39.

होने के कारण नागरिकों के अधिकारों के प्रति अधिक सजग हैं। सातवें, हॉब्स के अनुसार, सरकार की सत्ता सर्वोपरि होती है, किंतु लॉक और रूसो के अनुसार वह एक अधीन एजेंसी के समान है जो निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नियुक्त की जाती है। आठवें, हॉब्स और लॉक के समाज की कल्पना यंत्रवत् है जबकि रूसो ने नए समाज का रूप एक ऐसे जीवन के समान बनाया है जिसमें पूर्ण एकता और सामंजस्य विद्यमान है। नवें, हॉब्स के अनुसार राज्यद्रोह की छूट नहीं होती, केवल सत्ता को हस्तांतरित किया जा सकता है। लॉक के अनुसार, राज्यद्रोह एक अंतिम अस्त्र है जिसे जनता अत्यधिक परेशानी की दशा में काम में ला सकती है। किंतु, रूसो के अनुसार सरकार को बदलना एक साधारण बात है और आवश्यकतानुसार नागरिक ऐसा कर सकते हैं। दसवें, हॉब्स निरंकुशता को प्रोत्साहन देता है जबकि लॉक वैधानिकता का समर्थक है और रूसो जनता को सर्वशक्तिमान मानता है। ग्यारहवें, हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक दशा में सम्पत्ति नहीं होती, जबकि लॉक के अनुसार सम्पत्ति का एक प्राकृतिक अधिकार है जिसकी रक्षा के लिए व्यक्ति संविदा बनाकर राज्य का निर्माण करता है। रूसो के अनुसार राज्य की रचना ही इसलिए की जाती है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण अनेक असमानताएँ और विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। बारहवें, हॉब्स के अनुसार नियंत्रण का अभाव ही सच्ची स्वतंत्रता है किंतु, लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में भी मनुष्य प्रकृति के नियमों का आदर करते हैं। रूसो के मतानुसार, राज्य बनाकर व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतंत्रता के स्थान पर नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेता है। तेरहवें, जबकि हॉब्स के अनुसार व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों का परित्याग कर देता है, लॉक के अनुसार वह केवल प्राकृतिक अधिकारों के संरक्षण का अधिकार ही हस्तांतरित करता है। रूसो इस संबंध में कुछ सीमा तक हॉब्स के मत को स्वीकार करता है किंतु उसका कहना है कि व्यक्ति स्वच्छंदता खोकर सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त कर लेता है। हॉब्स का व्यक्ति आत्मरक्षा के अधिकार के अतिरिक्त सब कुछ खो बैठता है जबकि लॉक के अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता, किंतु रूसो के अनुसार नए परिवर्तन नैतिक रूप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार, इन विद्वानों ने इस सिद्धांत की अपनी अलग व्याख्याएँ दी हैं।

आलोचना

सामाजिक संविदा के सिद्धांत की विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचना की गई जिनमें प्रमुख हैं : ऐतिहासिक, कानूनी और दार्शनिक।

ऐतिहासिक आलोचना—इस सिद्धात का कोई ऐतिहासिक आधार नही है। वस्तुत यह सिद्धात अनैतिहासिक है। इतिहास मे ऐसे कोई उदाहरण नहीं मिलते जब राजनीतिक जीवन से सर्वदा अनभिज्ञ व्यक्तियो ने मिलकर सविदा द्वारा राज्य बनाया हो। अमरिका मे जाकर बसने वाले 'मफ्लवार' जहाज के अग्रेज यात्रियो का उदाहरण जो प्रस्तुत किया जाता है, वस्तुत इस सबध मे लागू नही होता क्योकि इन यात्रियो को पहले से ही राज्य और शासन का अनुभव था। यही नही इतिहास और मानव शास्त्र के अनुसधानो से हम यह जान गए है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' और वह सदा से समाज मे रहता आया है। अतएव, प्राकृतिक अवस्था सबधी वे विचार, जो व्यक्ति को असामाजिक बताते है, मान्य नही हो सकत। इसके अतिरिक्त, हमे यह भी ज्ञात हुआ है कि आदिम युग म समाज की इकाई व्यक्ति न होकर क्रमश टोटम, कुल, कुनबा और परिवार थे। व्यक्ति तो यही आधुनिक युग म आकर समाज की स्वतत्र इकाई बना है किंतु इस सिद्धात क प्रतिपादको ने प्राकृतिक अवस्था का इस प्रकार वणन किया है जैसे उस अवस्था मे व्यक्ति ही सब कुछ हो। अत यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक अवस्था की सूझ एकदम कल्पित है और विद्वानो न इच्छानुसार इसका मनमाना चित्रण किया है और निष्कर्ष निकाले है। इस सिद्धात का एक दोष यह भी है कि इसके अनुसार राज्य यकायक उत्पन्न हो जाता है। तथ्य यह है कि राज्य की उत्पत्ति यकायक एक दिन मे नही हुई और न राजनीतिक चेतना ही पलक मारते पैदा हो गई। राज्य का विकास शनै शनै हुआ, किंतु यह सिद्धात हमे विश्वास दिलाना चाहता है कि मनुष्य ने सविदा बनाकर तुरत राज्य बना लिया।

कानूनी आलोचना—एक वैध सविदा कानून के अतर्गत बननी चाहिए। यदि उसे मनवाने वाली एक निष्पक्ष शक्ति पहले से उपस्थित न हो तो उसका कोई उचित आधार नही रह जाता, किंतु इस सिद्धात म शक्ति के आधार को स्वीकार नही किया जाता। अतएव, इस प्रकार की सविदा तर्कसगत नही है और उससे कोई कानूनी अधिकार और सत्ता प्राप्त नहीं हो सकते। यही नही, सविदा की शर्तें बिना सहमति के पीढ़ी दर पीढी लागू नही हो सकती। वे केवल उन्ही पर लागू हो सकती है जो सविदा बनाते है किंतु इस सिद्धात म ऐसा नही है, इसके अतिरिक्त एक सविदा तभी तक मान्य होती है जब तक उसम उल्लिखित दशाएँ बनी रहे, किंतु इस सिद्धात के प्रतिपादक इस बात पर कोई ध्यान नहीं देत। विशिष्ट दशाओ म सविदा का उल्लघन भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि राज्य का आधार सविदा है तो इसका आशय यह हुआ कि व्यक्ति राज्य से पृथक् भी हो सकता है, किंतु इस सिद्धात

के प्रतिपादक ऐसा नहीं मानते। अत में यह कहा जा सकता है कि संविदा पर आधारित संबंध उसी दशा में लागू होते हैं जब व्यक्तियों का उससे हित-साधन हो, किंतु इस सिद्धांत के अनुसार राज्य और व्यक्तियों का संबंध स्थायी है।

दार्शनिक आलोचना—इस दृष्टि से प्राकृतिक अवस्था की कल्पना निर्मूल है। यदि राज्य कृत्रिम है तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि राज्य सहसा बन गया, अपितु यह है कि राज्य का विकास मनुष्य के स्वभाव और उसकी आवश्यकताओं के कारण हुआ। प्रश्न यह उठता है कि यदि व्यक्ति अपनी प्राकृतिक अवस्था में राज्य और शासन की प्रक्रियाओं से सर्वदा अपरिचित थे, जैसा कि इस मत के प्रतिपादक कहते हैं, तो राज्य को स्थापित करने की बात उनके मन में आई कैसे? यदि उन्हें राज्य के संबंध में पहले से ज्ञान था तो राज्य के जन्म की बात करना अनुचित है, और यदि उन्हें ज्ञान न था तो राज्य की कल्पना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त, संविदा के सिद्धांत से यह ध्वनि निकलती है कि राज्य और व्यक्तियों के संबंध सुविधा पर आधारित हैं, और राज्य से व्यक्तियों का उसी सीमा तक संबंध है जहाँ तक वह उनके हितों पर ध्यान देता है। स्पष्टतः ऐसी धारणा व्यक्ति और राज्य के संबंधों की सही व्याख्या नहीं करती। जैसा कि बर्क ने कहा है, व्यक्ति और राज्य के संबंध एक साधारण संविदा पर आधारित नहीं माने जा सकते। यह तो एक ऐसा संबंध है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहेगा। इसमें वे व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं जिनकी मृत्यु हो चुकी है, जो जीवित हैं और जिनका आगे चलकर जन्म होने वाला है। बर्क के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति का राज्य से संबंध, सुविधा पर आधारित न होकर, अटूट है और संविदा-सिद्धांत केवल उसके एक सीमित पहलू पर प्रकाश डालता है।

सत्य का अंश—अनेक दोषों से युक्त होते हुए भी यह सिद्धांत कुछ ऐसे सत्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है जिन्हें भुलाना नहीं चाहिए। इनमें सबसे मुख्य बात यह है कि राज्य 'जनता की इच्छा अथवा सहमति' पर आधारित है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्य व्यक्तियों के कल्याण के लिए बना है अर्थात् वह एक साधन-मात्र है और इस साधन का उपयोग लोकहित में होना चाहिए। यही नहीं, इस सिद्धांत से हमें यह भी ज्ञात होता है कि राज्य की नींव का जनता की इच्छा अथवा संविदा पर आधारित करना यथेष्ट नहीं है। राज्य और व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों की दृष्टि से यही श्रेष्ठ होगा कि इन दोनों के संबंध सहमति के ऊपर ही आधारित रहें, अर्थात् राज्य जो भी कार्य करे लोकमत का आदर करते हुए और लोकहित की दृष्टि से। यह एक

ऐसा सत्य है जिसका आज के युग मे सभी विचारक आदर करते हैं।

4. आनुवंशिक सिद्धांत

उपर्युक्त सिद्धात के अतिरिक्त अनेक ऐसे विद्वान् हैं जिन्होने राज्य को मनुष्यो के लिए स्वाभाविक और आवश्यक बतलाया है। ऐसे लेखको मे प्लेटो और अरस्तू की गणना भी की जाती है। प्लेटो के अनुसार, राज्य का उदय इसलिए होता है कि मनुष्य अपने में पूर्ण नही है। जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसे अन्य व्यक्तियों के साथ सहयोग करना पड़ता है और इस प्रकार राज्य का धीरे-धीरे विकास होता है। अरस्तू ने राज्य के विकास की चर्चा करते हुए कहा है कि वह मनुष्यो के सामाजिक सगठनो का एक स्वाभाविक चरमबिंदु है। जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम परिवार का जन्म होता है, किंतु जब परिवार पर्याप्त सिद्ध नही होते तो धीरे-धीरे मनुष्य वृहत् समाजो की रचना करता है जिनमे पहले 'गांव' और तत्पश्चात् 'ग्राम-समूह' बनते हैं और इन्ही 'ग्राम-समूहो' के सम्मिश्रण से राज्य की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार, राज्य मानव सगठन की स्वाभाविक प्रक्रिया का उत्कर्ष है।

इसी प्रकार के विचारो को ध्यान मे रखते हुए विद्वानो ने आनुवंशिक सिद्धात की व्याख्या दी है जिसके अनुसार मनुष्य का प्रारम्भिक समुदाय परिवार था। परिवारों का धीरे-धीरे विकास होकर कुल, गोत्र, कबीले (गण) आदि बने। इनके मेल से पहले 'गांव' और तत्पश्चात् 'नगर राज्य' की स्थापना हुई। इस प्रकार, इस सिद्धात के अनुसार राज्य का उदय क्रमिक विकास का परिणाम है। इस सिद्धात के दो रूप हैं: पितृसत्तात्मक (Potriarchal) सिद्धात और मातृसत्तात्मक (Matriarchal) सिद्धात। इन दोनो मे भेद केवल यह है कि प्राथमिक परिवार की रचना पितृसत्तात्मक थी अथवा मातृसत्तात्मक।

पितृसत्तात्मक सिद्धांत—इस सिद्धात के प्रमुख प्रतिपादक हेनरी मेन हैं। इन्होने प्राचीन समाजो का विशद् अध्ययन किया है। वह इस परिणाम पर पहुँचे कि राज्य का निर्माण परिवार के विकास से हुआ। उसके मतानुसार, यह परिवार पितृसत्तात्मक थे अर्थात् इसमे वंशगणना पुरुषों के नाम से होती थी और परिवार के सबसे वृद्ध पुरुष को असीमित अधिकार प्राप्त थे। मैकीवर के अनुसार, परिवार मे नियत्रण के वे सभी तत्त्व पाए जाते हैं जो शासन के सार हैं। जिन आवश्यकताओ ने परिवार को जन्म दिया, उन्ही ने अनुशासन और नियत्रण को भी जन्म दिया। अत परिवार में शासन का प्रारूप निहित रहता है।

परिवार के प्रमुख का शासन निरकुश होता था और कहीं कहीं तो इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वह परिवार के सदस्यों को मृत्यु दण्ड तक दे सकता था। धीरे धीरे परिवार स्वाभाविक गति से, परिग्रहण (adoption) से और दूसरे समुदायों को जीत कर अपने मे आत्मसात् (assimilate) करके बढने लगे। लेकिन परिवार के प्रमुख की सत्ता सभी सदस्य मानते थे। उसकी मृत्यु के पश्चात सत्ता सबसे वृद्ध पुरुष वशज को सौंप दी जाती थी। धीरे-धीरे एक परिवार के कई परिवार बन गए और वे मिलकर एक कुनबे म परिवर्तित हो गए। इस कुनबे का प्रधान भी प्राय सबसे वृद्ध पुरुष होता था। इसी प्रकार, कई कुनबो के बन जाने से एक कबीला बन गया और कहीं-कहीं पर इन कबीलो के सघ बने। इन कबीलो और कबीलो के सघ ने कुछ स्थानो पर धीरे-धीरे राज्य का रूप धारण कर लिया। इस सिद्धात से यह स्पष्ट हो जाता है, कि मनुष्य की प्राथमिक अवस्था मे, समाज व्यक्तियों का समूह न होकर परिवारो का समूह होना था अर्थात् परिवार ही समाज की इकाई थे।

मातृसत्तात्मक सिद्धात—इस सिद्धात के प्रमुख समर्थको मे मंक्लेनन, मोर्गन और जेक्स हैं। इन विद्वानो का मत है कि प्राथमिक परिवार का रूप पितृसत्तात्मक न होकर मातृसत्तात्मक था। उनके अनुसार जब तक एक पति-पत्नी परिवारो का जन्म नही हुआ, पितृसत्तात्मक परिवार नही बने। उनके अनुसार मनुष्यो के प्राथमिक समाजो म स्वच्छद यौन सबध थे। ऐसी दशा मे केवल माँ के सबध मे ही निश्चित रूप से जाना जा सकता था, अतएव वश गणना माँ के नाम से चलती थी। पिता के सबध मे कोई निश्चित ज्ञान न होता था। इन परिवारों मे प्रमुख पुरुष न होकर स्त्रियाँ ही होती थी। अतएव इन परिवारो को मातृसत्तात्मक कहा गया है। इन परिवारो म रहने वाले पुरुष दूसरे कबीलों के होते थे जो स्त्रियो के पास आकर रहने लगते थे। जैक्स ने आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों के जीवन का अध्ययन करने के पश्चात् मेन की इस धारणा को ठुकरा दिया कि समाज के विकास का प्रारम्भ पितृसत्तात्मक परिवार से होता है जिनके विस्तार से आगे बढकर कबीले और राज्य बनते हैं। उसके अनुसार प्राथमिक जनसमूह परिवार न होकर 'टोटम' अथवा कबीला होता है। बाद मे ये कबीले विभाजित होकर अनेक कुनबो मे रहने लगते हैं और तत्पश्चात् इन कुनबो के अन्तर्गत परिवारो का जन्म होता है। चारागाह युग मे स्वच्छद यौन सबध समाप्त हो जाते हैं और बहु पत्नी अथवा एक पत्नी विवाहों का सूत्रपात हो जाता है। ऐसा होने पर ही पितृसत्तात्मक परिवार बनते हैं। इस प्रकार जैक्स के अनुसार, सर्वप्रथम सम्मिलित विवाहो का युग आता है जिसमे वश-गणना माँ के नाम से होती है और सत्ता भी माँ के नाम से चलती है। ऐसे

परिवारो मे केवल मां ही सम्पत्ति की अधिकारिणी हो सकती है।

आलोचना—हम देख आए हैं कि किस प्रकार मार्गन और जैक्स आदि विद्वानों ने पितृसत्तात्मक सिद्धात का विरोध किया और बताया कि प्राथमिक परिवार मातृसत्तात्मक थे। हम यह भी देख चुके हैं कि किस प्रकार जैक्स ने यह प्रदर्शित किया कि प्राथमिक सामाजिक गिरोह परिवार न होकर कबीले थे और कबीलो के टूटने से धीरे धीरे कुनबो और परिवारो का जन्म हुआ। लेकिन पितृसत्तात्मक सिद्धांत ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित नही है। यही बात कुछ सीमा तक मातृसत्तात्मक सिद्धात के सबध मे भी कही जा सकती है। जैसा कि मैकीवर ने स्पष्ट किया है स्त्री सर्वदा कुलगणना का हेतु रही है। उत्तराधिकार म सम्पत्ति भी उसी को प्राप्त होती थी, तथापि उसने स्वय कभी सत्ता का उपभोग नही किया। इसके अतिरिक्त जैसा कि अरस्तू लगभग 2300 वर्ष पहले कह चुका है, परिवार और राज्य मे बहुत बडा अतर है और यह अतर उनके सगठन, कार्यों और उद्देश्यो आदि के सबध मे है। अतएव यह कहना कि परिवार से राज्य बने, युक्तिसगत प्रतीत नही होता। परिवार के अतर्गत सत्ता की स्थिति स्वाभाविक होती है किंतु राज्य म उसकी स्थिति 'जन इच्छा' पर निर्भर है। परिवार का सिद्धात आधिपत्य और आज्ञा-पालन है जबकि राज्य का सिद्धात समानता है। इन कारणो से राज्य को परिवार के स्वाभाविक प्रसार के रूप म देखना अनुचित होगा।

यही नही, जैसा कि फ्रेजर ने कहा है, प्राथमिक सामाजिक सगठनो के सबध मे सामान्यीकरण करते समय सावधानी की आवश्यकता है। वस्तुत पुराने सामाजिक सबध उतने ही जटिल हैं जितने कि आधुनिक, और उनकी गवेषणा करते समय हमको पूर्वकल्पनाएँ नही बनानी चाहिए। ऐसा करने का दुष्परिणाम यह होगा कि हम सामाजिक जटिलता को बारीकी से समझने के स्थान पर शीघ्रता में ऐसे निष्कर्ष बना लेंगे जो सरल होने पर भी यथातथ न होंगे। सच यह है कि जटिल दशाओ का अध्ययन और उससे निष्कर्ष निकालते समय हमें बडे धीरज से काम लेना चाहिए। इन बातो को देखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यद्यपि इन दोनो सिद्धातो म कोई भी राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या नही करता, तथापि ये दोनो सिद्धांत वश अथवा रक्त-सबध के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं और बताते हैं कि किस प्रकार ये सामाजिक बधनों को सुदृढ बनाने मे सहायक होते हैं, जिनके बिना राज्य का उदय सम्भव न होता। इस प्रकार, रक्त सबधो ने सुदृढ सामाजिक सगठनो की रचना कर आगे चलकर राज्य के विकास को सम्भव बना

दिया।

5. राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धांत

हमने कल्पना पर आधारित राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांतों का विवेचन करने पर यह पाया कि यद्यपि उन सभी में कुछ न कुछ दोष हैं, तथापि वे सत्य के कुछ अंशों का उद्घाटन भी करते हैं। अब हमारे पास इतिहास, मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के माध्यम से इतने तथ्य एकत्रित हो गए है कि हमको कल्पना का सहारा लेने की आवश्यकता नही रह गई। अब हम कह सकते हैं कि राज्य को न तो भगवान् ने जन्म दिया, न दैवी इच्छा से उसकी उत्पत्ति हुई, न केवल बलप्रयोग से उसका उद्भव हुआ और न संविदा से वह बना। वह परिवार के स्वाभाविक विकास और प्रसार का परिणाम भी नही है। वह किसी विशेष समय सोच समझकर नही बनाया गया, अपितु धीरे-धीरे बना। इसके विकास का प्रारम्भ इतना रहस्यमय है कि बर्क के मतानुसार इस संबंध में शोध न करना ही अच्छा होगा। किंतु बर्क के इस विचार को राजनीतिशास्त्री स्वीकार नही करते। यथासम्भव वे प्रयत्न करते हैं कि राज्य के विकास से संबंधित अधिक से अधिक तथ्य एकत्रित हो सकें।

आदिमकालीन मनुष्य के जीवन के संबंध में हमारा ज्ञान अधूरा है। हम केवल इतना जानते हैं कि इस युग में मनुष्य समाज की दृढ़ नींव पडी। जहाँ तक ऐतिहासिक तथ्यों का प्रश्न है हम किसी ऐसे समय के संबंध में निश्चित रूप से नही जानते जब मनुष्य ने एकाकी जीवन व्यतीत किया हो। तथापि समाज का रूप निरंतर बदलता रहा है। धीरे धीरे सामाजिक विकास की एक ऐसी अवस्था आती है जब राज्य विकसित हो जाता है। राज्य के निर्माण में जिन महत्वपूर्ण शक्तियों ने भाग लिया उन पर एक-एक करके हम विचार करेंगे। ये शक्तियाँ हैं :

(1) रक्त-संबंध अथवा बंधुत्व ;

(2) धर्म ;

(3) आर्थिक आवश्यकताएँ ;

(4) संघर्ष और युद्ध ; और

(5) राजनीतिक चेतना।

रक्त संबंध—इसमें कोई संदेह नही है कि प्रारम्भिक जन-समुदायों का आधार रक्त-संबंध अथवा बंधुत्व था। समाज रक्त-संबंध की उनकी धारणा किस सीमा तक तथ्यों पर आधारित थी और कहाँ तक कल्पना पर, यह हमारे लिए विशेष महत्व की बात नही है। हाँ, इस विश्वास से प्रेरित होकर यदि

महत्त्वपूर्ण योग दिया और राज्य की उत्पत्ति में सहायता दी। गैटिल के कथनानुसार प्रारम्भिक समाज मे रक्त-संबंध और धर्म एक ही वस्तु के दो पक्ष थे। प्रत्येक 'टोटम' और कबीले का अपना पृथक् 'धर्म' होता था। वे प्राकृतिक शक्तियो और अपने पूर्वजो की पूजा करते थे। उनका प्रधान केवल सामाजिक नेता ही नहीं होता था, अपितु उनका सर्वोच्च धर्माधिकारी भी होता था। धार्मिक कृत्य गुप्त रूप से किए जाते थे और बाहरी व्यक्तियो को इन्हें जानने का अवसर नही दिया जाता था। उनमे गोद लेने का ढग ही यह था कि जिस व्यक्ति को अपने समूह मे सम्मिलित करना हो उसको धार्मिक कृत्यों मे भाग लेने दिया जाए। इस प्रकार, वह उस समाज का एक सदस्य बन जाता था।

धर्म ने केवल सामाजिक एकता को ही दृढता प्रदान नही की, अपितु लोगो मे अनुशासन और आज्ञापालन की भावनाओ को भी दृढ किया। गैटिल के अनुसार, 'राजनीतिक विकास के प्राचीनतम कठिन समय मे केवल धर्म ही, बर्बरतापूर्ण अराजकता का अत कर, श्रद्धा और आज्ञापालन की शिक्षा दे सकता था। अनुशासन मनवाने और सत्ता की आधीनता स्थापित कराने मे··· मनुष्यों को सहस्त्रो वर्ष लगे'। जैक्स के अनुसार, प्राचीन धर्म आत्माओ और भूतप्रेतो मे विश्वास करते थे। कबीले के प्रमुख का एक विशिष्ट कर्तव्य पूर्वजो की आत्माओ को तृप्त रखना था जिससे वे प्रसन्न होकर जनसमुदाय की उन्नति मे सहायक हो। कुछ लोगो का जादू-टोने मे भी विश्वास था और वे व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक रूप से इसका आश्रय लेते थे। आत्माओ को प्रसन्न रखने वाले व्यक्ति प्रभावशाली होते थे[1]। जेम्स फ्रेजर के अनुसार, धीरे धीरे जादू-टोना करने वाले लोग अत्यत महत्त्वपूर्ण बन गए। भूमि की उपज, वर्षा का होना या न होना, फसल का अच्छा होना या न होना, सभी उनकी कृपा पर निर्भर माना जाता था। आगे चलकर, यही जादू-टोना करने वाले व्यक्ति पुजारी-राजा बन बैठे। आज भी समाज मे पुरोहित और महतो का बहुत आदर होता है। इस सबध मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सामान्य रक्त-संबंध पर आधारित भावनाओ का ह्रास होने के पूर्व धर्म इतना शक्तिशाली बन चुका था कि वह स्वत भी समाज को सुदृढ बनाए रह सकता था।

आर्थिक आवश्यकताएँ—जीवित रहने के लिए मनुष्य को भोजन-पानी चाहिए। यदि जीवन की नितात आवश्यक वस्तुओं को ही ले लिया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनकी सतुष्टि के लिए पारस्परिक सहयोग की बहुत आवश्यकता होती है। बिना मिलजुल कर काम किए वे अपना जीवन निर्वाह भी नही कर सकते। प्रारम्भिक समाजो मे तीन प्रकार की आर्थिक दशाएँ

1 *The State and the Nation*, पृष्ठ 29-33 और 61-70.

पायी गयी हैं जिनका क्रमश विकास हुआ ।

1. शिकारी अवस्था ;
2 पशुचारण की अवस्था , और
3. कृषि-युग ।

पशुचारण युग मे सम्पत्ति का जन्म होता है, श्रम-विभाजन का सूत्रपात होता है, सम्पत्ति पर आधारित वर्ग बनने लगते हैं और समाज मे पुरुषो का प्रभुत्व बढने लगता है । कृषि-युग मे मनुष्य स्थायी रूप से एक साथ रहने लगते हैं । धीरे-धीरे बन्धुत्व का स्थान पडोस ले लेता है और सामाजिक एकता एव सुदृढता का आधार बन जाता है ।

अनेक विद्वानो के अनुसार, जिनमे रूसो और मार्क्स भी हैं, सामाजिक विकास मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव का स्थान महत्त्वपूर्ण है। मैकीवर के अनुसार भी, यौन-सबध और सम्पत्ति सामाजिक ढाचे के निर्माण मे महत्वपूर्ण भाग लेते हैं[1] । धीरे-धीरे भूमि की रक्षा का प्रश्न प्रमुख बन जाता है और सम्पत्ति-सबधी नियम आवश्यक हो जाते हैं । झगडो को सुलझाने के लिए और निर्णयों को लागू करने के लिए एक सामान्य सत्ता आवश्यक हो जाती है ।

सघर्ष और युद्ध—बलप्रयोग के सिद्धात का विवेचन करते समय हम देख चुके हैं कि गिरोहो और कबीलो के आपसी झगडो ने सगठित समाज के बनाने मे बडा योग दिया । इनके कारण, गिरोहों का नेतृत्व वृद्ध पुरुषो के हाथो से निकलकर वीर युवको के हाथों मे चला जाता है जो डटकर शत्रु का सामना करते हैं और बाहरी आक्रमण से अपने गिरोहो की रक्षा करते हैं । मैकीवर के अनुसार, विजय और आधिपत्य ने भी राज्य के बनने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया । साधारणत. समाज को विकेंद्रित करने वाले इतने अधिक तत्त्व रहते हैं कि उसका स्वाभाविक विकास कठिन हो जाता है और धीरे-धीरे व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है[2] । इसी आवश्यकता के वशीभूत होकर, अनेक कबीलो ने ढीले-ढाले परिसघ (Confederacies) बनाए ; किंतु ये राज्य के रूप मे कभी परिवर्तित नही हुए । राज्य के निर्माण मे, समानता से नही, बल्कि आधिपत्य ने महत्वपूर्ण भाग लिया और सहयोग एव बन्धुत्व के स्थान पर वर्ग-व्यवस्था कायम हुई । इस परिवर्तन का प्रमुख कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति था ।

प्रारम्भ मे सामाजिक सगठन और राजनीतिक सगठनो की विभाजक रेखा नही थी । जब एक बार सगठित समाज बन जाता है तो धीरे-धीरे कुछ ऐसी

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 31.
2 वही, पृष्ठ 51.

शक्तियाँ काम करने लगती हैं कि राज्य के तत्त्व भी दिखाई देने लगते हैं। नीत्शे और ट्रीटस्के के अनुसार, राज्य के निर्माण में शक्ति की कामना और आत्म-अभिव्यक्ति की भावना ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। साल्टाऊ के अनुसार, ऐतिहासिक दृष्टि से संघर्ष और युद्ध राज्य के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। यह सत्य है कि किन्हीं दो गिरोहो का मेल, भले ही वह विजय पर आधारित हो, धीरे धीरे एकता और सामान्य भावना को जन्म देता है[1]।

राजनीतिक चेतना—धीरे धीरे व्यक्तिओं को अपनी रक्षा और हित के लिए व्यवस्था तथा नियन्त्रण की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है। उनमें अपने नेताओ के आदेशों का पालन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, और यह प्रवृत्ति रक्त-सबंध अथवा धर्म पर आधारित न होकर सामान्य आवश्यकताओ के कारण होती है। यह राजनीतिक चेतना राजनीतिक सत्ता और राज्य के निर्माण मे विशेष रूप से सहायक होती है। मैकीवर के अनुसार, यह कहना बहुत कठिन है कि राज्य का प्रारम्भ कब हुआ ? मोटे रूप मे केवल यह कहा जा सकता है कि नेतृत्व और आज्ञापालन की प्रवृत्तियों पर ही राज्य और शासन आधारित हैं[2]। इन्ही प्रवृत्तियों ने आगे चलकर सैन्य शक्ति को सगठित किया। गिरोह के प्रमुख की सत्ता को ही आगे चलकर राज्यसत्ता कहने लगे।

शक्ति से हमारा अभिप्राय केवल यह नहीं है कि बहुत से व्यक्ति एक व्यक्ति की अधीनता स्वीकार कर लें। इसमे वर्ग-सगठन भी निहित है जिसका आधार मनुष्यों की असमानता है। अनेक प्रकारों से विशिष्ट गिरोह और निहित-स्वार्थ बन जाते हैं जो नेता अथवा राज्यसत्ता का साथ देकर स्वय भी अपनी शक्ति को बढ़ाते रहते हैं। इस प्रकार, राज्यसत्ता का और उनका अपना, दोनों का ही हित-साधन होता है, और विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के हित राज्य के हित बन जाते हैं[3]। इस प्रकार यह वर्ग सत्ता का उपभोग करने लगता है।

गिलक्राइस्ट यह स्वीकार करता है कि राजनीतिक चेतना का प्रारम्भिक रूप अचेतन और अविकसित होता है। किंतु जैसे जैसे राज्य के तत्त्व दृढ होते जाते हैं राजनीतिक चेतना भी क्रमश विकसित होती जाती है और बन्धुत्व, धर्म आदि का स्थान देशभक्ति ले लेती है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि राज्य के जन्म की कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती, और न राज्य की उत्पत्ति का कोई विस्तृत विवरण ही दिया जा सकता है। अधिक से अधिक हम उन तत्त्वों की

1 *An Introduction to Politics*, पृष्ठ 53

2 उपर्युक्त ग्रंथ पृष्ठ 42

3 वही, पृष्ठ 48-49.

विवेचना कर सकते हैं जिन्होंने राज्य के निर्माण में सक्रिय योग दिया। इन सभी तत्वों ने मिलकर कार्य किया है, कुछ कम और कुछ अधिक। सभी ने इतिहास और मानव-स्वभाव की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देकर अराजकता का अंत किया और अनुशासन एवं संगठन की नीवें दृढ़ कीं। रक्त संबंध पर आधारित समाज और राजनीतिक संगठन में एक-साथ अथवा एक-ढंग से परिवर्तन नहीं हुए। सरकारों की बनावट और व्यक्तियों के साथ सरकार के संबंध विविध प्रकार के होते हैं, तथापि हम कह सकते हैं कि राज्य का विकास क्रमिक और स्वाभाविक रूप से हुआ। इसे दैवी इच्छा ने नहीं बनाया, न मनुष्यों ने मिलकर इसका निर्माण किया। इसका प्रारम्भ विगत इतिहास की परतों में छिपा पड़ा है और अधिक गहराई से इसकी जांच-पड़ताल करने से कोई विशेष लाभ नहीं दिखाई देता[1]।

6. राज्य के स्वरूपों का विकास

राज्य का विकास नियमित रूप से नहीं हुआ और न सब स्थानों पर उसका रूप ही एक रहा है। कुछ विद्वानों ने राज्य के विकास के चक्र का चित्रण किया है। उनका मत है कि राज्य के रूप एक निश्चित क्रम से बदलते रहते हैं और अपकर्ष पर पहुँच कर पुनः परिवर्तन का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है। वस्तुतः राज्य का विकास रेखाकार क्रम से नहीं होता। विभिन्न परिस्थितियाँ विविध प्रकार के राज्यों को विकसित कर देती हैं। तथापि, व्यापक रूप में हम कह सकते हैं कि राज्य के विकास का क्रम है : कबीलाई संगठन, प्राच्य साम्राज्य, नगर-राज्य, रोमन साम्राज्य, सामंती राज्य, आधुनिक राज्य आदि।

राज्य के पूर्ववर्ती कबीलाई संगठन—प्राचीनतम राजनीतिक संगठन कबीलाई ढंग के थे। ये संगठन सामान्यतः जनसंख्या और क्षेत्रफल में छोटे थे और सामान्य बन्धुत्व के धागे में घिरे रहते थे। कहीं-कहीं ये घुमन्तू होते हैं, किंतु प्रायः ये एक निश्चित भूभाग पर स्थायी रूप से निवास करने लगते थे। इन संगठनों में प्रथा और परम्पराओं का बोलबाला था और कबीलाई प्रमुख इनके शासक होते थे। कभी-कभी अनेक कबीले मिलकर एक संघ बना लेते थे[2]।

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 48.

2 देखिए लेखक का शोध ग्रंथ *The Nationalities Problem in the U. S. S. R.* (प्रयाग तथा आगरा विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में उपलब्ध, 1959), अध्याय 3, परिच्छेद 1, जिसमें यह धारणा व्यक्त की गई है कि कबीलों के संघों के पश्चात्, किंतु प्राच्य साम्राज्यों के पूर्व, 'सैनिक लोकतंत्र' स्थापित होता है। यह 'हिलेवन्द नगर' को केन्द्र बनाकर स्थापित होता है।

मैकीवर के अनुसार, इस प्रकार के कबीलाई सगठन राज्यों के रूप में बहुत कम विकसित हुए। इन आदि समाजो म अतिरिक्त-धन (Surplus wealth) के अभाव मे वर्ग व्यवस्था न बन सकी, जिसके बिना समाज और राज्य का विभेद सम्भव नही हुआ।

प्राच्य साम्राज्य—सर्वप्रथम प्रादेशिक राज्य प्राच्य साम्राज्य थे जिनका जन्म नील, गगा, सिंधु, आदि नदियो की घाटियो मे हुआ। इन घाटियो मे अच्छी उपज होने के कारण सम्पत्ति का सग्रह हो सका और बडे-बडे नगर स्थापित हुए जो प्राथमिक साम्राज्यो के केंद्र बन गए। इसी प्रकार के साम्राज्य सुमेरिया, असीरिया, फारस, मिस्र, चीन और भारत मे स्थापित हुए। प्राथमिक समाजो मे जैसे-जैसे बन्धुत्व पर आधारित सगठनो की अवनति हुई, वर्ग-सगठनो का अपेक्षाकृत महत्त्व बढने लगा[1]। शनै शनै आधिपत्य पर स्थापित एक सैन्य-व्यवस्था कायम हो गई। इस प्रकार, राज्य के पास अब दो प्रमुख शक्तियाँ थी : सैन्यबल और धार्मिक सभ्रम (awe)[2]।

ये साम्राज्य दृढतापूर्वक सगठित नही थे। इनमे अनेक आधीन कबीले होते थे जो कि अपने स्थानीय अथवा जातीय मामलों मे तो स्वायत्त थे किंतु केंद्रीय शासन को समय समय पर सैनिक सहायता देते थे और भेंट प्रस्तुत करते थे। सम्राट की शक्ति निरकुशता पर आधारित थी। सचार और यातायात के साधन बहुत पिछडे हुए थे। अतएव एक दृढ और शक्तिशाली केंद्रीय शासन का बनना बहुत कठिन था। अत ये प्रारम्भिक साम्राज्य बहुत अस्थिर थे और वे बनते बिगडते रहते थे। इनमे न एकता थी और न दृढ सगठन। इनमे व्यक्तिगत स्वतत्रता का भी अभाव था। जब भी शासक वश निर्बल होता था, तत्काल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता था[3]। तथापि इन साम्राज्यो ने सकुचित बन्धुत्व पर आधारित कबीलाई सगठनो को मिलकर रहने और अनुशासन मानने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने का सफल कार्य किया।

प्रारम्भिक नगर राज्य—प्राच्य साम्राज्य अतर्देशीय होते थे। उनके लिए समुद्र एक राजपथ न होकर प्राकृतिक बाधा के रूप मे था। इनकी सभ्यताओ के केंद्र घाटियो मे होते थे, समुद्र के किनारे नही। किंतु शनै शनै लोगो को यह ज्ञात हो गया कि जो लोग समुद्र को अपने काबू में कर सकते हैं, उनको बहुत अधिक शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है। इस अनुभव के बाद, एक नए प्रकार की राजनीतिक सत्ता का उदय हुआ और क्रीट, ट्राय, आदि मे नयी

1 मैकीवर, उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 55
2 वही, पृष्ठ 56-57.
3 वही, पृष्ठ 58.

सभ्यताओं ने जन्म लिया। इनका उत्कर्ष यूनान के नगर-राज्यों में हुआ, जिन की सभ्यता की नींव दास-प्रथा पर आधारित थी। इन नगरों के स्वतंत्र नागरिकों से यह आशा की जाती थी कि वे सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय भाग लें। अतएव इन नगर-राज्यों ने अत्यधिक राजनीतिक विकास किया और स्वायत्त-शासन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। किंतु इनमें कुछ कमियाँ भी थीं। ईसा पूर्व की चौथी सदी तक आते-आते ये नगर-राज्य गरीब और अमीरों के दलों में विभाजित हो गए थे जो निरंतर लड़ते रहते थे। इसके परिणामस्वरूप समूचे यूनान पर विस्तृत एक यूनानी राज्य न बन सका। कई बार ढीले-ढाले संघ अवश्य बने किंतु लगातार चलने वाले इन युद्धों ने प्रमुख नगर-राज्यों की शक्ति को निर्बल कर दिया। एकता और अनुशासन के अभाव में ये नगर-राज्य पिछड़ गए। जब तक ये नगर-राज्य अपने उत्कर्ष पर थे, इनमें कानून और प्रथा में बहुत कम भेद था और ये मनुष्य-जीवन के विभिन्न पहलुओं को नियंत्रित करने का प्रयास करते रहे।

रोमन साम्राज्य—जिस समय ये नगर-राज्य छिन्न-भिन्न हो रहे थे, कार्थेज और रोम में नए जनसमुदाय बने। रोमन राज्य तीन अवस्थाओं में होकर निकला : नगर-राज्य की अवस्था, जनतन्त्र की अवस्था, और साम्राज्य की स्थिति। इनमें से प्रथम अवस्था में रोम में भी वही राजनीतिक प्रवृत्तियाँ कायम थीं जो यूनानी नगर-राज्यों में भी थीं। रोमन। जनतंत्र की स्थापना 510 ई० पू० हुई। लगभग दो शताब्दियों तक कुलीन वर्ग और साधारण लोगों में राजनीतिक संघर्ष होते रहे। अंत में शासित वर्ग को भी समान अधिकार प्राप्त हुए। आगे चलकर रोमन साम्राज्य बना जिसके राजा को वंशानुगत उत्तराधिकार प्राप्त थे, किंतु साथ ही उसे निर्वाचित भी किया जाता था। वही सर्वोच्च न्यायाधीश और पुरोहित भी था। कुछ सीमा तक कुलीन परिवारों में राजसत्ता निहित थी। रोम राजनीतिक एकता बनाए रखने में सफल हुआ। उसमें यूनान के नगर-राज्यों की अपेक्षा अधिक स्थायित्व था।

रोम ने पड़ोसी इटैलियन राज्यों को हड़प कर अपने साम्राज्य का सूत्रपात किया। उसने समस्त इटली, कार्थेज और सिकन्दर महान् के पूर्वी राज्य के कुछ भागों को हस्तगत कर लिया। ईसा के समय तक आते-आते रोम एक व्यापक साम्राज्य बन चुका था। इस साम्राज्य में सत्ता और संगठन केंद्रित थे और सम्राट निरंकुश था। जन-सभाओं का महत्त्व कम हो गया था। सीनेट सम्राट् के प्रभाव के अन्तर्गत आ गई। अतः राज्याज्ञाएँ कानून के सदृश मानी जाने लगीं और फिर ऐसा समय आया जब रोमन सम्राट की पूजा होने लगी। ईसा की चौथी शताब्दी में ईसाई मत को राज्यधर्म मान लिया गया। सारी शान-

शोकत के होते हुए भी रोमन साम्राज्य में कुछ कमियाँ थी। इसमे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विशेष आदर न था, उच्च वर्ग पतित हो गया था, और आर्थिक ढाँचा विश्रृखलित हो गया था। यही बातें आगे चलकर साम्राज्य के अत का कारण बनी।

सामती राज्य—*रोमन साम्राज्य के विघटन होने पर, कबीलाई सगठन* फिर महत्त्वपूर्ण बन गए। ये कबील अपने मामलो मे स्वायत्त होते थे। इनके नेता जनता द्वारा निर्वाचित होते थे। मैकीवर के अनुसार, मध्यकालीन पाश्चात्य यूरोप से राज्य लगभग लुप्त हो गया अथवा यो कहिए कि वह जनसमुदाय मे विलीन हो गया। एक शक्तिशाली राज्य के स्थान पर सत्ता विकेंद्रित होकर बिखर गई। सामती व्यवस्था का जन्म हुआ। धर्म का जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया और राजनीतिक पद वशानुगत हो गए। व्यापार के समाप्त होने से भूमि और कृषि का महत्त्व बढ गया, और भूमि के मालिक सामत बन गए। प्रत्यक कुलीन व्यक्ति के अधीन अनेक किसान और दास होते थे। इस प्रकार, भू सम्पत्ति के स्वामित्व के आधार पर भेद हो गए।

गेटिल क अनुसार सामतवादी समाज मे न एकता हो सकती है और न स्वतन्त्रता। अत सदियो से किए जाने वाले समस्त राजनीतिक प्रयत्न व्यर्थ ही गए। रोम साम्राज्य का जब पतन हुआ तो ईसाई चर्च ही केवल एक ऐसी सस्था थी जो लगभग अछूती बनी रही। दृढ शासन के अभाव मे, राज्य के कुछ कार्यों को चर्च स्वय करने लगी। धीरे-धीरे चर्च अत्यत समृद्धिशाली और शक्तिशाली बन गयी। इसका प्रमुख पोप था जो अब यह दावा करने लगा कि उस का स्थान सभी ईसाई राजाओ के ऊपर है। इसके कारण उत्तर मध्यकाल मे चर्च और सत्ता के बीच प्रबल सघर्ष हुए। यद्यपि सामतवादी समाज मे, सच्चे अर्थ मे राज्य वर्तमान न था, तथापि राजकीय एकता की भावना अक्षुण्ण बनी रही।

आधुनिक काल—सामतवादी समाज का कोई निश्चित राजनीतिक रूप न था। इसका अत होने पर आधुनिक राज्यो का उदय हुआ। वशानुगत सबधों के स्थान पर प्रादेशिक सबध स्थापित हुए, राष्ट्रीय भाषाओं का जन्म हुआ, जातीय मिश्रण से बन राष्ट्रो का जन्म हुआ और राष्ट्रीय चेतना फैली। इन परिवर्तनों के मूल म उत्तर मध्यकाल म नए सिरे से दस्तकारी, व्यापार और नगरो की स्थापना थी। मुद्रा के चलन और प्रसार, बारूद के अन्वेषण, यातायात के साधनो मे सुधार आदि से समाज की नई व्यवस्था को प्रोत्साहन मिला। लेकिन जब तक एक सामान्य ईसाई चर्च सगठित थी, आधुनिक राज्यों का सर्वागपूर्ण विकास कठिन था। सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ म धार्मिक सुधार

की लहर ने इस समस्या का समाधान कर आधुनिक राज्यो के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। इस प्रकार, यूरोप मे राष्ट्रीय रूप से सगठित अनेक राज्यो की स्थापना हुई जिनमे इगलैंड, फ्रांस, स्पेन प्रमुख थे। व्यावसायिक और व्यापारिक वर्ग, अपने आर्थिक लाभ की दृष्टि से, शात और व्यवस्था के पोषक हो गए और साथ ही राष्ट्रीय एकता के प्रबल समर्थक भी। उन्होने राष्ट्रीय राजाओ, राष्ट्रीय सेना और कर-व्यवस्था कायम करने मे बहुत सहायता दी। यह रोमन धारणा कि राजा की इच्छा ही कानून है, नई सत्ता के समर्थन मे प्रयुक्त की जाने लगी। साथ ही राजाओ के दैवी अधिकारो के सिद्धात का प्रचलन भी इसी समय हुआ, तथापि ये निरकुश राजतत्र स्थायी न बन सके। जैसे ही सामतवाद का अत हुआ और राज्य को चर्च से सघर्ष से छुट्टी मिली, इस नए व्यापारी (मध्यम) वर्ग ने राजनीतिक सत्ता मे अपना भाग मांगा। इसके कारण, राजा और इस वर्ग मे सघर्ष हुआ और अतत विजयश्री मध्य-वर्ग को मिली। उन्नीसवी शताब्दी तक आते-आते, श्रमिक वर्ग भी सगठित होने लगा और उस ने मध्य-वर्ग की आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का विरोध करना शुरू कर दिया, और यह वर्ग-सघर्ष आज भी विभिन्न रूपो मे दृष्टिगोचर है।

आगे के विकास की दिशा—विकास की यह प्रक्रिया सीधी नही है। इगलैंड मे यह शातिपूर्ण और क्रमिक हुई जबकि फ्रास मे रक्तपातपूर्ण क्राति हुई। इस बीच, लोकतत्र की भावना और उससे प्रभावित अनेक सस्थाओ का जन्म हुआ जिनमे प्रमुख हैं स्थानीय स्वशासन, नागरिक स्वतत्रता की गारटी, शासन की निरकुशता पर रोक (अर्थात् सविधानी शासन का उदय), वयस्क मताधिकार आदि। किंतु राजनीतिक विकास का क्रम जारी है और इस समय दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ विद्यमान है : पराधीन देशों की स्वतत्रता की मांग और अपने जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की उत्कट अभिलाषा। दूसरी ओर, सकुचित राष्ट्रीयता के दोष भी दृष्टिगोचर होने लगे है और अनेक विद्वान बहुराष्ट्रीय राज्य अथवा विश्व-व्यापी सघ की आवश्यकता पर बल देने लगे हैं। प्रश्न यह है कि आज के युग मे, जब अनेक प्रकार के राजनीतिक तनाव बने हुए हैं, एक विश्व सघ की स्थापना कैसे स्थापित हो ? सघर्ष के अनेक कारण अब भी उपस्थित है साम्राज्यवादी राज्यो और पराधीन देशो की जनताओ मे सघर्ष, जाति और वर्ण पर आधारित भेदभाव के विरुद्ध सघर्ष; समृद्ध देशो और निर्धन तथा अविकसित देशो के हितो मे सघर्ष, अनेक मतो और वादो के समर्थकों के बीच सघर्ष; शक्तिशाली देशा और निर्बल देशो के दृष्टिकोणो मे मतभेद, आदि। इन भेदभावो, मतभेदो, तनावो और सघर्षो को दूर कर कैसे एक विश्व-सघ की स्थापना की जाए जिसमे सभी व्यक्तियो को समान नागरिक अधिकार प्राप्त हो ? यद्यपि

आगे का मार्ग स्पष्ट रूप से दिखाई नही दे रहा, तथापि यदि हम किसी न किसी प्रकार काँटों को हटाते हुए अपना मार्ग प्रशस्त नही करेंगे तो सम्भव है कि मानव-सभ्यता और संस्कृति का ही अंत हो जाए। हमे आशा और विश्वास है कि मानव जाति मे इतना साहस और क्षमता है कि वह ऐसी निराशावादी स्थिति से बचने का कोई न कोई उपाय ढूंढ निकालेगी और सुख-समृद्धि और प्रगति की ओर अग्रसर होगी।

6

राज्य का स्वरूप, उसके उद्देश्य और कार्य

हम प्रश्न कर सकते हैं कि राज्य एक साध्य है अथवा साधन। जो लोग सम्मति पर बल देते हैं, उनके लिए स्पष्टतः राज्य एक साधन है, किंतु जो लोग नैतिक अथवा शक्ति-सिद्धांत में विश्वास करते है, उनके लिए राज्य अच्छा हो या बुरा, स्वतः ही साध्य है।

—फ्रांसिस ग्रेहम विलसन

1. राज्य का स्वरूप

हम देख चुके हैं कि राज्य पर अनेक दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। एक जीवशास्त्री के लिए, वह एक प्राणी के समान है; एक समाजशास्त्री के लिए, वह सामाजिक तथ्य है; एक मनोवैज्ञानिक के लिए, वह एक मानसिक रचना है; एक ऐतिहासिक के लिए, वह ऐतिहासिक उपज है; एक आदर्शवादी के लिए, वह जनता की 'यथार्थ इच्छा' का प्रतीक है; एक यथार्थवादी के लिए, वह शक्ति अथवा बल-प्रयोग का प्रतीक है; एक विधि-शास्त्री के लिए *वह एक ऐसा कृत्रिम व्यक्ति है जो नागरिकों और व्यक्ति-समूहों के अधिकारो और कर्त्तव्यों मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है और जिसका संकल्प कानून के रूप में प्रकट होता है;* और एक मार्क्सवादी के लिए, यह *शासक वर्ग का दूसरे वर्गों पर आधिपत्य जमाने का एक साधन है।* विचारो की इस विविधता से यह स्पष्ट हो जाएगा कि राज्य के स्वरूप के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इन विभिन्न मतावलम्बियों के विचारों का यथास्थान

विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाएगा। यहाँ हम केवल राज्य के स्वरूप से संबंधित जैविक सिद्धांत की व्याख्या करेंगे।

जैविक सिद्धांत—यह सिद्धांत राज्य को एक जीव या प्राणी के रूप में मानता है। इसके अनुसार, राज्य एक जीवित शरीर है जिसके विभिन्न अंग अन्य जैविक शरीरों के समान अपने काम करते हैं। इस प्रकार, यह सिद्धांत राज्य में व्यक्तियों को वही स्थान देता है जो शरीर में विभिन्न अंगों के होते हैं। इसके अनुसार, व्यक्तियों के पारस्परिक संबंध भी उसी प्रकार अन्यान्योश्रित होते हैं जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के एक-दूसरे के साथ।

यह सिद्धांत अति-प्राचीन है। प्लेटो के विचारों में भी हमें इस सिद्धांत की झलक मिलती है। अरस्तू ने भी इस समानता की चर्चा की है। मध्यकालीन यूरोप में भी राज्य को एक जीवित शरीर के रूप में माना जाता रहा जिसको नियंत्रित करने वाली दो सत्ताएँ बताई गईं, एक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और शरीर के नियंत्रण के लिए और दूसरी आध्यात्मिक उन्नति और उसके निर्देशन के लिए। इनमें प्रथम को उन्होंने 'राज्य' का नाम दिया और दूसरी को 'चर्च' का। आगे चलकर हॉब्स, रूसो, बर्क आदि आधुनिक विचारकों में भी इस सिद्धांत की झलक मिलती है। समूहों की चर्चा करते हुए हॉब्स ने कहा है कि राज्य में इनका स्थान वही है जो कि शरीर की अँतड़ियों में प्रजीवियों का। यही नहीं, हॉब्स ने प्रभुसत्ता की मनुष्य की आत्मा से तुलना की, उच्चाधिकारियों की शरीर के जोड़ों से, तथा पुरस्कार और दण्ड की तंत्रिकाओं से। इसी प्रकार, रूसो ने भी मानव शरीर से राज्य की समता दिखाई। उसके अनुसार, राज्य में विधानांग (legislature) की समता हृदय से की जा सकती है और कार्यांग (executive) की मस्तिष्क से। इसी से मिलते-जुलते विचार अन्य विद्वानों ने भी प्रकट किए हैं, जिनमें हरबर्ट स्पेंसर और ब्लुश्ली प्रमुख हैं। ब्लुश्ली तो यहाँ तक बढ़ गए कि उन्होंने राज्य को पुल्लिंग बताया और चर्च को स्त्रीलिंग। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि राज्य एक जीवित आध्यात्मिक प्राणी है।

हरबर्ट स्पेंसर ने इस समता का विस्तार से उल्लेख किया और बताया कि किस प्रकार वैयक्तिक शरीर और सामाजिक शरीर में समानता है। उसके अनुसार इन दोनों की उत्पत्ति, विकास और क्षय के एक ही नियम हैं। इनकी बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था और मृत्यु भी होती है। मनुष्य के शरीर के समान राज्य में भी पोषण, वितरण, और नियंत्रण व्यवस्थाएँ होती हैं। इसकी पोषण व्यवस्था में वह उत्पादकों और निर्माताओं को सम्मिलित करता है जिनमें कृषक और श्रमिक दोनों ही आ जाते हैं। वितरण-व्यवस्था में

वह थोक व्यापारियों, परचून व्यापारियों, साहूकारों तथा यातायात और सचार के कामों में लगे हुए व्यक्तियों को सम्मिलित कर लेता है। इसी प्रकार, नियत्रण व्यवस्था में वह सरकार और सेना को गिनता है। उसका कहना है कि राज्य का विकास भी अन्य जीवों के समान होता है। प्रारम्भ में वह एक छोटे आकार का समुच्चय (नगर-राज्य) होता था, किंतु अब बढते-बढते वह अपने प्रारम्भिक रूप से सहस्रों गुना हो गया है। आकार के साथ ही इसकी रचना भी जटिल हो गई है। इसमें श्रम-विभाजन बढता जाता है और साथ ही अन्योन्याश्रय भी। आगे बढकर एक ऐसी स्थिति आ जाती है जिसमें एक छोटे-से वर्ग द्वारा काम रोक दिए जाने पर समाज की सारी उत्पादन-व्यवस्था ठप्प हो सकती है। उस के अनुसार, शरीर के समान राज्य भी घिसता-पिटता और बढता-घटता रहता है। राज्य और शरीर की समता के सबध में स्पैंसर ने निम्नलिखित प्रमुख धारणाएँ प्रस्तुत की हैं[1]

1 राज्य एक प्राणी के समान है और उस पर उत्पत्ति, विकास, क्षति और मृत्यु के वही नियम लागू होते हैं जो कि अन्य प्राणधारी शरीरों पर;
2. सुचारु रूप से कार्य करने के लिए राज्य भी व्यक्तियों पर उसी प्रकार निर्भर है जैसे कि प्राणधारी शरीर अपने अगों पर,
3. राज्य और प्राणधारी शरीर के अग भी समान होते हैं;
4 ये दोनों ही प्रारम्भ में आकार में छोटे और रचना में सरल होते हैं किंतु धीरे-धीरे इनका आकार और बनावट की जटिलता बढती जाती है;
5 दोनों ही विकास करते हुए प्रस्तुत वातावरण के साथ सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करते है;
6 विकास की ऊँची अवस्था में, यद्यपि दोनों के अग पारस्परिक रूप से आश्रित होते हैं, तथापि उनका विशेषीकरण बढता जाता है, और
7. दोनों का ही जीवन अपने अगों के जीवन से अधिक स्थायी होता है।

इन समताओं को देखते हुए स्पैंसर ने राज्य को एक जैविक प्राणी के रूप में स्वीकार किया। इसका आशय यह नहीं है कि स्पैंसर इन दोनों में कुछ भेद नहीं मानता था। उदाहरण के लिए, वह यह स्वीकार करता है कि जिस प्रकार एक जीवधारी के शरीर का एक साकार बाह्य रूप होता है, समाज का कोई

1 स्पैंसर के सिद्धात की समीक्षा के लिए देखिए बार्कर की 'पोलिटिकल थॉट इन इंगलैंड', पृष्ठ 19-20, 84-132 और कोकर की 'रीसैन्ट पोलिटिकल थॉट' न्यूयार्क, 1934, पृष्ठ 89-91 और 329-394. हम स्पैंसर के व्यक्तिवादी विचारों का उल्लेख यथास्थान करेंगे। देखिए अध्याय 22.

ऐसा बाह्य रूप नहीं है। दूसरे, जीवधारी शरीर के अंगों की भाँति व्यक्ति की समाज में एक बँधी हुई निश्चित स्थिति नहीं है। तीसरे, जीवधारी शरीर के अवयवों की भाँति व्यक्ति समाज से अटूट रूप मे सम्बद्ध नहीं है, अर्थात् हाथ या कान को शरीर से अलग कर देने पर उसका स्वतंत्र अस्तित्व नही रहता जबकि व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व मे इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नही होती। चौथे, जीवधारी व्यक्तियो मे चेतना का एक सामान्य केंद्र होता है जब कि समाज मे इस प्रकार का कोई सामान्य केंद्र नही होता। इसके विपरीत, प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग चेतना का केंद्र होता है। उपर्युक्त प्रभेदों की ओर स्पेंसर हमारा ध्यान इसलिए आकर्षित करता है कि वह यह निष्कर्ष निकालना चाहता है कि यद्यपि राज्य एक जीवधारी शरीर के समान है, तथापि व्यक्ति का राज्य मे वह स्थान नही हो सकता जो शरीर के एक अंग का समूचे शरीर में होता है। जैसा हम कह आये हैं, स्पेंसर व्यक्तिवाद मे विश्वास करता था। अतएव वह इन असमानताओं को दिखाकर इस परिणाम पर पहुँचना चाहता है कि जहाँ तक समाज का प्रश्न है, व्यक्ति समाज के लिए नही बने हैं, अपितु समाज व्यक्तियो के हित-साधन के लिए है।

आलोचना—इस सिद्धांत के कारण विचारो में बड़ी उलझनें पैदा हो जाती हैं और अनेक भ्रमपूर्ण निष्कर्ष निकाल लिए जाते हैं। इस सिद्धांत के आधार पर कुछ विद्वानो ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि जिस प्रकार शरीर में उस के अवयव-गौण हैं, उसी प्रकार समाज मे व्यक्ति भी गौण हैं। अतएव समाज और राज्य के हित के लिए व्यक्ति को अपना बलिदान देने के लिए तत्पर रहना चाहिए। इस संबंध में नात्सीवाद और फासिस्ट विचारधारा तो यहाँ तक आगे बढ़ गई कि उन्होने व्यक्ति को एक साधनमात्र मान लिया। अतएव, उन-के लिए व्यक्तिगत विकास की पृथक् रूप से चर्चा करना भी असगत प्रतीत हुआ। किंतु हम किसी ऐसे मत को स्वीकार नही कर सकते जिसमे व्यक्ति के महत्व और उसके विकास की सम्भावनाओं को स्वीकार नही किया जाता और उसके हितों के संरक्षण की व्यवस्था नही होती। दूसरे, इस तुलना से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जिस प्रकार शरीर के अवयव शरीर से पृथक् होकर निष्प्राण हो जाते हैं, व्यक्ति भी राज्य और समाज से पृथक् होकर जीवन नही बिता सकता। किंतु हमे यह नही भूलना चाहिए कि व्यक्ति राज्य की सदस्यता को स्वेच्छा से त्याग कर किसी अन्य राज्य की नागरिकता को स्वीकार कर सकता है। किंतु सामान्य रूप में यह बात शारीरिक अवयवो पर लागू नही होती। तीसरे, जैसा कि स्पेंसर ने स्वयं स्वीकार किया है, समाज मे कोई सामान्य चेतना का केन्द्र नहीं होता, जैसा कि शरीर मे होता है। इसके विपरीत,

समाज के प्रत्येक व्यक्ति में अपना विवेक और अपनी इच्छा-शक्ति है। अतएव उसके ऊपर कोई बाह्य निर्णय नही लादे जा सकते। वह अपनी इच्छानुसार कार्य करता है, उसकी अपनी कामनाएँ और आकाक्षाएँ होती हैं। अत. यथासम्भव समाज को व्यक्तियो की पसद का आदर करना चाहिए और उसके वैयक्तिक विकास मे भरसक सहयोग देना चाहिए। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समता पूर्णत मेल नही खाती। चौथे, जिस प्रकार शारीरिक-अवयवों मे तनिक-सा कष्ट होने पर समूचे शरीर को दुःख होता है, उसी प्रकार व्यक्तिगत बीमारियाँ अथवा हानियाँ समाज और राष्ट्र को कष्ट नही पहुँचाते। पाँचवे, नया शरीर बहुधा एक पुराने शरीर के माध्यम से जन्म लेता है और वह स्वय भी अन्य जीवो को जन्म देता है किंतु राज्य के साथ ऐसा नही होता। छटे, शरीर के अवयवो का बाहरी वस्तुओ अथवा प्राणियो से स्वतत्र रूप से सम्पर्क नही होता। किंतु यह बात व्यक्तियों के सबध मे लागू नही होती, वे अतर्राष्ट्रीय समुदायो के सदस्य बन सकते हैं। अतः उनके कार्य और जीवन राज्य की परिधि तक सीमित नही हैं।

सत्य का अश—यद्यपि शरीर की तुलना राज्य पर पूरी तरह नही घटाई जा सकती तथापि यह सिद्वात राज्य की एकता की ओर हमारा ध्यान आर्कषित करता है और व्यक्तियों के पारस्परिक सबधो पर भी यथेष्ट प्रकाश डालता है। साथ ही, वह यह भी बताता है कि राज्य मे अन्य शरीरों के समान ही परिवर्तन होते रहते हैं। तथापि, यह सिद्वात न तो राज्य के अस्तित्व की एक सतोषजनक व्याख्या है और न राज्य के स्वरूप और कार्यों पर प्रकाश डालने वाला एक विश्वस्त पथ-प्रदर्शक।

2. राज्य साध्य है अथवा साधन

राज्य के अस्तित्व का उद्देश्य क्या है? क्या यह स्वय साध्य है अथवा किन्ही उद्देश्यों की प्राप्ति का एक साधन मात्र है? इस प्रश्न का समाधान राजनीति-विज्ञान के अध्ययन के लिए अत्यत आवश्यक है।

राज्य एक साध्य के रूप में—प्राचीन यूनानी विचारक राज्य को सामाजिक जीवन का उच्चतम रूप मानते हैं। अरस्तू के अनुसार राज्य के बाहर व्यक्ति का रहना सम्भव नही है। प्लेटो और अरस्तू के मतानुसार समाज एव राज्य एक महान् नैतिक सस्था है जिसका उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास और सद्-जीवन की प्राप्ति है। उनके अनुसार समाज एव राज्य के अतर्गत मनुष्य की समस्त सामाजिक आवश्यकताओं और अभिलाषाओ का समावेश हो जाता है। उनके अनुसार राज्य व्यक्ति से पूर्ववर्ती है। जोड (C.E M. Joad) के कथना-

नुसार, क्योंकि राज्य एव समाज मनुष्यो की सभी सामाजिक भावनाओ और कामनाओं का प्रतीक है और साथ ही उनकी सामाजिक आवश्यकताओ की भी पूर्ति करता है, अतः राज्य व्यक्ति से जो माँग करता है, वे असीमित सत्ता पर आधारित होती हैं। स्मरण रहे कि यूनानी विचारक समाज और राज्य में भेद नही करते थे। उनकी भाषा मे ऐसे शब्द भी न थे जो इनके विभेद का स्पष्टीकरण कर सकते। अतएव हमारे लिए निश्चयात्मक रूप से यह कहना कठिन है कि इन विचारकों का उद्देश्य राज्य को इतना अधिक गौरव प्रदान करना था भी या नही।

राज्य को एक साध्य मानने वालों मे आदर्शवादी और कतिपय अन्य विचारक भी हैं। इस प्रकार की आदर्शवादी विचारधारा के प्रतिपादको मे रूसो, हीगेल, और बोसाके के नाम प्रमुख रूप से आता है। इन आदर्शवादियो के मतानुसार राज्य व्यक्तियो की 'यथार्थ इच्छा' का प्रतीक है, अतएव राज्यादेशों का पालन उनकी उच्चतम भावनाओ के अनुकूल है और ऐसा करने से उन्हे सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इन विचारको के मतानुसार, मनुष्य का पूर्ण विकास राज्य के अतर्गत ही सम्भव है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है, राज्य के बाहर रहने वाला व्यक्ति या तो देवता है अथवा पशु। कहने का अभिप्राय यह है कि एक सामान्य नागरिक के लिए राज्य की सदस्यता अपरिहार्य है।

आदर्शवादी राज्य को एक अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं और अपेक्षाकृत व्यक्ति को गौण। उनके अनुसार, राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नही हो सकते। वे राज्य को सर्वोत्कृष्ट सामाजिक समुदाय मानते हैं। उनका मत है कि सदस्यो को स्वेच्छापूर्वक अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए और ऐसे आचरण करने चाहिए जो राज्य के कानूनो और राज्यादेशों के अनुकूल हो। राज्य को यह अधिकार है कि वह यथासम्भव सामान्य हित के लिए आवश्यक कार्य करे। इन लेखको में बोसाके एक ऐसे विचारक हैं जो 'अति' पर पहुँच जाते हैं और व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर तनिक भी ध्यान नहीं रखते। दूसरी ओर, काट और ग्रीन उन आदर्शवादी विचारकों मे से हैं जो राज्य के नैतिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पूरा ध्यान देते हैं। तथापि सब मिलाकर हम कह सकते हैं कि आदर्शवादियों का दृष्टिकोण यह है कि राज्य समष्टि का प्रतीक है और व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक उसकी आधीनता और सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। ये विचारक राज्य को एक साध्य के रूप मे देखते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य समष्टिवादी विचारको का भी राज्य के प्रति यही रख है। जर्मनी के नात्सीवाद और इटली के फ़ासिज़्म में राज्य के प्रति इसी प्रकार की भावनाएँ थी। उनका ध्येय था :

'सब कुछ राज्य के लिए, राज्य के विरुद्ध कुछ नही, राज्य के बाहर कुछ नही'।

राज्य एक साधन के रूप मे—राज्य को एक साधन के रूप मे देखने की परम्परा अति प्राचीन है। हिन्दू विचारको के अनुसार राज्य लोक कल्याण का एक साधन है। उनके अनुसार, वह व्यक्तियो के हित-साधन के कार्य करता है। अनेक व्यक्तिवादी विचारक इसी धारणा की पुष्टि करते हैं। वे राज्य को एक मानव सस्था मानते हैं जो मनुष्यो के लिए बनी है। अतएव वह मनुष्यो से बडी अथवा उसके ऊपर नही हो सकती। मनुष्यो के हितो के लिए बनाई गई सस्था हमेशा मनुष्यो की तुलना मे गौण रहेगी। फिर, राज्य एक अमूर्त सस्था है और उसको चलाने वाले मानव हैं, अत राज्य मनुष्यो से ऊँचा कैसे हो सकता है?

यूरोप में भी मध्यकालीन विचारको ने इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं। उन्होने राज्य की उत्पत्ति का कारण 'नैतिक पतन' बताया और राज्य को मनुष्य की अपूर्णताओ को दूर करने वाला एक साधन बताया। अठारहवी शताब्दी के अत मे और उन्नीसवी शताब्दी मे व्यक्तिवाद (Individualism) और उपयोगितावाद (Utilitarianism) मे विश्वास करने वाले अनेक विचारको ने राज्य को एक 'आवश्यक बुराई' घोषित किया और कहा कि यदि समाज मे बुराइयाँ न हों तो राज्य की भी कोई आवश्यकता न रहे। किंतु चूंकि समाज मे बुराइयाँ हैं इसलिए उनकी रोकथाम के लिए एक साधन की नितात आवश्यकता है, और यह साधन राज्य है। इन विचारको मे प्रमुख थे, स्पेंसर और मिल। इनके अतिरिक्त, बहुलवादियो (Pluralists) ने भी, राज्य की असीम प्रभुसत्ता की माँग को अस्वीकार कर व्यक्ति के अधिकारो और समूहो के अस्तित्व और महत्त्व पर जोर दिया। इनके अतिरिक्त अनेक अतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने वाले विद्वान् जो राज्य की निरकुशता के विरोधी हैं कहते हैं कि बिना राज्य के अधिकारो को सीमित किए विश्व-शाति और सद्भाव स्थापित नही किए जा सकते। बीसवी शताब्दी मे अनेक ऐसे विचारक हुए हैं जिन्होने इस बात पर बल दिया कि प्रत्येक मनुष्य को जाति, धर्म, वर्ण, देश, लिंग आदि के आधार पर बिना भेदभाव के कुछ मौलिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् स्थापित सयुक्त राष्ट्र-सघ ने भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर, 'मानव अधिकारो' को मान्यता प्रदान की है। उपर्युक्त बातों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि आज के युग म राज्य को एक साध्य के रूप म मानना असगत होगा।

एक समकालीन दृष्टिकोण—उपर्युक्त विचार एक पक्षीय है। आदर्श-

वादियों की यह धारणा कि राज्य व्यक्तियों की 'यथार्थ इच्छा' का प्रतीक है, निर्मूल प्रमाणित हो चुकी है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि एक वर्ग-समाज म राज्य साधारणत व्यक्तियो और वर्गों के हितों के ऊपर नहीं उठ सकता। राज्य की इच्छा शायद ही कभी सर्वसम्मति पर आधारित हो। उसका निर्णय हमेशा तर्कसगत भी नहीं होता और न सदैव समुदाय के हित में ही होता है। अत राज्य को एक साध्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। तथापि यह माना जा सकता है कि राज्य समाज के राजनीतिक रूप से सगठित पहलू का प्रतिनिधित्व करता है और इस रूप मे वह व्यक्तियों और समूहों के व्यवहारों को सामान्य हित में नियन्त्रित करने का प्रयास करता है। अतएव बलुशली के मतानुसार राज्य एक साधन भी है और साध्य भी। एक ओर वह नागरिकों के हित-साधन की एक सस्था है। दूसरे दृष्टिकोण से, वह स्वय एक साध्य है, और जो व्यक्ति उसके अधीन हैं, वे राज्यादेशो का पालन करने के लिए बाध्य हैं। चित्र और चित्रकार की उपमा देते हुए उसने कहा है कि एक दृष्टिकोण से चित्रकार जो चित्र बनाता है वह उसकी जीविकोपार्जन का साधन है। किंतु एक एसा कलात्मक चित्र, जो चित्रकार के आदर्श और उसकी भावनाओं को साकार रूप देता है, उसका साध्य भी होता है। प्रश्न केवल दृष्टि-कोण का है। इसके विपरीत लास्की जोरदार शब्दों म कहता है कि राज्य की सत्ता का औचित्य इस बात पर निर्भर है कि वह अपने नागरिकों के लिए क्या करता है और उसने अब तक क्या किया है। इसका मूल्याकन करन का प्रत्येक नागरिक को अधिकार है उसके मतानुसार, राज्य स्पष्टत एक साधन है, वह साध्य नहीं हो सकता। तथापि वह भी यह स्वीकार करता है कि राज्य को आज जो सत्ता मिली हुई है और जो कार्य उसे सौंपे गए हैं, उनके महत्त्व को देखत हुए राज्य अन्य समूहों और समुदायों मे कहीं अधिक शक्तिशाली है, यहाँ तक कि कुछ अर्थों मे उसे अन्य समूहों की तुलना में सर्वोपरि कहा जा सकता है।

3 राज्य के उद्देश्य

राज्य के उद्देश्यों के सबध में राजनीतिक विचारकों में मतैक्य नहीं है। अरस्तू के अनुसार, 'राज्य जीवन के हेतु जन्म लेता है और सद्जीवन की प्राप्ति के लिए कायम रहता है'। लॉक के अनुसार, शासन का उद्देश्य सामान्य हित अथवा लोक-कल्याण है। ऐडम स्मिथ के अनुसार, राज्य के तीन विशिष्ट उद्देश्य हैं प्रथम, विदेशी आक्रमण और आतरिक हिंसा से रक्षा ; द्वितीय, अन्याय और उत्पीडन से व्यक्तियों की रक्षा ; और तीसरा, ऐसी सार्वजनिक सस्थाएँ आदि स्थापित करना जिनको अन्यथा कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति-

समूह न स्थापित करेगा और न बनाए रख सकेगा। बर्जिस के अनुसार, राज्य के तीन उद्देश्य हैं। इसका प्राथमिक उद्देश्य सरकार और स्वतन्त्रता को स्थापित करना है। इसका माध्यमिक उद्देश्य है—राष्ट्रीयता का समर्थन और राष्ट्रीय गुणों और विशेषताओं का विकास। इसका अंतिम उद्देश्य मानवता को प्रोत्साहन देना है। गार्नर बर्जिस के विचारों से पूर्णतः सहमत नहीं है। उसके अनुसार, सरकार की स्थापना राज्य का उद्देश्य कैसे हो सकता है जबकि बिना सरकार के राज्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है[1] ? हेनरी सिजविक के मतानुसार राज्य का चरम उद्देश्य सामान्य हित की दृष्टि से ऐसे काम करना है जिनमें नागरिकों के व्यक्तिगत हित सन्निहित हों[2]। विलोबी के अनुसार, राज्य का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों में शांति स्थापित करना है। इसके अतिरिक्त, राज्य को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करनी चाहिए और सार्वजनिक उद्देश्य से निश्चित और एकसार नियम लागू करने चाहिए[3]। गार्नर ने राज्य के उद्देश्यों का वर्णन करते हुए तीन बातों पर बल दिया है व्यक्ति की भलाई, सामाजिक हित और सभ्यता की उन्नति एवं मानव समाज की प्रगति[4]।

विभिन्न विचारकों के मतों के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि राज्य के उद्देश्यों के संबंध में कुछ मतभेद हैं। गेटिल के मतानुसार, किसी विशिष्ट राज्य के उद्देश्य उसकी सामाजिक स्थिति और आवश्यकताओं पर निर्भर होते हैं। अतएव देश और काल की भिन्नता के अनुरूप राज्य के तात्कालिक उद्देश्यों में अंतर होना स्वाभाविक है। लास्की के मतानुसार, एक वर्ग-समाज में राज्य साधारणतः उस वर्ग के अधिकारों और हितों की रक्षा करता है जिसके हाथ में आर्थिक शक्ति और राजनीतिक सत्ता होती है। अतएव समस्त नागरिकों के कल्याण की बात केवल ऐसे समाज और राज्य के लिए संगत हो सकती है जो समृद्ध हो और लोकतंत्र एवं समानता पर आधारित हो।

फ्रांसिस ग्रेहम विल्सन के अनुसार, राज्य के उद्देश्यों का विवेचन करते समय लेखकों का कुछ विशिष्ट दृष्टिकोण होता है। इन लेखकों में से किसी ने यह नहीं कहा कि राज्य के उद्देश्य न अच्छे होते हैं न बुरे। इनमें वे अराजकवादी लेखक भी आ जाते हैं जिनके अनुसार राज्य बुराई पर आधारित है और उसी को प्रोत्साहन देता है। इसके अतिरिक्त, जब तक राज्य के उद्देश्य साकार रूप न लें, व्यावहारिक राजनीति से उनका कोई नाता नहीं होता। अतएव ये

1 देखिए *Political Science and Government*, पृष्ठ 67.

2 देखिए उनका उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 38.

3 उनका उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 314

4 *Introduction to Political Science*, पृष्ठ 316-317.

विचार हमारी समस्या को हल करने में सक्रिय सहायता नहीं देते। उदाहरण के लिए, व्यक्तिवादियो और समाजवादियो के राज्य के उद्देश्यो-सबधी विचार वस्तुत परस्पर विरोधी नही हैं, तथापि राज्य के कार्यों के सबध मे उनके स्पष्ट मतभेद हैं[1]। लास्की भी इसी प्रकार एक फलमूलक दृष्टिकोण अपनाता है और राज्य के उद्देश्यो की व्याख्या उसके कार्यों के रूप में करता है। उसके मतानुसार राज्य का मूल्याकन उसके कार्यों से किया जाना चाहिए। तथापि, लोकतन्त्र के विकास और लोककल्याणकारी राज्य के दृष्टिकोण के कारण अब यह भावना पुष्ट होती जा रही है कि राज्य को वे दशाएँ प्रस्तुत करनी चाहिए जिसमें उनके सदस्यों का यथासम्भव स्वतन्त्र विकास हो सके और वे अपनी सृजनात्मक प्रवृत्तियों का पूरा उपयोग कर सकें। विलसन के मतानुसार, एक आधुनिक लोककल्याणकारी राज्य के निम्नलिखित उद्देश्य हो सकते हैं

(1) व्यक्तियो की सतुष्टि,
(2) उनका नैतिक उत्थान,
(3) अधिकतम व्यक्तियों की अधिकतम सुख-प्राप्ति;
(4) व्यक्तित्व का विकास,
(5) नागरिक अधिकारों की रक्षा, और
(6) विभिन्न हितों की रक्षा तथा उनमे सामजस्य स्थापित करना[2]।

4 राज्य के कार्यक्षेत्र मे वृद्धि और उसकी सीमाएँ

राज्य के कार्यक्षेत्र की व्याख्या उसके उद्देश्यो और लक्ष्यो पर निर्भर है। एक समय वह था जब यूरोप म राज्य के कार्य केवल शाति-व्यवस्था स्थापित करने और सविदाओं को लागू करने तक सीमित थे। शासन का कार्य केवल यह समझा जाता था कि सुरक्षा का पूरा प्रबध किया जाए। अब समय म परिवर्तन आ गया है और राज्यों के उद्दश्यों की भी भावात्मक व्याख्या की जाने लगी है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि राज्य का उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमे सभी व्यक्ति स्वतत्र हों और उन्हे सृजनात्मक आत्म प्रकाशन के अधिकार मिलें। कहने का आशय यह है कि राज्य का उद्देश्य समस्त नागरिको की भलाई करना है।

इन विचारों और धारणाओ मे प्रभावित होकर राज्य के कार्यों में भी दिनों-दिन वृद्धि हुई और होती जा रही है। इस दिशा म अन्तर्राष्ट्रीय सकटों ने भी

---

1 कालिम प्रदम विल्सन का उपर्युक्त ग्रथ पृष्ठ 139

2 वही पृष्ठ 141-159

महत्त्वपूर्ण योग दिया[1]; उनके कारण राज्यों को बहुत अधिक सत्ता अपने हाथों मे लेनी पड़ी। इसके अतिरिक्त ज्योंही नागरिक अपने हित और राजनीतिक शक्ति से अवगत हो जाते हैं वे इस बात की माँग करते हैं कि राज्य नए-नए कामों को अपने हाथों मे ले और उनके हित के कार्य करे[2]। इस दिशा मे एक अन्य योग देने वाली बात हुई है — राज्य के आर्थिक विकास की योजनाएँ। अब यह माँग की जाती है कि राज्य को लगातार अधिक से अधिक उत्पादन के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए जिससे लोगों की आय बढे और वे खुशहाल हों। अब यह आम माँग है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर जो सामाजिक और अन्य बंधन हैं उनसे उसे यथासम्भव मुक्त किया जाए[3]। इन बातों पर विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि राज्य के कार्यक्षेत्र का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। कैसे एक ऐसी विभाजक रेखा बनाई जाए जो व्यक्तिगत कार्यों और राजकीय कार्यों को एकदम अलग रख सके ? वस्तुत यह प्रश्न राजनीति-विज्ञान के लिए महत्वपूर्ण ही नहीं है, बहुत कठिन भी है।

राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमाएँ—समाज और राज्य मे प्रभेद करते हुए हम यह देख चुके हैं कि राज्य नागरिकों के जीवन से समस्त पहलुओं तक व्याप्त नहीं है। कुछ ऐसी बातें भी हैं जो राज्य के अधिकार-क्षेत्र के बाहर है, जैसे नागरिकों के विचार, नैतिकता, विश्वास, धर्म, प्रथाएँ और फैशन। नागरिकों के अधिकारों की चर्चा करते समय हम भाषण की स्वतन्त्रता के प्रश्न का विवेचन करेंगे। विचारों की स्वतन्त्रता के संबध मे अनेक विद्वानों ने अपनी सशक्त लेखनी उठाई है। इनमे मिल्टन, वाल्टेयर, मिल और लास्की प्रमुख हैं। मिल के *कथनानुसार, यदि सारी दुनियाँ एक ओर हो और एक व्यक्ति का मत भिन्न हो, तो भी मानव समाज को यह अधिकार नहीं है कि वह उस एकाकी व्यक्ति के मत का प्रकाशन न होने दे। एक दूसरे स्थान पर उसने कहा है कि एक व्यक्ति से मतभेद होने पर भी मैं उसके विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए अपने प्राणों को भी उत्सर्ग कर सकता हूँ।* लास्की के मतानुसार, जिन लोगों को विचार-संबंधी स्वतन्त्रता नहीं मिलती, वे शनै: शनै: सोचना ही बंद कर देते हैं और ऐसा होने पर वे एक अर्थ मे अपनी नागरिकता खो देते है। वस्तुतः विचार-स्वातन्त्र्य के अभाव मे मनुष्यों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास असम्भव है। यह भी देखा गया है कि विचारों का दमन करने पर कुछ लोग विद्रोही हो जाते हैं और खुले-आम शासन का विरोध करने लगते

1 Gunner Myrdal, *Beyond the Welfare State*, लन्दन, 1960, पृष्ठ 13 और 16.

2 वही, पृष्ठ 27-28.

3 वही, पृष्ठ 62.

हैं। मैकीवर के कथनानुसार, नागरिकों को किसी विशेष ढंग से सोचने के लिए बाध्य नही किया जा सकता। अत यह आवश्यक है कि लोकतन्त्र के हित म नागरिको को विचार-स्वातन्त्र्य दिया जाए। इसका अभिप्राय यह नही है कि इस स्वतन्त्रता पर कोई रोक न हो। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को यह छूट नही होनी चाहिए कि वह दूसरो को उत्तेजित करे अथवा हिंसा को खुला प्रोत्साहन दे। राज्य को यह अधिकार होना चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति ऐसा भाषण देता है या विचारो का प्रकाशन करता है जिससे सुव्यवस्था के बिगडने का भय है तो वह ऐसे व्यक्ति को दड दे। इसी प्रकार, किसी व्यक्ति को दूसरो को बदनाम करने की छूट भी नही दी जा सकती।

नैतिकता—नैतिकता का सबध व्यक्तियों के अत करण से है। वह हमारे कार्यों को ही नही, मनोभावो को भी प्रभावित करती है। जहाँ तक राज्य का प्रश्न है, कानूनों का सबध मनुष्यो के बाह्य आचरण से होता है, अत करण और मनोभावो से नही, क्योंकि इन बातो को कोई बाहरी व्यक्ति नही जान सकता। इसका आशय यह हुआ कि राज्य न तो नैतिकता निर्धारित कर सकता है और न लोगो को नैतिक बना सकता है। यह मनुष्यो के जीवन का वह पक्ष है जिस पर बाहरी शक्ति और दबाव काम नही आते। नैतिकता व्यक्तिगत होती है[1] और उसे किसी पर थोपा नही जा सकता। उदाहरण के लिए, कानून के द्वारा आप कैसे नागरिको में कृतज्ञता और मित्रता के भावो को जन्म दे सकते हैं? मैकीवर के अनुसार, कानून नैतिकता निर्धारित नही कर सकते। वे केवल नागरिको को ऐसे कार्य करने के लिए बाध्य कर सकते हैं जो लोकहित दृष्टि से आवश्यक हो। कानूनी उत्तरदायित्वो को नैतिक उत्तरदायित्वो में परिणत करने का प्रयास नैतिकता को ही नष्ट कर देगा[2]। हाँ, राज्य ऐसी दशाएँ अवश्य उत्पन्न कर सकता है, जिन मे नैतिकता के विकास की सम्भावनाएँ बढ़ जाएँ। ग्रीन के शब्दो मे, वह नागरिको के मार्ग से वे सब बाधाएँ दूर कर सकता है जो उनका नैतिक विकास नही होने देती जैसे, अशिक्षा, बेकारी, बीमारी आदि। अत यह स्पष्ट है कि नागरिको को बलपूर्वक नैतिक नही बनाया जा सकता।

प्रथाएँ—प्रथाओ स हमारा आशय परम्परागत आदतो और कार्यों से है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य प्रथाएं नही बना सकता और न उन्हे लागू कर सकता है। निरकुश राजा भी ऐसा करने मे अपने को असमर्थ पाते हैं। प्रथाओ को नष्ट करने क प्रयास मे कानून भी शिथिल पड जाते

---

1 MacIver, *The Modern State*, पृष्ठ 156.

2 वही, पृष्ठ 157.

हैं और अनुशासन और आज्ञापालन की भावनाओ को ठेस लगती है[1]। अतः राज्य को परम्परागत प्रथाओं को बिना समझे विचारे बनाने और हटाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रथाएँ बदलती नहीं हैं या नई प्रथाएँ नही बनती। हमारे कहने का आशय केवल यह है कि राज्य इनके बनने और बिगडने मे प्रत्यक्ष और महत्त्वपूर्ण भाग नही लेता।

धर्म और विश्वास—नागरिको के धर्म और विश्वास के विषय मे राज्य को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है। आधुनिक राज्य धर्म-निरपेक्ष होते हैं और वे नागरिको को स्वतत्रता देते हैं कि वे जिस धर्म को चाहे मानें अथवा न मानें। किंतु ये नई धारणाएँ है। प्राचीन और मध्यकालीन यूरोप मे धार्मिक एकता आवश्यक समझी जाती थी और राज्य लोगो को विशेष धर्म मानने के लिए बाध्य करता था। किंतु अब यह माना जाता है कि धार्मिक विश्वासो के सबध मे नागरिको को पूरी छूट होनी चाहिए। बार्कर के कथनानुसार, यदि राज्य धार्मिक मापदड स्थिर करना चाहे और उन्हे कानून द्वारा लागू करने का प्रयास करे, तो इसमे उसे सफलता नही मिलेगी[2]। इसका आशय यह नहीं है कि धर्म के नाम पर प्रचलित अनैतिक और अमानुषिक रस्मो के प्रति भी राज्य उदासीन रहे। ऐसी बातो मे राज्य का हस्तक्षेप लोक-कल्याण की दृष्टि से आवश्यक है।

फैशन—नागरिको की रुचियो और फैशन के सबध मे विचार भी व्यक्तिगत होते हैं और राज्य को इन पर कोई रोक नही लगाना चाहिए। हमारे कहने का आशय यह नही है कि लोगो की रुचियां बदलती नही रहती अथवा फैशन हमेशा एक से रहते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि राज्य को फैशन चलाने मे स्वय भाग नही लेना चाहिए और कानून द्वारा उसे लागू करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। सभावना इस बात की है कि उसके ऐसे प्रयास असफल सिद्ध होगे[3]। हां, फैशन के नाम पर अनीति या निर्लज्जता को राज्य प्रोत्साहन नही दे सकता। लोकहित की दृष्टि से राज्य इस सबध मे सीमाएँ निर्धारित कर सकता है।

संस्कृति—सस्कृति से हमारा अभिप्राय किसी जनसमुदाय के जीवन के ढग से है। सस्कृति जनता के विचारो और भावनाओं, आकाक्षाओ और कार्यों की प्रतीक होती है और इसका प्रकाशन ललित कलाओ, साहित्य, धर्म, सौजन्यता आदि के रूप में होता है। नैतिकता के समान ही, राज्य न सस्कृति को बनाता

---

1 वही, पृष्ठ 161.

2 *Principles of Social and Political Theory*, पृष्ठ 105.

3 तुलना कीजिए, मैकीवर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 160.

है और न उसमें परिवर्तन कर सकता है। यदि वह ऐसे प्रयत्न करेगा तो सम्भावना यह है कि नागरिक उसका विरोध करेंगे। अतएव कानून के माध्यम से संस्कृति का बनाया अथवा प्रभावित नहीं किया जा सकता[1]। तथापि परोक्ष रूप में राज्य संस्कृति पर प्रभाव नहीं डाल सकता है। राज्य की अपनी नीति और संस्कृति-संबंधी कार्यों के लिए धन की सहायता परोक्ष रूप से प्रभावी होती है, और इसका कुछ न कुछ प्रभाव संस्कृति के रूप और प्रसार पर भी पड सकता है। किंतु यह अप्रत्यक्ष प्रभाव है और इससे हमारी धारणा में कोई अंतर नहीं आता।

5 राज्य के कार्य

राज्य के कार्यक्षेत्र के प्रश्न पर दो पहलुओं के विचार किया जा सकता है पहला, सैद्धांतिक दृष्टिकोण से और दूसरा, वास्तविक कार्यों के रूप में। यहाँ हम पहले दूसरे कार्यों पर विचार करेंगे। परम्परा के आधार पर राज्य के कार्यों को दो वर्गों में बाँटा जाता है (१) अनिवार्य कार्य, और (२) ऐच्छिक कार्य। विलोबी, गैटिल, और गार्नर के वर्गीकरणों का भी यही प्रमुख आधार है। वुड्रो विल्सन ने भी इसी आधार को स्वीकार किया है। अनिवार्य कार्यों से हमारा अभिप्राय उन कार्यों से है जिनका करना प्रत्येक सरकार के लिए अपरिहार्य है अर्थात् जिनके न करने से राज्य का अस्तित्व खतरे में पड सकता है। दूसरी श्रेणी में वे कार्य आते हैं जिनके न करने से राज्य के अस्तित्व पर कोई आँच नहीं आती, तथा जिनको सभी आधुनिक राज्य करते हैं। वस्तुत यह वर्गीकरण पुराना है और व्यक्तिवादी उदार भावनाओं से अनुप्रेरित है। अब 'सामाजिक हित' और 'लोक-कल्याणकारी' राज्य की भावनाओं से प्रभावित होकर राज्य के कार्य कहीं अधिक विस्तृत हो चुके हैं।

अनिवार्य कार्य—इन कार्यों में पहला बाहरी आक्रमण से रक्षा है। इसके लिए राज्य के पास यथेष्ट जल थल और नौ सेनाएँ होनी चाहिए। इसमें हम अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को भी सम्मिलित कर सकते हैं। राज्य का दूसरा कार्य आंतरिक शांति व्यवस्था बनाए रखना है। इसके लिए राज्य नागरिकों और समुदायों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की स्पष्ट घोषणा करता है और अपराधियों को दंड देना है। एक ओर तो राज्य को कानूनों को लागू करने के लिए कार्यकारिणी और पुलिस कर्मचारियों को नियुक्त करना पडता है, दूसरी ओर न्यायालय स्थापित किए जाते हैं जिनमें मामलों की सुनवाई हो सके और कानून के अनुसार

1 वही, पृ॰ 161-162.

कार्य किए जा सकें। इस प्रकार, न्याय का प्रबंध राज्य का तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य बन जाता है। बिना इसका प्रबंध किए शांति-व्यवस्था को बनाए नहीं रखा जा सकता। आपसी झगडों को सुलझाने के लिए, संविदाओं को लागू करने के लिए और अपराधियों को दंड देने के लिए इनका होना आवश्यक है। न्यायाधीशों के कार्य हैं कानूनों की व्याख्या करना और उनके अनुसार मामलों का निर्णय करना। इस प्रकार, न्यायालय नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करते हैं। राज्य का चौथा अनिवार्य कार्य कर लगाकर राज्य के लिए राजस्व एकत्रित करना है। बिना धन के राज्य कोई भी कार्य सुचारु रूप से नहीं चला सकता। अतएव करों की व्यवस्था की जाती है। इसके साथ ही मुद्रा का ढालना और उसका चलन, विनिमय दर नियत करना, राजकीय सम्पत्ति का प्रबंध आदि बातें भी आ जाती हैं। इनके अतिरिक्त, राज्य को यह भी निश्चय करना होता है कि नागरिकों के व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों को किन कानूनों के आधार पर व्यवस्थित किया जाए। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी शासन में बहुत दिनों तक हिन्दुओं के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की व्यवस्था 'हिन्दू कानून' के अनुसार होती थी। इसी प्रकार, मुसलमानों के लिए अलग कानून थे और ईसाइयों के लिए 'सिविल ला' बनाए गए। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह नागरिकों के व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों के लिए स्वतः कानून बनाए। यदि वह चाहे तो परम्परागत कानूनों को भी लागू कर सकता है। आवश्यक बात यह है कि उसकी एक निश्चित नीति हो कि किन संबंधों में वह किन कानूनों को लागू करेगा।

ऐच्छिक कार्य—इस श्रेणी में राज्य के वे कार्य आते हैं जो स्थान, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। ऐसा भी एक युग था जब राज्य इनमें से कोई कार्य नहीं करता था और अब वह समय आ गया है जबकि सामाजिक हित की दृष्टि से राज्य अधिकतम कार्य करने को उद्यत है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन कार्यों के करने या न करने से राज्य के अस्तित्व पर आँच नहीं आती। तो भी आज के युग में इन कार्यों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है, और आज राज्य का मूल्यांकन इसी दृष्टि से होने लगा है कि वह व्यक्तिगत जीवन की उन्नति में कहाँ तक सहायक होता है।

इन कार्यों में सबसे पहला शिक्षा की व्यवस्था है। शिक्षा का महत्त्व सभी विचारक स्वीकार करते हैं। वे यह मानते हैं कि एक लोकतन्त्रीय व्यवस्था में, जहाँ वास्तविक राजसत्ता जनता में निहित है, यह आवश्यक है कि जनसाधारण में शिक्षा और राजनीतिक चेतना हो। अतएव राज्य का यह कर्त्तव्य माना जाता है कि वह सर्वसाधारण की शिक्षा का उचित प्रबंध करे। भारतीय संविधान

के अंतर्गत यह सिद्धांत निर्धारित किया गया है कि राज्य शीघ्रातिशीघ्र चौदह वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा दे। खेद है कि अभी तक हम संविधान के इस आदेश का पालन नहीं कर पाए। तथापि इस दिशा में हमारे प्रयत्न जारी हैं और आशा की जाती है कि निकट भविष्य में हमें इस संबंध में सफलता प्राप्त होगी। राज्य का दूसरा कार्य सफाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य की व्यवस्था करना है। स्वच्छता का प्रबंध करना इसलिए आवश्यक है कि इसके बिना बीमारी फैलने का भय बना रहता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि राज्य बीमारी की रोकथाम और चिकित्सा का पूरा प्रबंध करे। इसलिए वह अस्पताल खोलता है और इस संबंध में प्रचार करता है। यही नहीं, स्वास्थ्य की दृष्टि से वह खाने-पीने की वस्तुओं को शुद्ध और बेमिलावट रखने का प्रयास भी करता है। राज्य का तीसरा ऐच्छिक कार्य व्यापार तथा उद्योग पर नियंत्रण है। अठारहवीं शताब्दी तक यह आम विचार था कि राज्य को आर्थिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लोगों की यह धारणा थी कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना काम सुचारु रूप से करता रहे तो निश्चित ही उसे अपनी अच्छाइयों का इनाम मिलेगा। किन्तु अब यह विश्वास नहीं रहा और यह आम धारणा हो गई है कि राज्य को व्यापार और उद्योग पर यथोचित नियंत्रण रखना चाहिए जिससे नागरिकों की अधिकतम भलाई हो और देश भी उन्नत हो। उद्योगों के संबंध में कानून बनाते समय राज्य इस बात का भी ध्यान रखता है कि मजदूरों के साथ किसी प्रकार का भी अन्याय न हो। इसी प्रकार, उसे इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि आर्थिक संघर्षों के कारण उत्पादन में कमी न हो और सामाजिक व्यवस्था ठप्प न हो जाए। इस दृष्टि से वह ऐसे कानून बनाता है जिनके अंतर्गत मजदूरों के अधिकारों की रक्षा होती है। साथ ही, राज्य अब मजदूरों और मिल-मालिकों के आपसी झगड़ों को निपटाने का भी यत्न करता है। आधुनिक राज्य केवल व्यापार और उद्योग पर नियंत्रण से ही संतुष्ट नहीं है। वे बड़े-बड़े उद्योगों और व्यापार को स्वयं संभालने लगे हैं। उदाहरण के लिए, भारत में अंग्रेजी शासन के समय से यातायात और संदेश के साधनों पर राज्य को लगभग एकाधिकार प्राप्त था। इनसे हमारा अभिप्राय वायुयान, रेल, स्टीमर, ट्राम, डाक, टेलीफोन, टेलीग्राम, रेडियो आदि की व्यवस्था से है। इनका समुचित प्रबंध आज के समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त भारत जैसे नव-विकसित देशों में राज्य के लिए यह भी आवश्यक हो गया है कि वह लोहा, इस्पात, कोयले की खान, आदि का प्रबंध भी अपने हाथ में ले ले। कृषि और भूमि सुधार भी अब राज्य के महत्वपूर्ण कार्य बन गए हैं। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि देश की कृषि का

समुचित विकास किए बिना देश की उन्नति नही की जा सकती। वैसे भी, भारत जैसे देश मे बहुत अधिक सख्या मे किसान हैं। अतएव, आर्थिक विकास की दृष्टि से और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए किसानो की समृद्धि मे ही देश की भलाई है। बेकार, गरीब और असमर्थ व्यक्तियों की सहायता करना भी अब राज्य का एक कर्त्तव्य माना जाता है। इनके लिए सार्वजनिक परोपकारी समुदाय यथेष्ट नही होते। अतएव राज्य को स्वय इन्हे सहायता देनी होती है। यही नही, ऐसे व्यक्तियो को जिन्हे रोजगार नही मिला है, राज्य एक निश्चित समय तक भत्ता देता है। अत यह स्पष्ट है कि राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि इन सबके हितो का ध्यान रखे। राज्य का सातवाँ कार्य सामाजिक सुधार करना है। राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसी सामाजिक कुरीतियो और परम्परागत विचारो को बदलने का प्रयत्न करे जो अधविश्वास और धर्मांधता पर आधारित हैं और जो तर्कसगत नही हैं। राज्य का एक अन्य काम है जनसाधारण के मनोरजन का समुचित प्रबध करना। इसके लिए राज्य कलागृह, सगीतशालाएँ, अजायबघर, वाचनालय, पार्क, खेल-कूद के मैदान आदि की व्यवस्था करता है। इनके अतिरिक्त, वह रेडियो, टेलीविज़न के द्वारा भी लोगो के मनोरजन का प्रबध करता है। जनसंख्या की गणना का काम भी राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। राज्य का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य राष्ट्रीय विकास की योजनाएँ बनाना और उन्हे कार्यरूप मे परिणत करना है। इसी प्रकार के अन्य बहुत से काम है जिनको आधुनिक राज्य करते हैं। उन सबकी एक पूरी सूची देना सभव नही है।

अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यो का प्रभेद आज के युग मे विशेष महत्त्व नही रखता। ऐच्छिक कार्यों की सूची को देखकर हमारे मन मे यह विचार उठता है कि एक आधुनिक राज्य इनमे से किसी कार्य की उपेक्षा नही कर सकता। आज के नवविकसित राज्य भी, जिन्हे विदेशी मुद्रा की कमी है, अनेक ऐच्छिक कार्यों को कर रहे हैं। जिन कार्यों को हम आज से पचास वर्ष पहले ऐच्छिक और अनावश्यक मानते थे वही आज अत्यत आवश्यक हो गए हैं। अनेक ऐसी बातें जो आज से चालीस वर्ष पहले व्यक्तिगत मानी जाती थी, अब राज्य के कार्य-क्षेत्र मे आ गई हैं और 'सामाजिक हित' की दृष्टि से राज्य ऐसे विषयो मे हस्तक्षेप करने लगा है। अब राज्य शादी-विवाह आदि कामो का कानूनो द्वारा नियत्रण करता है। इसी प्रकार, राज्य आज ऐसे कार्य करता है जिसको पुराने जमाने मे धर्माधिकारी करते थे। तथापि आधुनिक राज्य जनता के हित की ओर ध्यान देते हैं। आर्थिक क्षेत्र मे भी राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ गए हैं और अब राज्य अनेक उद्योगो को स्वय चलाता है। जनता के हित की दृष्टि

से जो बातें आवश्यक हैं और जो कानूनों द्वारा की जा सकती हैं, एक लोकतंत्रीय राज्य मे सरकार द्वारा उनके किए जाने पर आपत्ति उठाने का कोई कारण नही है। इसलिए यदि राज्य के कार्य बढ रहे हो, तो कोई आश्चर्य नही। गुनार मृडाल के कथनानुसार, पिछले पचास वर्षो मे, सभी सम्पन्न पाश्चात्य देशो मे लोकतंत्र पर आधारित कल्याणकारी राज्य बन गए हैं। इनका उद्देश्य आर्थिक विकास, सभी नागरिको के लिए रोजी, युवाओ के लिए समानता के अवसर, सामाजिक सुरक्षा, और न्यूनतम जीवन-स्तर को सरक्षण देना है जिसके अतर्गत आय के अतिरिक्त समुचित खुराक, मकान, स्वास्थ्य और शिक्षा भी सम्मिलित हैं। यद्यपि अभी तक लोक कल्याणकारी राज्य कही नही बन पाए, तथापि इस दशा म सतत प्रयत्न किए जा रहे हैं। बार्कर के मतानुसार, हमारे लक्ष्य स्वतत्रता, समानता और बधुत्व हैं[1]। इसकी पूर्ति मे राज्य जो भी सहयोग दे सकता है उस हमे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। तथापि राज्य के कार्यों के प्रति हमारा दृष्टिकोण आलोचनात्मक रहना चाहिए। सत्ताधारी अवसर मिलने पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगते हैं। इस ओर यदि हम सजग न रहेंगे, तो 'सामाजिक हित' और 'लोक-कल्याण' के नाम पर राज्य मनमानी करने लगेगा।

---

1 बार्कर ने भारतीय सविधान के आमुख (Preamble) को सर्वोत्तम पाश्चात्य उदार भावों के अनुरूप बताते हुए अपना मत प्रकट किया है कि अब ये विचार 'पश्चिम' तक सीमित न रह कर विश्वव्यापी बन गए हैं। देखिए उपर्युक्त ग्रथ, प्रस्तावना पृष्ठ 6.

7
प्रभुसत्ता और बहुलवाद

किसी सत्ताधारी के पास कहीं भी असीमित शक्ति नहीं रही; और जब-जब इस प्रकार का प्रभुत्व जमाने का यत्न किया गया है, उसके फल-स्वरूप हमेशा सरक्षणों की स्थापना हुई है।

—हैरोल्ड जे० लास्की

1. प्रभुसत्ता का स्वरूप

राज्य की व्याख्या करते समय हम देख चुके हैं कि राज्य के चार प्रमुख तत्त्वो मे प्रभुसत्ता (Sovereignty) भी है। वस्तुत· यही वह तत्त्व है जो राज्य तथा अन्य जनसमुदायो के बीच प्रभेद स्थापित करता है। राजनीतिक विचारको का यह मत है कि राज्य बाह्य रूप से तो स्वतत्र होता ही है, किन्तु उसमे एक ऐसी आतरिक सत्ता भी होनी चाहिए जो सर्वोपरि हो, अर्थात् जिसकी सभी व्यक्ति और व्यक्ति-समूह अधीनता स्वीकार करते हो। इसी सत्ता को उन्होंने प्रभुसत्ता का नाम दिया है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रभुसत्ता के अग्रेजी पर्याय 'सोवरैंटी' का आशय केवल 'उत्तमता' है किन्तु जैसा कि स्ट्रोग ने कहा है कि जब इस शब्द का प्रयोग राज्य के साथ किया जाता है तो इसका एक विशेष अर्थ हो जाता है, अर्थात् 'कानून बनाने वाली शक्ति'। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि 'सोवरैंटी' शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत आधुनिक है। यद्यपि इससे मिलते-जुलते शब्दो का प्रयोग प्राचीन समय से होता आया है, उदाहरण के लिए, प्लेटो और अरस्तू दोनो ने ही 'सर्वोपरिता' के पर्यायवाची ग्रीक शब्द का प्रयोग किया। वस्तुत. प्राचीन काल के छोटे-छोटे नगर-राज्यो मे इस बात की आवश्यकता प्रतीत नही हुई कि राज्य-

सत्ता के द्योतक किसी विशिष्ट शब्द को गढा जाए। साम्राज्यो में भी किसी ऐसे शब्द की आवश्यकता न थी, क्योंकि सम्राट की शक्ति स्पष्ट और सर्वमान्य होती थी। इसी प्रकार, सामन्तवादी युग मे प्रभुसत्ता को भावना का कोई स्थान न था, क्योंकि इस समय शक्ति विकेंद्रित और बिखरी हुई रहती थी। इस प्रकार, यूरोप को आधुनिक युग मे आकर इस बात की आवश्यकता हुई कि किसी ऐसे शब्द को गढा जाए जोकि राज्य की सर्वोच्च सत्ता का द्योतक हो। यद्यपि मावयावैली के ग्रन्थो मे हमे शब्द की परिचायक भावना दृष्टिगत होती है तथापि सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग फ्रांसीसी विद्वान बोदाँ (1530-1596 ई०) ने किया। उसके अनुसार 'कानून के नियत्रण से मुक्त, नागरिको और प्रजा पर राज्य की सर्वोच्च शक्ति का नाम ही प्रभुसत्ता है'। विलोबी के अनुसार यह "राज्य की सर्वोच्च इच्छा" का नाम है। अमरीकी विद्वान, बर्जिस के अनुसार यह "प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति और उनके समस्त समुदायो के ऊपर एक मौलिक, अनियत्रित और असीमित शक्ति" है। आगे चलकर वे कहते हैं कि यह शक्ति ऐसी है जो किसी के माध्यम से प्राप्त नहीं हुई है। यही नही, यह सत्ता अपनी आज्ञा मनवा सकती है और इसकी आज्ञा मानी जाती है। अग्रेज विद्वान, आस्टिन कहते हैं कि *"यदि कोई ऐसा निश्चित सर्वोपरि व्यक्ति (अथवा व्यक्ति-समूह) हो जो स्वय अन्य* किसी सर्वोपरि व्यक्ति (अथवा व्यक्ति समूह) की आज्ञा मानने का आदी न हो, किंतु जिसकी आज्ञा का पालन उस समाज के अधिकाश व्यक्ति अभ्यस्त रूप मे करते हो, तो ऐसा व्यक्ति (अथवा व्यक्ति समूह) उस समाज की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता है और वह समाज राजनीतिक एव स्वाधीन हो।

प्रभुसत्ता के लक्षण

विद्वानो ने प्रभुसत्ता के अनेक लक्षणों का उल्लेख किया है। नीचे हम उन पर एक एक करके विचार करेंगे।

अनियत्रितता—हम बर्जिस की परिभाषा मे देख आये हैं कि प्रभुसत्ता को अनियत्रित कहा गया है। उसे सर्वोपरि अथवा सर्वोच्च भी कहा जाता है। सैद्धांतिक *दृष्टि से, राज्य की इस शक्ति के दो रूप हैं आन्तरिक और बाह्य।* आतरिक दृष्टि से राज्य का समस्त नागरिको, समुदायों और उनकी सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होता है। कानून द्वारा प्रभुसत्ता को नियन्त्रित नही किया जा सकता, किंतु सरकार के अधिकारों पर बधन लगाये जा सकते हैं। यही नही, राज्य भी स्वेच्छापूर्वक कुछ बधन स्वीकार कर सकता है। गार्नर के अनुसार, प्राकृतिक नियम, नैतिकता के सिद्धात, ईश्वरीय नियम, विवेक और मानवता पर आधारित विचार, जनमत का भय और राज्य की सत्ता पर अन्य तथाकथित नियत्रण उस समय तक कोई अर्थ नही रखते जब तक राज्य उन्हें स्वत. मान कर अपने

आप पर लागू न करे। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि कोई बाह्य बंधन कानूनी दृष्टि से प्रभुसत्ता को नियंत्रित अथवा सीमित कर सकते हैं। विलोबी के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धांत का विरोधी नहीं है और न संवैधानिक कानून ही प्रभुसत्ता का विरोधी है। जहां तक प्रभुसत्ता के बाह्य पक्ष का प्रश्न है, सैद्धांतिक रूप में प्रत्येक राज्य पूर्णत: स्वतंत्र होता है और उसकी स्वाधीनता पर कोई रोक नहीं लगा सकता। विदेशी राज्यों के साथ की गई संधियों अथवा अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता से उसकी बाह्य प्रभुसत्ता में कोई कमी नहीं आती। कहने का अभिप्राय यह है, कि स्वेच्छा से राज्य जो भी चाहे बंधन स्वीकार कर सकता है, किंतु कोई ऐसी बाह्य शक्ति नहीं हो सकती जो कानूनन उसे कुछ करने के लिए विवश कर सके।

अविभाज्यता—प्रभुसत्ता एक होती है, अनेक नहीं। प्रभुसत्ता को टुकड़ों में नहीं बांटा जा सकता, उसे विभाजित नहीं किया जा सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्य में कोई समानान्तर सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता नहीं हो सकती। राज्य के सभी नागरिकों को प्रभुसत्ता को स्वीकार कर उसकी आज्ञा का पालन करना होता है। जान कैलहून (1782 1850) के अनुसार प्रभुसत्ता एक सम्पूर्ण वस्तु है ; उसे विभाजित करना उसे नष्ट करना है। गेटिल के कथनानुसार जहां प्रभुसत्ता अनियंत्रित नहीं है वहां राज्य का अस्तित्व भी नहीं है, यदि प्रभुसत्ता विभाजित है, तो एक से अधिक राज्य हैं। उपर्युक्त मत पर आपत्ति उठाई गई है। लावेल के अनुसार एक, प्रदेश में दो सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न शक्तियां हो सकती हैं, जो उन्हीं प्रजाजनों को विभिन्न मामलों में आदेश दें, जैसाकि संघीय राज्य में होता है। लार्ड ब्राइस का भी यही मत है कि एक राज्य में दो सत्ताएं हो सकती हैं। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि ये विद्वान लेखक, राज्य और शासन के प्रभेद को भूल गए हैं। विभाजन सरकार की सत्ता का हो सकता है, प्रभुसत्ता का नहीं। नहीं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि संघीय सरकार संघीय विषयों में संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न होती है और प्रादेशिक सरकारें प्रादेशिक विषयों में। किंतु जहां तक प्रभुसत्ता का प्रश्न है, वह अविभाज्य है।

सर्वव्यापकता—प्रभुसत्ता राज्य की सीमा में सर्वव्यापक होती है। कोई भी व्यक्ति, समुदाय, वस्तु अथवा प्रदेश उसकी शक्ति की सीमा से बाहर नहीं होता। किंतु राज्य यदि चाहे तो स्वेच्छा से अपनी प्रभुसत्ता को सीमित कर सकता है। ऐसा प्राय विदेशी राजदूतों, दूतावासों और विदेशी राजाओं और राज-प्रमुखों आदि के संबंध में किया जाता है। किंतु जैसा कि गिलक्राइस्ट ने कहा है, यह तो केवल अंतर्राष्ट्रीय सौजन्य की बात है, वास्तविक अपवाद नहीं। कोई भी राज्य, अपनी प्रभुसत्ता का उपयोग कर, जब चाहे इन सुविधाओं को वापस ले

सकता है।

अदेयता—प्रभुसत्ता अदेय है। राज्य, बिना अपने को नष्ट किए, इसे हस्तांतरित नहीं कर सकता। अमरीकी विद्वान लीबर के अनुसार, 'जैसे कोई वृक्ष अपने उगने का अधिकार समर्पित नहीं कर सकता अथवा कोई व्यक्ति बिना अपने को नष्ट किए अपना जीवन और व्यक्तित्व नहीं दे सकता, उसी प्रकार राज्य की प्रभुसत्ता भी सीमित नहीं की जा सकती'। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यदि कोई राज्य चाहे तो अपने भूभाग का कोई अंश अन्य किसी राज्य को नहीं दे सकता अथवा वह अपनी सीमाओं का पुन निर्धारण नहीं कर सकता। ये बातें प्रभुसत्ता को सीमित नहीं करतीं।

स्थायित्व—जब तक राज्य का अस्तित्व रहेगा, प्रभुसत्ता भी रहेगी। प्रभुसत्ता का अंत राज्य के अंत का लक्षण है; तथापि सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न शासक की मृत्यु से अथवा सरकार के परिवर्तन से प्रभुसत्ता की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, केवल सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता हस्तांतरित हो जाती है[1]। प्रभुसत्ता खोते *ही राज्य स्वयं भी समाप्त हो जाएगा।*

चिरभोगता—प्रभुसत्ता का उपयोग न होने से समय की गति के साथ वह नष्ट नहीं हो जाती। उदाहरण के लिए अमरीकी संविधान के संबंध में, कुछ लेखकों का मत है कि वहाँ प्रभुसत्ता सुप्तावस्था में रहती है। वह केवल तभी जागृत होती है जबकि संविधान में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। किंतु एक लम्बे समय तक प्रयुक्त न होने पर भी, प्रभुसत्ता के प्रभाव में कोई कमी नहीं आती। वह यथावत अक्षुण्ण बनी रहती है।

2. प्रभुसत्ता के विभेद

प्रभुसत्ता शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। अर्थ से संबंधित इन कठिनाइयों और उलझनों से बचने के लिए यह उचित प्रतीत होता है कि हम इसके विभिन्न रूपों की व्याख्या करें।

वास्तविक और नाम मात्र की प्रभुसत्ता

यह प्रभेद वस्तुतः प्रभुसत्ता का न होकर सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न-सत्ताधारी का है। यदि राज्य के प्रधान अधिकारी के हाथों में वास्तविक सत्ता होती है तो उसे वास्तविक सत्ताधारी कहा जाता है। इसके विपरीत यदि वास्तविक सत्ता उसके पास न होकर उसके किसी मंत्री अथवा किसी अन्य व्यक्ति-समूह में हो तो ऐसे सत्ताहीन राज्य के प्रधान को नाम-मात्र का सत्ताधारी कहा जाएगा। सीमित अथवा

1 गार्नर, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 170.

संविधानी राजतंत्र में राजा एक नाम मात्र का सत्ताधारी होता है और वास्तविक सत्ता मंत्रियों के हाथ में होती है जो जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वैधानिक दृष्टि से, इन लोकप्रिय मंत्रियों को वास्तविक सत्ताधारी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतः सत्ता विधानांग में निहित होती है। अतएव कुछ विद्वानों का मत है कि मंत्रिमंडल को वास्तविक सत्ताधारी न कहकर हमें विधानांग को यह संज्ञा देनी चाहिए।

वैधानिक और यथार्थ प्रभुसत्ता

वस्तुतः यह प्रभेद भी सत्ताधारियों से संबंध रखता है। वैधानिक सत्ताधारी (de jure sovereign) उसे कहना चाहिए जिसकी सत्ता संविधान की दृष्टि से नियमित और न्यायपूर्ण हो। इसके विपरीत यदि उसकी सत्ता केवल शक्ति पर आधारित है तो उसे हम यथार्थ सत्ताधारी (de facto sovereign) कहेंगे, वैधानिक नहीं। एक ही सत्ताधारी वैधानिक और यथार्थ दोनों ही हो सकता है। एक दृष्टि से इंगलैंड की रानी इसी प्रकार की सत्ताधारी है। कानून की दृष्टि से, जनता की इच्छा से, और यथार्थ में वह अपने देश की रानी है। इसके विपरीत, एक राज्य के दो सत्ताधारी हो सकते हैं : एक वैधानिक और दूसरा यथार्थ। उदाहरण के लिए, जब चीन में चांग-काई शेक और माऊ-सी तुंग के पक्षों में संघर्ष हो रहा था और चांग-काई शेक के दल की हार पर हार होती जा रही थी, यहाँ तक कि उसे चीन से भागना पड़ा, उस समय यह कहा जा सकता है कि चीन के दो सत्ताधारी थे : एक चीन राज्य की संविधानी और नियमित चांग-काई शेक की सरकार और दूसरी माऊ-सी तुंग की यथार्थ सरकार।

यथार्थ सत्ताधारी को जनता द्वारा मान्यता मिल जाने पर उसे वैधानिक पद प्राप्त हो जाता है। चीन में जब माऊ-सी तुंग की सरकार दृढ़ हो गयी तो शनैः शनैः उसे वैधानिक सत्ताधारी मान लिया गया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैधानिक सत्ता और यथार्थ सत्ता अधिक समय तक एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकती। जनता की स्वीकृति मिलने पर यथार्थ सत्ता वैधानिक सत्ता का रूप ले लेती है, और जनता द्वारा मान्यता न दिए जाने पर वह पलट जाती है और नष्ट हो जाती है। इस प्रकार जनता द्वारा मान्यता मिलने पर अथवा अधिक समय तक स्थिर रहने पर यथार्थ सत्ता को वैधानिक पद प्राप्त हो जाता है। एक राज्य में इस प्रकार की दो सत्ताओं का होना तभी सम्भव है जब गृह-युद्ध की स्थिति हो अथवा अन्य किसी कारण से देश में अव्यवस्था फैली हुई हो। किंतु समय के साथ ये दोनों सत्ताएँ मिलकर एक हो जाती हैं।

कानूनी, राजनीतिक और लोक-प्रभुसत्ता

प्रभुसत्ता के बारे मे राजनीतिक विचारको के विभिन्न मत हैं। कुछ लोग प्रभुसत्ता के कानूनी रूप को ही महत्व देते हैं और कहते हैं कि किसी राज्य के अन्दर कानून बनाने और आज्ञा जारी करने का जिसको अंतिम और सर्वोच्च अधिकार हो, वही कानूनी प्रभुसत्ताधारी है। उपरोक्त मत के अनुयायियो मे बोदाँ, हॉब्स, बॅथम, आस्टिन, हॉलैंड आदि प्रमुख विद्वान् हैं। इनके मतानुसार प्रभुसत्ता एक निश्चित और प्रत्यक्ष व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह मे निहित होनी चाहिए और राज्य मे जिस व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को कानून बनाने और सर्वोपरि एव सर्वमान्य आदेश देने का अधिकार हो, उसी को कानून की दृष्टि में प्रभुसत्ताधारी कहा जाएगा।

कुछ विद्वानों का मत है कि कानूनी प्रभुसत्ताधारी मनमानी नहीं कर सकता, अत उसे सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सत्ताधारी कहना उचित नही है। बडे से-बडे निरकुश तानाशाह भी वस्तुत अनेक बातो को ध्यान मे रखकर चलते हैं। उदाहरणार्थ, राणा रणजीतसिंह चाहे कितने ही शक्तिशाली रहे हो, किंतु वे भी देश में प्रचलित लोकप्रथाओं और परम्परागत कानूनो की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार अन्य सभ्य सरकारो को भी लोकमत का आदर करना पडता है। इन्ही बातो को ध्यान में रखते हुए, डायसी ने कहा है कि वकीलों द्वारा मान्य प्रभुसत्ताधारी के अतिरिक्त राज्य मे एक अन्य प्रभुसत्ताधारी भी होता है जिसके आगे कानूनी प्रभुसत्ताधारी को भी सिर झुकाना पडता है[1]। इसे उसने राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी की सज्ञा दी है। उनके मतानुसार राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी हमेशा *निश्चित और सुविख्यात नही होता*। कही पर वह एक मत्री हो सकता है, कही पर एक रानी, कही पर सेनापति और कहीं पर मतदाता। कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न राज्यो मे नाना प्रकार के प्रभाव काम करते हैं और बिना कष्टसाध्य शोध के इनका पता नही लगाया जा सकता। इसीलिए गिलक्राइस्ट कहते हैं कि राजनीतिक प्रभुसत्ताधारी वस्तुत प्रभावो की एक सूची के रूप मे प्रस्तुत हो जाता है। इसी प्रकार, लीकॉक कहना है कि राजनीतिक प्रभुसत्ता की जितनी खोज की जाए उतनी ही वह दूर भागती दिखायी देती है[2]।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विद्वान् हैं जो कानूनी और राजनीतिक प्रभुसत्ताधारियो की खोज को व्यर्थ समझते हैं। उनके मतानुसार, सच्ची प्रभुसत्ता सदैव जनता में सन्निहित होती है और वह जब भी चाहे, स्थापित सरकार को उलट कर

---

1 Dicey, *The Law of the Constitution*, लन्दन, पृष्ठ 66.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 61.

एक नई राज्य-व्यवस्था बना सकती है। अतएव, इसे लोक-प्रभुसत्ता भी कहते हैं। सर्वप्रथम यह विचार उत्तर-मध्यकालीन लेखको ने प्रस्तुत किया, किंतु इसका प्रमुख आधुनिक प्रतिपादक रूसो था, और अब तो यह लोकतत्र का एक मूल सिद्धात बन गया है। लोकतत्रीय राज्यो मे, प्रभुसत्ता अन्तत जनता मे निहित होती है और जनता को ही सर्वोपरि माना जाता है। भारतीय सविधान-परिषद् ने भी इसी प्रकार का एक प्रस्ताव पारित कर लोक-प्रभुसत्ता की घोषणा की थी।

एक उदाहरण से इन दृष्टिकोणो की भिन्नता स्पष्ट हो जाएगी। यदि यह पूछा जाय कि भारत मे प्रभुसत्ताधारी कौन है, तो प्रथम मत के अनुयायी उत्तर देंगे कि भारतीय ससद सहित राष्ट्रपति। किंतु द्वितीय विचारो के मानने वाले अनेक प्रभावो की चर्चा करेंगे, वे उन दलो, वर्गों और व्यक्तियो का नाम लेंगे जो मत्रिमडल और सत्तारूढ दल कांग्रेस पर अपना दबाव डालकर काम निकालते हैं। स्पष्ट है कि बिना अच्छी तरह शोध किए इन प्रभावों का विवेचन नहीं किया जा सकता। यदि इसी प्रश्न को तृतीय दृष्टिकोण वाले विचारको से पूछा जाए तो वे 'लोकमत' अथवा 'निर्वाचक-मडल' को लोकप्रिय प्रभुसत्ताधारी बताएँगे। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि प्रभेद दृष्टिकोणों की भिन्नता पर निर्भर है, तथापि प्रथम और अतिम मत को स्वीकार करने वाले विचारक प्राय प्रभुसत्ता की एकता और अखण्डता को स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त कठिनाइयो को ध्यान मे रखते हुए, चिपमैन ग्रे इस परिणाम पर पहुँचे कि समाज के वास्तविक शासको का पता लगाना लगभग असम्भव है। इसलिए कई विद्वान कहते हैं कि हमे प्रभुसत्ता के निहित स्थान की खोज नही करना चाहिए। लीकौक के अनुसार जैसे ही हम वैधानिक प्रभुसत्ता की निश्चित परिधि से बाहर निकलते हैं सभी कुछ अस्पष्ट और अनिश्चित हो जाता है[1]। तथापि एक बात स्पष्ट है कि लोकमत, सामान्य इच्छा, निर्वाचक-मंडल आदि निश्चयात्मक रूप से कानूनी प्रभुसत्ता पर प्रभाव डालते हैं और यह भी निर्विवाद है कि राजनीतिक प्रभुसत्ता का सगठन ही कानूनी प्रभुसत्ता को जन्म देता है। गिलक्राइस्ट के मतानुसार यह राज्य की प्रभुसत्ता के दो विभिन्न पहलू हैं जो निरतर एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र मे वे एक ही होते हैं, अतएव सघर्ष का प्रश्न नही उठता। किंतु प्रतिनिधिक लोकतन्त्र मे इन दोनो के पारस्परिक सबध का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है[2]। आवश्यकता इस बात की है कि इनके सबधों को समुचित रूप प्रदान किया जाय। सक्षेप मे हम कह सकते

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 61.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 96.

हैं कि कानूनी प्रभुसत्ता को राजनीतिक प्रभुसत्ता की इच्छा को कार्यरूप देते रहना चाहिए। सरल भाषा मे इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्य के कानून और कार्य लोकमत के अनुरूप होने चाहिए।

लोक प्रभुसत्ता के सिद्धात के अनुसार अन्तत प्रभुसत्ता जनता मे निहित होती है। इस सिद्धात का प्रतिपादन मध्यकालीन युग में मारसीलियो और विलियम आदि ने किया था। आधुनिक यूरोप मे इस मत का समर्थन करने वालो मे आलथ्यूशियस और रूसो का नाम प्रमुख रूप मे आता है। रूसो ने इस सिद्धात की घोषणा की और उसे अपने राज्य-दर्शन का आधार स्तम्भ बनाया। तभी से इसे लोकतत्र का सार माना जाता है। तथापि इसकी परिभाषा देना अथवा व्याख्या करना सरल नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि 'जनता' शब्द से हमारा अभिप्राय क्या है? क्या हमारा आशय समस्त असगठित जनसमुदाय से है, अथवा केवल मतदाताओ से। गार्नर के मतानुसार असगठित लोकमत, जब तक कानूनी रूप न ले, प्रभुसत्ताधारी नही बन सकता[1]। अतएव इसका अर्थ केवल यह हुआ कि अन्तत जनता को बगावत का भण्डा उठाकर शासन को उलट देने का अधिकार है और कोई शासन इस सम्भावना को नही भुला सकता। कुछ लेखकों के अनुसार, वर्तमान लोकतत्रीय युग मे राजनीतिक प्रभुसत्ता और लोकप्रिय प्रभुसत्ता का भेद लगभग समाप्त हो गया है। किंतु गिलक्राइस्ट के मतानुसार, इस प्रभेद का एक व्यावहारिक महत्त्व है, अर्थात् 'शासन पर लोक-नियत्रण'।

3. प्रभुसत्ता संबंधी विभिन्न दृष्टिकोण

प्रभुसत्ता के सिद्धात के विषय मे अनेक दृष्टिकोण और मत प्रचलित हो गए हैं। इनमें प्रमुख हैं कानूनी दृष्टिकोण, ऐतिहासिक दृष्टिकोण, दार्शनिक दृष्टिकोण, और फलमूलक दृष्टिकोण। नीचे हम इन पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

कानूनी दृष्टिकोण

विधिशास्त्रियो का कथन है कि प्रभुसत्ता निश्चित, स्पष्ट और ज्ञातव्य होनी चाहिए, अर्थात् हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि राज्य में सर्वोच्च सत्ता कौन सी है जिससे हम अतिम अपील कर सकते हैं। इस विचारधारा को सर्वप्रथम बोदाँ ने प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् हॉब्स, बैंथम, आस्टिन और हॉलैंड इसके प्रमुख प्रतिपादक हुए। ब्राइस के कथनानुसार, इस दृष्टिकोण के विकास मे चार तथ्यों ने सहायता की। प्रथम, यूरोप में पवित्र रोमन साम्राज्य की शक्ति के समाप्त हो

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृ॰ 65.

जाने से, सम्राट केवल एक जर्मन राजा के रूप मे रह गया। दूसरे, पोप ने अपनी सर्वव्यापी सत्ता खो दी और उसके स्थान पर वह एक सम्प्रदाय विशेष का धार्मिक गुरु बनकर रह गया। तीसरे, समाज का सामतवादी ढाँचा छिन्न-भिन्न हो गया और उसके स्थान पर राजाओ की शक्ति बढी। चौथे, शोध की प्रवृत्ति बढी जिसके कारण पुरानी धारणाओ को रद्द कर दिया गया।

बोदाँ का मत—बोदाँ ने प्रभुसत्ता की परिभाषा देते हुए कहा है कि *यह नागरिको और प्रजा पर लागू होने वाली ऐसी सर्वोच्च शक्ति है जो कानून का बधन स्वीकार नही करती*[1]। उपरोक्त परिभाषा से यह स्पष्ट है कि यद्यपि बोदाँ प्रभुसत्ता को अनियत्रित, स्थायी और अविभाज्य मानता है तथापि वह प्रकृति के नियम, दैवी नियम और अतर्राष्ट्रीय विधि को मान्यता देता है और उसके मतानुसार प्रभुसत्ता को इनका समुचित आदर करना चाहिए। यही नही, उसका मत है कि प्रत्येक राज्य मे कुछ ऐसे बुनियादी सविधानी कानून होते हैं, जिनकी प्रभुसत्ता उपेक्षा नही कर सकती। इस प्रकार बोदाँ जहाँ एक ओर प्रभुसत्ता को सर्वोच्च और कानून से अनियन्त्रित बताता है, वहाँ दूसरी ओर अनेक नैतिक और यथार्थ बधनो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। उसके विचारो मे एक त्रुटि यह है कि नैतिक बधनो के अतिरिक्त वह 'बुनियादी सविधानी कानूनो' का विवेचन करते हुए कहता है कि प्रभुसत्ता उनका उल्लघन नही कर सकती। लार्ड के अनुसार, बोदाँ यह स्पष्ट कर देना चाहता था कि विधि-निर्माण के क्षेत्र मे भी यद्यपि राज्य को अनियत्रित शक्ति प्राप्त है तथापि व्यावहारिक राजनीति मे अनेक ऐसी बातें हैं जिनका प्रभुसत्ता को आदर करना पडता है। अतएव, राज्य अनेक ऐसी बातो को, जिन्हे वह कानूनी दृष्टि से कर सकता है, वास्तव मे करना नही चाहेगा।

हॉब्स का मत—तर्क की दृष्टि से हॉब्स का मत पूर्ण है। उसके मतानुसार जब व्यक्ति सविदा बनाकर राज्य की स्थापना करते हैं, उस समय सपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ताधारी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह किसी शर्त अथवा बधन को स्वीकार नही करता। अतएव उसकी सत्ता अनियन्त्रित और उत्तरदायित्वहीन होती है। वह किसी कानून की मर्यादा स्वीकार नही करता और इनमे मानवीय, दैवी और प्रकृति के कानून भी आ जाते हैं। वस्तुत सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ताधारी स्वय इन सभी कानूनो की व्याख्या करने वाली एकमात्र अधिकृत सत्ता है। उस के मतानुसार सविधान बनाते समय व्यक्ति यह स्वीकार कर लेते हैं कि सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ताधारी जो भी कार्य करेगा, उन्हे वे स्वय अपना किया हुआ

1 इसकी व्याख्या के लिए देखिए J. W. Allen, *A History of Political Thought in the Sixteenth Century*, लन्दन, 1961, पृ 410-425.

कार्य मानेंगे। अतएव यह स्पष्ट है कि तर्क की दृष्टि से सत्ताधारी सभी व्यक्तियों के साथ अन्याय नहीं कर सकता। प्रभुसत्ता के लक्षणों में हाब्स ने निश्चितता, उत्तरदायित्वहीनता, अनियन्त्रितता, अविभाज्यता, अदेयता, स्थायित्व, सर्वव्यापकता, और असीमता का उल्लेख किया है[1]। यही नहीं, उसके मतानुसार, क्योंकि सत्ताधारी स्वयं कानून बनाता है, वह कानूनों के अंतर्गत नहीं होता और न वह कानूनों के बंधनों को स्वीकार करता है। इस प्रकार, हाब्स के मतानुसार, *प्रभुसत्ता कानूनी, राजनीतिक और नैतिक रूप में भी अनियन्त्रित होती है।* यही नहीं, हाब्स का कहना है कि प्रभुसत्ताधारी चर्च का भी प्रमुख होता है *अर्थात् धर्म के क्षेत्र में भी वह सर्वोपरि है।* इससे भी आगे बढ़कर, हॉब्स कहता है कि राज्य में जितने भी समूह अथवा समुदाय हैं वे प्रभुसत्ताधारी की कृपा पर निर्भर हैं और उसकी अनुमति पर उनका अस्तित्व निर्भर है। इसी प्रकार, उसका कहना है कि प्रभुसत्ताधारी को यह अधिकार है कि वह मनुष्यों के ऐसे विचारों और विश्वासों पर रोक लगा दे जो उसकी सत्ता के समुचित प्रयोग में बाधक हो सकते हैं। यही नहीं, हॉब्स अंतर्राष्ट्रीय कानूनों की मर्यादाओं को भी स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य पूर्णत स्वतंत्र है और उस पर किसी प्रकार के अंकुश नहीं लगाए जा सकते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हाब्स उन समस्त बंधनों को अस्वीकृत कर देता है जिन्हें बोदाँ ने प्रभुसत्ता पर बना रहने दिया था और उसे सभी दृष्टि से अनियन्त्रित बना देता है।

जॉन आस्टिन का मत—प्रभुसत्ता की कानूनी व्याख्या करने वालों में आस्टिन (1790–1859) का नाम प्रमुख रूप से आता है। प्रभुसत्ता के सिद्धांत की व्याख्या करते समय उसने कानून की एक परिभाषा दी है और उसे उच्चाधिकारी द्वारा व्यक्तियों को दिया हुआ आदेश बताया है। उसके अनुसार, यदि कोई ऐसा निश्चित सर्वोपरि व्यक्ति (अथवा व्यक्ति समूह) हो जो स्वयं अन्य किसी सर्वोपरि व्यक्ति (अथवा व्यक्ति-समूह) की आज्ञा मानने का आदी न हो किंतु जिसकी आज्ञा का पालन साधारणत उस समाज के अधिकांश व्यक्ति आदतन करते हों, तो ऐसा व्यक्ति (अथवा व्यक्ति-समूह) उस समाज का सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न *सत्ताधारी है और वह समाज राजनीतिक एवं स्वाधीन है।* इस परिभाषा के अनुसार, प्रत्येक स्वतंत्र राजनीतिक समाज में सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह होते हैं, जो नागरिकों को आज्ञापालन के लिए बाध्य कर सकते हैं। उसका मत है कि राज्य में सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता निश्चित मानवीय हाथों में होनी चाहिए अर्थात् वह किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह में

1 देखिए हॉब्स का 'लेवियाथन', पृष्ठ 90-96.

निहित होनी चाहिए। यही नही, यह सत्ता असीमित होती है। इसके ऊपर कोई कानूनी बधन नही होते। इसका एक लक्षण यह है कि जनसाधारण इसकी आज्ञा-पालन के अभ्यस्त हो। उसके अनुसार, प्रभुसत्ता को विभाजित नही किया जा सकता। ऐसी सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता जो आदेश देती है वे 'कानून' कहलाते हैं, और उसकी अनुमति के बिना कोई कानून लागू नही हो सकते।

आस्टिन के इस मत की हेनरी मेन, सिजविक, ब्राइस आदि लेखको ने कडी आलोचना की है। प्रथम, ब्राइस के अनुसार आस्टिन का सिद्धात तथ्यो के प्रतिकूल है। वह केवल आधुनिक राज्यो पर लागू हो सकता है और वह भी ऐसे राज्यो पर जहाँ या तो राजा अथवा विधानाग को असीमित अधिकार प्राप्त हो। इन अपवादो को छोडकर, अन्य देशो मे उसके विचार लागू नही होते। उदाहरण के लिए, जिन देशो के सविधान अनम्य (rigid) है वहाँ किसी ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति समूह को खोज निकालना जिसकी आज्ञा सर्वमान्य हो, अत्यत कठिन है। इसी प्रकार, मुस्लिम राज्यो मे एक निरकुश सुल्तान भी शरियत के नियमो की उपेक्षा नही कर सकता। दूसरे, सर हेनरी मेन के अनुसार आस्टिन की उपर्युक्त परिभाषा अविकसित राज्यो पर लागू नही होती। क्योकि ऐसे समाजो मे कानून परम्परागत प्रथाओ के रूप मे अथवा उन पर आधारित होते है। अतएव यदि आस्टिन के मत को माना जाए तो इन अविकसित राज्यो मे कोई प्रभुसत्ताधारी व्यक्ति नही होता। राजा रणजीतसिंह का उदाहरण देते हुए, मेन ने कहा कि यद्यपि वह एक अत्यत निरकुश शासक था तथापि समाज की प्रथाओ का उसे भी आदर करना पडता था। वह उनको बदल नही सकता था। तीसरे, आस्टिन का विचार सघ-सरकारो पर भी नहीं घटता, क्योकि इनमे कोई अविभाज्य प्रभुसत्ता नही होती। सघ-सरकार की विशेषता ही यह है कि उसमे दो समान्तर सरकारें होती हैं, एक केंद्र मे और दूसरी प्रदेशो मे। इन सरकारो के अधिकार निश्चित होते है और वे अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र होती है, अर्थात् इस प्रकार के राज्य मे कोई सामान्य अनियमित प्रभुसत्ता नही होती। सयुक्त राज्य (अमेरिका) का उदाहरण लेते हुए टीकाकारो ने कहा है कि वहाँ प्रभुसत्ता उस व्यक्ति-समूह मे सन्निहित है जो सविधान मे परिवर्तन कर सकता है। किन्तु सविधान मे सशोधन करने वाली यह मशीनरी बहुत अधिक जटिल है। यही नहीं, यह मशीनरी प्राय सुप्तावस्था मे रहती है। चौथे, प्रभुसत्ता का विश्लेषण करते हुए आस्टिन की परिभाषा गहराई तक नही जाती। वह कानूनी प्रभुसत्ता पर आकर रुक जाती है और यह नहीं देख पाती कि इस कानूनी प्रभुसत्ता के पीछे भी कुछ ऐसे राजनीतिक प्रभाव हैं जिनके आगे इस कानूनी सत्ता को सिर झुकाना पडता है। पाँचवें, आस्टिन की परिभाषा लोकतत्र की भावना के प्रति-

भूल है और प्रभुसत्ता के दार्शनिक पक्ष की भी उपेक्षा करती है जिसके अनुसार प्रभुसत्ता अन्ततः जनता में निहित होती है। रूसो और ग्रीन के अनुसार जनता की 'सामान्य इच्छा' ही समाज में सर्वोपरि है और इसका लोकहित में प्रयोग होना चाहिए।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि *आस्टिन की प्रभुसत्ता की परिभाषा सन्तोषजनक नहीं है। जैसा कि मेन ने कहा* है कि ऐसी प्रभुसत्ता का उदाहरण केवल ऐसा निरंकुश शासक हो सकता है जिसके मस्तिष्क में कुछ खराबी आ गई है। *वस्तुतः आस्टिन प्रभुसत्ता के कानूनी पक्ष* को अत्यधिक महत्त्व देता है। इसी प्रकार, कानून की परिभाषा देते समय वह भूल जाता है कि प्रत्येक कानून आदेश के रूप में नहीं होता। अनेक कानून केवल अनुज्ञात्मक (permissive) होते हैं और नागरिक उनके अनुसार कार्य करने अथवा न करने के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र होते हैं। यही नहीं कुछ कानून केवल प्रक्रियाओं से सबंधित होते हैं और उन्हें किसी युक्ति-संगत दृष्टि से आदेश नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः अब कानून को आदेशात्मक नहीं माना जाता, उसे लोकहित का एक साधन माना जाता है। उक्त दोषों के होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आस्टिन की कानूनी व्याख्या स्पष्ट और तर्कसंगत है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण

प्रभुसत्ता की यह व्याख्या केवल व्यावहारिक अथवा ऐतिहासिक पहलू पर ध्यान देती है, प्रभुसत्ता की स्थिति पर नहीं। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादकों में अरस्तू, लाक, मॉटेस्क्यु, ब्लैकस्टन, साविनी (1779-1861), पोलक आदि लेखक हैं। लॉक के अनुसार यद्यपि राज्य में केवल एक सर्वोपरि शक्ति होती है अर्थात् विधानांग, और शासन के अन्य सभी अंग इसके अधीन होते हैं, तथापि यह विधानांग स्वतः भी कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु स्थापित होता है। अंतिम रूप में सर्वोपरि शक्ति जनता में निहित होती है जो आवश्यकतानुसार व्यवस्था को बदल सकती है या हटा सकती है। जब भी जनता यह देखे कि विधानांग उसके सामान्य हित पर समुचित ध्यान नहीं दे रहा और अपने उत्तरदायित्व की अवहेलना कर रहा है, तो वह निस्संकोच उसे हटाकर एक नया विधानांग बना सकती है। आगे चलकर लाक ने कहा है कि ऐसे राज्यों में जहाँ विधानांग हमेशा संगठित नहीं रहता और जहाँ कार्यांग के अधिकार एक व्यक्ति को मिले हुए हों जिसका विधि-निर्माण में भी हाथ हो, तो ऐसे व्यक्ति को एक अर्थ में हम सर्वोपरि शक्ति कह सकते हैं।

इस प्रकार लाक तीन प्रकार की सर्वोच्च शक्तियों की चर्चा करता है[1]:

1 दे० पीटर लैस्लेट द्वारा सम्पादित लाक का ग्रन्थ, पृष्ठ 77-78

जनता की सर्वोच्च शक्ति जो अन्ततः सर्वोपरि है ; विधानांग की सर्वोपरि कानूनी शक्ति ; और कार्यांग की सर्वोपरि शक्ति । लॉक ने इनके आपसी सबधो की कोई स्पष्ट व्याख्या नही की । इसी प्रकार मोंटेस्क्यु, ब्लैकस्टन आदि के विचारो मे हम प्रभुसत्ता को विभाजित पाते हैं , इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन विद्वानो ने वस्तु-स्थिति को जैसा देखा और समझा, उसका यथावत् वर्णन कर दिया । उन्होने अपने विचारो को तर्कसगत बनाने का कोई प्रयत्न नही किया। इस दृष्टिकोण के मानने वाले विद्वान प्रायः मिश्रित सरकार का समर्थन करते हैं । मोटेस्क्यु का शक्ति-पृथक्ता का सिद्धात विख्यात है । ये विचारक नागरिको की व्यावहारिक आवश्यकताओ पर अधिक ध्यान देते थे । उनका ख्याल था कि *व्यक्तिगत स्वतत्रता और सामान्य हित की रक्षा किसी भी राज्य के लिए अत्यत* महत्त्वपूर्ण बातें हैं । प्रभुसत्ता के रूप, और स्थिति जैसे प्रश्नो पर उन्होने विधिवत् विचार नही किया ।

दार्शनिक दृष्टिकोण—इस दृष्टिकोण को अपनाने वाले विद्वानो ने नैतिक और ऐतिहासिक विचारो का समन्वय करते हुए गहराई तक पहुँचने का प्रयास किया है और राज्य की एकता को रखते हुए अपने सिद्धात का प्रतिपादन किया है । सक्षेप मे, इन विद्वानो के अनुसार जनता ही वस्तुत सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न है। यह विचार बहुत प्राचीन है। यूनान और रोम मे भी इस प्रकार के विचार प्रचलित थे । उत्तर-मध्यकाल मे चर्च और राज्य दोनो ने ही इस विचार को एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए प्रयुक्त किया । सोलहवी शताब्दी से लेकर अब तक इस विचारधारा का प्रयोग विभिन्न रूपो मे हुआ है। कई बार प्रस्तुत व्यवस्था के सरक्षण के लिए व्यक्तिवादियो द्वारा और समष्टिवादियो ने इसका उपयोग किया । इस दृष्टिकोण के अनुसार राज्य एक है और उसे सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न होना चाहिए । जनता की इच्छा भी एक है और वह सर्वोपरि मानी जानी चाहिए । जहाँ तक शासक का प्रश्न है वह केवल राज्य का एक अफसर है । वह दैवी अधिकार-प्राप्त नही है। वस्तुतः यदि किसी को दैवी अधिकार प्राप्त हैं तो जनता को । इस विचारधारा की झलक हमे लॉक मे भी मिल जाती है जो जनता की सर्वोपरि शक्ति की चर्चा करता है । तथापि इसका पूर्ण विकास रूसो और अन्य आदर्शवादी लेखको ने किया । रूसो के अनुसार, जनता की सामान्य इच्छा ही सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न होती है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की दो इच्छाएँ होती हैं . एक तो व्यक्तिगत या विशिष्ट इच्छा जिससे प्रेरित होकर वह अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ, अभिलाषाओ, कामनाओ, आदि का ध्यान रखते हुए अथवा किसी सकुचित समूह के हित मे कार्य करता है और दूसरी, एक सामान्य इच्छा जिससे प्रेरित होने पर वह समष्टि के हित की ओर

की भावना से प्रेरित होकर विचार करते हैं, तो वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे वह 'सामान्य इच्छा' होगी। रूसो का यह भी कथन है कि सामान्य इच्छा व्यक्ति-विशेष के सबध मे विचार नही करती और वह सभी पर समान रूप से लागू होती है।

वस्तु-जगत् मे एक अनिश्चित सकल्पना से काम चलाना अत्यत कठिन है। अत रूसो कहता है कि व्यावहारिक रूप मे अर्थात् काम चलाने के लिए हम बहुमत को 'सामान्य इच्छा' मान सकते है। इस सबध मे उसकी युक्ति यह है कि कुछ व्यक्तियो का विशिष्ट इच्छा से प्रेरित होना सम्भव है, तथापि इस प्रकार के व्यक्ति प्रश्न के दोनो पक्षो की ओर लगभग बराबर सख्या मे होगे। परिणाम-स्वरूप, उनके विशिष्ट दृष्टिकोण और विशिष्ट इच्छाएँ एक दूसरे को काट देती है और व्यक्ति हित के विचार से अछूते रह जाने वाले व्यक्तियो की इच्छा ही 'सामान्य इच्छा' होती है। रूसो यह स्वीकार करता है कि सैद्धातिक रूप में यह समाधान पूर्णत सगत नही है। वह इस बात की सम्भावना को भी अस्वीकार नही करता कि बहुमत स्वार्थ से प्रेरित होकर अथवा अज्ञान वशीभूत होकर, ऐसे निर्णय करे जो वस्तुत सामान्य इच्छा के प्रतीक नही हो सकते। किंतु उसके पास इस कठिनाई से बचने का अन्य व्यावहारिक हल नही है और वह यह कह-कर अपने को सतुष्ट कर लेता है कि यथार्थ मे किसी समय, सामान्य इच्छा क्या थी और क्या नही थी, इसका निर्णय कुछ समय बीत जाने के पश्चात् ही हो सकता है जब हम निरपेक्ष भाव से शातिपूर्वक इस बात पर विचार कर सकते है कि हमने जिस निर्णय को 'सामान्य इच्छा' के अनुरूप समझा था वह वस्तुत ऐसा था भी या नही। स्पष्टत रूसो की 'सामान्य इच्छा' की धारणा अमूर्त और अस्पष्ट है। दार्शनिक दृष्टिकोण से वह भले ही पूर्ण और सतोषजनक लगे किंतु व्यावहारिक रूप मे उसके अनुसार काम करने मे अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं।

आलोचना—सामान्य इच्छा की इस सकल्पना का उपयोग केवल ऐसे छोटे राज्यो मे ही सम्भव है जहाँ प्रत्यक्ष लोकतत्रीय शासन प्रचलित हो, क्योकि रूसो का यह निश्चित मत है कि एक व्यक्ति की इच्छा का प्रतिनिधित्व कोई अन्य व्यक्ति नही कर सकता। अत 'सामान्य इच्छा' जानने के लिए यह अनिवार्य है कि समस्त नागरिक एक साथ एकत्रित होकर इस सबध मे अपने मत व्यक्त करें। स्पष्ट है कि इस प्रकार की सकल्पना आधुनिक राज्यो के उपयुक्त नही है क्योकि लगभग सभी आधुनिक राज्यो मे परोक्ष अथवा प्रतिनिधि लोकतत्र प्रचलित है। दूसरे, रूसो की सकल्पना स्पष्ट और अमूर्त है जिसका व्यावहारिक रूप म प्रयोग करना अत्यत कठिन है। तीसरे, रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा कभी

4 प्रभुसत्ता का बहुलवादी सिद्धांत

प्रभुसत्ता के कानूनी और दार्शनिक दृष्टिकोण उसके एकात्मक रूप मे आस्था रखते हैं और वे प्रभुसत्ता को अनियंत्रित, अदेय और अविभाज्य बताते हैं। किंतु पिछले दिनों इस मत की कडी आलोचना की गयी। अनेक विचारकों का कहना है कि अनियंत्रित और अविभाज्य प्रभुसत्ता कही देखने को नही मिलती। वस्तु-स्थिति यह है कि राज्य मे शक्ति के केंद्र एक नही अनेक होते हैं, यद्यपि राज्य उनमे प्रमुख एव सर्वोपरि है। इस विचार के मानने वाले लेखकों को बहुलवादी (Pluralists) कहा जाता है। इस विचारधारा के अतर्गत अनेक लेखक आ जाते हैं जिन्होने राज्य के एकात्मक प्रभुसत्ता के सिद्धांत की विभिन्न दृष्टियों से कडी आलोचना की है। ये विचारक राज्य की शक्ति के स्वरूप के संबंध मे एकमत नही है। इनमे से कुछ राज्य को अन्य समूहों और समुदायों के समकक्ष रखना चाहते हैं और राज्य को सर्वोच्च मानने से भी इकार करते हैं। इनका कहना है कि सगठित समुदायों को भी प्रभुसत्ता का भागीदार मानना चाहिए। दूसरी ओर, बहुमत ऐसे विद्वानो का है जो राज्य की एकात्मक प्रभुसत्ता स्वीकार नहीं करते, किंतु उसे सर्वोपरि और सर्वोच्च मानने में उन्हें कोई आपत्ति नही है। इन लेखकों मे से अधिकतर ऐसे हैं जिन्होंने व्यक्ति समूहों और समुदायों के अस्तित्व और महत्त्व पर विशेष बल दिया है।

इन विचारकों का कहना है कि प्रभुसत्ता का एकात्मक सिद्धांत व्यक्ति समूहो और समुदायो के लिए घातक सिद्ध हुआ है। इसके परिणामस्वरूप राज्य यह दावा करते हैं कि उन्ह समुदायो के ऊपर केवल नियत्रण करने का ही अधिकार नही है, बल्कि उनके जीवन और मरण पर भी उनका अधिकार है। बहुलवादी विचारक उक्त विचारों का घोर विरोध करते हैं[1]। उनके अनुसार ये समुदाय स्वय भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते। वे यह मानते हैं कि जहाँ एक ओर राज्य की सदस्यता अनिवार्य होती है और नागरिको को साधारणत इस बात की स्वतत्रता नहीं होती कि वे अपनी नागरिकता का परित्याग कर दें, वहाँ दूसरी ओर सामान्यत व्यक्ति जब चाहे समुदायों की सदस्यता स्वीकार कर सकता है और इच्छा न रहने पर उनसे पृथक हो सकता है। साथ ही, उनका कथन है कि राज्य इन समुदायों को जन्म नहीं देता। ये समुदाय मनुष्य की आवश्यकताओं,

1 देखिए Merriam and Barnes, *A History of Political Theories*, 1932, पृष्ठ 80 119, W. F. Coker, *Recent of Political Theories*, पृष्ठ 497-520, और Barker, *Political Thought in England*, पृष्ठ 43-44 एवं 175-183

उनकी इच्छाओ, और उद्देश्यो की पूर्ति के लिए जन्म लेते हैं। व्यक्ति उनका सदस्य इसलिए बन जाता है कि वे उसकी आवश्यकताओ अथवा उद्देश्यो की पूर्ति मे सहायक होते हैं। उन्हे राज्य से अधिकार प्राप्त नही होते, उनकी शक्ति और अधिकार उनके सदस्यो के अनुराग पर निर्भर हैं। इन समुदायो को अपने सदस्यो पर नियत्रण के कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। प्राय इन समुदायो के अपने नियम होते हैं जिनका पालन करना इनके सदस्यो के लिए आवश्यक है। साधारणत. अनुशासन बनाए रखने के लिए, इन समुदायो को दड देने का भी अधिकार होता है। नियमो का पालन न करने पर अथवा समुदाय के हित-विरोधी कार्य करने पर वह अपने सदस्य को समुदाय से पृथक् कर सकते हैं अथवा जुर्माना आदि कर सकते है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमित रूप मे इन समुदायो का स्वरूप और उनकी शक्ति राज्य के ही अनुरूप है। वे राज्य के समान ही नियम बनाते हैं और उन्हे लागू करते हैं। यद्यपि राज्य के समान इनके पास सैन्य शक्ति एव दमन-शक्ति नही होती, तथापि महत्त्व और उपयोगिता में वे राज्य से कम नही हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक बार जब राज्य और कतिपय समुदायो मे सघर्ष हुआ है, तो नागरिको ने राज्य का विरोध कर समुदायों का साथ दिया है। उदाहरणार्थ, मध्यकालीन यूरोप में जब चर्च और साम्राज्य (अथवा राज्य) मे सघर्ष हुए, तो अनेक लोगो ने राज्य का विरोध कर चर्च के पक्ष का समर्थन किया। इतिहास मे ऐसे भी उदाहरण हैं जब व्यक्तियो ने अपने धर्म और चर्च की रक्षा के लिए अपने प्राणो की बाजी लगा दी है। इसी प्रकार ऐसे भी अनेक उदाहरण मिल जाएँगे जिसमे परिवार के सम्मान की रक्षा के लिए लोगो ने राज्य की उपेक्षा की है। इतिहास मे ऐसे आदोलनो का वर्णन भी है जो राज्य के विरोध मे और उसकी शक्ति को सीमित करने के लिए किए गए हैं। समकालीन युग मे भी अनेक बार मजदूरो, किसानो और अन्य व्यवसायियो ने अपने सघो का पक्ष लेकर राज्य का खुल्लमखुल्ला विरोध किया है। इन बातो को ध्यान मे रखते हुए यह कहना कि राज्य ने समुदायो को जन्म दिया अथवा यह कि वे राज्य की कृपा पर निर्भर हैं या उनको नियत्रित करने का राज्य को पूर्ण अधिकार है, वस्तुस्थिति के सर्वथा विरुद्ध होगा। लास्की, कोल, लिडसे, फिगिस, गियर्के, मेटलैंड, मैकीवर, फौलेट आदि विचारकों ने समुदायो के अस्तित्व, उनके महत्त्व और स्वतत्र सत्ता को मानने पर बल दिया है। उनके कथनानुसार, ये समुदाय व्यक्तियो की स्वतत्रता और उनके विकास मे महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। यदि राज्य व्यक्तियो के लिए आवश्यक है तो समुदाय भी उनके लिए कम आवश्यक नहीं है। ऐसी स्थिति मे यह कहना कि केवल राज्य को प्रभुसत्ता प्राप्त है, वस्तुस्थिति के अनुकूल नही है। यदि राज्य मे प्रभुसत्ता निहित

हैं तो सगठित समुदाय भी कुछ अशो मे प्रभुसत्ता के भागीदार हैं।

राज्य के अनेक समुदायो के अस्तित्व का एक परिणाम यह होता है कि कभी-कभी ये समुदाय आपस मे लड पडते हैं। वैसे भी इन समुदायो के पारस्परिक हित मे विरोध हो सकता है। अतएव समस्या यह है कि उनके आपसी सघर्ष की रोकथाम कौन करे और ऐसा करने मे क्या दृष्टिकोण रखा जाए ? स्पष्टत: यह कार्य एक सर्वमान्य, सार्वजनिक और राजनीतिक रूप मे सगठित राज्य ही कर सकता है। समाज मे ऐसा कोई अन्य समुदाय नही है जिसे यह भार सौंपा जा सके। प्रश्न यह उठता है कि क्या राज्य को इस विषय मे अपनी मनमानी करने की छूट है ? एक लोकतत्रीय शासन के अतर्गत सभी सत्ताएँ उत्तरदायी होनी चाहिए, अतएव शासन के किसी अग को मनमानी करने की छूट नहीं दी जा सकती। इसका आशय यह हुआ कि यदि राज्य को समुदायो पर नियत्रण करने अथवा उनके हितो में समन्वय स्थापित करने का अधिकार दिया गया है, तो केवल इसी दृष्टिकोण से कि वह अपेक्षाकृत लोकहित के प्रसार का अत्युत्तम साधन है। अतएव उससे यह आशा करना असगत न होगा कि समुदायो के प्रति अपने व्यवहार मे वह हमेशा लोकहित की भावना को अपने सम्मुख रखे। कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य और समुदाय, सभी लोकहित की भावना से प्रेरित होने चाहिए। यदि कोई समुदाय समाज-विरोधी कार्य करता है, तो राज्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वह उसकी रोकथाम के लिए समुचित कदम उठाए।

राज्य की सत्ता को इस प्रकार सीमित करने का परिणाम यह नहीं होगा कि राज्य निर्बल हो जाए अथवा महत्त्वहीन रह जाए। जैसा कि बार्कर ने स्पष्ट किया है, समुदायो क स्वतत्र, अस्तित्व एव सत्ता को स्वीकार कर लेने पर भी राज्य के समन्वय सबधी कार्य उतने ही महत्त्वपूर्ण बने रहेंगे, उनमे कमी नही आएगी।

5 प्रभुसत्ता के एकात्मक सिद्धात की आलोचना

प्रभुसत्ता के कानूनी और दार्शनिक, दोनों ही दृष्टिकोण उसे एकात्मक मानते हैं और उसके लक्षणों मे एकता और अनियत्रितता पर बल देते हैं। आधुनिक विचारकों ने इस मत की आलोचना की है। उनका कहना है कि व्यावहारिक जीवन मे सरकार ही राज्य की प्रभुसत्ता का उपयोग करती है। अत यह सिद्धांत निरकुश सरकार का सिद्धात बन जाता है। वैसे भी राज्य की प्रभुसत्ता को अनियत्रित मान लेने मे अनेक बुराइयाँ उत्पन्न होने की सम्भावना हैं। सर्वप्रथम, इससे राज्य मे व्यक्ति का महत्त्व नही रह जाता। राज्य चाहे तो उसे अधिकार दे और यदि न चाहे तो उसके अधिकारों को समाप्त करदे। समकालीन

विचारक राज्य को इस प्रकार के स्वच्छद अधिकार नही देना चाहते । उनके अनुसार प्रत्येक राज्य को अपने नागरिको को मौलिक अधिकार देने चाहिए और उनके सरक्षण की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। अब तो इस स्थिति से भी हम एक कदम आगे बढ चुके हैं और सयुक्त राष्ट्र सघ ने मानव अधिकारों की घोषणा को स्वीकार कर लिया है। उसके सभी सदस्य-राज्यों से यह आशा की जाती है कि वे अपने नागरिको को इन मानव अधिकारो का उपभोग करने देंगे। दूसरे, इस सिद्धात से यह ध्वनि निकलती है कि राज्य एक साध्य है और व्यक्ति उसके साधन। ऐसा विचार तानाशाही को प्रोत्साहन देता है और लोकतत्रवाद की जड़ें खोखली करता है। सैनिकवाद और फासिस्ट विचारधारा वाले देशो मे ऐसा ही माना जाता है जिसके दुष्परिणामो को हम द्वितीय विश्व युद्ध के रूप मे भुगत चुके हैं। तीसरे, यह सिद्धात समुदायो की उपेक्षा करता है। इसके अनुसार राज्य उन्हे दबा सकता है और गैरकानूनी भी घोषित कर सकता है। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, यह लोकहित के विरुद्ध होगा। जब तक समुदाय व्यक्तियो के उद्देश्यो की पूर्ति मे सहायक हो और लोकहित के विरोधी न हो, उन्हे पूरी स्वतत्रता देना राज्य का कर्त्तव्य होना चाहिए। चौथे, इस विचारधारा के मानने वाले लोग प्रभुसत्ता को कानून से परे बताते है, अर्थात्, कानूनी रूप मे वह अनियत्रित होती है और सविधान अथवा कानून के द्वारा उसे सीमित नही किया जा सकता। उपर्युक्त धारणा आधुनिक सविधानवाद की विरोधी होने के कारण त्याज्य है। इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि राज्य कानूनों का निर्माण करने वाली ऐसी सत्ता है जो मनमाने आदेश दे सकती है। यह विचार वस्तुस्थिति के विरुद्ध होने के साथ ही साथ लोकहित और व्यक्तिगत स्वतत्रता के लिए भी घातक है और इसे स्वीकार नही किया जा सकता। पाँचवें, इन विचारो का परिणाम अतर्राष्ट्रीय राजनीति पर बहुत बुरा पडा है और इसने अतर्राष्ट्रीय जगत् मे अराजकता उत्पन्न कर दी है। राज्य अपने को सर्वशक्तिमान समभकर अतर्राष्ट्रीय सगठनो के नियमो की उपेक्षा करते हैं और अन्य राज्यो के अधिकारो और प्रदेशो को छीनने और उन्हे अपने अधीन करने का प्रयास करते हैं। इसके कारण विश्व-शाति खतरे मे पड गई है। यदि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे अपना रुख बदल ले और मानव-हित की दृष्टि से कार्य करना स्वीकार कर ले तो विश्व-शाति की समस्या सरलता से सुलझाई जा सकती है। ऐसी हालत मे आपसी झगडो का निर्णय शक्ति द्वारा न होकर विचार-विमर्श, पचायत, अथवा अतर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जा सकता है। किंतु अनियत्रित प्रभुसत्ता का सिद्धात इसे राज्य की प्रतिष्ठा के विरुद्ध ठहरा कर युद्ध को अनिवार्य बना देता है जिसका दुष्परिणाम नागरिको और मानव

समाज को भुगतना पड़ता है।

व्यावहारिक जीवन में प्रभुसत्ता अनियन्त्रित नहीं होती। प्रथम, उसे संविधान के अनुसार कार्य करना होता है। यह सत्य है कि संविधान का भी संशोधन हो सकता है और उसे परिवर्तित किया जा सकता है। तथापि राज्य के लिए यह आवश्यक है कि जैसा भी संविधान हो वह उसकी मर्यादा में रहकर कार्य करे। यही नहीं, उसे कानूनों का आदर करना होता है और कानूनों के आधार पर अपने कार्यों का संपादन करना होता है। दूसरे, राज्य लोकमत और लोकहित की उपेक्षा नहीं कर सकता। बड़े-से-बड़े तानाशाह भी लोकमत के महत्व को स्वीकार करते हुए, निरंतर यह प्रयत्न करते रहते हैं कि लोकमत उनके अनुकूल बना रहे। इसी हेतु प्रचार और प्रसार के सभी साधनों का उपयोग कर वे जनता को प्रभावित करने के यत्न करते हैं और जनसाधारण को इस बात का बराबर आश्वासन देते रहते हैं कि वे उन्हीं की सामूहिक भलाई के कार्य कर रहे हैं। जब तानाशाहों को भी इस प्रकार लोकमन का आदर करना होता है तो यह स्पष्ट है कि अनियंत्रित प्रभुसत्ता का सिद्धांत काल्पनिक है। तीसरे, आज के युग में कोई राज्य अन्य राज्यों के अस्तित्व को नहीं भुला सकता। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना से, अंतर्राष्ट्रीय जगत् में होने वाले विवाद और घटनाएँ तुरंत उसके समक्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं और बड़े-से-बड़े राज्यों के लिए भी अब संयुक्त राष्ट्र-संघ की पूरी तरह उपेक्षा करना संभव नहीं है। स्वेज की घटना के समय जिस प्रकार शक्तिशाली इंग्लैंड, फ्रांस और इजराइल को मिस्र के सामने मुँह की खानी पड़ी, वह सर्वविदित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी आज कोई राज्य अनियंत्रित सत्ता का उपभोग नहीं करता। चौथे, प्रत्येक राज्य को जनता की रीति-रिवाजों, परम्पराओं, धार्मिक विश्वासों और भावनाओं का आदर करना होता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि पुरानी परम्पराओं और विश्वासों को बदला नहीं जा सकता। आवश्यकतानुसार और समय की गति के साथ ये भी बदलते रहते हैं। किंतु ये परिवर्तन यकायक और बलपूर्वक नहीं किए जा सकते; धीरे-धीरे प्रचार द्वारा जनमत को तैयार करना पड़ता है, और जब जनता की भावनाओं के अनुकूल हो जाने पर ही आवश्यक सुधार किए जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रभुसत्ता व्यावहारिक रूप में अनियंत्रित नहीं है। पाँचवें, राज्य अपने ध्येय और उद्देश्यों को ध्यान में रखकर अपनी शक्ति का लोकहित में उपयोग करता है अर्थात् व्यक्ति, समाज, और मानवता के हितों का ध्यान रखते हुए उसे अपने कार्य करने होते हैं। जैसा कि लास्की ने कहा है, नागरिक राज्य के आदेश का इसलिए पालन करते हैं कि वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि राज्य

उनका हित-साधन कर रहा है। यदि उन्हे ऐसा लगे कि राज्य उनके हितो की उपेक्षा करता है तो बहुत सम्भव है कि वे अनुशासन मानने और आज्ञापालन करने के स्थान पर विद्रोह कर बैठें और शासन के तख्ते को उलट कर, अपने अनुकूल एक नयी व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करें।

कुछ लेखक उपर्युक्त सभी बातो को स्वीकार करते हुए यह कहते हैं कि यद्यपि राज्य नैतिक रूप मे अनेक बधनो और मर्यादाओ को स्वीकार करता है और व्यावहारिक रूप मे उनका पालन करता है किंतु कानूनी दृष्टि से वह सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न है और उसके ऊपर कोई बाह्य नियत्रण नही लगाया जा सकता। यदि हम स्मरण रखें कि यह विचार राज्य के सबध मे प्रस्तुत किया जा रहा है, सरकार के सबध मे नही, तो सम्भवत आपत्ति के अनेक कारण दूर हो जायेंगे।

6. प्रभुसत्ता की स्थिति

हम देख चुके हैं कि प्रभुसत्ता के सबध मे विभिन्न दृष्टिकोण हैं · कानूनी, दार्शनिक, और राजनीतिक। फलस्वरूप लोक-दृष्टि से प्रभुसत्ता की स्थिति मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। सभी राज्यो में समान रूप से यह जनता मे निहित होती है। जहां तक राजनीतिक प्रभुसत्ता का प्रश्न है, इसमे कुछ कठिनाई उपस्थित हो सकती हैं, क्योकि राज्य पर प्रभाव डालने वाली शक्तियो का शोध करना एक कष्टसाध्य कार्य है। इसीलिए लीकौक ने कहा है कि 'राजनीतिक प्रभुसत्ता की जितनी खोज की जाए, उतनी ही वह दूर भागती दिखाई देती है'। कठिन होने के साथ, इस खोज का फल भी बहुत कुछ अनिश्चित है।

जहां तक कानूनी प्रभुसत्ता का प्रश्न है, उसकी स्थिति का पता लगाना अपेक्षाकृत सरल है। बोदां के अनुसार इस प्रकार की प्रभुसत्ता सर्वोच्च कार्यकारी मे निहित होती है किंतु इस मत को स्वीकार नही किया जा सकता। जैसा कि हम देख चुके हैं, प्रत्येक राज्य मे कानूनी सत्ता के पीछे अनेक राजनीतिक प्रभाव होते हैं जिनके आगे कानूनी सत्ता को झुकना पडता है। बेंथम के मतानुसार प्रभुसत्ता विधानांग मे निहित होती है। किंतु इस विचार को भी स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि अनेक राज्यो मे विधानांग की शक्ति सविधान द्वारा सीमित होती है। जब हम सघीय राज्य मे प्रभुसत्ता की स्थिति पर विचार करते हैं तो समस्या और भी जटिल बन जाती है क्योकि इस प्रकार के राज्य मे शासन के दो स्तर होते हैं। सघीय और प्रादेशिक, और इन दोनो के अधिकार निश्चित और सीमित होते हैं। ऐसी दशा मे प्रभुसत्ता की स्थिति का पता कैसे लगाया जाए? डि टोकयवेली, बूने और स्टोरी के अनुसार प्रभुसत्ता सघीय सरकार और राज्य सरकारो मे निहित होती है। इसके विपरीत, अन्य विद्वानों का मत

यह है कि जिस व्यक्ति-समूह को संविधान को बनाने और परिवर्तित करने का अधिकार है, उसी में प्रभुसत्ता निहित है। किंतु जैसा कि सिजविक ने कहा है, संविधान को बनाने और परिवर्तित करने वाली शक्ति तो लम्बे समय तक सुप्तावस्था में रह सकती है। उदाहरण के लिए, अमेरिका के संयुक्त राज्य में सन् 1804 ई० से लेकर 1865 ई० तक यह बिल्कुल निष्क्रिय बनी रही। ऐसी दशा में यह कहना कि इन 61 वर्षों तक संयुक्त राज्य (अमेरिका) के नागरिक इस निष्क्रिय सत्ता की आज्ञा का पालन करते रहे, भाषा का मज़ाक बनाना है। इस संबंध में दूसरा मत गैटिल का है। उसके मतानुसार, प्रभुसत्ता (1) विधानांग, (2) न्यायालयों, (3) संविधान निर्मात्री-परिषदों या कनवेंशनो, (4) कार्यांग की आज्ञाओं और आदेशों, और (5) मतदाताओं में निहित होती है। उसके अनुसार इस गणना में मतदाताओं को केवल वहीं सम्मिलित किया जाना चाहिए जहाँ जनमत-संग्रह (Referendum) और सार्वजनिक उपक्रम (Initiative) की रीतियाँ प्रचलित हों। इस मत के विरोधी कहते हैं कि ऐसा लगता है कि प्रभुसत्ता की स्थिति की खोज में हम राजनीतिक प्रभावों की एक सूची तैयार करने लगे हैं।

वस्तुत प्रभुसत्ता की स्थिति की खोज का प्रश्न ही असगत है। प्रभुसत्ता राज्य का एक तत्व है, सरकार का नहीं। अतएव वह अमूर्त है और उसे खोजने का प्रयास व्यर्थ है। लास्की के मतानुसार प्रत्येक राज्य में आदेश लागू करने वाले थोड़े से व्यक्ति होते हैं। किंतु इन व्यक्तियों को अपना आदेश मनवाने के लिए अनेक 'प्रभावों' का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। अतएव यह कहना अत्यंत कठिन है कि किस देश में किस समय क्या 'प्रभाव' सफल हो रहे हैं और किसी निर्णय में किसने अधिक प्रभाव डाला है? इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए जान चिपमन ग्रे ने कहा है कि 'समाज के वास्तविक शासकों की खोज नहीं की जा सकती'।

●

8

कानून, सहमति और बलप्रयोग

व्यापक अर्थ में कानून शब्द का प्रयोग हम ऐसे किसी सामान्य नियम के लिए कर सकते है जो किन्हीं कामों को करने अथवा न करने का आदेश देता है और जिसकी अवज्ञा करने से अवज्ञा करने वाला व्यक्ति दंड पाने की सकारण आशा करता हो। —हेनरी सिजविक

1. कानून और शांतिपूर्ण परिवर्तन

यदि हम राज्य का मूल्याकन इस दृष्टि से करते हैं कि वह नागरिको के जीवन को विकसित करने और उसे सर्वांगपूर्ण बनाने मे क्या योग देता है, तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि हम राज्य को एक ऐसी एजेंसी मानते हैं जो हमारे मनोवाछित परिवर्तन करने मे सहायक होगी। राजनीतिक प्रगति तभी सम्भव है जब राज्य अपने उद्देश्यो की पूर्ति करे। वस्तुत. परिवर्तन चाहे धीमी गति से हो रहे हो अथवा द्रुत गति से, वे हमेशा होते रहते हैं, एक अर्थ में परिवर्तनो का न होना भी प्रस्तुत स्थितियों मे अपेक्षाकृत परिवर्तन ला देता है। फ्रासिस ग्रेहम विल्सन के अनुसार, 'वातावरण मे प्रत्येक नई वस्तु सभ्यता के स्वरूप मे परिवर्तन ला देती है; प्रत्येक ऐसा नया विचार जिसे समाज मान्यता देता है और जिसके अनुसार वह कार्य करता है, संस्कृति मे परिवर्तन ला देता है'[1]। जहाँ ये परिवर्तन जीवन की दशाओ को बदलने के लिए किए गए प्रयासो के कारण होते हैं, हम उन्हे 'सुधार' कहते हैं। हम अब एक ऐसे युग मे रह रहे है जिसमे 'नियोजन' के द्वारा विकास की दिशा निर्धारित करने मे विश्वास किया जाता है; और इस सबध मे राज्य के महत्त्व को खुले रूप मे स्वीकार किया जाता है।

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 504.

एक बड़े पैमाने पर परिवर्तन लाने के लिए यह आवश्यक है कि वे जनता की सहमति पर आधारित हो अथवा कम से कम जनता उनका विरोध न करे। यदि राज्य द्वारा किए गए परिवर्तन मनुष्यों की भौतिक सम्पन्नता मे सहायक होते हैं और उनके जीवन मे सुख और सुविधा को बढ़ाते हैं, तो जनता उनका मुक्त हृदय से स्वागत करती है। प्राय. आर्थिक परिवर्तनो के होने से सामाजिक परिवर्तन भी आवश्यक हो जाते हैं, जिन्हें इतनी सरलता से स्वीकार नहीं किया जाता। ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य सामाजिक स्थायित्व की रक्षा मे लगा रहता है। इसका विरोध होने पर वह बलप्रयोग करता है; अन्यथा वह समझा-बुझाकर और प्रचार द्वारा जनता की सहमति प्राप्त करने का यत्न करता है। अट्ठारहवी शताब्दी के अन्त मे और उन्नीसवी शताब्दी मे अनेक तर्कनापरक विचारको ने शिक्षा के महत्त्व पर बल दिया। उनके कथनानुसार जब तक शिक्षा का व्यापक प्रसार न होगा, जनता से विवेकपूर्ण सहयोग की आशा नही की जा सकती। मिल ने तो यहाँ तक कहा है 'वयस्क मतदान के पूर्व हमे वयस्क शिक्षा का प्रबंध करना चाहिए और अपने स्वामियो को शिक्षित बनाना चाहिए'।

बीसवी शताब्दी मे, शिक्षा के साथ-साथ प्रशासन के महत्त्व पर भी बल दिया जाने लगा है[1] और अब यह स्वीकार किया जाता है कि राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति कानून और प्रशासन के द्वारा करता है। इस प्रकार कानून 'शांतिपूर्ण परिवर्तन' का एक प्रमुख साधन है। साथ ही, वह समाज मे न्याय की व्याख्या करता है। उपर्युक्त कारणो से अनेक विद्वान् कानून को राज्य का सार कहते हैं। मैकीवर के अनुसार, 'राज्य कानून का पुत्र भी है और पिता भी'[2]। इस बात को स्पष्ट करते हुए उसने कहा है कि 'एक कानून ऐसा होता है जो राज्य को नियन्त्रित करता है (अर्थात् संविधान) और एक कानून वह होता है जिससे राज्य नागरिको पर शासन करता है'[3]। वस्तुत आज के औद्योगिक समाज मे, कानूनो और न्यायालयों के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती।

2 कानून का अर्थ और उनका स्वरूप

'कानून' शब्द बहुत व्यापक है और इसे कई अर्थो मे प्रयुक्त किया जाता है। प्राकृतिक जगत मे, इसका प्रयोग कार्य-कारणो का संबध प्रकट करने के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ, यह एक प्राकृतिक नियम है कि गर्म होने से पदार्थ

---

1 वही, पृष्ठ 518.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 272.

3 वही, पृष्ठ 250.

बढते हैं। एक नियम यह भी है कि किसी ठोस और भारी वस्तु को ऊपर उछालने से वह गुरुत्वाकर्षण के कारण नीचे आ गिरेगी। इन्हे प्राकृतिक नियम इसलिए कहा जाता है कि ये ऐसे सत्य हैं जो सभी देशो, कालों और परिस्थितियो मे खरे उतरेंगे। किंतु राजनीति-विज्ञान मे इस प्रकार के प्राकृतिक नियमों से हमारा पाला नही पडता। इसमे हमे केवल उन नियमो और कानूनो पर विचार करना है जो मानव व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से, कानून का अग्रेजी पर्याय 'लॉ' ट्यूटोनिक धातु 'लैग' से निकला है जिसका अर्थ होता है कोई एसी वस्तु जो एकसार या बँधी हुई हो। सामड के अनुसार व्यापक अर्थ मे कानून के अतर्गत सभी कार्य-सबधी नियम आ जाते हैं[1]। ऑक्सफोर्ड इगलिश डिक्सनरी ने इसकी परिभाषा देते हुए, इसे सत्ता द्वारा लागू किया जाने वाला आचरण सबधी नियम बताया है। व्यापक अर्थ मे, मानवीय कानून या तो नैतिक होते हैं अथवा राजनीतिक-वैधानिक। नैतिक कानून मनुष्यो के प्रयोजनो और आतरिक भावनाओ से सबधित हैं। प्राय उनका आधार और अनुशास्ति (sanction) व्यक्तियो का अन्त करण और लोकमत होता हैं। दूसरी ओर राजनीतिक वैधानिक नियम हैं जिनका सबध मनुष्यो के बाह्य आचरण से है। प्राय. वे सरकार द्वारा बनाए और लागू किए जाते हैं। राजनीतिक-विज्ञान का सबध मुख्यत इन्ही कानूनो से होता है।

परिभाषा

राजकीय कानूनो की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं। हॉलैंड के मतानुसार ये मनुष्यों के बाह्य आचरण के वे व्यापक नियम हैं जिन्हे सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राजनीतिक सत्ता लागू करती है[2]। सामण्ड के कथनानुसार ये उन सिद्धातो का समूह है जिन्हे राज्य मान्यता देता है और न्याय-प्रबध के लिए न्यायालयो मे काम मे लाया जाता है[3]। विलोबी ने इनका अन्य एसे नियमो से जिन्हें जन-समुदाय मान्यता देता है, प्रभेद करते हुए कहा है कि ये ऐसे नियम है जिन्हे लागू करने के लिए राज्य अन्तत अपनी सारी सत्ता का उपयोग करता है[4]। वुडरो विलसन के कथनानुसार 'कानून स्थापित विचारो और आदतो का ऐसा भाग है जिसे सामान्य नियमों के रूप मे विशिष्ट और औपचारिक मान्यता प्राप्त हो

1 John Salmond, *Jurisprudence*, आठवाँ सस्करण, मैनिंग द्वारा सम्पादित, लन्दन, 1930, पृष्ठ 19.

2 *Elements of Jurisprudence*, दसवाँ सस्करण, ऑक्सफोर्ड, 1906, पृष्ठ 40.

3 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 177.

4 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 263.

चुकी है और जो सरकार की सत्ता और शक्ति द्वारा लागू किया जाता है। कानून का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि ये राज्य द्वारा लागू किए जाने वाले नियम हैं। स्मरण रहे कि आज भी आधुनिक राज्य का विधानांग समस्त कानूनों को नहीं बनाता। राज्य के पूर्व कानून प्रथाओं के रूप में उपस्थित थे और कुछ प्रथाएँ आज भी बंध मानी जाकर न्यायालयों द्वारा लागू की जाती हैं, यद्यपि राज्य ने उनके निर्माण में कोई योग नहीं दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी कानून राज्य द्वारा निर्मित नहीं होते। अतएव आस्टिन का यह विचार कि कानून प्रभुसत्ता द्वारा दी गई आचरण संबंधी आज्ञाएँ हैं, युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। जैसाकि हॉलैंड ने कहा है, इन नियमों को कानूनी रूप देने वाली वस्तु राज्य द्वारा दी हुई वह मान्यता है जो विधानांग और न्यायांग द्वारा दी जाती है और अंतिम रूप में जिसे बलप्रयोग द्वारा लागू किया जाता है। इस प्रकार वे प्रथाएँ, जिन्हें न्यायालय स्वीकार कर लागू करते है, कानून का रूप धारण कर लेती हैं। अतः राजकीय कानून का प्रमुख लक्षण उनका लागू किया जाना है। मैकीवर के अनुसार, 'क्योंकि वे सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होते हैं, अतएव राजकीय नियमों का अनिवार्य होना आवश्यक है'[1]। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि राजकीय कानून मनुष्यों के वाह्य कार्यों से संबंधित आचरण के वे नियम हैं जिन्हें राज्य मान्यता देकर लागू करता है।

कानून का स्वरूप

कानून के स्वरूप के संबंध में अनेक दृष्टिकोण हैं जिनमें प्रमुख हैं : विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय, और मार्क्सवादी। नीचे हम इन दृष्टिकोणों पर संक्षेप में विचार करेंगे।

विश्लेषणात्मक विचारधारा—इस विचारधारा के विद्वान् वर्तमान कानूनों का विश्लेषण करते हैं और उनके स्रोतों और लागू करने के ढंग के आधार पर उनका वर्गीकरण करते हैं। बोदाँ, हॉब्स, बेंथम, और आस्टिन ऐसे प्रमुख विचारक हैं। हॉब्स और आस्टिन के अनुसार कानून 'राज्य अथवा प्रभुसत्ता का आदेश' है। इनके अनुसार विधानांग कानून का प्रमुख स्रोत है और राजकीय शक्ति कानून की सच्ची अनुशास्ति है। जैसा कि जॉन ब्राउन ने कहा है, प्रत्येक कानून साधारणतः सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा स्वाधीन राजनीतिक समाज के सदस्यों पर लागू किया जाता है[2]।

---

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 263.

2 *The Austinian Theory of Law*, 1906, पृष्ठ 219. गार्नर द्वारा *Principles of Social and Political Theory*, में उद्धरित, पृष्ठ 92.

कानून का यह विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण सरल और सुस्पष्ट है। वह केवल उन्ही नियमो को कानून मानता है जो सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राजनीतिक सत्ता द्वारा निर्मित अथवा लागू किए जाते हैं। यह वकीलो अथवा विधिशास्त्रियो का दृष्टिकोण है जिनके लिए यह जानना आवश्यक है कि राज्य मे कौन से कानून मान्य हैं। पिछले वर्षों इस मत की कडी आलोचना हुई है। सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि कानून का यह दृष्टिकोण औपचारिक और अनम्य है। ब्राइस के कथनानुसार, कानून हमेशा और सभी स्थानो पर राज्य द्वारा नही बनाए जाते। अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जहा राज्य के जन्म के पूर्व कानून प्रचलित है[1]। इसी प्रकार, पोलक कहता है कि कानून उस समय भी थे जब राज्य के पास व्यक्तियो को बाध्य करने के समुचित साधन न थे और न उन्हे लागू करने की कोई नियमित प्रक्रिया थी[2]। मैकीवर का कहना है कि एक अर्थ मे कानून आदेशो के विरोधी होते हैं, क्योकि आदेश से प्राय यह अभिप्राय लिया जाता है कि आदेश देने वाला और जिसको आदेश मिलता है, उन दोनो का पृथक् अस्तित्व है। किंतु कानून के सबध मे यह धारणा असगत है, क्योकि वे विधायको पर भी उसी प्रकार लागू होते हैं जिस प्रकार अन्य नागरिको पर[3]। लास्की ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए है। सामण्ड के कथनानुसार, सभी कानून आदेश के रूप मे नही होते। यदि कुछ कानून आज्ञात्मक होते हैं तो ऐसे भी अनेक कानून है जो केवल अनुज्ञात्मक होते हैं अर्थात् इनको मानने के लिए नागरिक बाध्य नही हैं। ये नागरिको को एक प्रकार के कार्य करने की अनुमति देते हैं, उन्हे आज्ञा नही देते। उदाहरण के लिए, सगोत्र-विवाह का कानून इसी प्रकार का है। इनके अतिरिक्त, सामण्ड ने उन प्रक्रिया सबधी (procedural) कानूनो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जिनका सबध अदालती कार्यवाही से है[4]। दूसरे, यह विचारधारा कानून के उन अगो को भुला देती है जो प्रथाओ, परम्पराओ, न्यायाधीशो के निर्णयों, और धार्मिक ग्रथो पर आधारित होते हैं। तीसरे, इन लेखको द्वारा दी हुई परिभाषाओं से कुछ ऐसी ध्वनि निकलती है कि कानून का आधार 'शक्ति' है जबकि सत्य यह है कि मनुष्य कानून का पालन इसलिए करते हैं कि वे उसकी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते है और लोकहित के अनुकूल होते हैं। समकालीन लेखको ने उपर्युक्त आलोचनाओ को

1 *Studies in History and Jurisprudence*, ऑक्सफोर्ड, 1901, खड 2, पृष्ठ 249.

2 *First Book of Jurisprudence*, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ 24.

3 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 257-58.

4 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 54.

ध्यान में रखते हुए, आदेशात्मक पक्ष की ओर बल देना बंद कर दिया है और वे अब कानून को राज्य द्वारा लागू करने पर बल देते हैं।

ऐतिहासिक विचारधारा—इस विचारधारा के प्रमुख लेखक साविनी (1799–1861), पाल विनोग्रैडोफ, हेनरी मेन, मेटलैंड, पोलक आदि हैं। इन लेखकों के मतानुसार कानून राज्य द्वारा नहीं बनाए जाते, अपितु समाज में चुपचाप काम करने वाली शक्तियों के परिणाम हैं। उनके मतानुसार, कानून का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है। वस्तुतः राज्य का कार्य कानूनों को बनाना नहीं है, अपितु उन्हें मान्यता देना और लागू करना है। इन्हीं बातों का ध्यान रखते हुए वुड्रो विल्सन ने कानून को स्थापित विचारों और आदतों का ऐसा भाग बताया है जिन्हें विशिष्ट और औपचारिक मान्यता प्राप्त हो चुकी है और जो सरकार द्वारा सामान्य नियमों के रूप में लागू किए जाते हैं। इस विचार के मानने वाले लेखक प्रथा पर आधारित कानूनों को विशेष महत्त्व देते हैं। उनकी मान्यता है कि इस प्रकार के कानून स्वयंसिद्ध हैं। इस दृष्टिकोण का प्रमुख दोष यह है कि यह सभी विगत नियमों को आदर की दृष्टि से देखता है जिसके कारण इसकी प्रवृत्ति अनुदार एवं प्रगति-विरोधी हो जाती है।

दार्शनिक विचारधारा—इस दृष्टिकोण को अपनाने वाले लेखकों में हम आदर्शवादी लेखकों को सम्मिलित कर सकते हैं जैसे प्लेटो, अरस्तू, रूसो आदि। इनके मतानुसार कानून समाज में प्रचलित न्याय और अन्याय की धारणा का प्रतीक है। इसको सार्वजनिक चेतना का प्रतिरूप भी कहा गया है। इन लेखकों ने कानून में न्याय की धारणा का समावेश करने का प्रयत्न किया है। इनकी रुचि अमूर्त कानून में है, यथार्थ कानूनों में नहीं। इनमें से कुछ लेखक कानूनों को 'सामान्य इच्छा' का प्रतीक बताते हैं और यह मत प्रकट करते हैं कि 'स्व-निर्मित कानूनों को मानने में ही सच्ची स्वतंत्रता निहित है'। स्पष्ट है कि ये विचारक 'आदर्श कानून' को ध्यान में रखते हुए अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार के विचारों ने 'प्रकृति के कानून' (Law of Nature) की धारणा को जन्म दिया जो विवेक पर आधारित माने गए हैं।

समाजशास्त्रीय विचारधारा—यह एक अपेक्षाकृत नई विचारधारा है और इसके प्रतिपादकों में गम्पलोविज, डुई, क्राबे, रास्को पाउंड, होम्स आदि के नाम लिए जाते हैं। इनके मतानुसार, कानून सामाजिक शक्तियों का उपज्ञान होता है, और इनका मूल्यांकन अमूर्त सिद्धांतों के आधार पर नहीं, अपितु परिणामों के आधार पर होना चाहिए अर्थात् इनका दृष्टिकोण फलमूलक है। इनके अनुसार, राज्य कानून नहीं बनाता। कानून राज्य के पूर्व भी थे और वस्तुतः इनकी सत्ता राज्य की सत्ता से कहीं ऊँची है। क्राबे के अनुसार, कानूनों का

स्रोत मनुष्यों की भावनाएँ अथवा उनका न्याय विचार है। इसका पालन दण्ड के भय से नही होता, अपितु इसलिए होता है कि लोग इसे उचित समझते है। लास्की के अनुसार, अच्छा कानून वह है जो नागरिको को अधिकतम सतोष दे। कोई भी ऐसा कानून जो अच्छा नही है मान्य नही हो सकता।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण—लेनिन के मतानुसार, कानून और राज्य का पृथक् अध्ययन नही किया जा सकता। मार्क्सवादियो के अनुसार राज्य शोषक-वर्ग द्वारा अन्य वर्गों पर आधिपत्य जमाने का एक साधन है। राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति और शासक-वर्ग के निहित स्वार्थो की रक्षा करता है। राज्य द्वारा जारी किए गए कानून उस वर्ग के हित और आकाक्षाओ के अनुकूल होते हैं जिसके हाथ मे आर्थिक और राजनीतिक सत्ता है[1]। इसका आशय यह हुआ कि इनके मतानुसार राज्य शक्ति पर आधारित है, नैतिकता अथवा न्याय को उसका आधार बताना अर्थहीन है।

मार्क्सवादी विचारधारा समाज की वास्तविकताओ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। इसका दोष यह है कि यह समाज मे शातिपूर्वक परिवर्तन लाने की सम्भावना, और कानून को इस प्रक्रिया का माध्यम बनाने पर बहुत कम ध्यान देती है। यही नही, मार्क्सवादी विचारधारा प्राय इस बात को भी भूल जाती है कि एक वर्ग-समाज मे, जो उत्पादन-सबध होते हैं, उनके कारण नागरिक स्वतत्रता के अस्तित्व की सम्भावना से इकार नही किया जा सकता। यह खेद की बात है कि यद्यपि मार्क्स ने स्व । वयस्क मताधिकार, प्रतिनिधि सस्थाएँ और नागरिक स्वतत्रता के महत्त्व को स्वीकार किया और अपने अनुयायियो को परामर्श दिया कि वे वर्ग समाज मे स्थित इन सुविधाओ का पूरा-पूरा लाभ उठाकर मजदूरो को सगठित करने का प्रयत्न करें, बाद के साम्यवादियो ने इन का पूरा लाभ नही उठाया और न उन्होने 'विधि-शासन' के अस्तित्व और महत्त्व को ही उचित रूप से समझा। पिछले १० वर्षों मे कुछ ऐसे लक्षण प्रकट हुए हैं जिनसे लगता है कि साम्यवादियो के विचार बदल रहे हैं और अब वे 'विधि-शासन', नागरिक स्वतत्रता, वयस्क मताधिकार और प्रतिनिधिक सस्थाओ के महत्त्व को समझने लगे हैं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त सभी विचारधाराओ मे सत्य की कुछ झलकियाँ हैं जिनको हम यथास्थान बता आए हैं। मोटे रूप मे हम यह कह सकते हैं कि कानून की व्याख्या शक्ति के आधार पर नही की जा सकती क्योकि बलपूर्वक जनता की सहमति प्राप्त नही हो सकती, और बिना जनता की सहमति के कोई कानून

1 Andrei Y. Vyshinsky, *The Law of Soviet State*, न्यूयार्क, 1954, पृष्ठ 37.

और राज्य अधिक दिन तक स्थिर नहीं रह सकता।

3. कानून के स्रोत और विभाग

कानून के स्रोतों में प्रथाओं, धार्मिक आदेशों, पंचों और न्यायाधीशों के निर्णयों, वैज्ञानिक टीकाओं, सुनीति (Equity) और विधानांग को गिना जाता है। नीचे संक्षेप में हम इन पर विचार करेंगे।

प्रथाएँ अथवा रीति-रिवाज—प्राचीन समाजों में लिखित कानून नहीं होते थे और प्रचलित प्रथाओं के अनुसार कार्य किए जाते थे। प्रथाओं या रीति-रिवाजों का विकास सामाजिक आवश्यकताओं अथवा समयानुकूलता पर निर्भर था। तथापि, सभी प्रथाएँ समान रूप से स्थायी नहीं होतीं; समय की गति के साथ उनमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रकार, कुछ प्रथाएँ ऐसी हैं जो अभी तक चालू हैं और उनका सम्मान कानून के सदृश होता है। कभी-कभी राज्य इन्हें मान्यता देकर राजकीय कानून का एक भाग बना देता है। विभिन्न समाजों में कानून के रीति रिवाजों वाले भाग का स्थान इस बात पर निर्भर है कि समाज कितना बदल चुका है और उसकी आवश्यकताएँ अब कितनी भिन्न हो चुकी हैं। इंगलैंड में अभी भी इनका विशेष महत्त्व है और इन्हें 'सामान्य कानून' की संज्ञा दी जाती है[1]।

धार्मिक नियम अथवा आदेश—प्राचीन समाजों में प्रथाओं और धार्मिक नियमों में निकट संबंध था[2]। वस्तुतः अनेक प्रथाएँ ऐसी थीं जो धार्मिक आदेशों पर आधारित थीं। जब कोई नई समस्या उठ खड़ी होती थी, तो ऋषि-मुनियों से परामर्श लेकर काम किया जाता था। भारत जैसे 'धर्मप्रधान' देश में कानून धर्म-ग्रंथों के आधार पर बनते थे। 'हिन्दू लॉ' भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पूर्व तक इसी प्रकार के नियमों का एक संग्रह मात्र था, और अब भी हिन्दुओं के सामाजिक नियम बहुत कुछ प्राचीन धर्म-ग्रंथों पर ही आधारित हैं। यही बात मुस्लिम लॉ पर भी समान रूप से लागू होती है।

पंचों और न्यायाधीशों के निर्णय—पंच और न्यायाधीश केवल कानूनों की व्याख्या और उन्हें लागू ही नहीं करते, कई बार उन्हें नए मामलों में पुराने कानूनों का आश्रय लेकर निर्णय करना पड़ता है। जहाँ कानून अस्पष्ट होता है, वे नैतिकता, न्याय और विवेक के आधार पर अपना निर्णय देते हैं। कुछ न्यायाधीशों के निर्णय इतने तर्कसंगत होते हैं कि भविष्य के लिए वे 'उदाहरण'

---

1 इस विषय का प्रामाणिक ग्रंथ है Allen, *Law in the Making*, द्वितीय संस्करण, 1930.

2 देखिए मैकीवर का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 100.

बन जाते हैं। कई देशो मे यह नियम भी है कि उच्च न्यायालयो के निर्णय छोटी अदालतो को मानने पडते हैं। ब्रिटेन और भारत मे ऐसी ही प्रथा है। अत. यह स्पष्ट है कि न्यायाधीश भी कानून बनाते हैं और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा इस प्रकार बनाए गए कानून पूर्णत मान्य होते हैं।

वैज्ञानिक टीकाएँ—कानून के विकास मे वैज्ञानिक टीकाओ का भी कम महत्त्व नही है। जो काम न्यायाधीश अपने सम्मुख उपस्थित मामलो को लेकर करते हैं, वही विधि शास्त्री अमूर्त रूप मे करते हैं। कानूनो की व्याख्या करने के लिए और उनकी बारीकियो को समझने के लिए वे काल्पनिक मामलो का सहारा लेते हैं। कभी कभी वे कानूनो की कमियों की ओर भी ध्यान दिलाते हैं और उन्हे दूर करने के सुझाव प्रस्तुत करते है। कुछ विधि शास्त्री इतने प्रमाणिक माने गए हैं कि उनके विचारो का न्यायाधीश भी समुचित आदर करते हैं। वस्तुत अतर्राष्ट्रीय कानूनो का बहुत कुछ विकास इन विधि-शास्त्रियो की व्याख्याओ और टीकाओ के द्वारा ही हुआ है।

सुनीति—*जब कानून अस्पष्ट होता है अथवा उसके द्वारा दुखनिवारण और 'न्याय' की सम्भावना नही होती, तो न्यायाधीश प्राय निष्पक्षता और न्यायशीलता* का आश्रय लेते हैं। होता यह है कि समय की गति के साथ नई स्थिति उत्पन्न हो जाती है और पुराने कानून उपयुक्त नही होते। 'सुनीति' (Equity) एक ऐसा अनौपचारिक ढग है जिसके द्वारा पुराने कानूनो की नई स्थिति के अनुकूल व्याख्या देकर न्याय किया जा सकता है। इस प्रकार सुनीति वर्तमान कानूनो की पूरक होती है। इगलैंड मे इसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है[1]।

विधायन—आधुनिक समाज मे विधानाग कानून का मुख्य स्रोत है। सभी आधुनिक राज्यो मे एक पृथक् विधानाग होता है जिसका काम कानून बनाना और नीति निर्धारित करना है। कानून बनाने का यह काम एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के हाथ मे हो सकता है। लोकतत्रीय शासन मे यह काम प्राय प्रतिनिधि-सभा को सौंपा जाता है। *कानून का यह स्रोत अब अन्य सभी स्रोतो* से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है, यहाँ तक कि अन्य स्रोतो पर आधारित कानून *इसके द्वारा सशोधित और रद्द कर दिए जाते हैं। अतएव, कानून बनाने मे यह* विभाग अब सर्वोच्च हो गया है।

कानूनो के स्रोतों का विवेचन करने के पश्चात् हम वुड्रो विल्सन के निम्न उद्धरण को प्रस्तुत करना चाहेंगे 'प्रथा कानून पर प्राथमिक स्रोत है, किंतु धर्म उसका समकालीन और उतना ही बहुजनक और एक अर्थ मे लगभग सदृश स्रोत

---

1 *देखिए सामण्ड का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 89-95.*

है। न्याय-निर्णय और विधायन का लगभग साथ-साथ प्रारम्भ होता है और प्राचीन काल से वह "सुनीति" के साथ मिलकर चलता है। केवल विधायन जो कानून का चेतन और आयोजित स्रोत है, और वैज्ञानिक विचार-विमर्श के सिद्धात राजनीतिक समाज की उन्नत अवस्था मे विधि निर्माण पर पूरा प्रभाव डालते हैं।

कानूनो के विभाग

राजकीय कानून कई प्रकार के होते हैं (1) सविधानी कानून (Constitutional Law), जिसके अतर्गत वे सभी कानून आ जाते हैं जिनका सबध सरकार के सगठन और अधिकार, राज्य के उद्देश्य, नागरिको के अधिकार और कर्त्तव्य आदि से होता है। ऐसे कानूनों को बुनियादी कानून भी कहा जाता है और उन्हे अन्य कानूनो से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अब इस प्रकार के कानून प्राय लिखित होते हैं। इनका सशोधन करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया निर्धारित होती है। (2) सांविधिक कानून (Statute Law), उन कानूनो को कहते हैं जिन्हे राज्य का विधानाग बनाता है, जैसे ब्रिटेन मे पार्लियामेंट और भारत मे ससद। (3) प्रशासनिक कानून (Administrative Law), उन कानूनो को कहते हैं जो सार्वजनिक सत्ताओ और अफसरो के कार्यों से सबधित हैं। यह कानून सार्वजनिक सेवको और साधारण नागरिको मे प्रभेद करता है और यदि किसी सार्वजनिक कर्मचारी से सार्वजनिक कर्त्तव्यो के पालन मे कोई भूल हो जाए, तो ऐसे मामलो का निपटारा विशिष्ट न्यायालयो मे विशिष्ट कानूनो द्वारा एक विशिष्ट प्रक्रिया से होता है। सर्वप्रथम फ्रास मे इस प्रकार की व्यवस्था चालू हुई और धीरे-धीरे दूसरे देशो मे फैलती जा रही है। (4) अध्यादेश (Ordinances), उन आज्ञाओ, आर्डीनेन्सों आदि को कहते हैं जिन्हें कार्याग विशेष परिस्थितियों म अस्थायी रूप मे बनाता है। इसके अन्तर्गत वे आज्ञाएं और उपनियम भी आ जाते हैं जिन्हे बनाने और लागू करने का अधिकार मत्रियो अथवा अफसरो को कानून के अतर्गत प्राप्त होता है। (5) सामान्य कानून (Common Law) वे होते हैं जो समाज मे बहुत समय से चले आ रहे हैं और प्रथाओ पर आश्रित हैं। इन्हें न्यायालय कानून के सदृश ही वैध मानते हैं और उसी प्रकार उनका आदर करते हैं। बहुत समय तक इगलैंड मे यह अलिखित रूप मे रहे, किंतु अब धीरे धीरे इनको लिखित रूप प्राप्त हो गया है। (6) न्यायाधीशो द्वारा निर्मित कानूनो के अतर्गत वे सभी कानून आ जाते हैं जिनके बनाने या विकसित होने मे न्यायाधीशों का हाथ रहता है। न्यायाधीश कभी कभी कानूनों की व्याख्या करते समय अनजाने मे प्रस्तुत कानूनो की सीमा मे वृद्धि कर देते

हैं और कभी-कभी जहाँ कानून मौन है, वे जान-बूझ कर 'सुनीति' के आधार पर अपने निर्णय करते हैं । *तथापि कानून बनाने की न्यायाधीशों की यह शक्ति* राजनीतिक रूप से सीमित है । इस बात को समझ कर अब अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी राजनीतिक मामलो मे दखल नही देते । कोई भी दृढ राजनीतिक नेता अपने राजनीतिक उद्देश्यो की प्राप्ति मे न्यायाधीशो का हस्तक्षेप सहन नही कर सकता, अर्थात् पुरानी व्यवस्था उसी समय तक जीवित रह सकती है जब तक राजनीतिक रूप मे वह सह्य हो[1] । (७) अतर्राष्ट्रीय विधि (International Law) उन कानूनो को कहते हैं जो राज्यो के पारस्परिक सबधो के विषय मे होते हैं । *ये कानून सधियो, प्रथाओ, समझौतो, और अतर्राष्ट्रीय सगठनो के निर्णयो पर आश्रित होते हैं* । जिस सीमा तक राज्य इन्हे अपने देश का कानून मानकर लागू करता है, वे राजकीय कानून की श्रेणी मे आ जाते हैं । यदि राज्य इनमे से कुछ को स्वीकार नही करता, तो वे अश राजकीय कानून न होकर नैतिक नियमो की श्रेणी मे गिने जाते हैं ।

4 कानून और नैतिकता

प्रारभिक समाज मे कानून और नैतिकता का भेद स्पष्ट न था । उदाहरण के लिए, प्राचीन भारतवर्ष मे *'धर्म' शब्द का प्रयोग किया गया है* जिसमे नैतिकता और कानून दोनो की ही कुछ कुछ भावनाएँ आ जाती हैं । इसी प्रकार अन्य प्राचीन समाजो मे भी प्रथाओ और परम्पराओ के द्वारा मनुष्यो के सामाजिक आचरण नियन्त्रित होते थे । राज्य की उत्पत्ति के पश्चात् धीरे-धीरे कानून और नैतिकता मे प्रभेद हो गया, और अब इन दोनो मे काफी अन्तर आ गया है इन दोनो के क्षेत्र, विषय और अनुशास्ति मे अनेक भेद हैं जिनका नीचे हम सविस्तार विवरण देंगे ।

क्षेत्र और विषय वस्तु में अन्तर—कानून का सबध मनुष्यो के बाह्य आचरण से है । कानून यह स्वीकार करता है कि मनुष्य की भावनाओ के विरुद्ध आरोप नही लगाया जा सकता क्योकि उसके आतरिक विचारो का ज्ञान सम्भव नही है । दूसरी ओर, नैतिकता का मनुष्य की अतरात्मा से सबध है । वह उस के अन्त करण को भी नियमित करने का प्रयास करता है । अत यह स्पष्ट हो जाता है कि कानून नैतिकता निर्धारित नही कर सकता । नैतिकता का सबध व्यक्तियो की उचित और अनुचित की भावना से है । अतएव, नैतिकता का क्षेत्र

1 M A. Kaplan and Katzenbach, "Law in the International Community" in *Legal and Political Problems of World Order*, मैकलोविज द्वारा सम्पादित, न्यूयार्क, 1962, पृष्ठ 89-92

और कानून का क्षेत्र एक नहीं हो सकता। दूसरे, कानून वस्तुनिष्ठ होता है। वुड्रो विल्सन के अनुसार कानून स्थापित विचारों और आदतों का ऐसा भाग है जिसे विशिष्ट और औपचारिक मान्यता प्राप्त हो चुकी है और जो सरकार द्वारा लागू किया जाता है। अतः कानून निश्चयात्मक होता है। इसके विपरीत नैतिकता आत्मनिष्ठ होती है और इसलिए बहुत कुछ अनिश्चित होती है। तीसरे, कानून कालोचित होता है। कानून ऐसे अनेक कार्यों को जो अनैतिक नहीं हैं, अपराध घोषित कर देता है क्योंकि इस प्रकार के कार्य कालोचित नहीं होते। उदाहरण के लिए यदि एक साइकिल सवार रात के समय बिना प्रकाश के यात्रा करता है तो इस कार्य को अनैतिक नहीं ठहराया जा सकता किंतु जनहित की दृष्टि से यह आपत्तिजनक है और ऐसा करने से टक्कर हो जाने की सम्भावना रहती है। इसलिए कानून इसे अपराध घोषित करता है। गिलक्राइस्ट के अनुसार, कानून के अनुसार कुछ ऐसे अपराध होते हैं जो 'पाप' की श्रेणी में नहीं आते। वे अपराध इसलिए हैं कि वे कानून के विरुद्ध हैं, इसलिए नहीं कि वे अनैतिक हैं। दूसरी ओर, कानूनी अधिकार में नैतिक औचित्य का होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए, भारतीय दण्ड-विधान के अनुसार एक व्यक्ति उधार दिया हुआ रुपया तीन वर्ष की अवधि बीत जाने पर कानूनन वापिस नहीं ले सकता। किंतु नैतिकता की यह माँग है कि आपका जो लेना-देना है, उसको आप भरपाई करें।

अनुशास्ति में अन्तर—कानून का पालन दंड के भय से भी होता है। अर्थात् उसकी एक बाह्य अनुशास्ति होती है। जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, लोकमत के अतिरिक्त इसकी कोई बाह्य अनुशास्ति नहीं होती। वस्तुतः नैतिकता का सार ही यह है कि बाहर से उसे लादा नहीं जा सकता। अतः यद्यपि राज्य संविदा के भंग किए जाने पर दण्ड दे सकता है वह आदमी के झूठ बोलने-मात्र पर दण्ड नहीं देता। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी के उदार व्यवहार के प्रति कृतज्ञता प्रकट नहीं करता अथवा अकारण किसी पर नाराज हो जाता है, तो इन कारणों से कानून उसे दण्ड नहीं दे सकता। हाँ, यदि एक व्यक्ति किसी को जान से मार दे तो कानून अवश्य उसको दण्ड देगा।

घनिष्ठ संबंध—इस प्रभेद के होने पर भी कानून और नैतिकता का घनिष्ठ संबंध रहा है। जैसा कि हम कह चुके हैं, भारत, मिस्र और यूनान आदि प्राचीन देशों में नैतिकता और धर्म की विभाजक रेखा अस्पष्ट थी। यूरोप में रोम ने सर्वप्रथम कानून और नैतिकता का स्पष्ट भेद किया, किंतु आधुनिक लोकतंत्रीय युग में यह फिर एक दूसरे के समीप आते जा रहे हैं। अब यह स्वीकार किया जाता है कि कानून केवल सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ताधारी का आदेश मात्र नहीं

होता। समाज की 'नैतिक चेतना' से उसे समर्थन मिलना चाहिए। यदि उसका उद्देश्य 'सामाजिक हित' न होगा तो इसका आदर होना कठिन होगा। यदि कानून समाज की नैतिक मान्यताओ को स्वीकार नही करते, तो उनके पालन मे भी अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। तथापि नैतिक दायित्वो और कानूनी कर्त्तव्यो मे अन्तर है और रहेगा। समस्त नैतिक दायित्वो को कानूनी रूप देने के प्रयास मे नैतिकता की इतिश्री हो जाएगी[1]। कानून हमारी दृष्टि मे न्यायपूर्ण हों अथवा अन्यायपूर्ण, स्वतन्त्रता के पोषक हो अथवा उसे नष्ट करने वाला, हम उनका पालन करने के लिए बाध्य होते हैं[2]। सिजविक के अनुसार, दमनकारी कानूनो का भी हमे पालन करना होता है, यद्यपि हम उसे बदलने के लिए प्रयत्न कर सकते हैं[3]।

ये दोनो ही एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जो कानून कुछ वर्षों तक चालू रहते हैं वे धीरे-धीरे एक नया नैतिक वातावरण उत्पन्न कर लेते हैं और इस प्रकार अवैध और अनैतिक कार्यों का भेद कभी कभी लुप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब किसी देश मे बच्चो के लिए अनिवार्य शिक्षा का कानून बनता है, जो पहले बच्चे को अपने घर बैठाए रखना केवल एक कानूनी अपराध होता है लेकिन धीरे-धीरे ऐसा करना असामाजिक माना जाने लगता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके आपसी सबध बहुत घनिष्ठ हैं। राज्य और कानून दोनो ही लोकमत पर प्रभाव डालते रहते है और वे समाज की नैतिक प्रगति के द्योतक होते हैं।

कानून और लोकमत—कानून और लोकमत का सबध अत्यत घनिष्ठ है। आधुनिक युग मे कानून सामान्यत विधानाग द्वारा बनाया जाता है जिसमे जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं। ये प्रतिनिधिक सभाएँ लोकमत के अनुसार कानून बनाती हैं। यदि जनता किसी नए कानून को बनाने अथवा पुराने कानून को रद्द करने की मांग करे, तो ऐसी मांग को अधिक समय तक ठुकराया नही जा सकता। जनता के प्रतिनिधि यह जानते हैं कि थोडे समय के बाद उन्हे फिर जनता के समक्ष चुनावो के लिए अपने को उपस्थित करना होगा। अतएव, यदि वे लोकमत का समुचित आदर नही करेंगे, तो उनके निर्वाचित होने के अवसर भी अपेक्षाकृत कम हो जाएँगे। वस्तुत कोई भी चुनी हुई सत्ता लोकमत का निरादर नही कर सकती। जो कानून लोकमत के अनुकूल नही होते उन्हे लागू करना अत्यत कठिन हो जाता है। जनता के हित अथवा उनकी भावनाओ का

1 मैकीवर, उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 157.

2 वही, पृष्ठ 253.

3 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 23,

आदर करना राज्य का कर्त्तव्य है। यदि सरकार इनकी उपेक्षा करके कानून बनाती है तो वह अपनी लोकप्रियता खो बैठती है। इस प्रकार, कानून और लोकमत का घनिष्ठ संबंध है।

5. प्राकृत कानून या प्राकृतिक नियम

एक और प्रकार के कानून की चर्चा राजनीतिक साहित्य में होती रही है जिसे लेखकों ने 'प्राकृत कानून' अथवा 'प्राकृतिक नियम' की संज्ञाएँ दी हैं। इस विचार का जन्म प्राचीन यूनान में हुआ। सोफोक्लीज के अनुसार कुछ ऐसे अलिखित कानून हैं जो सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होते हैं[1]। अरस्तू की मृत्यु के उपरांत जिन विचारधाराओं ने प्राचीन यूनान में जोर पकड़ा उनमें एक 'स्टोइक' विचारधारा भी है। इस विचारधारा के अनुयायियों के अनुसार विश्व में कुछ ऐसे नियम होते हैं जो प्रकृति, जीव और मनुष्य सभी पर समान रूप से लागू होते हैं। उन्होंने ऐसे सर्वव्यापी और सर्वकालीन नियमों की खोज की और उन्हें 'प्राकृतिक नियम' की संज्ञा दी। उनका विश्वास था कि सकल विश्व ऐसे ही व्यापक बुनियादी नियमों से बंधा हुआ है। स्टोइक्स के अनुसार, ये नियम विवेक पर आधारित होते हैं और उन्हें दैवी भी कहा जा सकता है, अथवा यों कहिए कि मनुष्यों द्वारा बुद्धि के माध्यम से ऐसे नियमों का पता लगाया जा सकता है[2]। आगे चलकर अन्य मध्यकालीन और आधुनिक लेखकों ने 'प्राकृतिक नियम' के संबंध में अपनी-अपनी व्याख्याएँ दीं।

प्राकृतिक नियम की धारणा से सम्भवतः विद्वानों का उद्देश्य कुछ ऐसे आदर्श नियम बनाने का था जो व्यावहारिक जीवन में लागू किए जा सकें। वे इनके आधार पर राजकीय नियमों की आलोचना कर उनमें सुधार करना चाहते थे। उनका उद्देश्य चाहे जो भी रहा हो, इस विचार ने राजनीति विज्ञान में एक महत्वपूर्ण काम किया, अर्थात् 'यथार्थ' से हटकर 'आदर्श' की ओर हमारा ध्यान दिलाया। प्राकृतिक नियम मनुष्य की प्रगति, नैतिकता, न्याय अथवा विवेक—इनमें से किसी पर भी आधारित किए जा सकते हैं। एक लम्बे समय तक लेखकों की यह धारणा रही कि ये नियम निश्चित और अटल होते हैं और इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। किंतु प्रसिद्ध इटैलियन लेखक वीको (1668-1744 ई०) ने यह विचार प्रस्तुत किया कि ये नियम भी, सामाजिक अवस्थाओं में परिवर्तन के साथ, परिवर्तित होते रहते हैं, अर्थात् समय की गति के साथ उनके स्वरूप और

1 T. A. Sinclair, *A History of Greek Political Thought*, लन्दन, 1959, पृष्ठ 49.

2 सेबाइन का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 135-36, 148

विषय-वस्तु भी बदलती रहती हैं। इस प्रकार वीको ने प्राकृतिक नियमों की एक विकासवादी व्याख्या प्रस्तुत की। इसके महत्त्व की चर्चा करते हुए सेबाइन ने कहा है कि यह नियम कानून मे आदर्शात्मक तत्त्वो को स्थान देने का प्रयत्न करता है। यही नही, इसने अतर्राष्ट्रीय कानून के विकास और उन्नति मे भी बहुत सहायता दी है[1]।

6 सार्वजनिक अंतर्राष्ट्रीय विधि

'अतर्राष्ट्रीय विधि' अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इनसे हमारा अभिप्राय उन मान्य सिद्धातों और नियमो से है जिनका राज्य पारस्परिक सबधो मे पालन करते हैं उदाहरण के लिए 'राजदूतो के प्रति व्यवहार' एक ऐसा विषय है जिसके सबध मे प्राचीन युग मे भी कुछ मान्यताएँ थी। चाहे राज्यो के आपसी सबध सघर्षमय हो अथवा सहकारिता पर स्थापित किंतु कुछ ऐसे नियमो का होना आवश्यक है जिनके अनुसार वे कार्य करें। इस प्रकार सार्वजनिक अतर्राष्ट्रीय विधि (Public International Law) का विषय राज्य होते हैं, व्यक्ति नही। यद्यपि इस प्रकार के कानून प्राचीन भारत, मिस्र, चीन आदि देशो में भी प्रचलित थे, तथापि आधुनिक अतर्राष्ट्रीय कानून का जन्म यूरोप मे हुआ है[2]। इनकी आवश्यकता का अनुभव उस समय हुआ जब राज्यो में वाणिज्य और व्यापार बढने लगा। ये ऐसे नैतिक नियमो के रूप मे थे, जिनको लागू करने के लिए कोई सत्ता न थी, तथापि फासिस्को विटोरिया (1480-1546 ई०), अयाला (1548-1584 ई०), जैंटायल (1552-1608 ई०) और सुएरेज आदि विद्वानो ने इस बात पर बल दिया कि ये नियम विवेक पर आधारित हैं और इन्हें सभी राज्यों को मान्यता देनी चाहिए। हॉलैंड-निवासी ह्यूगो ग्रोशस (1583-1645 ई०) ने आधुनिक अतर्राष्ट्रीय कानून की नींव सुदृढ की और अपने ग्रथ मे उन सिद्धातो और धारणाओ का निरूपण किया जिन पर यह कानून आधारित है।

अतर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख स्रोत दो हैं प्रथाएँ, और सधियाँ। अतर्राष्ट्रीय न्यायालय के मतानुसार एक तीसरा स्रोत भी बताया जा सकता है अर्थात सभ्य राष्ट्रो द्वारा मान्य सिद्धात। इनके अतिरिक्त विद्वान् विधिशास्त्रियो की टीकाएँ और ग्रथ भी अतर्राष्ट्रीय कानून के विकास म अत्यत सहायक सिद्ध हुए हैं।

प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि सार्वजनिक अतर्राष्ट्रीय कानून वस्तुत. कानून हैं अथवा नैतिक नियम मात्र। आस्टिन जैसे विधि-शास्त्री 'अतर्राष्ट्रीय कानून' शब्द के प्रयोग से हिचकते हैं। उसके अनुसार, जो नियम आदेश के रूप

1 वही, पृ० 364.

2 देखिए Y. A. Korovin, *International Law*, मास्को, पृ० 27.

मे नही हैं, और जिन्हे कोई सामान्य सत्ता लागू नही करती, उन्हे कानून कहना अनुचित है। इसी प्रकार अन्य विधिशास्त्रियो ने भी कहा है कि इन कानूनो के भग होने पर दड की कोई व्यवस्था नही है। यही नही, इस कानून की विषय-वस्तु के सबध मे भी मतैक्य नही हैं और अभी तक एक सर्वमान्य अतर्राष्ट्रीय कानून सहिता नही बन सकी। इसके विपरीत ऐतिहासिक विचारधारा के विधि-शास्त्रियों का विश्वास है कि कानून के लिए आदेश का रूप लेना आवश्यक नही है और कानून की सच्ची कसौटी उसकी मान्यता और उसका पालन किया जाना है। उसे मनवाने के लिए पाशविक बल भी आवश्यक नही है। प्राय एक नैतिक अनुशास्ति पर्याप्त होती है। इस दृष्टि से अतर्राष्ट्रीय कानून को भी 'कानून' की सज्ञा देने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। यदि यह मान भी लिया जाए कि इसका उल्लघन होता है तो हमे यह न भूलना चाहिए कि अनेक राजकीय कानूनो का भी उल्लघन होता रहता है और इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे कानून नहीं हैं। कभी-कभी यह तर्क भी उपस्थित किया गया है कि राज्य किसी ऐसे सामान्य न्यायालय की सत्ता स्वीकार नही करते जिनके सम्मुख वे अपन आपसी झगडे निर्णय के लिए प्रस्तुत करें और जिसका निर्णय वे स्वेच्छा से स्वीकार कर लें। कुछ अशों मे यह बात ठीक है, फिर भी अब एक अतर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित हो चुका है और अतर्राष्ट्रीय झगडे इसके सम्मुख प्रस्तुत किए जा सकते हैं और किए जाते हैं। इन सभी बातों का ध्यान रखते हुए हम कह सकते हैं कि अब अतर्राष्ट्रीय कानून केवल नैतिक नियमो का सग्रह मात्र नहीं रह गया है। यद्यपि अतर्राष्ट्रीय कानून सर्वांगपूर्ण नही है तथापि यह बात तो अनेक कानूनी व्यवस्थाओ के सबध म कही जा सकती है। गैटिल के कथनानुसार, 'यद्यपि एक अपूर्ण रूप से सगठित राजनीति जगत् मे यह एक अविकसित और अपूर्ण कानूनी व्यवस्था है, तथापि इसके नियम कानून की सामा के निकट पहुँच चुके हैं और इसे एक नैतिक सहिता समझने के स्थान पर विधिशास्त्र की एक व्यवस्था कहना अधिक सगत होगा।

9

नागरिकता, स्वतंत्रता और समानता

स्वतंत्रता की अनेक परिभाषाओं और व्याख्याओं का होना एक ऐसे विषय पर लोगों में मानसिक उलझन का सूचक है जिसके लिए भावावेश में आकर वे मृत्यु का आवाहन करने को उद्यत रहते हैं · तथापि इसके संबंध में वे इतनी कम स्पष्टता से सोचते हैं, और उनमें तार्किक निश्चय की इतनी कमी है कि वे यह भी ठीक से नहीं जानते कि इसका अर्थ क्या है ?

—जार्ज॰ ई॰ गार्डन कैटलिन

1. नागरिकता

राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की भलाई की ओर ध्यान देना है। आज के लोकतंत्रीय युग में, राज्य के सदस्यों को 'नागरिक' कहा जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से, नागरिकता का अभिप्राय 'नगर के निवासियों' से है। किंतु अब इस शब्द का प्रयोग उन सभी देशवासियों के लिए किया जाता है जो राज्य की सदस्यता और उससे प्राप्त सुविधाओं का उपभोग करते हैं तथा उसके प्रति अनुरक्त होते हैं, फिर चाहे वे गाँव में रहते हों अथवा नगरों में। प्राचीन काल में राजनीतिक अधिकार-प्राप्त निवासियों की संख्या केवल अभिजात वर्ग तक ही सीमित थी, जबकि वर्तमान लोकतंत्रीय युग में यह अधिकार सभी वयस्क राज्य के निवासियों को प्राप्त हो गया है। इस संबंध में कतिपय देशों में कुछ नियंत्रण भी हैं, जैसे कि यूनियन आफ साउथ अफ्रीका में अफ्रीका और एशिया के देशवासियों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। किंतु ये कुछ गिने चुने अपवाद हैं। कुछ राज्यों में नारियों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। किंतु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् स्थिति में काफी परिवर्तन हो गया और धीरे धीरे

उन्हे पुरषो के समान अधिकार प्राप्त होते जा रहे हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि लोकतत्र और स्वतत्रता की सीमाएँ धीरे धीरे विस्तृत होती जा रही हैं।

'नागरिक' शब्द के सदृश एक अन्य शब्द 'राष्ट्रिक' (national) भी है जो राज्य की सदस्यता का द्योतक होता है। इन दो शब्दो के रहने का एक लाभ यह है कि नागरिक शब्द का प्रयोग हम राजनीतिक और दार्शनिक अर्थ मे कर सकते हैं। स्मरण रहे कि एक देश मे रहने वाले सभी व्यक्ति उसके राष्ट्रिक नही होते। उसमे विदेशी भी रहते हैं जिनकी अनुरक्ति राज्य के प्रति नही होती। प्रत्येक मतदाता भी आवश्यक रूप से नागरिक नही होता। स्विटजरलैंड के कुछ कैंटनो मे और सोवियत सघ मे काम मे लगे हुए विदेशियो अथवा अनागरिको को भी प्राय मतदान का अधिकार दे दिया जाता है।

नागरिक की परिभाषा—अरस्तू के अनुसार, नागरिक वह व्यक्ति है जिसे राज्य के विचार-विमर्श और पदाधिकारियो के चुनाव मे भाग लेने का अधिकार है। प्राचीन यूनान मे शासन के कार्यों मे सक्रिय भाग लेना नागरिकता के लिए आवश्यक माना जाता था। अतएव, दासो, नारियो, श्रमिको आदि को नागरिक नही माना जाता था। किंतु आधुनिक समाजो मे प्रतिनिधिक सरकारें बन गई हैं जिनमे नागरिको के अधिकार अपेक्षाकृत सीमित होकर केवल इतने रह गए हैं कि वे समय-समय पर मतदान कर सकते है और योग्यतानुसार किसी पद के चुनाव मे खडे हो सकते हैं। वैटिल के अनुसार, 'नागरिक राज्य के वे सदस्य हैं, जिनके कुछ कर्त्तव्य है, जो उसकी सत्ता के अतर्गत हैं और उससे प्राप्त लाभो म समान भागीदार हैं। श्री निवास शास्त्री के अनुसार, 'नागरिक राज्य के वे सदस्य हैं, जो उसके अतर्गत अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का प्रयत्न करते हैं और जिन्ह समुदाय के सर्वोत्कृष्ट नैतिक कल्याण के बारे मे समझ है'। शास्त्री की परिभाषा मे उन नागरिक गुणो का निर्देश है जिन्ह वह उत्तम नागरिकता के लिए आवश्यक मानते हैं।

नागरिकता—नागरिकता का अभिप्राय केवल यह नही है कि व्यक्ति को कुछ अधिकार प्राप्त हो और वह अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करे। उनमे सामुदायिक कल्याण के हेतु सार्वजनिक कार्यों मे सक्रिय भाग लेने की इच्छा भी होनी चाहिए। लास्की ने नागरिकता को 'सार्वजनिक हित म विवेकपूर्ण निर्णय का योगदान' कहा है। उसके मतानुसार विवेकशील नागरिक राज्य के सच्चे आधार होते हैं। कोई ऐसा समाज या राज्य, जिसके सदस्य अज्ञानी अथवा उदासीन हों, प्रगति नही कर सकता। बिना 'अनवरत जागरूकता' के सार्वजनिक पदाधिकारी और कर्मचारी ढीले और भ्रष्ट हो सकते हैं। अतएव, स्वतत्रता क सरक्षण के लिए उसने 'शाश्वत जागरूकता' को आवश्यक बताया है।

अज्ञानी नागरिक लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का संरक्षण नहीं कर सकते। उन्हें जब अपनी हानि का पता लगेगा तब बहुत देर हो चुकी होगी, और सुधारात्मक कार्य वाही के लिए अथक परिश्रम और लगन की आवश्यकता होगी। निष्क्रिय व्यक्ति उत्तम नागरिक नहीं हो सकते। जैसा कि विलियम बायड ने कहा है, सच्ची नागरिकता कर्त्तव्यों के समुचित पालन और उनके समन्वय में है। डॉ० बनी प्रसाद के अनुसार, सच्चा नागरिक जीवन सर्वव्यापी है। उसका संबंध सभी देशों की जनता और सभी श्रेणी के लोगों से है। व्हाइट के अनुसार उत्तम नागरिक में ऊँचे दर्जे का विवेक, ज्ञान, साहस और अनुरक्ति होनी चाहिए। लार्ड ब्राइस ने इनके अतिरिक्त अनुशासन और कर्त्तव्य पालन को भी उत्तम नागरिक के लिये आवश्यक बताया है। अन्य विद्वानों ने संयम, सहिष्णुता, सहयोग, निष्पक्षता, आत्मत्याग और लोकसेवा की भावनाओं पर बल दिया है। उनके मतानुसार इन गुणों के अभाव में उत्तम नागरिकता सम्भव नहीं है।

नागरिकता एक सामाजिक प्रवृत्ति है। एक अच्छे व्यक्ति का उत्तम नागरिक होना आवश्यक नहीं है। एक सदाचारी व्यक्ति असामाजिक हो सकता है, और एक उत्तम नागरिक अपने व्यक्तिगत जीवन में दोषी हो सकता है। उत्तम नागरिक और सच्चे देशभक्त में अंतर है। सच्चा देशभक्त हम एक ऐसे व्यक्ति को कहेंगे जो अपने देश के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करने के लिए तत्पर रहता है। वह इस बात पर कम विचार करता है कि उसके देश की नीति उचित है अथवा अनुचित। इसका अभिप्राय यह हुआ कि देश के प्रति उसकी अनुरक्ति अंध श्रद्धा का रूप भी ले सकती है। किन्तु उत्तम नागरिक का दृष्टिकोण देश तक ही सीमित नहीं होता। वह अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर मानव समाज के हित की दृष्टि से विचार करता है।

2 स्वतन्त्रता

नागरिक कर्त्तव्यों का सुचारु रूप से पालन करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तियों को उसके अनुकूल वातावरण मिले और यथेष्ठ सुविधाएँ प्राप्त हों। यदि यह सत्य है कि बिना सत्ता के सामाजिक शांति और व्यवस्था नहीं रह सकती, तो यह भी उतना ही आवश्यक है कि सत्ता द्वारा स्थापित इस व्यवस्था के अंतर्गत नागरिकों को अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए स्वतन्त्रता उपलब्ध हो। स्वतन्त्रता की भावना ने मनुष्य को हमेशा प्रभावित किया है तथापि जैसा कि एक विद्वान ने कहा है स्वतन्त्रता एक ऐसी वस्तु है जिसको प्रेम के समान ही हम प्रत्येक दिन नए सिरे से विजित करना होता है।

'स्वतन्त्रता' शब्द के अर्थ के संबंध में विचारकों में मतैक्य नहीं है। हाब्स

के अनुसार, स्वतन्त्रता का अभिप्राय विरोध और नियन्त्रण का सर्वथा अभाव है। किंतु इस प्रकार की स्वच्छंदता रोबिन्सन क्रूसो जैसे व्यक्ति को ही मिल सकती है जो एक निर्जन स्थान पर अपने साथी फ्राइडे के साथ एकाकी जीवन व्यतीत कर रहा था। सभ्य समाज मे ऐसी स्वतन्त्रता सम्भव नही है। वस्तुत. ऐसी स्वतन्त्रता अन्य व्यक्तियो की स्वतन्त्रता के लिए घातक हो सकती है।

स्वतंत्रता और प्रतिबंध—वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह नही है कि कोई मनमानी करे। सच तो यह है कि जहाँ कुछ व्यक्ति हिल-मिल कर एक साथ रहेंगे, प्रतिबंध आवश्यक होंगे। यदि समाज के हित मे रोक न लगाई जाए, तो अराजकता स्थापित हो जाएगी। जैसा कि लास्की ने कहा है, 'प्रत्येक आचरण इस अर्थ मे सामाजिक है कि मैं जो कुछ भी करता हूँ उसके परिणाम समाज के सदस्य होने के नाते मुझे भुगतने होते हैं ...''इस प्रकार स्वतन्त्रता की प्रकृति मे ही प्रतिबंध है। क्योकि जिन दूसरी स्वतन्त्रताओ का मैं उपभोग कर रहा हूँ वे उस प्रकार की स्वतन्त्रताएँ नही है जो मेरे साथ रहने वाले व्यक्तियों की स्वतन्त्रताओ को नष्ट करें... 'इसलिए स्वतन्त्रताएँ वे अवसर हैं जिन्हें इतिहास ने व्यक्तित्व के विकास के लिए बुनियादी आवश्यकताएँ बताया है'। अतएव, स्वतन्त्रता और प्रतिबंध परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं।

प्रत्येक प्रतिबंध व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक नही है। अनावश्यक प्रतिबंध व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। इसका आशय यह हुआ कि जो प्रतिबंध लगाए जाएँ वे ऐसे हो जो सामाजिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की दृष्टि से आवश्यक हो। जैसा कि लास्की ने कहा है, 'स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि निषेध उन्ही लोगो की सम्मति के अनुसार लगाए जाएँ जिन पर उनका प्रभाव पड़ेगा[1]...स्वतन्त्रता पर आक्रमण तभी होता है जब प्रतिबंध इस प्रकार के हो कि वे मनोवेगो के उस सामजस्य को नष्ट करें जो अभीष्ट कार्य करने से प्राप्त होता है। प्रतिबंध उस समय असत् प्रतीत होते हैं जब वे आत्मिक समृद्धि से पूर्ण जीवन को नष्ट करते हो। हमारे जीवन मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात है नैतिक उत्कर्ष मे सहायता देने वाली वस्तुओ मे अपने प्रयासो और पहल (उपक्रम) के लिए स्थान। इनको सीमित करने वाले प्रतिबंधो की व्यवस्था ही हमारी स्वतन्त्रता को नष्ट करती है, और यह आवश्यक है कि हमारी पहल करने की शक्ति अविच्छिन्न रहे'[2]।

अभावात्मक मत—कुछ व्यक्तिवादियो के अनुसार, नागरिकों को ऐसे

1 लास्की, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 142-143.
2 वही, पृष्ठ 143.

सभी कार्य करने की छूट होनी चाहिए जो दूसरों को हानि नहीं पहुँचाते अथवा उनकी स्वतत्रता का हनन नहीं करते। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इसी दृष्टि से व्यक्ति के कार्यों को दो वर्गों मे बाँटा : (1) व्यक्तिगत कार्य और (2) सामाजिक कार्य। उसका कहना था कि जहाँ तक ऐसे कार्यो का प्रश्न है जिनका प्रभाव या परिणाम केवल व्यक्ति पर होता है, नागरिक को पूर्ण स्वतत्रता होनी चाहिए। किंतु व्यक्ति के सामाजिक कार्यो पर राज्य आवश्यक प्रतिबध लगा सकता है[1]। ऊपर से देखने मे मिल का मत न्यायसगत प्रतीत होता है, किंतु यथार्थ बात यह है कि बहुत कम कार्य ऐसे है जो पूर्णत व्यक्तिगत होते हैं। अतएव, मिल के इस विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भावात्मक मत—अनेक विद्वान उपर्युक्त विचारो को स्वीकार नहीं करते। स्पिनोज़ा के अनुसार, सच्ची स्वतत्रता विवेक के अनुसार कार्य करने मे है। माटेस्क्यु के अनुसार, स्वतत्रता का अभिप्राय ऐसे काम करने की छूट है जो मनुष्योचित हो। रूसो और ग्रीन ने कहा है कि सच्ची स्वतत्रता 'सामान्य इच्छा' के अनुसार कार्य करने मे है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वतत्रता तभी सम्भव हो सकती है जब व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक सुअवसर प्राप्त हो। लास्की के अनुसार 'स्वतत्रता से हमारा अभिप्राय ऐसा वातावरण बनाए रखने का आग्रह है जिसम अपने पूर्ण विकास के लिए आवश्यक सुअवसर मिल सकें'[2]। आगे चलकर लास्की कहते हैं कि इस प्रकार की स्वतत्रता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को कुछ अधिकार प्राप्त हो, क्योंकि बिना अधिकारो के व्यक्ति ऐसे कानूनो के अधीन होता है जिनका उसके व्यक्तित्व की आवश्यकताओं से कोई सबध नहीं है। इसी बात को ध्यान मे रखते हुए अर्नेस्ट बार्कर ने भी मिल को 'खोखली स्वतत्रता का पैगम्बर' कहा है। उनके अनुसार, मिल ने उन अधिकारो की व्याख्या पर कोई ध्यान नहीं दिया जिनके बिना स्वतत्रता सार्थक नहीं हो सकती[3]। अत. यह स्पष्ट है कि स्वतत्रता अधिकारो की उपज है और बिना अधिकारो के स्वतत्रता नहीं हो सकती।

3 स्वतंत्रता, सत्ता और कानून

कुछ लोगो का विचार है कि राजनीतिक सत्ता और स्वतत्रता परस्पर विरोधी हैं। उनके अनुसार प्रभुसत्ता असीम होती है जबकि स्वतत्रता पर कोई अंकुश

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 132.
2 वही, पृष्ठ 142.
3 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 10.

नहीं होने चाहिए। इससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते। किंतु यह विचार ठीक नहीं है। हम यह देख चुके हैं कि जहाँ कुछ व्यक्ति मिलकर रहते हैं वहाँ सामाजिक जीवन में अनुशासन बनाए रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि व कुछ नियमों का पालन करें। बिना नियमों के संगठित सामाजिक जीवन असम्भव है। अराजकवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि एक राज्यविहीन समाज में भी सत्ता की आवश्यकता होगी। उनकी धारणा यह है कि यह सत्ता बलप्रयोग पर आधारित न होकर सहमति पर निर्भर होगी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता और नियमों का होना स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक नहीं होता। तथापि, सत्ता निरंकुश हो सकती है और कानून भी लोकहित विरोधी हो सकते हैं। इसका आशय यह हुआ कि सभी प्रकार की सत्ताएँ और सभी प्रकार के कानून स्वतंत्रता के पोषक नहीं होते। किंतु एक लोकतंत्रीय शासन में यह आशा की जाती है कि उसकी सत्ता और कानून लोकमत के अनुकूल होंगे और उनका उपयोग लोकहित की दृष्टि से होगा।

प्रभुसत्ता का विश्लेषण करते समय हम यह देख चुके हैं कि वह असीमित नहीं होती। उसके ऊपर कुछ नैतिक और यथार्थ अंकुश होते हैं। अनेक ऐसी बातें हैं जिन्हें राज्यसत्ता अनुचित समझकर नहीं करती। राज्य को हमेशा यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसके कार्य जनहित में हों और नागरिकों के व्यक्तित्व के विकास में सहायक हों। हम यह भी देख चुके हैं कि स्वतंत्रता का अभिप्राय स्वच्छंदता नहीं होता। स्वतंत्रता की प्रकृति में ही प्रतिबंध हैं और इनकी आवश्यकता इसलिए है कि अन्य नागरिकों को भी समान अवसर प्राप्त हो सकें और समाज हित के विरुद्ध कोई आचरण न करे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक लोकतंत्रीय शासन में स्वतंत्रता और सत्ता परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक होती हैं और इन दोनों में कोई अंतर्विरोध नहीं है। तथापि गैटिल के मतानुसार, बिना स्वतंत्रता के प्रभुसत्ता निरंकुश बन जाती है और बिना सत्ता के स्वतंत्रता अराजकता को जन्म देती है। लाक के अनुसार, स्वतंत्रता के पूर्ण उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि प्रभुसत्ता निश्चित नियमों की घोषणा करे और उन्हें लागू करे। उसके मतानुसार, कानूनों के अभाव में स्वतंत्रता नहीं हो सकती। हॉकिंग के अनुसार, व्यक्ति जितनी अधिक स्वतंत्रता चाहता है उतना ही अधिक उसे सत्ता की आधीनता स्वीकार करने के लिए तत्पर होना चाहिए। लास्की के कथनानुसार, स्वतंत्रता पर लगे हुए अंकुश मनुष्य के सुख में वृद्धि करते हैं, उसे घटाते नहीं। राज्य जो विभिन्न दीवानी और फौजदारी कानून बनाता है, वे हमारी स्वतंत्रता को नष्ट नहीं करते, बल्कि उनके माध्यम से हम बिना रोक-टोक के पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग कर पाते हैं। रिची के अनुसार,

कानून आत्म-विकास के सुअवसर के रूप मे स्वतन्त्रता को सम्भव बनाते हैं और सत्ता के अभाव मे इस प्रकार की स्वतन्त्रता सम्भव नही हो सकती[1]। ग्रीन के अनुसार, कई आधुनिक कानून हमारे सविदा के अधिकार को सीमित करते हैं। किंतु उनका उद्देश्य ऐसी दशाएँ स्थापित करना होता है जिनमे व्यक्ति के समस्त गुणो का पूर्ण विकास हो सके। इसका आशय यह हुआ कि यथार्थ स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए नियत्रण आवश्यक है। यह वह मूल्य है जो स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए हमे चुकाना पडता है।

कानून स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक हैं। किंतु ऐसे कानून भी हो सकते हैं जो हमारी स्वतन्त्रता पर बधन लगाएँ। उदाहरण के लिए प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत सरकार द्वारा बनाया गया रौलट ऐक्ट हमारे नागरिक अधिकारो का अपहरण करने वाला था और उसके विरोध मे लोगो को जलियावाला काड जैसी यातनाएँ सहनी पडी। कहने का अभिप्राय यह है कि कानून द्वारा लगाए गए प्रतिबध सामाजिक हित की दृष्टि से आवश्यक होने चाहिए और वे सभी नागरिको पर समान रूप से लागू होने चाहिए। तभी नागरिक यह अनुभव कर सकेंगे कि कानून उन पर अनावश्यक नियत्रण नही लगाते बल्कि उनका सच्चा हित-साधन करते हैं, और ऐसे कानूनो का पालन करना उनके हित मे है। रूसो के मतानुसार, 'स्वयनिर्मित कानूनों के पालन मे ही सच्ची स्वतन्त्रता निहित है'। लास्की के कथनानुसार, केवल वे नियत्रण स्वतन्त्रता के बाधक होते हैं जो हमारी पहल करने की क्षमता पर रोक लगाते हैं और हमारे व्यक्तित्व के विकास मे बाधा डालते हैं[2]। कहने का आशय यह है कि जब कानून हमारी आत्मिक उन्नति मे बाधक होते हैं, तो हम उन्हे बुरे कानून कह सकते हैं। कानूनो द्वारा राज्य यह निश्चित करता है कि नागरिको की स्वतन्त्रता की सीमा क्या हो ? उस सीमा को मानने पर सत्ता हस्तक्षेप नही करती और यदि कोई अन्य व्यक्ति उसकी इस नियन्त्रित स्वतन्त्रता मे रोडा अटकाते हैं, तो राज्य उन्हे दड देता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्य कानूनो द्वारा नागरिको के अधिकार और कर्तव्यो की एक व्यवस्था करता है जिससे स्वतन्त्रता का सरक्षण होता है। कानून तीन प्रकार से स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखता है प्रथम, यह स्पष्ट करके कि व्यक्तियो के वे अधिकार-क्षेत्र क्या हैं जिसके अतर्गत वे बिना किसी के हस्तक्षेप के अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकते हैं। दूसरे, अधिकारो की सीमा को स्थिर कर, राज्य सभी नागरिको की समान स्वतन्त्रता का सरक्षण करता है जिससे सभी व्यक्ति नागरिक अधिकारो का पूरा उपभोग कर सकें। तीसरे, कानून यह भी स्पष्ट

1 *National Rights*, 2nd Edition, न्यूयार्क, पृ० 139-140.
2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 143.

कर देते हैं कि अन्य नागरिकों के अधिकारों के साथ हस्तक्षेप करने पर, अर्थात् अपनी अधिकार-सीमा से बाहर जाने पर, राज्य दंड देगा। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य स्वतंत्रता के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को कानूनों द्वारा दूर करने का प्रयत्न करता है। यदि कानून न हों तो न केवल नागरिकों की स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाए, बल्कि व्यक्तियों की जीवन-रक्षा भी संदिग्ध हो जाए, प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनमानी करने लगे, शक्ति का बोल-बाला हो, बराबर झगड़े चलते रहें, और चारों ओर अशांति एवं अराजकता फैल जाए। कानून सामाजिक जीवन को नियमित कर शांति और व्यवस्था स्थापित करते हैं और इस प्रकार स्वतंत्रता को सम्भव बनाते हैं। एक मामूली उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। प्रत्येक नागरिक यह चाहता है कि उसे राज-मार्ग पर चलने की स्वतंत्रता हो पर इस संबंध में यदि कोई निश्चित नियम न हो और प्रत्येक मनुष्य मनमानी दिशा में चले तो इसका दुष्परिणाम यह होगा कि प्रतिदिन सैकड़ों व्यक्ति दुर्घटनाओं में जान से हाथ धो बैठेंगे। राज्य एक साधारण-सा 'बाईं ओर चलो' का नियम बनाकर इन कठिनाइयों से बच जाता है और इस छोटे से नियम को मानने से सभी नागरिकों को मार्ग पर सुगमता-पूर्वक चलने की स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक नागरिक को स्वतंत्रता है कि वह बिना रोकटोक भाषण दे सकता है और अपने विचारों को प्रकट कर सकता है। किंतु यदि उसके साथ यह नियम न हो कि जो व्यक्ति अशिष्ट भाषण देंगे और दूसरों की प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाएँगे उन्हें दंड मिलेगा, तो प्रतिदिन लोग गाली-गलौज और फिर मार-पीट करते दिखाई दें। इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि सच्ची स्वतंत्रता के लिए सामाजिक अनुशासन का मानना आवश्यक है।

अब समस्या यह है कि स्वतंत्रता और सत्ता (तथा कानून) में किस प्रकार समन्वय किया जाए? लोकतंत्रीय शासन में इसका समाधान बहुत सरल है, अर्थात् जनसाधारण को राजनीतिक अधिकार दे दिए जाएँ और जनप्रतिनिधियों द्वारा कानून का निर्माण हो। इस दशाओं में साधारणतः सत्ता और स्वतंत्रता में कोई विरोध नहीं रहना चाहिए। तथापि जैसा कि लास्की ने कहा है, स्वतंत्रता के पूर्ण उपभोग के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के कुछ साधन हों। उसके मतानुसार, सबसे अच्छा साधन यही है कि शक्ति का व्यापक वितरण हो जिससे कोई व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह निरंकुश न बन सके[1]। अतएव, आदर्शवादियों की इस स्थापना को प्रत्येक स्थिति में स्वीकार नहीं किया जा सकता कि कानून व्यक्ति की 'यथार्थ इच्छा' के प्रतीक होते हैं

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृ॰ 171.

अथवा वे उसे सच्ची आत्मिक और नैतिक स्वतन्त्रता दिलाते हैं। स्पष्ट है कि ये विचार लोकतन्त्रीय समाज के अतिरिक्त अन्य किसी शासन पर लागू नहीं हो सकते और, जैसा कि लास्की ने स्वयं कहा है लोकतन्त्रीय शासन में भी इस बात की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए कि जब कभी सत्ता अपने अधिकारों का दुरुपयोग करे अथवा अपने उद्देश्यों की पूर्ति की ओर ध्यान न दे, तो उसे कर्तव्य-पालन के लिए बाध्य किया जा सके।

4 स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक बातें

हम देख चुके हैं कि भावात्मक अर्थ में स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति ऐसे कार्य कर सके जो मनुष्योचित हों। कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सरकारी सत्ता और अन्य नागरिकों के हस्तक्षेप से रक्षा करता है, संविधान सरकार के विभिन्न अंगों की सत्ता की व्याख्या करता है और इस प्रकार उनकी सीमाएँ निर्धारित करता है जिनका उल्लंघन करने पर नागरिक न्यायालय की शरण ले सकते हैं और ऐसे सरकारी कार्यों को अवैध घोषित करा सकते हैं। लास्की के कथनानुसार, स्वतन्त्रता उस समय तक वास्तविक नहीं होती जब तक सरकार को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सके और नागरिक अधिकारों का अपहरण होने पर तुरंत जवाबदेही न हो सके। अतः स्वतन्त्रता के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता इस बात की है कि नागरिकों के मूलाधिकारों की स्पष्ट व्याख्या की जाए और उन्हें संविधान में स्थान दिया जाए जिससे उन्हें पूरा कानूनी संरक्षण प्राप्त हो सके।

स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि राज्य 'विधि शासन' (Rule of Law) को मान्यता दे। विधि शासन से हमारा अभिप्राय यह है कि कानून की दृष्टि से सभी नागरिक समान होने चाहिए और उनके बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि समाज के किसी अंग को विशेषाधिकार नहीं मिलने चाहिए और सबको समान अवसर मिलने चाहिए। किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरों की कृपा पर निर्भर नहीं होनी चाहिए। सत्ताधारियों और सत्ता के अधीन व्यक्तियों पर समान कानून लागू होने चाहिए। इतना ही नहीं, राज्य के कार्य भी निष्पक्ष होने चाहिए[1]।

स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए यह भी आवश्यक है कि कार्यांग और न्यायांग पृथक् हों और राज्य में एक स्वतन्त्र निष्पक्ष न्याय विभाग हो। मांटेस्क्यु ने शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए उसे स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए आव-

1 वही, पृ॰ 150.

श्यक बताया था। इस सिद्धांत के संबंध में विचारकों में भले ही कितने मतभेद हों किंतु वे इस बात से अवश्य सहमत होंगे कि हमारे न्यायालय पूरी तरह स्वाधीन होने चाहिए। उनके ऊपर कोई राजनीतिक दबाव नहीं होना चाहिए, जिससे उनके स्वतंत्रतापूर्वक और निष्पक्षता से निर्णय करने में कोई बाधा उपस्थित हो। यदि नागरिकों को निष्पक्ष न्याय नहीं मिलता तो स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाती है।

लास्की के मतानुसार, स्वतंत्रता के पोषण के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों की सामान्य आवश्यकताएं पूरी होती रहें। उन्हें भूख, बेकारी, रोग, अशिक्षा आदि के भय से मुक्त होना चाहिए। समाज में धन का वितरण इतना विषम नहीं होना चाहिए कि कुछ व्यक्तियों के पास अपार धन-राशि हो और बहुत से लोग दो रोटी तक के लिए तरसते रहें। लास्की का कहना है कि जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। यदि राष्ट्रीय आय इतनी कम है कि जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती तो इस अभाव का सभी पर समान रूप से प्रभाव पड़ना चाहिए[1]। यह नहीं होना चाहिए कि कुछ लोग ऐश्वर्य का जीवन बिताएं और अन्य लोग भुखमरी के शिकार हों। यूरोप के अनेक देशों में नागरिकों के लिए एक 'न्यूनतम आय' (Economic Minimum) निर्धारित कर दी गई है और प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो बेकार है इसे राज्य से पाने का हकदार है। यह आय एक साधारण श्रेणी का जीवन व्यतीत करने के लिए यथेष्ट होती है। किंतु हमारा देश अभी आर्थिक विकास की उस अवस्था में नहीं पहुँचा है जब बेकारी और भुखमरी से हमें मुक्ति मिल सके और हम अपने नागरिकों को 'न्यूनतम आय' की गारंटी दे सकें।

स्वतंत्रता का सबसे बड़ा संरक्षण सार्वजनिक जागरूकता है। लास्की के मतानुसार, शाश्वत जागरूकता ही स्वतंत्रता का मूल्य है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि नागरिकों को स्वयं अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिए और इसके लिए यदि संघर्ष करना पड़े तो उन्हें इसके लिए तैयार रहना चाहिए। लास्की के कथनानुसार, कानून से उतना संरक्षण प्राप्त नहीं होता जितना कि नागरिकों में स्वाभिमान की भावना से प्राप्त होता है। यदि जनता में सत्ता के दुरुपयोग के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस है तो शासक-वर्ग शक्ति का दुरुपयोग करने में हिचकिचाएगा। अतः नागरिकों को समस्त बाधाओं और कष्टों को सहन करते हुए स्वतंत्रता की रक्षा के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। अमरीकी प्रेसीडेंट जैफरसन के कथनानुसार, कोई देश तभी स्वतंत्रता की रक्षा कर सकता है जब विरोध की भावना को सुरक्षित रखते हुए उसकी जनता समय-समय पर शासकों

1 उपर्युक्त ग्रंथ

को चेतावनी देती रहे। कहने का आशय यह है कि जनता की सतर्कता, दृढ़ता और साहस के बिना स्वतत्रता की रक्षा नही हो सकती।

5. स्वतंत्रता के भेद

स्वतत्रता शब्द बहुत व्यापक अर्थवाला है और इसका प्रयोग विविध अर्थों में किया जाता है। अतएव, यह उचित प्रतीत होता है कि हम इसके विभिन्न अर्थों पर सक्षेप मे विचार करें।

प्राकृतिक स्वतत्रता—प्राकृतिक स्वतत्रता का अर्थ यह किया जाता है कि व्यक्ति के कार्यों पर किसी प्रकार की रोकथाम न हो। इसका अभिप्राय यह हुआ कि व्यक्ति स्वच्छद हो। सामाजिक सविदा के सिद्धात को मानने वाले विचारको के अनुसार प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्यो को इसी प्रकार की 'प्राकृतिक स्वतत्रता' प्राप्त थी। किंतु स्वतत्रता की यह धारणा भ्रातिपूर्ण है, क्योकि व्यक्तिगत स्वतत्रता सगठित समाज मे ही सम्भव है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि सत्ता और नियमो के अभाव मे स्वतत्रता सम्भव नही हो सकती।

समाज मे स्वतत्रता—सगठित समाज मे व्यक्ति को तीन प्रकार की स्वतत्रता प्राप्त हो सकती है व्यक्तिगत अथवा नागरिक स्वतत्रता, राजनीतिक अथवा सार्वजनिक स्वतत्रता और आर्थिक स्वतत्रता। **व्यक्तिगत अथवा नागरिक स्वतत्रता** से हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत जीवन मे विकास के सुअवसर प्राप्त हो और उसे कानूनो द्वारा निर्धारित सीमा के अतर्गत अपनी इच्छानुसार काम करने की छूट हो। इसके अतर्गत घूमने-फिरने की स्वतत्रता, कानून की दृष्टि मे बराबरी की स्वतत्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा, आदि आ जाते हैं। इस प्रकार की स्वतत्रता प्राय नागरिक और अनागरिक सभी व्यक्तियो को प्राप्त होती है। नागरिक स्वतत्रता को सभी प्रकार की स्वतत्रताओ का आधार माना गया है। इसका आशय यह हुआ कि यदि व्यक्तियो को नागरिक स्वतत्रता प्राप्त नही है अथवा उन्हे इस सबध मे पूरे सरक्षण नही मिले हैं, तो उन्हे अन्य किसी प्रकार की स्वतत्रता मिलना दुर्लभ है।

राजनीतिक स्वतत्रता से हमारा अभिप्राय यह है कि नागरिको को शासन के कार्यों मे सक्रिय रूप से भाग लेने की सुविधा हो। इसमे मतदान, निर्वाचन, और पदग्रहण आदि की स्वतत्रता सम्मिलित है। लास्की के कथनानुसार, राजनीतिक स्वतत्रता नागरिक स्वतत्रता की पूरक है। लोकतत्रीय राज्य मे इसका होना अनिवार्य है। एक अर्थ मे इसका अभिप्राय स्वशासन अथवा स्वराज्य है। लास्की के मतानुसार, इस प्रकार की स्वतत्रता यथार्थ बन सके इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। प्रथम, सभी नागरिको को शिक्षित होना चाहिए और राज्य

द्वारा सभी बच्चों को समान रूप से शिक्षण के अवसर प्राप्त होने चाहिए। उनका कथन है कि हमारी वर्तमान शिक्षण-व्यवस्था में एक भारी दोष यह है कि इसमें धनिकों के बच्चों को अधिकार जमाने की टेव पड़ जाती है और निर्धनों के बच्चों को धनिकों के प्रति आदरभाव रखने की। इस प्रकार की व्यवस्था कभी राजनीतिक स्वतन्त्रता को पनपने नहीं देती। अतएव यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षण प्रणाली ऐसी हो कि वह हमें समानता, स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र, समान अवसर, और समाजवाद की भावनाओं से प्रेरित करे। राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक बात यह है कि राज्य में लोगों को यथार्थ समाचार उपलब्ध हो जिनके आधार पर वे अपना मत निर्धारित कर सकें। यदि समाचारों को जान बूझ कर तोड़ मरोड़ा जाएगा तो उसका परिणाम यह होगा कि लोगों में भ्रांतियाँ उत्पन्न होंगी और उनके मत भी गलत तथ्यों पर आधारित होंगे। लास्की के अनुसार, जिन व्यक्तियों को विश्वस्त समाचार नहीं मिलते, उनकी स्वतन्त्रता का आधार ही नहीं रहता, क्योंकि बिना यथार्थ समाचारों के कोई निर्णय करना गलत रास्ते पर भटकने के समान है[1]।

पिछले दिनों से आर्थिक स्वतन्त्रता पर विशेष जोर दिया जाने लगा है। कुछ समय पूर्व इसका अर्थ एकदम भिन्न था और आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह लगाया जाता था कि व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो, अर्थात् राज्य के नियन्त्रण कम से कम हों। आर्थिक क्षेत्र में इस व्यक्तिवाद का परिणाम यह हुआ कि हजारों श्रमिक बरबाद हो गए और वे निम्न कोटि का जीवन बिताने के लिए बाध्य हो गए। बेकारी, भुखमरी, अशिक्षा, बीमारी आदि ने समाज के निम्न और माध्यम वर्ग को तबाह कर दिया। धीरे-धीरे लोगों की आँखें खुलीं और वे आर्थिक सुरक्षा की आवश्यकता का अनुभव करने लगे। परिणामस्वरूप, आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ ही अब बदल गया है। लास्की के मतानुसार, आर्थिक स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य यह है कि सभी नागरिकों को जीविकोपार्जन के लिए काम मिले और उनकी कम से कम इतनी आय हो कि वे सुविधापूर्वक अपनी सभी आवश्यकताओं को समुचित ढंग से पूरा कर सकें[2], अर्थात् व्यक्ति को बेकारी और भुखमरी के भय से मुक्ति मिले। अब इस बात को सभी लोग स्वीकार करते हैं कि एक बेकार अथवा निर्धन व्यक्ति कभी राजनीतिक स्वतंत्रता का सच्चा उपभोग नहीं कर सकता। अतएव, आर्थिक स्वतन्त्रता के हिमायती एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते हैं कि जिसमें सभी व्यक्तियों के जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर ही किसी को ऐश-आराम

1 वही, पृष्ठ 147-48

2 वही, पृष्ठ 148-49,

के साधन मिल सकें। ऐसी स्थिति के अभाव में मनुष्य उन दासों से अच्छा नहीं होता जो खुले बाजार में बेचे और खरीदे जाते थे[1]। आर्थिक स्वतन्त्रता का एक दूसरा पहलू 'उद्योग में स्वशासन' है जिसका अभिप्राय यह है कि उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं में श्रमिकों के प्रतिनिधियों का नियन्त्रण हो। इस प्रकार के स्वशासन के अभाव में श्रमिक पूर्णत धनिक वर्ग की कृपा पर निर्भर हो जाता है। उसे हमेशा बेकारी और भुखमरी का डर सताता रहता है जिनके कारण *यह अपनी सृजनात्मक प्रवृत्तियों का समुचित उपयोग नहीं कर पाता। अतएव,* यह स्पष्ट है कि सच्ची व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता ही यथेष्ट नहीं है, साथ ही आर्थिक स्वतन्त्रता भी होनी चाहिए।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता से हमारा अभिप्राय बाह्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने से है। जैसा कि लोकमान्य तिलक ने कहा, स्वराज्य प्रत्यक राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। जैसे ही किसी जनसमुदाय में राष्ट्रीयता की भावना का उदय होता है वह स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए लालायित हो जाती है। इसी भावना से प्रेरित होकर सन् 1776 ई० म 13 अमेरिकी उपनिवेशों ने इगलैंड के विरुद्ध बगावत का झडा खडा किया और सयुक्त राज्य (अमेरिका) की नींव डाली। इस प्रकार भारत में 15 अगस्त, सन् 1947 ई० को स्वाधीनता प्राप्त हुई। पिछले 20 वर्षों में लगभग 50 राष्ट्र स्वतन्त्र हो चुके हैं। वस्तुत राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आधार के बिना व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सभव नहीं है, क्योंकि स्वाधीन जनसमुदाय ही सच्ची नागरिक, राजनीतिक, और आर्थिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते हैं।

6. समानता के भेद

स्वतन्त्रता के साथ समानता भी अच्छे नागरिक जीवन के लिए आवश्यक है। समानता से हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को बिना वर्ग, जाति, धर्म, लिंग, व्यवसाय आदि के भेद के समान अधिकार प्राप्त हो। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सभी व्यक्ति सभी विषयों में समान होते हैं। समानता की यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है। व्यक्तियों म पूर्णरूपेण समानता नहीं हो सकती। अरस्तु के कथनानुसार, सभी व्यक्ति समान नहीं होते कुछ योग्य होते हैं और कुछ अयोग्य, कुछ शारीरिक रूप से बलवान होते हैं और कुछ निर्बल, कुछ व्यक्ति विद्वान हाते हैं और कुछ नासमझ। इसी प्रकार के विचार अन्य विद्वानों ने भी प्रकट किए हैं। हिंदू समाज म जाति प्रथा असमानता पर आधारित है।

1 वही

कुछ लोग जाति और रंग के आधार पर असमानता के सिद्धांत को सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते हैं। समानता के विरोध मे एक लेखक ने कहा है कि यदि व्यक्तियो मे बराबर सम्पत्ति बाँट दी जाए तो भी थोडे ही समय मे उनमे से कुछ व्यक्ति निर्धन हो जाएँगे और कुछ धनवान, क्योंकि सभी की योग्यताएँ और आवश्यकताएँ एक समान नही होती और न सभी परिवारों के सदस्यों की सख्या ही समान होती है। इस प्रकार अनेक विचारकों का कहना है कि व्यक्तियो की समानता की बातें करना निरर्थक है। जब एक पेड की दो पत्तियाँ तक एकसार नही होती, तब सभी मनुष्य कैसे समान हो सकते हैं? मनुष्यो की योग्यता, स्वभाव और रुचि मे इतनी विभिन्नता पाई जाती है कि समानता का कोई स्पष्ट अर्थ नही रह जाता।

यह ठीक है कि व्यक्तियों की रुचि और योग्यता एकसमान नहीं होती। यह भी ठीक है कि कुछ व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक कर्मठ, सहनशील और उदार होते हैं। इस प्रकार प्रकृति और प्रवृत्ति की विभिन्नताएँ व्यक्तियों में पाई जाती हैं। समानता से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि हम इन विभिन्नताओ को स्वीकार न करें, बल्कि यह है कि हम उन असमानताओ को दूर करने का भरसक प्रयत्न करें जो नैसर्गिक नही हैं और समान अवसर के अभाव में उत्पन्न हो गई हैं। यह बात सर्वविदित है कि हमारे समाज मे सभी व्यक्तियो को समान सुविधाएँ प्राप्त नही हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो व्यक्ति निर्धन परिवार मे जन्म लेते हैं उनकी प्रतिभा का विकास नही हो पाता और उनका व्यक्तित्व पनपने के पहले ही मुरझा जाता है। हमारे समाज मे ऐसे लाखो व्यक्ति हैं जिन्हें योग्यता होने पर भी सुविधाएँ नही मिलती, और जिनका उनके बिना समुचित विकास नही हो पाता। कभी कभी लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि सम्भवत ऐसे व्यक्तियो में बुद्धि अथवा योग्यता का अभाव है, किंतु डा० बेनीप्रसाद के मतानुसार, 'किसी समाज मे मूर्खों और जड़बुद्धि वाले लोगों की सख्या बहुत कम होती है। अधिकाश व्यक्ति अपनी योग्यता का परिचय देने की क्षमता रखते हैं। कमी केवल इस बात की है कि उन्हें उन्नति के सुअवसर नहीं मिलते'। आवश्यकता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को हम उसके पूर्ण विकास के अवसर दें। यदि हम यह मानते हैं कि लोकतत्रीय समाज मे सभी व्यक्तियो को सुखी होने का अधिकार है तो हमे यह भी स्वीकार करना पडगा कि हमारे समाज म जो भी असमानताएँ हो, उनके यथेष्ट कारण हों। जन्म के आधार पर किसी व्यक्ति को समाज मे ऊँचा अथवा नीचा दर्जा नही मिलना चाहिए। उसकी योग्यता और कार्य क्षमता के आधार पर उसका मूल्यांकन होना चाहिए।

लास्की के कथनानुसार, इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि जब तक सभी नागरिकों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति न हो जाए तब तक किसी को विशेषाधिकार न मिलें। उदाहरण के लिए, जब तक सभी नागरिकों को रहने के लिए घर नहीं मिलते, तब तक यदि किसी व्यक्ति के पास ऐसे महल हों जिनमें बीसियों कमरे हैं और बड़े बड़े बाग और बगीचे हैं, तो यह सरासर अन्याय है। इसी प्रकार जहाँ कुछ लोग भूखे रहते हैं वहाँ यदि कुछ व्यक्ति नाना प्रकार के व्यजनों को इतनी मात्रा में पाएँ कि उन्हें अजीर्ण हो जाए, तो यह स्थिति युक्तिसंगत नहीं मानी जा सकती। अतः लास्की इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि समानता बहुत कुछ 'समानुपात की एक समस्या'[1] है। वे सभी वस्तुएँ जिनके बिना जीवन अर्थहीन बन जाता है, सभी को बिना भेदभाव के यथेष्ट मात्रा में मिलनी चाहिए। इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् ही किसी व्यक्ति की विशेष सुविधाओं पर ध्यान दिया जा सकता है। अतिरिक्त राष्ट्रीय आय का वितरण कार्य कुशलता के आधार पर होना चाहिए। समाज में जो भी भेद हों वे इस आधार पर हों कि कौन समाज के हित में कितना योग देता है। यदि किसी समाज में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं, तो इस अपर्याप्तता में सभी को समान रूप से साझीदार होना चाहिए। लास्की ने समानता के लिए तीन प्रमुख आवश्यकताएँ बताई हैं प्रथम, विशेष सुविधाओं का अभाव, द्वितीय, समान अवसरों का सुयोग, और तृतीय, सब की प्राथमिक आवश्यकताओं की सबसे पहले पूर्ति।

समानता के विभेद—ब्राइस के मतानुसार, समानता के चार विभेद हैं नागरिक समानता, राजनीतिक समानता, सामाजिक समानता और प्राकृत समानता। किंतु लास्की ने समानता के केवल दो विभेद बताएँ है, अर्थात् राजनीतिक और सामाजिक समानता। बार्कर के अनुसार, समानता के दो रूप हैं, अर्थात् कानूनी और सामाजिक समानता। उसने सामाजिक समानता के अतर्गत आर्थिक समानता को भी सम्मिलित कर लिया है।

नागरिक समानता से हमारा अभिप्राय यह है कि सभी नागरिकों को समान नागरिक अधिकार प्राप्त हों और उनमें किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए। कानून की दृष्टि में सभी नागरिक बराबर माने जाएँ और 'विधि शासन' की व्यवस्था हो। राज्य में ऐसे कानून प्रचलित न हों जो किसी व्यक्ति समूह अथवा वर्ग के हितों का साधन करते हों अथवा उन्हें विशेषाधिकार देते हों। ऐसी स्थिति में 'समानता' नहीं हो सकती। राजनीतिक समानता से हमारा अभिप्राय यह है कि सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के राजनीतिक अधिकार

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 158

प्राप्त हो। ऐसी समानता के लिए लोकतन्त्रीय शासन और वयस्क मताधिकार आवश्यक है। सहस्त्रों वर्षों तक व्यक्ति को ऐसी समानता प्राप्त नहीं हुई। आज भी कुछ ऐसे देश हैं जिनमें रंग, जाति अथवा लिंग के आधार पर भेदभाव किया जाता है और राजनीतिक अधिकार नहीं दिए जाते। सामाजिक समानता से हमारा अभिप्राय यह है कि कुल, जाति, धर्म, लिंग आदि के आधार पर न किसी को विशेष सुविधाएँ दी जाएं और न कोई बंधन लगाए जाएँ। इसका आशय यह हुआ कि दास प्रथा, बेगार, ऊँच-नीच के भाव, जाति प्रथा आदि सामाजिक असमानता के जो अवशेष हैं उनका अंत किए बिना सामाजिक समानता प्राप्त नहीं हो सकती। यद्यपि हमारे संविधान के अंतर्गत छुआछूत और जाति-पाँति के भेदभाव को अवैध घोषित कर दिया गया है, तथापि केवल कानून बनाने से सामाजिक समस्याएँ नहीं सुलझती। इनका समाधान करने के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो और ऐसा तभी हो सकता है जब कि पिछड़े हुए लोगों की आर्थिक अवस्था में उन्नति हो। उपदेश देने से अथवा सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध भाषण देने से केवल सीमित परिणाम निकल सकते हैं। शिक्षा के प्रसार और आर्थिक उन्नति से ही लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आना और भारतीय जनता के सभी अंगों का समान रूप से सामाजिक समानता, एकता और प्रगति की ओर अग्रसर होना सम्भव है। आर्थिक समानता से हमारा अभिप्राय धन के समान वितरण अथवा आय की समानता से नहीं है। किंतु इसका तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम समस्त नागरिकों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाए। तत्पश्चात् यदि कुछ राष्ट्रीय बचत हो तो उसका वितरण सामाजिक हित में व्यक्ति के योग के आधार पर किया जाए[1]। तथापि, किसी व्यक्ति के पास इतना धन नहीं होना चाहिए कि उसके बल पर वह अन्य व्यक्तियों को अपनी मुट्ठी में करके उन पर अपना रौब डाल सके। लास्की के मतानुसार, जब तक औद्योगिक क्षेत्र में लोकतन्त्रीय सिद्धांतों को लागू नहीं किया जाता, तब तक पूँजीपतियों के अनुचित दबाव से लोगों को छुटकारा नहीं मिलेगा। उसका कथन है कि सच्ची राजनीतिक समानता के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को आर्थिक समानता की उपलब्धि हो, अन्यथा जिनके हाथ में आर्थिक शक्ति है वे ही राजनीतिक सत्ता का भी उपभोग करेंगे। इस बात को प्राचीन यूनानी और रोमन विचारकों ने भली-भाँति समझकर आर्थिक विषमताओं को दूर करने पर बल दिया था। अब समाजवादी और साम्यवादी लोग इस सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं। लास्की के अनुसार, आर्थिक क्षेत्र में 'लगभग समानता' से अभिप्राय यह है कि सम्पत्ति के वितरण में विषमताएँ

1 वही, पृष्ठ 158.

न हो, और जो वर्ग समाज मे सत्तारूढ है उस पर लोकमत का अकुश हो। साथ ही, शक्ति का प्रयोग उत्तरदायित्व पूर्ण हो, और जब कोई व्यक्ति अथवा वर्ग शक्ति का दुरुपयोग करे तो उसको उत्तरदायी ठहराकर समुचित दंड दिया जाए।

7. स्वतत्रता और समानता

पुराने ढग के लोकतत्रवादियो और उदारवाद के अनुयायियो की यह आस्था थी कि स्वतत्रता अर्थात् राजनीतिक अधिकार देने से सभी सामाजिक समस्याएँ स्वत ही हल हो जाएँगी। उनका विश्वास था कि जब प्रत्यक वयस्क नागरिक को मताधिकार प्राप्त हो जाएगा तो वह स्वय अपने हित का ध्यान रख सकेगा और किसी को शिकायत का अवसर न रहेगा। अतएव, उनका यह निरतर प्रयत्न रहा कि मताधिकार का उस समय तक विस्तार किया जाय जब तक प्रत्येक वयस्क नागरिक को पूर्ण राजनीतिक अधिकार प्राप्त न हो जाएँ। इनमे से कुछ विचारक, जिनमे डि टोक्यवैली और ऐक्टन प्रमुख हैं, यह समझते थे कि स्वतत्रता और समानता परस्पर-विरोधी हैं। ऐक्टन के मतानुसार, समानता की कामना स्वतत्रता की आशा को नष्ट कर देती है। स्पष्ट है कि इन विचारको के अनुसार, स्वतत्रता केवल अभिजात-वर्ग के लिए होती है। अनुभव ने हमे बता दिया है कि जहाँ भी स्वतत्रता सीमित होगी उसका परिणाम यह होगा कि धनिको के पास शक्ति और सत्ता सचित हो जाएगी और निम्न वर्ग के लोगो को उससे कोई लाभ न होगा। किंतु सच्ची स्वतत्रता के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक स्थिति ऐसी हो जिसमे कोई व्यक्ति अथवा वर्ग दूसरो पर हावी न हो सके और न कोई व्यक्ति दूसरो की कृपा पर निर्भर हो। जब तक नागरिको को इस प्रकार स्वतत्रता प्राप्त नही होती, समानता की बातें करना अर्थहीन है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन ढग के लोकतत्र-वादियो का आर्थिक समानता म कोई विश्वास न था। आर्थिक स्वतत्रता का अभिप्राय वे यह समझते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र मे पूरी छूट हो अर्थात् राज्य उनके कार्यो पर कोई प्रतिबध न लगाए। उनका विश्वास था कि आर्थिक क्षेत्र म यदि व्यक्तियो को खुली छूट होगी तो सब नागरिको को अपनी उन्नति के समान अवसर मिल जाएँगे। किंतु औद्योगिक क्राति के पश्चात् धीरे-धीरे लोगो को इस धारणा के दोष दृष्टिगत होने लगे। इस क्राति का परिणाम यह हुआ कि श्रमिक पूँजीपतियो की कृपा पर निर्भर हो गए, आर्थिक विषमताएँ बढने लगी, जनता मे असतोष के लक्षण प्रकट होने लगे और यह स्पष्ट होने लगा

कि राजनीतिक समानता से निम्न वर्ग के लोगों को विशेष लाभ नहीं हुआ। अपनी गरीबी, अज्ञानता और बेबसी के कारण वे या तो राजनीतिक कार्यों में कोई रुचि नहीं ले पाते और यदि लेते भी हैं तो पूँजीपतियों के प्रभाव से उन्हें छुटकारा नहीं मिल पाता। इस स्थिति ने विचारकों की आँखें खोल दी और वे यह समझने लगे कि आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रायः निरर्थक होती है। सम्पत्ति धीरे-धीरे कुछ धनिक लोगों के हाथों में केंद्रित हो जाती है। अत आर्थिक क्षेत्र में खुली छूट देने से सभी वर्गों का समान रूप से हित-साधन नहीं होता, अपितु धनिक वर्ग का लाभ होता है। यह स्पष्ट है कि एक मिल-मालिक और मजदूरों की स्थितियों में कोई समानता नहीं होती क्योंकि मिल-मालिक जब चाहे मजदूर को बेकार बना सकता है। जैसा कि हाब्सन ने कहा है, एक 'भूखे व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता का क्या मूल्य है ? वह स्वतन्त्रता को न खा सकता है और नाही सकता है'। सच तो यह है कि जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिनरात परिश्रम करके किसी प्रकार कुछ साधन जुटा पाते हैं, उनके पास न इतना समय होता है और न इच्छा ही कि वे सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी ले सकें और अपने राजनीतिक अधिकारों का पूरा उपयोग कर सकें। उनसे यह आशा करना कि वे अपने मताधिकार का विवेकपूर्ण उपयोग करेंगे अनुचित है। इस सदर्भ में रूसो के इस विचार का कि प्रतिनिधिक लोकतन्त्रीय शासन में नागरिक चार-पाँच वर्षों में केवल एक बार स्वतन्त्र होते हैं और तदोपरान्त मतदान देकर वे फिर अगले चार-पाँच वर्षों के लिए पराधीन हो जाते हैं, एक नया महत्त्व और अर्थ हो जाता है। जैसा कि जोड ने कहा है, 'स्वतन्त्रता की धारणा को, जो राजनीति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जब आर्थिक क्षेत्र में लागू किया गया तो उसके भयकर दुष्परिणाम हुए, जिनके परिणामस्वरूप समाजवादी और साम्यवादी समाजधाराओं का उदय हुआ जो आर्थिक समानता पर विशेष बल देते हैं और जिनका यह निश्चित मत है कि आर्थिक समानता के बिना वास्तविक राजनीतिक स्वतन्त्रता कभी उपलब्ध नहीं हो सकती'।

अब भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो स्वतन्त्रता और समानता को परस्पर विरोधी मानते हैं। उनके विचार म स्वतन्त्रता व्यक्तित्व के विकास क अवसर देती है जब कि समानता उन्हें एक सतह पर लाना चाहती है। पर जैसा हम बता चुके हैं समानता से हमारा अभिप्राय लोगों को एक स्तर पर लाना नहीं है बल्कि भेदभावों को मिटाना है। अब यह विचार भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो चुका है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता मिल जाने से प्रत्येक व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सकता है। वस्तुत जहाँ कुछ व्यक्ति ऐश्वर्य का भोग करते हैं, वहाँ अधिकतर

10

अधिकार और कर्तव्य

राज्य के सदस्य होने के नाते, व्यक्ति के अधिकार होते हैं, . . . तथापि इन अधिकारों को केवल राज्य-प्रदत्त समझना व्यक्तित्व की रक्षा करना नहीं अपितु उसे नष्ट करना है। —हैरोल्ड जे० लास्की

1. अधिकारों का स्वरूप

जहाँ कुछ व्यक्ति मिलकर रहते हैं, वहाँ यह आवश्यक हो जाता है कि वे मानव आचरण के कुछ सामान्य नियमों का पालन करें। इस प्रकार के प्रतिबंधों और दायित्वों के बिना अच्छा सामाजिक जीवन असम्भव है। लास्की के कथनानुसार, 'अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं ? जिनके बिना आम तौर पर कोई व्यक्ति अपना सर्वोत्तम रूप पाने की आशा नहीं कर सकता[1]। वे व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। इन सुअवसरों के बिना सद्जीवन (good life) सम्भव नहीं है। अतएव, प्रत्येक सभ्य समाज अपने नागरिकों को ऐसे सुअवसर देने का प्रयत्न करता है जिनसे उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो। लास्की के मतानुसार, किसी राज्य का मूल्यांकन इस आधार पर किया जा सकता है कि वह किस प्रकार के अधिकार अपने नागरिकों को देता है। डा० बेनीप्रसाद के शब्दों में, 'अधिकार असल में वे परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक और अनुकूल हैं[2]।

इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकार के नाम पर मन-चाही परिस्थितियों के लिए दावा नहीं किया जा सकता। एक व्यक्ति के केवल

---

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 91

2 नागरिकशास्त्र, प्रयाग, 1937, पृष्ठ 40.

वही दावे 'अधिकार' में परिणत हो सकते हैं जो जनसाधारण के विकास के लिए भी 'आवश्यक और अनुकूल' हो। 'अधिकार' शब्द के अंग्रेजी पर्याय 'राइट' (right) से यह ध्वनि निकलती है कि उसे न्यायपूर्ण होना चाहिए अर्थात् एक दावे को अधिकार मे परिणत होने के लिए उसे व्यक्तिगत स्वार्थ पर आधारित न होकर 'सामूहिक हित' के अनुरूप होना चाहिए ; तभी वह सर्वमान्य हो सकता है। यह स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति दूसरो के दावो को तब तक मानने को तैयार न होगा जब तक उसे यह विश्वास न हो कि ऐसा करने से उसकी कोई हानि नही होगी, और साथ ही उसकी समान मागें भी पूरी होगी। अत हम कह सकते हैं कि अधिकार व्यक्तियो के वे दावे हैं जो सभी व्यक्तियो के लिए और सभी की भलाई का ध्यान रखते हुए किए जाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि ये दावे किससे किए जाएँ ? इसका उत्तर यही है कि वे समाज अथवा राज्य के सामने प्रस्तुत किए जाएँ। सगठित समाज के अभाव मे अधिकारो के अस्तित्व का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि वहाँ तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होगी। जहाँ शक्ति का बोल-बाला हो, वहाँ अधिकार नही हो सकते। सभ्य समाज के शातिपूर्ण और व्यव-स्थित वातावरण मे ही उनका उपभोग सभव है।

जब इन अधिकारो की मांग समाज के सम्मुख आती है तो लोकसम्मत होने पर समाज इन्हे मान्यता दे देता है और ये नैतिक अधिकारो का रूप प्राप्त कर लेते हैं। नैतिक अधिकारो का आधार समाज की नैतिक भावना होती है, अर्थात् समाज की दृष्टि मे व्यक्ति की ये माँगें व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हैं। डा० रिची (Ritchie) के अनुसार, नैतिक अधिकार 'एक व्यक्ति के दूसरो के प्रति ऐसे दावे हैं जिन्हे समाज ने मान्यता दे दी है, फिर चाहे राज्य उन्हे माने या न माने'। जब व्यक्ति के इन दावो को स्वीकार करके राज्य उन्हे कानूनी मान्यता दे देता है तो वे कानूनी अधिकार बन जाते है। मान्यता देने पर राज्य इन अधिकारो की रक्षा करता है और उनका उल्लघन किए जाने पर अपराधियो को यथोचित दड देने की व्यवस्था करता है।

अधिकार सामाजिक होते हैं। सगठित समाज के बाहर उनका कोई अस्तित्व नही होता। वे व्यक्तिगत विकास और सामाजिक हित की प्रचलित धारणाओ पर आधारित होते हैं। अत समाज के विरुद्ध किसी व्यक्ति के अधि-कार नही हो सकते (किंतु सरकार के विरुद्ध उसके अधिकार हो सकते हैं)। अधिकारो के सामाजिक होने का दूसरा पहलू यह है कि जो व्यक्ति अधिकारो का सुख भोगना चाहते हैं उन्हे दूसरो के समान अधिकारो का पूरा सम्मान करना चाहिए। सक्षेप मे, अधिकारो का उपभोग अपने कर्तव्यो के सुचारु रूप से पालन

करने पर निर्भर हैं, और कर्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का अस्तित्व हो सकता है।

अधिकार 'न्याय की उस सामान्य व्यवस्था का परिणाम है जिस पर राज्य और उसके कानून आधारित हैं'[1]। इस न्यायभावना (notion of Right or Justice) से पृथक् अधिकारों का न तो कोई महत्त्व है और न ऐसे न्याय-विहीन अधिकारो को कानूनी संरक्षण ही मिलना चाहिए। बार्कर के कथनानुसार, कानून, दो कारणों से व्यक्ति को अधिकार देता है। प्रथम कारण यह है कि राज्य जिस 'न्याय-व्यवस्था' पर आधारित है, अधिकार उसके प्रतीक हैं। दूसरा कारण यह है कि इन अधिकारो के बिना व्यक्ति न्याय-व्यवस्था' के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते, अर्थात् वे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकते। अधिकारों को मान्यता और संरक्षण देकर राज्य और कानून उस 'न्याय-व्यवस्था' के लक्ष्य को प्राप्त करने में योग देते हैं जिस पर वे स्वयं आधारित हैं। अत. हम कह सकते हैं कि राजकीय कानून अधिकारो को सीमित नहीं करते। वस्तुत; वे उन्हें और भी अधिक सुरक्षित करते हैं, और राजकीय कानूनों के पीछे (sanction) अधिकार की सार्वजनिक मान्यता होती है। यही नहीं, अधिकारो की मांग सदैव किन्हीं कानूनों के अतर्गत की जाती है, फिर चाहे वे कानून राजकीय हों अथवा नैतिक।

बार्कर के कथनानुसार, एक आदर्श अधिकार एक साथ दो स्रोतों से निकलता है और इसी कारण उसके गुण भी द्विगुणित होते हैं—(1) व्यक्तित्व का स्रोत और उसके विकास के लिए इसका आवश्यक होना और (2) राज्य तथा उसके कानूनों का स्रोत[2]। तथापि कभी-कभी वस्तु-जगत् में हमें ऐसे अधिकार भी मिलते हैं जिनका एक ही स्रोत और गुण होता है। ऐसे उदाहरणो में हमें यह देखना चाहिए कि विशुद्ध 'न्याय-भावना' और कानूनो के आदेशो के बीच कहीं अधिक अन्तर तो नहीं आ गया है?

यहाँ यह कहना भी असंगत न होगा कि राज्य अधिकारो को जन्म नहीं देता, केवल उन्हे मान्यता देता है। एक अर्थ में अधिकार राज्य से पूर्ववर्ती होते हैं, तथापि समाज से पृथक् रखकर अधिकारो को नहीं देखना चाहिए। व्यक्ति के अधिकार राज्य के विरुद्ध हो सकते हैं, किंतु सार्वजनिक कल्याण के विरुद्ध नहीं। लास्की के कथनानुसार, राज्य को मेरे विरुद्ध अधिकार हैं, और उसे मुझसे ऐसे आचरण की आशा करने का अधिकार है जिससे अन्य व्यक्तियों को भी अपने अधिकारो का उपभोग करने का अवसर मिल जाए। राज्य और

1 बार्कर, *Principles & Social and Political Theory*, पृष्ठ 137.
2 वही, पृष्ठ 139.

नागरिकों के पारस्परिक दावों को केवल इसी अर्थ मे लिया जा सकता है कि वे सामान्य हित मे होते हैं और उनमे सबके हित का समावेश होता है। जब ऐसे दावों को मान्यता देकर राज्य उन्हे लागू करता है तो वे कानूनी अधिकार का रूप ले लेते हैं। श्रीनिवास शास्त्री के अनुसार, कानूनी अधिकार उस व्यवस्था, नियम अथवा प्रथा का नाम है जिसे राजकीय कानून मानते हैं और जो नागरिको के परम नैतिक हित का साधन करते हैं। हॉलैंड के मतानुसार, यह 'एक व्यक्ति मे निहित ऐसी योग्यता है जिससे वह राज्य की मान्यता और सहायता से अन्य व्यक्तियो के कार्यों को नियंत्रित कर सकता है'।

कानूनी और नैतिक अधिकारो मे भेद यह है कि पहले को राज्य मान्यता देता है और उनका उल्लघन किए जाने पर कानून के द्वारा अपराधियो को दड दिया जाता है। इसके विपरीत, नैतिक अधिकारो को केवल समाज मानता है किंतु उनके उल्लघन के लिए वह दण्ड नही दे सकता क्योकि उसके पास अपनी बात मनवाने के लिए शक्ति का आधार नही है। उसे केवल लोकमत पर भरोसा करना होता है। अत. नैतिक अधिकारो की उपेक्षा होने पर रोकथाम की कोई कारगर व्यवस्था नही होती। यह भेद होने पर भी दोनो मे घनिष्ठ सबध है, और लोकतंत्र के इस युग मे अधिक समय तक लोकमत की उपेक्षा नही की जा सकती।

2. अधिकार संबंधी सिद्धांत

अधिकारो के स्वरूप के सबंध मे अनेक व्याख्याएं दी गई है जिनके परिणामस्वरूप अधिकार सबधी कुछ सिद्धात प्रचलित हो गए हैं। नीचे हम सक्षेप में इन पर विचार करेंगे।

प्राकृत अधिकारो का सिद्धांत

सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियों मे प्राकृत अधिकारो (Natural Rights) के सिद्धात का बोलबाला रहा। सामाजिक सविदा मे विश्वास करने वाले कुछ विचारको ने इसका प्रतिपादन किया। इन चितको के अनुसार, मनुष्य की प्राकृत अवस्था मे भी कानूनों तथा अधिकारो का अस्तित्व था। वे इनको प्राकृत अधिकार की सज्ञा देते हैं। इन लेखको मे लॉक का नाम प्रमुख है। उसके कथनानुसार, प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृत अधिकार होते हैं। प्राकृत अवस्था मे व्यक्ति जीवन, स्वतत्रता और सम्पत्ति के अधिकारो का उपभोग करते थे। वस्तुत. ये अधिकार तो मनुष्य के व्यक्तित्व मे सनिहित हैं। इन्हे हम प्राकृत इसलिए कहते हैं कि ये सर्वव्यापी हैं। साथ ही, इनको घटाया-बढ़ाया भी नहीं जा सकता। लॉक के अनुसार राज्य का जन्म प्राकृत अधिकारो की रक्षा के लिए होता है।

हॉब्स का मत एकदम भिन्न है। उसके कथनानुसार, प्राकृतिक व्यक्ति ने अपने समस्त अधिकार एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सत्ता को सौंप दिए। रूसो के शब्दों मे, एक नए समाज का निर्माण कर और 'सामान्य इच्छा' के अनुसार कार्य करने का वचन देकर व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारो का परित्याग कर देता है और सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है।

सामाजिक सविदा के प्रतिपादकों के अतिरिक्त कुछ अन्य विचारकों ने भी प्राकृत अधिकारों की धारणा का समर्थन किया है। उनके अनुसार, ये अधिकार इसलिए प्राकृतिक कहे जाते हैं कि वे सामाजिक मनुष्य के नैतिक विकास के लिए अपरिहार्य है। इन विद्वानो के मतानुसार, अधिकारों की अनुशास्ति (Sanction) राज्य के कानूनो पर नहीं, अपितु जनसमुदाय की नैतिक भावना पर निर्भर है।

समाजशास्त्रीय विचारधारा ने प्राकृत अधिकारो की व्याख्या मे सामाजिक तत्त्वों का समावेश करने का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार, प्राकृत अधिकार *मनुष्य की वे स्वतन्त्रताएँ हैं जिनके बिना वह समाज मे प्रभावी रूप से कार्य नही कर सकता।* गिडिंग्ज के अनुसार, प्राकृत अधिकार सामाजिक रूप मे आवश्यक हैं और सामाजिक सबधों के क्षेत्र में प्राकृत चुनाव द्वारा लागू किए जाते हैं। अतः प्राकृत अधिकारों का आधार प्राप्त किए बिना न कानूनी अधिकार हो सकते हैं और न नैतिक'। प्राकृत अधिकारो के सिद्धात ने राजनीति-विज्ञान मे एक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इसका प्रभाव फ्रांसीसी क्रांति और अमरीकी स्वातन्त्र्य युद्ध पर भी पड़ा। अमरीकी स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र के अनुसार, प्राकृत अधिकारो की रक्षा करना शासन का एक बड़ा उत्तरदायित्व है और जहाँ कहीं शासन इन अधिकारो का अपहरण करता है, वहाँ जनता को यह अधिकार है कि वह उसे बदल दे अथवा नष्ट कर दे।

आलोचना—प्राकृत अधिकारो के सिद्धात की कड़ी आलोचना की गई है। सर्वप्रथम, कठिनाई यह है कि इन अधिकारो की अनेक व्याख्याएँ हैं। अतः इनके कोई यथार्थ अर्थ नहीं निकल सके। इसके परिणामस्वरूप प्राकृत अधिकारो की कोई सर्वमान्य सूची नहीं बनाई जा सकती। उदाहरण के लिए जहाँ एक ओर कुछ विचारक दास प्रथा को स्वाभाविक कहते थे, वहाँ दूसरे विद्वान उसका घोर विरोध करते थे। इसी प्रकार जहाँ कुछ लेखक व्यक्तिगत सम्पत्ति को एक प्राकृत अधिकार मानते हैं, वहाँ अन्य लेखक ऐसा नही मानते। जहाँ एक ओर, स्त्री और पुरुष दोनों को बराबर कहा जाता है, दूसरी ओर उन्हें असमान बताया जाता है। इसी अस्पष्टता का उल्लेख करते हुए, रिची ने कहा है, 'यदि आप प्रकृति का आश्रय लेंगे तो सम्भव है कि हम आपके न्यायालय मे आपको गलत प्रमाणित न कर सकें, किंतु आप भी अपने को सही सिद्ध नहीं कर सकते'। दूसरे,

समाज से बाहर अथवा उसके पूर्व अधिकारों की कल्पना तथ्यो के विरुद्ध है। हम देख चुके हैं कि अधिकार समाज मे ही हो सकते हैं, समाज से बाहर व्यक्तियो की 'प्राकृतिक शक्ति' हो सकती है अधिकार नही। अधिकार समाज के पूर्ववर्ती नहीं हैं। अधिकारो की बात इसलिए उठती है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बोसाके के शब्दो मे, 'अधिकार ऐसा दावा है जिसे समाज मान्यता देता है और राज्य लागू करता है'। तीसरे, ऐसे कोई प्राकृत अधिकार नही हो सकते जो अचल और स्थायी हो। जैसाकि वीको (Vico) ने बताया है प्राकृत अधिकारों की व्याख्या भी समय और परिस्थितियो मे परिवर्तन के साथ बदलती रहती हैं। अत यह एक गतिशील धारणा है, और मनुष्यो की सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के हेतु इसकी विषय-वस्तु भी परिवर्तित होती रहती है।

उपर्युक्त आलोचना से हमे इस भ्रम मे नही पडना चाहिए कि इस सिद्धात का कोई उपयोग नहीं है अथवा इसमे सत्य के कोई तत्व नही हैं। यदि प्राकृत अधिकारो का अर्थ हम ऐसे अधिकारो से लें जिन्हे चाहे समाज मानें या न मानें, किंतु जिन्हे हम मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक समझते हैं, तो इस धारणा का विशेष महत्त्व हो जाता है। किंतु यदि इसका अर्थ हम यह लें कि समाज के पूर्व भी व्यक्तियो को कुछ अधिकार प्राप्त थे, तो यह धारणा निर्मूल ही नही अर्थहीन भी है। वस्तुत इस रूप में प्राकृत अधिकारो की सकल्पना अतर्विरोधी है। मनुष्यो की प्राकृतिक अवस्था मे 'शक्ति' (Power) हो सकती है, अधिकार नही। किंतु यदि हम प्राकृत अधिकारो की व्याख्या उन आदर्श अथवा नैतिक अधिकारो के रूप मे करें जो उपयोगी होने के कारण हमे प्राप्त होने चाहिए, तो प्राकृत अधिकारो का सिद्धांत मूल्यवान हो जाता है। ऐसी दशा मे हम उन्हे आदर्श मानकर इनकी कसौटी पर वर्तमान शासनो के कार्यो की आलोचना कर सकते हैं। वस्तुत बहुत दिनो से विचारक यह कहते आए हैं कि कुछ ऐसे मानव अधिकार हैं जो व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए नितात आवश्यक हैं। हर्ष की बात है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् स्थापित सयुक्त राष्ट्र सघ ने अब 'मानव-अधिकारो' की एक सर्वव्यापी घोषणा को स्वीकार कर इस सिद्धात को एक साकार रूप दे दिया है।

अधिकारो का कानूनी सिद्धात

इस सिद्धांत के अनुसार, अधिकार राज्य द्वारा दिए जाते हैं। अत नागरिकों के अधिकार वही हैं तो कानूनों द्वारा वर्जित न हों। हॉलैंड के अनुसार, कानूनी अधिकार से हमारा अभिप्राय 'व्यक्ति मे निहित ऐसी क्षमता से है जिसके द्वारा, राज्य की स्वीकृति और सहायता से, वह दूसरो के कार्यों को नियंत्रित कर

सकता है'। इस सिद्धांत के अनुसार, अधिकारों के तीन प्रमुख पहलू हैं. (1) राज्य ही अधिकारों का स्रोत है; अत राज्य के पूर्व या राज्य से बाहर अधिकार नही हो सकते, (2) राज्य अपने समस्त साधनों से नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है और (3) ये अधिकार गतिशील होते हैं। कानूनों में परिवर्तन के साथ अधिकारों के रूप मे भी परिवर्तन होता रहता है।

आलोचना—इस सिद्धांत की अनेक विद्वानों ने, जिनमे बहुलवादी भी हैं, काफी आलोचना की है। सर्वप्रथम उनका कहना है कि केवल राज्य के आदेश से अधिकार नही बन सकते। हॉकिंग पूछते हैं कि क्या कानून रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार को अधिकार बना सकता है? इसी प्रकार स्पेंसर और लास्की भी कहते हैं कि राज्य अधिकारों को जन्म नही देता। वाइल्ड के अनुसार, कानून अधिकारों को जन्म नहीं देता, केवल उनको मान्यता और संरक्षण देता है। दूसरे, यह सिद्धांत राज्य की निरकुशता का समर्थन करता है, अत यह त्याज्य है। तीसरे, यह अधिकारों के नैतिक आधार की ओर ध्यान नही देता। जैसा कि लार्ड ने कहा है, एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था अधिकारों की पूर्वधारणा के लिए आवश्यक है। उसके बिना शक्ति, प्रभाव, दावे और प्रयास हो सकते हैं, किंतु अधिकार नही। चौथे, राज्य के कार्यों से दुखी होकर कभी-कभी नागरिक सामूहिक रूप से राज्यसत्ता का विरोध करने लगते हैं। लास्की का दृढ विश्वास है कि व्यक्ति के राज्य के विरुद्ध भी अधिकार होते हैं। उसके मतानुसार, हमारे कर्तव्य एक ऐसे आदर्श राज्य के प्रति हैं, जिसके अनुरूप बनने का वास्तविक राज्यों को प्रयत्न करना चाहिए। पाँचवे, कुछ विद्वानों का कहना है कि यह सिद्धांत राज्य को कानूनी अधिकारों का निर्माता बनाकर इस प्रश्न पर विचार नही करता कि जिन अधिकारों को राज्य मान्यता देता है और लागू करता है, क्या वे मान्यता दिए जाने के योग्य हैं? उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि एक गूँगे-बहरे व्यक्ति को विवाह करने का अधिकार है, तो हमारा अभिप्राय केवल यह होता है कि कोई चर्च अथवा रजिस्ट्रार ऐसा विवाह कराने से इकार नहीं कर सकता। किंतु इसका आशय यह नही कि ऐसे व्यक्ति को विवाह करने का अधिकार होना ही चाहिए। वस्तुत प्रत्येक कानूनी सिद्धांत के पीछे कुछ परिकल्पनाएँ होती हैं जिनका ध्यानपूर्वक विवेचन किए बिना हम उन्हें वैध नहीं मान सकते।

किन्तु इस सिद्धांत मे भी सत्य के कुछ तत्त्व हैं। हमे यह मानना पड़ेगा कि समकालीन युग मे राज्य के बाहर अधिकारों का संरक्षण नही हो सकता। जब व्यक्तियों के किसी दावे को राज्य मान्यता नही देता, किंतु समाज मान्यता दे देता है तब इस बात की सम्भावना हो जाती है कि समय पाकर वे कानूनी अधिकारों का रूप धारण कर लें। एक लोकतन्त्रीय समाज मे जहाँ लोकमत प्रभाव-

शाली हो, इस परिवर्तन में अधिक समय नही लगना चाहिए। तथापि यह कहना अनुचित होगा कि राज्य के मान्यता देने मात्र से ही कोई कानून स्वत न्याय-पूर्ण बन जाता है। यह भी ध्यान मे रखने योग्य बात है कि अनेक बार नाग-रिको को अपने उचित अधिकारो की मान्यता और रक्षा के लिए राज्य के विरुद्ध सघर्ष करने पडते हैं। बोसाके के कथनानुसार, वस्तुत अधिकार के कानूनी और नैतिक दो पक्ष होते हैं, और इनमे से किसी उपेक्षा नही की जा सकती।

अधिकारो का ऐतिहासिक सिद्धात

इस मत के अनुसार अधिकार प्रथाओं पर आधारित हैं। रिची के अनुसार, 'प्राय यह देखने मे आता है कि लोग जिन अधिकारो को आवश्यक मानते हैं, वे ऐसे अधिकार होते हैं जिनका लोग उपभोग करते रहे हैं अथवा जो पर-म्परागत हैं। कुछ विद्वानो का कहना है कि वस्तुत प्राकृत अधिकार इसी प्रकार के हैं।

आलोचना—इस मत की भी कई विद्वानो ने आलोचना की है। उनके मता-नुसार, यद्यपि अनेक अधिकार प्रथाओ पर आधारित होते हैं तथापि यह बात सभी अधिकारो पर लागू नही होती। होकिंग के अनुसार, क्या दास प्रथा जो कानून पर आधारित थी, न्यायपूर्ण कही जा सकती है अथवा शिशुहत्या कभी न्यायसगत हो सकती है? इस प्रकार की प्रथाएँ परम्परागत हो सकती हैं तथापि वे अधिकार नही बन सकती। दूसरे, यदि अधिकार हमेशा प्रथाओ के अनुकूल हो तो समाज मे कोई भी सुधार करना सम्भव न होगा। जैसा कि होकिंग ने कहा है, कि यह कहना उसी प्रकार मूर्खता होगी कि प्रथाएँ सदैव अधिकार का रूप ले लेती हैं, जिस प्रकार यह कहना असगत है कि कानूनो द्वारा अधिकार बनते हैं। यह सत्य है कि हम इतिहास की उपेक्षा नही कर सकते, परन्तु इति-हास के ऊपर पूरा भरोसा भी नही किया जा सकता। अतएव, यह मत हमे सही रास्ता नहीं दिखाता।

अधिकारो की कालोचितता का सिद्धात

इस मत के मानने वाले विद्वानो के अनुसार अधिकार सामाजिक कल्याण की आवश्यक दशा है और इस हेतु वे बनाए जाते हैं। इस मत के प्रतिपादको मे डीन रास्को पाउड प्रमुख हैं। उपयोगितावादी भी इस मत का समर्थन करते हैं लास्की ने भी अधिकारों की परख मे उपयोगिता को स्थान दिया है। उसके मता-नुसार, जिन अधिकारों को राज्य की मान्यता अवश्य मिलनी चाहिए उनमे प्राय ऐसे अधिकार होते हैं जिनको न मानने से घोर विपत्ति की आशका होती है। उसका कथन है कि मैं समाज से जो माँगें करता हूँ वे माँगें सार्वजनिक हित मे हैं, और

इसी कारण उन्हें मान्यता मिलनी चाहिए'।

आलोचना—इस मत की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि विभिन्न व्यक्तियों के सामाजिक कल्याण अथवा कालोचितता के संबंध में भिन्न मत होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी भय है कि हम समाज के कल्याण के नाम पर कहीं व्यक्ति के हित पर समुचित ध्यान देना न छोड़ दें। एक उदाहरण देते हुए होकिंग (Hocking) पूछते हैं कि एक सैनिक अफसर द्वारा अनुशासन के नाम पर किसी निरपराध व्यक्ति का बलिदान किया जाना कहाँ तक न्यायसंगत है? इसी प्रकार वाइल्ड (Wilde) कहते हैं कि यदि अधिकार समाज-प्रदत्त हैं तो क्या व्यक्ति को स्वेच्छाचारी आदेशों के विरुद्ध अपील करने का अवसर रह सकेगा?

अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धांत

इस मत के अनुसार, अधिकार मनुष्य के आतरिक विकास के लिए आवश्यक वाह्य दशाएं हैं। साधारण शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि अधिकारों के बिना किसी व्यक्ति का समुचित और पूर्ण विकास नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे मूलाधिकार प्राप्त होने चाहिए जो उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक हैं। शेष सभी अधिकार व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के बुनियादी अधिकार पर आधारित हैं। ग्रीन के मतानुसार, अधिकार वे शक्तियाँ हैं जो एक नैतिक प्राणी के नाते मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक हैं। किंतु दूसरों के इसी प्रकार के बुनियादी अधिकार को भी समान रूप से मान्यता मिलनी चाहिए अर्थात् अधिकार और कर्तव्य का सह-अस्तित्व होना चाहिए। साथ ही, क्योंकि अधिकारों का व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठ संबंध है, अतएव जिन व्यक्तियों में कोई नैतिक क्षमता नहीं है उन्हें अधिकार भी नहीं मिल सकते। तथापि, ग्रीन के मतानुसार, जीवन का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होना चाहिए।

विद्वानों ने इस सिद्धांत की भी आलोचना की है। वे कहते हैं कि हमारे सामने ऐसा कोई मापदंड नहीं है जिससे हम यह जाँच कर सकें कि कौन से अधिकार मनुष्य के आत्मविकास के लिए आवश्यक हैं और कौन नहीं हैं। इसके अतिरिक्त यह मत इस समस्या का भी समाधान नहीं करता यदि कभी व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में अंतर्विरोध हो तो उस दशा में क्या किया जाए?

लास्की का सृजनात्मक सिद्धांत

लास्की का मत है कि राज्य अधिकारों को बनाना नहीं है, केवल मान्यता देता है और राज्य के स्वरूप को (उसका विकासशील अथवा पिछड़ा होना) उन अधिकारों से परखा जा सकता है जिनको वह किसी समय मान्यता देता है। लास्की यह नहीं मानता कि अधिकार किसी विशिष्ट समय पर दिए

गए और न वह इस बात को स्वीकार करता है कि अधिकार हमेशा एक ही बने रहते हैं। उसके मतानुसार, समय, स्थान और स्थिति के अनुरूप अधिकारों मे भी परिवर्तन होता है। इसके अतिरिक्त उसका मत है कि अधिकार इच्छाओं को सतुष्ट करने के लिए नहीं होते बल्कि उनको नियन्त्रित करने के लिए होते हैं। किंतु वह मानता है कि अधिकार सामाजिक जीवन की वे दशाएँ हैं जिनके बिना सामान्यत कोई व्यक्ति अपनी योग्यताओ का पूर्ण विकास नही कर सकता। लास्की के अनुसार, अधिकार राज्य के पूर्ववर्ती होते हैं। वे इस अर्थ मे ऐतिहासिक नही हैं कि उन्हे किसी काल-विशेष मे मान्यता मिली हो। वे न तो स्थायी हैं और न ही अपरिवर्तनशील। किंतु वे इस अर्थ मे ऐतिहासिक हैं कि उनका स्वरूप सभ्यता के विकास पर निर्भर होता है, और वे इस अर्थ मे प्राकृत हैं कि वास्तविकताएँ राज्य को उन्हे मान्यता देने के लिए बाध्य कर देती हैं।

वे अधिकार इसलिए हैं कि वे राज्य के उद्देश्यो की पूर्ति करते हैं। यह भी सम्भव है कि कही पर वे वर्तमान कानूनी अधिकारो के प्रतिकूल हो, क्योकि प्राय. कुछ ऐसे विशेषाधिकार भी मान्य बने रहते है जो समयानुकूल नही होते। अधिकारो की उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि वे सभी के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हो क्योकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने का अधिकार है। किंतु हमारे अधिकार समाज के बाहर कोई अस्तित्व नही रखते। वे हमे इसलिए मिले हुए हैं कि हम राज्य के सदस्य हैं, और वे हमारी तथा राज्य —दोनो की रक्षा करते हैं। इस प्रकार, अधिकारो का कार्यों से घनिष्ठ सबध है और वे इसलिए दिए जाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति मे अपना योगदान दे सके। अतः किसी व्यक्ति को सार्वजनिक हित के विरुद्ध कोई अधिकार नही हो सकते, यद्यपि राज्य के विरुद्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति के विरुद्ध राज्य के भी अधिकार होते है। राज्य व्यक्ति से यह माँग कर सकता है कि वह ऐसा आचरण करे जिससे दूसरे व्यक्तियो के अधिकारो के उपभोग मे बाधा न आए। अतः नागरिको और राज्य—दोनो के अधिकार 'सामान्य हित' की भावना से प्रेरित होने चाहिए।

राज्य के प्रति व्यक्ति के कर्त्तव्य उन उद्देश्यों के प्रति हैं, जिनकी पूर्ति के लिए एक आदर्श राज्य प्रयत्नशील रहता है। अतएव, विशेष परिस्थितियो मे, व्यक्ति का यह भी कर्त्तव्य हो सकता है कि वह राज्य का विरोध करे। इस बात को भी ध्यान मे रखना चाहिए कि अधिकार केवल व्यक्ति और राज्य के ही नही होते, समुदायो के भी होते हैं। समुदायो को राज्य ने अधिकार नहीं दिए; वे उन्हें सदस्यो से मिलते है। अतएव, अधिकारों की व्यवस्था मे सामाजिक जीवन के इस पहलू पर भी समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए। हमारे कहने का अभि-

प्राय यह है कि अधिकारो की व्याख्या करते समय हमें व्यक्तियो, समुदायो और समाज के अधिकारों मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। इन में से किसी को अपने अधिकारों की स्वय व्याख्या करने की शक्ति नहीं दी जा सकती इनकी व्याख्या 'सामान्य सामाजिक हित' की दृष्टि से होनी चाहिए[1]।

3 अधिकारो का वर्गीकरण

ऊपर हम देख चुके हैं कि अधिकार नैतिक होते हैं और कानूनी भी। कानूनी अधिकारों को हम नागरिक अधिकार और राजनीतिक अधिकारों मे विभाजित कर सकते हैं। इन के अतिरिक्त, मूलाधिकार अथवा बुनियादी अधिकारों की भी एक धारणा है जो कानूनी और नैतिक दोनों प्रकार के अधिकारो को समाविष्ट कर लेती है।

मूलाधिकार—'मूलाधिकार' (Fundamental Rights) शब्द दो भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है। दार्शनिक अर्थ मे इनसे हमारा अभिप्राय उन आदर्श अधिकारों से है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अत्यत आवश्यक है। इस अर्थ मे मूलाधिकार 'प्राकृत अधिकारों' का ही दूसरा नाम है। दूसरे अर्थ मे, इसका तात्पर्य उन अधिकारों से है जिन्हे सविधान द्वारा मान्यता और विशेष सरक्षण दिए जाते हैं, अर्थात् सविधान में सशोधन किए बिना जिन्हे छीना नहीं जा सकता। सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा स्वीकृत मानव-अधिकारो की घोषणा प्रथम श्रेणी में आती है जब कि भारतीय सविधान मे वर्णित मूलाधिकार द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

अधिकारो की घोषणा प्रकाशित करने की परम्परा अपेक्षाकृत नई है। लॉक और मॉटेस्क्यु के विचारों से प्रभावित होकर अमरीकी स्वातन्त्र्य युद्ध और फासिसी क्रांति के समय इस प्रकार की घोषणाएं की गई, तत्पश्चात् कई देशों के सविधान मे इन घोषणाओं को स्थान मिला। इन्हे अब इसलिए अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है कि सविधान मे समावेश कर देने से इन्हें सविधानी सरक्षण प्राप्त हो जाते हैं और फिर सरलता से इन्हें छीना नहीं जा सकता। बीसवीं शताब्दी में जब अल्पसख्यकों के अधिकारो की रक्षा का प्रश्न सामने आया तो अधिकारों की घोषणा को और भी अधिक महत्त्व मिल गया। ऐसे अधिकारों के अपहरण किए जाने पर व्यक्ति अथवा समुदाय देश के सर्वोच्च न्यायालय से अपील कर अपने हित की रक्षा कर सकते हैं।

नागरिक अधिकार—इन्हें सामाजिक अधिकार भी कहा जाता है। नागरिक अथवा सामाजिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जिन्हें राज्य मे बसने

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 92-96

वाले सभी व्यक्ति समान रूप से उपभोग करते हैं। ऐसे अधिकारो मे सर्वप्रथम **जीवन रक्षा का अधिकार** आता है। आत्मरक्षा के प्रयत्न मे नागरिक यदि किसी आक्रमणकारी को जान से मार भी दे, तो यह एक अपराध न होगा। किन्तु जीवन-रक्षा के अधिकार का दूसरा पहलू यह है कि व्यक्ति आत्म-हत्या, खून और भ्रूणहत्या करने का यत्न न करे, अन्यथा वह दड का भागी होगा। दूसरा ऐसा अधिकार **वैयक्तिक स्वतत्रता** का है जिससे हमारा अभिप्राय शारीरिक और व्यक्तिगत स्वतत्रता से है। इससे हमारा आशय यह है कि किसी व्यक्ति को न तो दास बनाया जा सकता है और न अपराध प्रमाणित किए बिना उसे बदी ही बनाया जा सकता है। कोई अन्य व्यक्ति भी गैर-कानूनी ढग से उसे बंद नही कर सकता। यह एक मूलाधिकार है जिसके अभाव मे अन्य सभी अधिकार अर्थहीन हो जाते हैं। हमारे देश मे इस अधिकार पर नजरबदी कानून ने कुछ रोकें लगा रखी हैं। तीसरा सामाजिक अधिकार **विचार और भाषण की स्वतत्रता** है। नागरिको को इस बात की पूर्ण स्वतत्रता होनी चाहिए कि वे सभाओं मे और प्रकाशनो के द्वारा अपने विचारो को दूसरे लोगो के सम्मुख रख सकें। भावो और बुद्धि के समुचित विकास के लिए इस मूलाधिकार का होना अति आवश्यक है। वैसे तो विचारो को बलपूर्वक दबाया नही जा सकता, फिर भी इस अधिकार के अभाव मे विचार-स्वतत्रता का कोई विशेष अर्थ नही होता। लोकतत्रीय शासन मे तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता होती है ताकि सरकारी कार्यों के दोषों को इगित किया जा सके। जॉन स्टुअर्ट मिल ने इसका जोरदार समर्थन किया है। उसका कहना है कि नए विचारो को दबा देने से सामाजिक प्रगति रुक जाएगी और सुधार असभव हो जाएँगे। उसके अनुसार, लोगों की यह धारणा भ्रांतिपूर्ण है कि सत्य को दबाया नही जा सकता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सत्य को एक लबे समय तक दबाया जा सकता है। विचारों की स्वतत्रता से तथ्यो को समझने मे आसानी हो जाती है। इससे सच झूठ का निर्णय करना भी सरल हो जाता है, 'स्वतत्र वाद-विवाद मस्तिष्क को उत्तेजित करता है और व्यक्तित्व को ऊँचा उठाता है'। तथापि, राज्य घृणा और बदनामी फैलाने अथवा हिंसा के लिए व्यक्तियों को उत्तेजित करने की अनुमति नही दे सकता। अतएव, शाति और व्यवस्था की दृष्टि से इस अधिकार पर कुछ रोकें लगाई जाती हैं। चौथा सामाजिक अधिकार **सम्पत्ति सबधी** है। यदि नागरिकों को यह आश्वासन प्राप्त न हो कि वे अपने परिश्रम से जो धन उपार्जित करेंगे वह बदमाश और लुटेरे उनसे छीन नही लेंगे तो सारा सामाजिक जीवन ही गडबडा जाएगा। अतएव, व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों को निर्विघ्नता के साथ अपनी सम्पत्ति उपभोग करने का

अधिकार हो। पर इसका अभिप्राय यह नही है कि इस अधिकार पर राज्य कुछ नियत्रण न लगाए। इस प्रकार के नियत्रण सभी देशो और युगो में लगाए जाते रहे हैं। सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण का सामाजिक कल्याण से इतना घनिष्ठ सबध है कि राज्य इस विषय मे उदासीन नहीं रह सकता और उसे सामाजिक हित की दृष्टि से व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार पर नियत्रण लगाने पडते हैं। सोवियत सघ जैसे राज्यो मे उत्पादन के साधनों और उपकरणो के रूप मे व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार नही है अर्थात् कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति को अन्य व्यक्तियो के (आर्थिक) शोषण का साधन नही बना सकता। इसी प्रकार, कई पाश्चात्य देशो मे उत्तराधिकार पर बडे नियत्रण लगाए गए हैं और सरकार ऐसी दशा मे प्राय भारी 'उत्तराधिकार कर' लगाती है। यह इस सिद्धांत के आधार पर किया जाता है कि सभी नागरिको को अपनी योग्यता के अनुसार जीवकोपार्जन के अवसर मिलने चाहिए। किंतु किसी व्यक्ति को केवल इसलिए ऐशो-आराम के अवसर नहीं मिलने चाहिए कि उसके पूर्वज उत्तराधिकार मे उसके लिए बहुत सम्पत्ति छोड गए हैं। साथ ही, अनेक विद्वानो ने इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है कि यदि समाज मे आर्थिक विषमता होगी अर्थात् यदि कुछ लोग अत्यधिक अमीर और बहुत से लोग अत्यधिक निर्धन होंगे तो ऐसे समाज मे सच्चा लोकतत्र कभी नही चल सकता। अतएव, हमारी कर-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि एक ओर सभी नागरिको को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने के अवसर मिलें और दूसरी ओर किसी व्यक्ति के पास अत्यधिक सम्पत्ति न हो। इसी से सबधित पाचवाँ सामाजिक अधिकार स्वतत्र जीवकोपार्जन से सबधित है। किसी नागरिक को जाति, धर्म, लिंग, वर्ग आदि के कारण किसी व्यवसाय को करने की मनाही नही होनी चाहिए। इसका अर्थ यह नही है कि राज्य सभी व्यवसायो को करने की खुली छूट दे दे। उदाहरण के लिए जुआ खेलने, दास व्यवसाय चलाने, बच्चों और युवतियो का अपहरण और उनके क्रय विक्रय आदि असामाजिक व्यवसायों को चलाने की अनुमति नही दी जा सकती। हमारा सविधान व्यक्तियो को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय अपनाने की स्वतत्रता देता है। इसी प्रकार का एक छठवाँ सामाजिक अधिकार न्यूनतम आय का अधिकार कहलाता है। इस अधिकार से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ऐसे नागरिक को, जो काम करने के लिए उद्यत हो, या तो समाज काम दे अन्यथा उसके लिये पर्याप्त भोजन, वस्त्र, और स्वास्थ्यप्रद मकान आदि की व्यवस्था करे। किसी नागरिक के बेकार या बीमार होने की अवस्था मे एक साधारण जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक 'न्यूनतम आय' (भत्ते) की व्यवस्था होनी चाहिए। इसे आर्थिक सुरक्षा का अधिकार भी कहा गया है।

हमारा देश आर्थिक रूप से अभी इतना पिछड़ा हुआ है कि हम इस सुविधा को नहीं दे पाए। हमारे देश में आज भी दुर्भाग्यवश लाखों व्यक्तियों को बहुत निम्न जीवन-स्तर व्यतीत करने के लिए विवश होना पड़ता है।

इनके अतिरिक्त नागरिकों को समता का अधिकार भी मिलना चाहिए। इससे हमारा अभिप्राय यह है कि कानून की दृष्टि से सामाजिक समता और अवसर की समता हो अर्थात् कानून-प्रदत्त सुविधाओं से कोई व्यक्ति वंचित न रहे। किसी के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार न किया जाए। हमारे संविधान के अंतर्गत अस्पृश्यता को दंडनीय घोषित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब सत्तारूढ़ वर्ग ने अपने धार्मिक विचारों को अन्य लोगों पर लादने का प्रयत्न किया है। किंतु अब सभी आधुनिक देशों में धर्म-पालन की स्वतंत्रता दी जाती है। भारत इसी प्रकार का धर्मनिरपेक्ष (secular) राज्य है और राज्य द्वारा संचालित अथवा राज्य से सहायता-प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा देने की मनाही है। इसी प्रकार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकार संस्कृति और शिक्षा से संबंधित है। हमारे संविधान में प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को सुरक्षित करने का अधिकार दिया गया है। किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग के साथ भेदभाव करना गैर-कानूनी है। प्रत्येक वर्ग को अपनी इच्छानुसार शिक्षण संस्थाएँ बनाने का भी अधिकार है और उन्हें सरकार से आर्थिक सहायता पाने का भी समान अधिकार है। इनके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण अधिकार घूमने-फिरने का भी है, जिसकी सब नागरिकों को पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसके लिए अनावश्यक रोक-टोक अथवा प्रतिबंध नहीं होने चाहिए।

राजनीतिक अधिकार—वस्तुतः सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के मध्य कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। दोनों ही प्रकार के अधिकार सामाजिक कल्याण और सुयोग की समानता के सिद्धांतों पर आधारित हैं। डा० बेनीप्रसाद के मतानुसार वे एक दूसरे के सहायक हैं। "राजनीतिक अधिकारों के बिना सामाजिक अधिकार अरक्षित रहते हैं, और सामाजिक अधिकारों के बिना राजनीतिक अधिकारों का महत्त्व नष्ट हो जाता है। कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जिन्हें सामाजिक और राजनीतिक दोनों ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए, समूह अथवा समुदाय बनाने का अधिकार, सभा करने और भाषण देने का अधिकार आदि।

विचारों के प्रकाशन के लिए शांतिपूर्वक और निरस्त्र होकर सभा और प्रदर्शन आदि का अधिकार नागरिकों को मिलना चाहिए जिससे स्वतंत्रतापूर्वक वे अपने विचारों को जनता और सरकार के सम्मुख रख सकें। इसी से संबंधित

स्वतंत्र प्रकाशन का अधिकार भी है। यदि मुद्रण की स्वतंत्रता न होगी तो जनता के सम्मुख ठीक तथ्य और विचार प्रस्तुत नहीं किए जा सकेंगे। अतएव, भाषण व अधिकार के साथ ही साथ प्रकाशन की भी स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त नागरिकों को अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समुदाय बनाने का अधिकार भी होना चाहिए जिससे वे मिलकर सामान्य उद्देश्य के लिए कार्य कर सकें। किंतु इन सभी अधिकारों के उपयोग पर 'सामाजिक हित' की दृष्टि से प्रतिबंध लगाए जाते हैं जिससे 'विकास' और 'व्यवस्था' की प्रवृत्तियों में सामंजस्य बना रहे।

विशुद्ध राजनीतिक अधिकारों में मताधिकार सर्वप्रथम है। एक लोकतंत्रीय शासन में सभी वयस्कों को मताधिकार प्राप्त होना चाहिए जिससे वे समान रूप से सार्वजनिक कार्यों में भाग ले सकें। मताधिकार एक उत्तरदायित्व भी है और इसके विवेकपूर्ण प्रयोग पर सामाजिक कल्याण निर्भर है। अतएव, विदेशियों, नाबालिगों, पागलों, दिवालियों, और गुरुतम अपराधियों को प्रायः इस अधिकार से वंचित रखा जाता है। *इस अधिकार के साथ साथ* नागरिकों को निर्वाचित होने का अधिकार भी होना चाहिए। यह अधिकार मताधिकार का पूरक है। साथ ही, यह काम मतदान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे संविधान के अंतर्गत निश्चित आयु होने पर सभी मतदाताओं को पदों के लिए उम्मीदवार बनने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त पदाधिकार भी है जिससे हमारा *अभिप्राय यह है कि आवश्यक योग्यता होने पर व्यक्ति को पद*-ग्रहण करने का अधिकार होना चाहिए और इस संबंध में कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। इनके अतिरिक्त आवेदन का अधिकार भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि नागरिकों को किसी सरकारी आदेश से शिकायत है तो उसे यह अधिकार होना चाहिए कि वह आवेदन-पत्र भेजकर इस संबंध में जाँच करने का निवेदन करे। यह एक साधन है जिसके द्वारा नागरिक सरकारी कर्मचारियों के कार्यों का कुछ नियंत्रण कर सकते हैं। अंत में, विदेश यात्रा के समय राजकीय सहायता प्राप्त करने का अधिकार आता है जिसे सामाजिक और राजनीतिक दोनों ही प्रकार का अधिकार माना जा सकता है। नागरिकता का यह प्रमुख लक्षण भी है।

यह बात सदा ध्यान में रखने योग्य है कि सामाजिक और राजनीतिक अधिकार हमारे व्यक्तित्व के विकास और सामाजिक कल्याण के साधन हैं, साध्य नहीं। इनसे वे नागरिक ही लाभ उठा सकते हैं जो विवेकपूर्ण ढंग से इनका उपयोग करते हैं। यह बात मुख्य रूप में राजनीतिक अधिकारों पर लागू होती है। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि राजनीतिक रूप से अविकसित लोगों को

ये अधिकार नही दिए जाने चाहिए, अन्यथा लोकतन्त्रीय व्यवस्था की नीव हिल जाने का भय हो जायगा। किंतु इसके प्रत्युत्तर मे यह पूछा जा सकता है कि यदि एक लोकतंत्रीय व्यवस्था भी अनेक अशिक्षित व्यक्तियो को मताधिकार से वंचित कर देती है तो उसे 'लोकतंत्र' की सज्ञा कैसे दी जा सकती है और फिर उनका विकास कैसे होगा ?

4. आज्ञापालन की समस्या

अधिकारो का विवेचन करते समय हमने देखा कि उनके साथ कुछ उत्तरदायित्व भी हैं। सबसे बडी बात यह है कि नागरिको को दूसरो के समान अधिकार का आदर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, एक लोकतंत्रीय व्यवस्था मे कानूनो और राज्यादेशो का पालन होना चाहिए। यही नही, नागरिको को देश के प्रति अनुरक्त होना चाहिए। उन्ह राजकीय करो को देने मे आनाकानी नही करनी चाहिए और शासन के कार्यों मे सहयोग देने के लिए तत्पर रहना चाहिए। अधिकार और कर्तव्यो के घनिष्ठ संबधो की व्याख्या करते हुए श्रीनिवास शास्त्री ने कहा है कि 'कर्तव्यो मे परिणत हुए बिना अधिकार अधिक काम के नही होते'। वस्तुत. अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे पर आश्रित हैं। वे एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। निजी दृष्टि से देखने से वे अधिकार के रूप मे होते हैं, दूसरो के दृष्टिकोण से वही हमारे कर्तव्य बन जाते हैं।

आज्ञापालन क्यो ?

कानूनो का पालन सगठित समाज के लिए आवश्यक है। राज्यादेशो का पालन न करने से राज्य का स्थिर रहना कठिन हो जाएगा। किंतु प्रश्न यह उठता है कि कानूनो और राज्यादेशो का पालन नागरिक क्यो करें ? विद्वानों ने इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिए हैं। हॉब्स के मतानुसार, वे शक्ति के भय अथवा दबाव के कारण ऐसा करते हैं। लॉक के मतानुसार, इसका कारण व्यक्तिगत हित है। रूसो के अनुसार, राज्य का आधार 'सामान्य इच्छा' है और व्यक्ति इसलिए आज्ञापालन करते हैं कि सामान्य हित के लिए यह आवश्यक है। हेनरी मेन के अनुसार, लोगों को आज्ञापालन की आदत पड गई है।

लार्ड ब्राईस के मतानुसार, शक्ति का भय, उपयोगिता, सामान्य इच्छा, आदत के अतिरिक्त आज्ञापालन के और भी कई कारण हैं[1]। इनमे वह सर्वप्रथम स्थान आलस्य को देता है। मनुष्य सरल मार्ग अपनाना पसंद करते हैं और इसलिए आज्ञापालन मे उन्हें सुविधा दिखाई देती है। इसका दूसरा कारण

---

1 *Studies in History and Jurisprudence*, खंड 2, पृष्ठ 463.

कारण आदर-भाव है। ऐसा भाव प्रेम, श्रद्धा, यश आदि पर आधारित हो सकता है। तीसरा कारण सहानुभूति अथवा अनुकरण है। इनके अतिरिक्त विवेक के कारण भी मनुष्य राज्यादेशों को मानने के लिए तैयार हो जाता है। अर्थात् वह यह स्वीकार करता है कि आज्ञाओं का उल्लंघन करने से समाज में गड़बड़ फैल जायगी जो उसके और समाज दोनों के लिए हानिकारक होगी। अनुशासन भी आज्ञापालन का पाँचवाँ कारण है। अनुशासन की भावना के कारण व्यक्ति यकायक राज्य का विरोध करने के लिए तैयार नहीं होते। इसके अतिरिक्त, लोकमत का भी नागरिकों के व्यवहार पर बहुत प्रभाव पड़ता है। लास्की का मत है कि स्वेच्छा से राज्य की आज्ञा का पालन हम उसी सीमा तक करते रहते हैं जहाँ तक हमें यह प्रतीत हो कि राज्य हमारे हित के कार्य कर रहा है। इसे परखने का अधिकार स्वयं नागरिक को स्वयं है। यदि नागरिक इस परिणाम पर पहुँचे कि राज्य उसके हित की उपेक्षा कर रहा है तो कोई कारण नहीं कि वह राज्य के विरोध में आवाज न उठाए।

भविष्य में आज्ञापालन का प्रश्न—आधुनिक युग में हमारा जीवन व्यवस्थित हो गया है जिससे शनैः शनैः हिंसा की भावना कम होती जा रही है। शिक्षा और ज्ञान के प्रसार से हममें सौजन्यता आ गई है। वयस्क मताधिकार के कारण नागरिकों को सार्वजनिक मामलों में रुचि लेने के अवसर मिल गए हैं। तथापि, सत्ता के प्रति लोगों का आदर-भाव कम नहीं हुआ है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए ब्राइस इस परिणाम पर पहुँचे कि आज स्वतन्त्रता का मूल्य इसलिए कम हो गया है कि स्वतन्त्रता से जिन परिणामों की आशा की जाती थी वे फलीभूत नहीं हुए। प्रसार और प्रचार के साधनों की उन्नति के साथ लोकमत को प्रभावित करने के लिए सरकार तरह-तरह के उपाय बनाती है। अतएव, नागरिकों के राज्यादेशों का पालन करने से इंकार करने का भय जाता रहा। वस्तुतः लास्की के मतानुसार, आज समस्या इससे उल्टी है। लोगों को चुपचाप अन्याय सहन करने की आदत सी पड़ गई है। उनकी सतर्कता में कमी आ गई है और उदासीनता की प्रवृत्ति बढ़ गई है। साथ ही यह डर भी बढ़ रहा है कि सतर्कता के अभाव में कहीं अज्ञानी नागरिक अपनी स्वतन्त्रता से हाथ न धो बैठें। लास्की के कथनानुसार, स्वतन्त्रता का रहस्य साहस में निहित है, और साहस के लिए यह आवश्यक है कि नागरिक जागरूक बने रहें। किंतु जब तक यह जागरूकता संगठित रूप धारण न करे वह निरर्थक है।

हमारा अभिप्राय यह है कि सामाजिक और राजकीय बुराइयों का विरोध होना चाहिए और जितनी बड़ी बुराई हो उसका उतना ही तीव्र विरोध होना चाहिए। लास्की के कथनानुसार, स्वस्थ देशभक्ति निष्क्रिय नहीं होती, अपितु सक्रिय और रचनात्मक होती है। लॉक पहला अंग्रेज चिंतक था जिसने संविधानी

सरकार के महत्व को समझा और सरकार को परिवर्तित करने के अधिकार पर बल दिया। उसके कथनानुसार, सरकार एक ट्रस्ट के रूप में है और सामान्य हित के लिए काम न करने पर उसे हटाया अथवा बदला जा सकता है। रूसो ने भी कहा कि अनुत्तरदायी सरकार को बदल देना नागरिकों का एक बुनियादी अधिकार है। ग्रीन के कथनानुसार, जहाँ राजकीय कानून व्यक्ति की सामाजिक हित की भावना के विरोधी हों तो नागरिक को राज्य के प्रति विद्रोह करने का अधिकार है। लेकिन वह कहता है कि यह एक बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है और सोच-समझकर किया जाना चाहिए। सबसे पहले हमें शांतिपूर्ण संविधानी उपाय अपनाने चाहिए। विद्रोह करने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि क्या वर्तमान दशा इतनी बुरी है कि उसके बदले अराजकता की जोखिम उठाई जाए? यही नहीं, विद्रोह का झंडा उठाने से पहले हमें समाज में अपने विचारों का प्रचार करके मत-परिवर्तन का सतत् प्रयत्न करना चाहिए। यदि उसमें सफलता मिल जाती है तो लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में हमारा मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जाता है क्योंकि नए चुनाव होने पर हमारे विचारों के अनुकूल नई सरकार स्थापित हो जायगी और विद्रोह करने की कोई आवश्यकता न रहेगी। किंतु यदि शासन लोकतन्त्रीय न हो अथवा सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाने पर भी राज्य आनाकानी करे, तो ग्रीन के मतानुसार, ऐसी अवस्था में विद्रोह करना नागरिकों का कर्तव्य हो जाता है।

गांधीजी का अंतरात्मा में पूर्ण विश्वास था। उनका कहना था कि यदि किसी व्यक्ति का अंतःकरण उसे किसी बुराई के प्रति विद्रोह करने का आदेश देता है तो उसको अवश्य ऐसा करना चाहिए। किंतु उनका दृढ़ विचार था कि इसके लिए अहिंसात्मक मार्ग अपनाना चाहिए और अपने विपक्षियों के हृदय-परिवर्तन के लिए यत्न करना चाहिए।

लास्की गांधीजी के इस विचार से सहमत है कि चाहे व्यक्ति नितान्त अकेला हो, उसे सामाजिक बुराइयों का विरोध करने का पूर्ण अधिकार है। लेकिन सबसे पहले उसे यह निर्णय कर लेना चाहिए कि क्या राज्य जो कुछ कर सकता है उसे करने में वह वस्तुतः आनाकानी कर रहा है? और क्या जो कुछ वह करना चाहता है उससे स्थिति में सुधार होगा? जिन परिवर्तनों के लिए वह प्रयत्नशील है क्या उनसे उन उद्देश्यों की प्राप्ति हो जायगी, जिनकी ओर उसका लक्ष्य है? यही नहीं, लास्की का कहना है कि विरोध बुराई के समानुपात में होना चाहिए। उसके मतानुसार, यदि ग्रीन द्वारा बताई हुई सभी शर्तें पूरी हो जाएँ तो विद्रोह का झंडा उठाना नागरिकों का कर्तव्य हो जाता है। लेकिन सफलता की दृष्टि से ऐसा विद्रोह संगठित रूप में किया जाना चाहिए,

अन्यथा सफलता की आशा बहुत कम हो जाती है। इसके अर्थ यह हुए कि इस प्रकार का विद्रोह तभी करना उचित होगा जबकि किसी समाज का एक विशेष वर्ग या भाग यह समझें कि उसकी दृष्टि मे राज्य के कार्य अथवा नीतियाँ उसके इतने अहित मे है कि चुप रहने से अधिक हानि की सम्भावना है।

●

खण्ड तीन

शासन व्यवस्था

सार बात यह है कि लोकतन्त्रीकरण उन दशाओ को उत्पन्न करने मे सहायता देता है जिन पर विशुद्ध लोकतन्त्र निर्भर है और जिनके बिना विपरीत दशायें बनी रहती हैं। अन्य प्रकार की व्यवस्थाओ की अपेक्षा सीमित लोकतन्त्र मे भी शांति, ज्ञान के प्रसार और आर्थिक कल्याण की दिशाओ मे तेजी से उन्नति होती है।

—बेनीप्रसाद

11
संविधान का स्वरूप और वर्गीकरण

> अरस्तू के अनुसार सर्वोपरि सत्ताधारी वर्ग का स्वरूप राजनीति का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है संक्षेप में हमारी राजनीति उससे कहीं अधिक प्रगतिशील और कम गतिहीन है। इसका एक बडा कारण यह है कि हमारे राजनीतिक रूपों तथा सविधानों में परिवर्तन अधिकतर ऊपरी होते हैं।
>
> —सी० एच० मैक्लिवेन

1. सविधान का अर्थ और विषयवस्तु

आधुनिक राज्यो मे प्राय एक निश्चित राज्य व्यवस्था होती है। कुछ पिछडे देशो को छोडकर शेष सभी देशो मे शासन का सचालन निश्चित नियमो और सिद्धातो के अनुसार होना है। व्यक्तिगत शासन का समय अब लद चुका है। यह युग लोकतत्रवाद का है। अतएव लोगो की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि सविधान (Constitution) मे उनके कर्तव्यो, अधिकारो, राज्य के सगठन तथा उसके कार्यों की स्पष्ट व्याख्या रहे। यही नही, राज्य का सगठन भी अब अपेक्षाकृत जटिल हो गया है। अतएव, उसके विभागो के निर्माण, कार्यों, और उनके पारस्परिक सबधो का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक हो गया है जिससे भ्रम अथवा मतभेद उत्पन्न न हों। इसके अतिरिक्त, अब लिखित कानूनो और सविधानों को पसद किया जाता है। इन कारणो से अब प्राय सभी आधुनिक देशो के निश्चित सविधान होते हैं। जैलनैक के कथनानुसार, इसके बिना किसी आधुनिक राज्य की कल्पना नही की जा सकती।

इसका आशय यह नही है कि जहाँ सविधान होगा वहाँ राज्य का होना भी अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, बहुत लबे समय तक भारत का अपना सविधान था, किन्तु 15 अगस्त, 1947 ई० को स्वतन्त्र हो जाने के बाद ही वह एक

'राज्य' बना। संविधान होने का अर्थ यह नहीं है कि उस देश का शासन लोकतन्त्रीय है। उदाहरण के लिए, हिटलर और मुसोलिनी की सरकारें संविधानी होने पर भी लोकतन्त्रीय न थी। इसी प्रकार स्वाधीनता प्राप्त करने के पूर्व, भारत की सरकार संविधानी होने पर भी न तो लोकतन्त्रीय थी और न स्वतन्त्र। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधानी सरकार के लिए किसी देश का स्वतंत्र होना अथवा उसका लोकतन्त्रीय होना आवश्यक नहीं है।

परिभाषा—संविधान (Constitution) शब्द के भौतिक और कानूनी—दोनों अर्थ होते हैं। भौतिक रूप में इससे हमारा अभिप्राय यह है कि राज्य में निश्चित भूभाग, जनता, संगठन और प्रभुसत्ता होने चाहिए। इसके कानूनी रूप में वे सभी घोषणाएँ, कानून और नियम आ जाते हैं, जो राज्य के गठन, उसके कार्यों, उद्देश्यों और नागरिकों तथा समूहों के साथ उसके संबंधों को निर्धारित करते हैं। अतएव, गिलक्राइस्ट के शब्दों में संविधान उन लिखित अथवा अलिखित नियमों और कानूनों के समूह को कहते हैं जो सरकार के संगठन, सरकार के विभिन्न अंगों में उसके कार्यों के वितरण और उन व्यापक सिद्धांतों का निरूपण करते हैं जिनके अनुसार ये अधिकार प्रयुक्त किए जाते हैं। गिलक्राइस्ट की इस परिभाषा में नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों तथा सरकार और नागरिकों के संबंधों का उल्लेख नहीं किया गया। डा० स्ट्रोंग के अनुसार, संविधान 'उन सिद्धांतों का समूह है जिनके अनुसार राज्य के अधिकारों, नागरिकों के अधिकारों, और दोनों के संबंधों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है'। गार्नर ने संविधान की तीन प्रमुख बातें बताई हैं स्वतंत्रता, सरकार और प्रभुसत्ता का गठन। पहले भाग में नागरिकों के बुनियादी अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन होता है। साथ ही, सरकारी सत्ता को इस प्रकार सीमित किया जाता है कि नागरिक अपनी स्वतंत्रता का पूरा उपभोग कर सकें। दूसरे में सरकार के संगठन, उसके विभिन्न अंगों के अधिकार, शासन-संबंधी नियम और सिद्धांत, तथा मतदाताओं का उल्लेख होता है। तीसरे में यह बताया जाता है कि संविधान में किस प्रकार परिवर्तन किए जा सकते हैं।

संविधान का प्रारम्भ—आधुनिक संविधानों का प्रारम्भ उन समझौतों से हुआ है जिन्हें व्यक्तियों ने नए उपनिवेश स्थापित करते समय किए थे। तत्पश्चात् वे चार्टर (Charters) आते हैं जिन्हें साम्राज्यवादी देशों ने अपने उपनिवेशों अथवा अधिकृत देशों को दिया। किन्तु सर्वप्रथम लिखित राजकीय संविधान सन् 1776 ई० में अमेरिकन उपनिवेशों ने स्वतंत्रता की घोषणा करने के बाद बनाया। इसके बाद यह सिलसिला चलता रहा है, यहाँ तक कि ब्रिटेन को छोड़कर अब लगभग अन्य सभी राज्यों में लिखित संविधान हैं।

नए सविधान कई प्रकार से बने हुए हैं । कुछ को साम्राज्यवादी देशो ने स्वेच्छापूर्वक दिया । कुछ देशो मे जनता के आदोलन से विवश होकर शासकों ने सविधान बनाया । कुछ देशो मे क्राति अथवा विद्रोह के बाद स्वतत्र सविधान बनाए गए जिनका निर्माण सविधान परिषद् (Constituent Assembly) अथवा विधानाग (Legislature) द्वारा हुआ ।

2. वर्गीकरण

सविधानो के वर्गीकरण का आधार एक न होकर कई हैं । इनमें से प्रमुख हैं प्रथम, विकसित और निर्मित सविधान , द्वितीय, लिखित और अलिखित सविधान , तृतीय, नम्य (लचीला) और कठोर सविधान , तथा, चौथे, एकात्मक और सघीय सविधान ।

विकसित और निर्मित सविधान—विकसित (Evolved) सविधानों से हमारा अभिप्राय यह है कि इनका धीरे-धीरे विकास हुआ । ऐसे सविधान एक समय भलीभाँति सोच विचार करके नही बनाए जाते । अतएव, अभिसमयो (Conventions) का इनमे विशेष स्थान और महत्त्व होता है । ब्रिटेन का सविधान इसी प्रकार का है । ऐसा सविधान अत्यधिक लचीला होता है और आवश्यकतानुसार इसे परिवर्तित किया जा सकता है । इसके विपरीत निर्मित (Enacted) सविधान अच्छी तरह सोच समझ कर बनाए जाते हैं ।

कोई सविधान पूर्णत: निर्मित अथवा विकसित नही होता । निर्मित सविधानो मे भी शनै शनै विकास होता रहता है और विकसित सविधानों मे भी कुछ न कुछ निर्मित अश होते हैं । अत यह वर्गीकरण सविधान के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश नही डालता ।

लिखित और अलिखित सविधान—लिखित सविधान प्राय: एक ही समय बनाया जाता है, किंतु ऐसा होना अनिवार्य नही है । फ्रास के तृतीय जनतत्र का सविधान तीन पृथक् बुनियादी कानूनों के रूप मे था । लिखित सविधानो का अब विशेष आदर किया जाता है और उसे 'सर्वोपरि कानून' की सज्ञा प्राप्त है। उसमें परिवर्तन करने का ढग भी भिन्न और विशिष्ट होता है । प्राय इसके अतर्गत नागरिकों के अधिकारो की घोषणा भी सम्मिलित कर दी जाती है जिससे इन अधिकारो को विशेष सरक्षण प्राप्त हो जाते हैं । लिखित होने के कारण यह निश्चित, स्पष्ट और स्थिर होते हैं । किंतु दूसरी ओर इनके समय के प्रतिकूल हो जाने की सम्भावना रहती है । यदि लिखित सविधान साथ में कठोर (rigid) भी हों, तो उनमें सुगमतापूर्वक परिवर्तन नही हो पाते ; और जो सविधान समय की आवश्यकता के अनुसार मोडे नही किए जा सकते प्राय वे पलट

दिए जाते हैं। अतः अत्यधिक कठोरता भी संविधान का विशेष गुण नहीं माना जा सकता।

अलिखित संविधान से हमारा आशय यह है कि उसका अधिकांश भाग लिखा हुआ नहीं होता। इस प्रकार का संविधान प्रायः विकसित होता है। इस प्रकार के विकसित और अलिखित संविधान का ब्रिटेन एक अनुपम उदाहरण है। यह बहुत लचीला भी होता है और साधारण कानूनों के अनुसार इसे मनचाहे ढंग से मोड़ा जा सकता है। अतएव, तत्कालीन स्थिति में सरलता से इसे परिवर्तित किया जा सकता है। किन्तु ऐसे संविधानों से जनता को यह डर भी रहता है कि कहीं कोई महत्वाकांक्षी व्यक्ति इसकी नम्यता (flexibility) का अनुचित प्रयोग न करने लगे। अतः केवल राजनीतिक रूप से प्रौढ़ जनता ही इसे सफलतापूर्वक चला सकती है।

गार्नर, स्ट्रौंग, लीकौक, गैटिल आदि विचारकों ने इस वर्गीकरण की आलोचना की है। उनके मतानुसार, न कोई संविधान पूर्णतः लिखित होता है और न अलिखित। अलिखित और विकसित संविधानों में भी समय पाकर अनेक लिखित बातों का समावेश हो जाता है। ब्रिटेन के संविधान में अब काफी लिखित अंश हो गए हैं; जो बातें अभिसमयों पर आधारित थीं, धीरे-धीरे उन्हें लिखित रूप मिल गया है। तथापि, अब भी उसमें अन्य संविधानों की अपेक्षा लिखित भाग कम है। दूसरी ओर, लिखित संविधानों में सभी बातें पूर्णतः वर्णित नहीं होतीं। चाहे उन्हें कितना ही विशद बनाने का यत्न किया जाए, समयानुसार नई आवश्यकताएँ उत्पन्न हो ही जाती हैं। इन्हें पूरा करने के लिए या तो कानूनी परिवर्तनों का आश्रय लिया जाता है अथवा कुछ नए अभिसमय बना लिए जाते हैं अथवा संविधान की नई व्याख्याएँ दे दी जाती हैं। ब्राइस के अनुसार, लिखित संविधान कुछ वर्षों में ही व्याख्याओं, अभिसमयों, प्रथाओं, और निर्णयों से इतने लद जाते हैं कि केवल प्रारम्भिक संविधान के पठन से प्रचलित संविधान की पूरी जानकारी नहीं हो पाती। अतएव, उनका मत है कि लिखित और अलिखित संविधानों का यह भेद भी गुणात्मक नहीं है।

नम्य और कठोर संविधान—इस वर्गीकरण का आधार यह है कि संविधान में परिवर्तन और संशोधन साधारण कानूनों के समान हो सकते हैं अथवा नहीं? यदि ऐसा हो सकता है कि तो संविधान को हम नम्य कहेंगे और यदि नहीं हो सकता तो कठोर कहेंगे। परन्तु संविधान की कठोरता की मात्रा कम या अधिक हो सकती है। कहीं-कहीं पर संशोधन का ढंग इतना कठोर और पेचीदा होता है कि परिवर्तन लगभग दुष्कर हो जाता है। किन्तु अधिकतर संविधानों में संशोधन करने का ढंग साधारण कानून बनाने के ढंग से भिन्न होने पर भी बहुत कठिन

नही होता। तथापि दोनो ही अवस्थाओं मे सविधान कठोर कहलायगा।

इस भेद से हमे इस परिणाम पर नही पहुँचना चाहिए कि कठोर सविधानो मे कम सशोधन होते हैं और नम्य सविधानो में अधिक। वस्तुत परिवर्तनो का कम अथवा अधिक होना जनता की राजनीतिक मनोवृत्ति, सविधान की व्यापकता, और व्याख्या करने वाली सत्ता के रुख पर निर्भर है। उदाहरण के लिए यद्यपि ब्रिटेन का सविधान अत्यत लचीला है तथापि उसमे बहुत कम परिवर्तन होते हैं। दूसरी ओर सयुक्त राज्य (अमेरिका) का सविधान अत्यत कठोर होने पर भी उसकी व्यापकता और व्याख्याकारो के रुख के कारण, बिना कानूनी सशोधन किए भी, उसकी ध्वनि और भावना मे सुगमता से परिवर्तन हो जाते हैं।

नम्य सविधान के अनेक लाभ हैं। सर्वप्रथम, इसे सक्टकाल मे आवश्यकतानुसार नया मोड दिया जा सकता है, और सक्टकालीन अवस्था की समाप्ति पर वह फिर ज्यो का त्यो अपना पुराना रूप धारण कर लेता है। दूसरे, समयानुसार इसमें परिवर्तन होते रहते है। इसके विपरीत कठोर सविधानो मे परिवर्तन की कठिनाई के कारण थोडे समय के बाद वे अनुदार हो जाते हैं। तीसरे, बदलते रहने के कारण ये लोकमत और समाज की आवश्यकताओ के अनुकूल बने रहते हैं जबकि कठोर सविधानो के लिए यह कार्य दुष्कर होता है। चौथे, क्योकि यह सुगमता से परिवर्तित हो जाते हैं अत उनमे बराबर सुधार करने की आवश्यकता नही होती, जबकि कठोर सविधानो को बिना क्राति के बदलना कठिन हो जाता है। पाँचवे, इनकी व्याख्या करने के लिए समय, शक्ति और धन का दुरुपयोग नही करना पडता क्योकि विधानाग का मत सर्वोपरि और मान्य होता है। इसके विपरीत, कठोर सविधानो की व्याख्या प्राय देश के सर्वोच्च न्यायालय करते हैं जिसमे काफी समय, शक्ति और धन का व्यय होता है। इस प्रकार नम्य सविधानो के जो गुण हैं, एक अर्थ मे कठोर सविधानो के वही दोष होते हैं।

कठोर सविधानो के गुण और नम्य सविधानो के दोष भी एक समान हैं। प्रथम, कठोर सविधानो को सुगमता से बदला नही जा सकता। अत उनका आदर अधिक होता है और उनमे स्थायित्व भी। नम्य सविधानो के समान इनमे यह डर नही रहता कि कोई महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति सविधान को उलट कर अपना निरकुश शासन कायम कर लेगा। दूसरे, नम्य सविधानो के समान इनमे अनिश्चितता और अस्पष्टता भी नही होती। साधारण पढा लिखा व्यक्ति भी इन्हे समझ सकता है। तीसरे, नम्य सविधानो को केवल राजनीतिक रूप से प्रौढ व्यक्ति सफलतापूर्वक चला सकते हैं जबकि कठोर सविधानो को राजनीतिक रूप

से अविकसित नागरिक भी काम मे ला सकते हैं। चौथे, इनमें नागरिकों के अधिकारों की घोषणा को स्थान देकर उन्हें विशेष संरक्षण दिया जा सकता है। दूसरी ओर, नम्य संविधानों मे यदि ऐसी घोषणा हो तो उससे विशेष लाभ नही होता क्योंकि सरकार जब चाहे उसे वापस ले सकती है। पांचवे, इसके माध्यम से अल्पसख्यकों के हितो को भी संरक्षण दिया जा सकता है। छठे, इस प्रकार के संविधान का संघीय (federal) शासन के लिए विशेष महत्त्व है क्योंकि इस प्रकार की सरकार मे यह आवश्यक है कि संघीय सरकार और प्रादेशिक सरकारों की शक्तियो का विभाजन सुस्पष्ट और स्थायी हो और साथ ही इस विभाजन को संविधानी संरक्षण प्राप्त हो। यदि संविधान नम्य हो तो इस प्रकार की कोई गारटी नही दी जा सकती।

एकात्मक और संघीय संविधान—यह भेद शासन के स्वरूप पर निर्भर है। यदि किसी राज्य मे राजसत्ता एक ही स्थान पर केंद्रित है तो इस प्रकार का शासन एकात्मक (Unitary) कहलाता है और उसका संविधान भी एकात्मक कहलाएगा। इसके विपरीत, यदि किसी देश मे दो प्रकार की सरकारें हों केंद्रीय अथवा संघीय और प्रादेशिक, और इन सरकारो के कार्य निश्चित और स्पष्ट रूप से बटे हुए हो और अपने अपने क्षेत्र मे ये दोनो ही पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो, तो ऐसी सरकार और उसके संविधान को संघीय कहते हैं। वस्तुत यह भेद सरकारो का है और उसके अनुरूप संविधानों मे भी यह भेद लक्षित होता है। अत सरकारो का वर्गीकरण करते समय हम इस प्रभेद पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

3. संविधान का विकास और संशोधन

संविधान का विकास केवल औपचारिक ढग से नही होता, वह अन्य रूपो मे भी विकसित हो सकता है। अनौपचारिक ढगों में सबसे पहले अभिसमयों (conventions) और प्रथाओं का स्थान है। विद्वान लेखको ने इन्हे राजनीतिक क्रीडा के लिए आवश्यक नैतिक नियमो की सज्ञा दी है। उनके कथनानुसार, इस प्रकार के अभिसमय और प्रथाएं विभिन्न राजनीतिक दलों की स्वीकृति से और सुविधा का ध्यान रखते हुए लोकहित मे बनती हैं, और जब तक सभी दल इनके सबध मे एकमत न हो, ये मान्य नहीं होतीं। इनका सबसे बडा लाभ यह है कि इनकी सहायता से, बिना औपचारिक संविधानी संशोधन किए, संविधान की नई व्याख्या की जा सकती है। संविधान के विकास का एक दूसरा ढग व्याख्या है। संविधान की अधिकृत व्याख्या का अधिकार प्राय न्यायालयों को दिया जाता है। किंतु जब तक कोई प्रश्न न्यायाधीशों के सम्मुख प्रस्तुत

नहीं होता, कार्यांग अथवा शासन के अन्य अंगों द्वारा दी हुई व्याख्याएँ चालू रहती हैं। इन व्याख्याओं तथा न्यायाधीशों के निर्णयों द्वारा भी संविधान में काफी परिवर्तन होते रहते हैं।

इनके अतिरिक्त, प्रत्येक संविधान का अपना औपचारिक संशोधन का ढंग होता है। स्विटजरलैंड, संयुक्त राज्य (अमेरिका) और भारत के संविधान अपेक्षाकृत कठोर होने के कारण इनकी संशोधन की विशिष्ट विधियाँ हैं। भारतीय संविधान में संशोधन के लिए संसद के किसी सदन में विधेयक प्रस्तुत किया जा सकता है और उसे दोनों सदनों की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से और सदनों में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से उसे पारित होना चाहिए, तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाएगा और ऐसी अनुमति मिल जाने पर संविधान में संशोधन हो जाएगा। यदि संशोधन का संबंध राष्ट्रपति, संघ तथा राज्यों की कार्यपालिका की शक्ति, संघ तथा राज्यों के न्यायालयों, संघ तथा राज्यों के विधायी संबंधों, संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व आदि से है तो राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए उपस्थित किए जाने के पूर्व उस संशोधन के लिए कम से कम आधे राज्यों के विधान मंडलों का समर्थन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों में संशोधन करने के अपेक्षाकृत सरल ढंग रखे गए हैं। उदाहरण के लिए, राज्यों (प्रदेशों) की सीमाओं में परिवर्तन करने के लिए, संबंधित राज्यों के विधान-मंडलों की सम्मति प्राप्त करने के पश्चात् संसद कानून द्वारा संशोधन कर सकती है। इसके अतिरिक्त, अल्पकालीन और अस्थायी व्यवस्थाओं को भी संसद इच्छानुसार कानून बनाकर बदल सकती है। इस प्रकार भारतीय संविधान में विभिन्न प्रकार के अनुच्छेदों को विविध रूप की कठोरता प्रदान की गई है।

उत्तम संविधान

साधारणतः संविधान वही उत्तम समझा जाना चाहिए जो अपने देश की सभी आवश्यकताओं को पूरा करे। तथापि उत्तम संविधान के कुछ लक्षण ये हैं उसका संक्षिप्त होना, निश्चितता और स्पष्टता, व्यापकता, नम्यता, नागरिक अधिकारों का उचित संरक्षण, और समयानुकूलता। गेटिल के मतानुसार, 'संविधान को इतना नम्य होना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर वह सुगमता से परिवर्तित हो सके, परन्तु उसका संशोधन इतना सरल भी नहीं होना चाहिए कि उसका स्थायित्व ही नष्ट हो जाए'।

12
सरकार का वर्गीकरण

> अधिकतर आधुनिक लेखक राज्यों का वर्गीकरण करते समय सर्वोपरि कानूनी शक्ति की सामान्य स्थिति के अतिरिक्त सरकारों के संगठन, और व्यवस्था के विशिष्ट लक्षणों पर भी ध्यान रखते हैं।
>
> —स्टीफन लीकॉक

पुराने विचारक राज्य और सरकार के भेद पर ध्यान नहीं देते थे। अतएव उन्होंने राज्यों का वर्गीकरण किया है। वस्तुत राज्यों का वर्गीकरण जनसंख्या क्षेत्रफल और प्रभुसत्ता के आधार पर नहीं किया जा सकता, केवल सरकार के संगठन के आधार पर किया जाता है। अत आधुनिक लेखक इसे शासन प्रणालियों अथवा सरकारों का वर्गीकरण कहना अधिक संगत समझते हैं।

1. अरस्तू का वर्गीकरण

अरस्तू (384–322 ई० पू०) के नाम से जो वर्गीकरण प्रचलित है, वस्तुतः वह उसके समय के पहले से ही प्रचलित था। अरस्तू ने केवल उसे थोड़ा सा हेर-फेर कर नया रूप दे दिया और तभी से वह उसके नाम से चला आ रहा है। सर्वप्रथम, वह राज्य के ध्येय पर विचार करता है। उसके मतानुसार यदि राज्य का ध्येय सामान्य हित है, तो ऐसे राज्य 'सामान्य' (normal) कहलायेंगे और जिनका ध्येय वर्गहित है वे विकृत (perverted) राज्य कहे जायेंगे। इसके अतिरिक्त, अरस्तू ने वर्गीकरण का दूसरा आधार यह माना है कि राज्यसत्ता किस वर्ग (section) के हाथ है। इन दोनों भेदों के आधार पर उसने तीन सामान्य राज्य और तीन विकृत राज्यों का वर्णन किया है। सामान्य राज्यों में उसने एक योग्य व्यक्ति का शासन अथवा राजतंत्र (monarchy) कुछ व्यक्तियों का

शासन अथवा कुलीनतन्त्र (Aristocracy) और अनेक व्यक्तियों का शासन अथवा लोकतन्त्र का नाम लिया है। कुलीनतन्त्र में सत्ता गुणी अथवा कुलीन व्यक्तियों के हाथों में होती है और लोकतन्त्र सभी स्वतन्त्र (*free-born*) नागरिकों के हाथ में जो प्रायः निर्धन होते हैं। विकृत राज्यों में इसी प्रकार एक व्यक्ति के शासन को तानाशाही (Tyranny), कुछ व्यक्तियों के शासन को अल्पतन्त्र (Oligarchy) और बहुतों के शासन को भीड़-शासन का नाम दिया है (अरस्तू ने यह शब्द प्रयुक्त नहीं किया, किंतु उसके भावों का यही विशुद्ध रूपान्तर है)। उसके अनुसार अल्पतन्त्र में सत्ता प्रायः धनिक वर्ग में निहित होती है जो अपने स्वार्थ में उसे प्रयुक्त करते हैं। सामान्य राज्यों में उसने राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ और लोकतन्त्र को निकृष्ट बताया है, किंतु विकृत राज्यों में वह भीड़-शासन को प्रथम स्थान देता है और तानाशाही को निकृष्ट समझता है। कुलीनतन्त्र और अल्पतन्त्र दोनों ही दशाओं में मध्यवर्ती होते हैं।

अरस्तू का विश्वास था कि अनेक कारणों से शासन प्रणालियों में परिवर्तन होते रहते है और परिवर्तनों का एक चक्र-सा चलता रहता है। इस चक्र में राजतन्त्र को वह प्रथम स्थान देता है जिसके विकृत हो जाने पर तानाशाही स्थापित हो जाती है। उससे ऊब कर लोग विद्रोह कर देते है और कुलीनतन्त्र कायम हो जाता है। यह भी समय पाकर अल्पशासन में परिवर्तित हो जाता है, जिसे पलट कर लोग लोकतन्त्र स्थापित कर देते हैं। जब लोकतन्त्र में अव्यवस्था फैल जाती है तो वह भीड़-शासन में बदल जाती है। अत में, उससे भी तंग आकर जनता फिर एक योग्य व्यक्ति को राजा मान लेती है, और यह क्रम फिर चालू हो जाता है[1]।

यह वर्गीकरण हमारा ध्यान राज्य के ध्येय और सत्ताधारी वर्ग की सामाजिक स्थिति की ओर दिलाता है। तथापि परिस्थितियाँ अब इतनी बदल चुकी हैं कि यह वर्गीकरण हमारे विशेष काम का नहीं है। जमाना अब नगर-राज्य और प्रत्यक्ष शासन का न होकर देश-राज्य और प्रतिनिधिक संस्थाओं का है। अत. अरस्तू के अर्थ में किसी विशुद्ध शासन-प्रणाली का मिलना असम्भव है। राजतन्त्र भी अब सीमित हो गए हैं। कुलीनतन्त्र और अल्पतन्त्र का भेद अब समाप्त हो गया है। वस्तुतः इस प्रकार की सरकारें अब नहीं रही अथवा यों कहिए कि जिन्हें हम आज लोकतन्त्रीय शासन कहते हैं, सम्भवत वह अरस्तू की भाषा में कुलीनतन्त्र अथवा अल्पतन्त्र माने जाएँ। इस वर्गीकरण के अनुसार ब्रिटेन, अफगानिस्तान और नेपाल एक ही श्रेणी में आ जाते हैं और दूसरी ओर फ्रांस, भारत,

1 *Politics of Aristotle*, अर्नेस्ट बार्कर द्वारा अंग्रेजी में अनूदित तथा सम्पादित, ऑक्सफोर्ड, 1946, भाग 3 अध्याय 6-7 तथा भाग 4 अध्याय 2-4.

और संयुक्त राज्य (अमेरिका) एक भिन्न श्रेणी में। स्पष्ट है कि इस विभाजन से राज्य के वास्तविक रूप अथवा गठन पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। यही नहीं, इस वर्गीकरण में संघीय सरकार और मिश्रित सरकारों को कोई स्थान नहीं दिया गया, जब कि अधिकतर आधुनिक सरकारें अरस्तू की भाषा में मिश्रित कही जायेंगी। सच बात यह है कि आज की सरकारें इतनी जटिल हो गई हैं कि एक या दो आधारों पर किया हुआ वर्गीकरण विशेष अर्थ नहीं रखता। साथ ही, आधुनिक शासन प्रणालियों के वर्गीकरण में ऊपरी बातों पर अधिक ध्यान दिया जाता है, राज्यसभा के ध्येय पर कम।

2. राजतंत्र

राजतंत्र वह शासन प्रणाली है जिसमें राजसत्ता एक व्यक्ति के हाथ में होती है और उसके पास जीवनपर्यन्त रहती है। यह सत्ता वंशानुगत (hereditary) भी हो सकती है और निर्वाचित भी। साथ ही, राजतन्त्र असीमित भी हो सकता है और सीमित भी। निरंकुश राजतन्त्र (Absolute Monarchy) में राजा के पास पूर्ण राजनीतिक अधिकार होते हैं, किंतु सीमित राजतन्त्र में वह केवल दिखावे का राज्यप्रमुख होता है। ब्रिटेन का शासन दूसरी प्रकार का है जबकि नेपाल का शासन पहली श्रेणी का है। वर्तमान-जगत् में शनैः शनैः राजतन्त्र लुप्त होता जा रहा है और जहाँ वह प्रचलित है वहाँ भी प्रायः सीमित रूप में। केवल कुछ पिछड़े हुए देशों में निरंकुश राजसत्ता चालू है।

गुण—सीमित राजतन्त्र वस्तुतः राजा का शासन नहीं होता। अतएव, यहाँ हम केवल निरंकुश राजतन्त्र के गुण-दोषों की विवेचना करेंगे। इसका प्रथम गुण इसकी व्यवस्था का सरल होना है। इसमें राजा सर्वशक्तिमान होता है। अतएव, वह प्रजा को एक सूत्र में बांध सकता है। उसके लिए सभी व्यक्ति समान हैं और यदि वह प्रजापालन पर ठीक से ध्यान दे तो प्रजा उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखती है। दूसरे, राजा के प्रति श्रद्धा के कारण संकट-काल की अवस्था में एक संगठित मोर्चा बनाने में सुगमता होती है। तीसरे, ऐसा शासन दृढ़ और स्थिर होता है। इसमें आए दिन न तो सरकार बदलने का झगड़ा होता है और न नीति निर्धारित करने वाले विभिन्न वर्गों में मतभेद का। सभी राज्य कर्मचारी राजा के अधीन और उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे केवल परामर्श देते हैं, अंतिम निर्णय राजा का होता है। अतः निर्णय करने और उसे कार्यरूप देने में न कठिनाई होती है और न समय की बरबादी। चौथे, इस शासन का खर्च भी कम होता है क्योंकि राज्य कर्मचारियों की संख्या अपेक्षाकृत सीमित होती है। पाँचवें, इसमें राजा और प्रजा के हितों में कोई बुनियादी विरोध नहीं होता।

अन अच्छे राजा के शासन मे प्रजा सुखी और धनधान्यपूर्ण बन जाती है।

राजतन्त्र के इन गुणो के होते हुए भी कुछ ऐसे दोष हैं जिनके कारण इसका समर्थन करना अत्यत कठिन है। पहले, एक अच्छा राजा का मिलना दुर्लभ है। प्राय राजा दुष्ट प्रकृति वाले, अत्याचारी और इन्द्रियलोलुप होते हैं। दूसरे, यदि राजा योग्य और लोकप्रिय भी हो, तो उसके उत्तराधिकारी के सबध म ऐसी क्या गारटी दी जा सकती है ? तीसरे, ऐसा शासन पिछडे लोगो म ही चल सकता है, जहाँ प्रजा म राजनीतिक चेतना न हो। चौथे, राजा चाहे कितना ही अच्छा क्यो न हो, वह स्वराज्य (Self government) का स्थानापन्न नही हो सकता। यही नही, राजा कदाचित ही एक उन्नत समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है। पाँचवे, इस शासन का सबसे बडा दोष शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना है। इतिहास हमे बताता है कि एक व्यक्ति को सर्वशक्तिमान बना देने से निरकुशता का जन्म होता है। छठे, न तो ऐसे शासन म प्रजा म राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है और न उनके आत्म-सम्मान की भावना ही जागृत हो पाती है।

3 कुलीनतन्त्र

इसमे राजसत्ता एसे व्यक्तियो के हाथ म होती है जिनमे प्रतिभा होती है अथवा जो धनी या उच्च परिवार के होने के कारण आदरणीय हैं। विशुद्ध रूप मे यह शासन प्रणाली अब कहीं नही मिलती, किन्तु इसके अवशेष कहीं कहीं दिखाई पड जाते हैं। ब्रिटन की लार्ड-सभा इसका एक अच्छा उदाहरण है।

इसके गुणो का वर्णन करते हुए गार्नर ने कहा है कि यह शासन योग्यता और चरित्र को महत्त्व देता है और अनुभव तथा ज्ञान का सम्मान करता है। अनुभवी व्यक्ति परम्परा को पसद करने वाले होते हैं और व्यर्थ मे परिवर्तन नहीं चाहते, अत वे सोच समझ कर काम करते हैं। इसलिए इस प्रणाली के अतर्गत असीमित राजतन्त्र और उग्र लोकतन्त्र दोना के ही दोषो स मुक्ति मिल जाती है।

किंतु इसम अनेक त्रुटियाँ भी हैं। सर्वप्रथम, इसकी समस्या यह है कि योग्यता का आधार क्या हो और उसकी परीक्षा कौन और कैसे करे ? उच्च-कुलीन और धनिक होने से ही तो व्यक्तियों म योग्यता नही आ जाती, और अब इन बातो से लोगो का विश्वास भी उठता जा रहा है। दूसरे, यदि प्रारम्भ म इस प्रणाली का आधार योग्यता हो, तो भी कुछ समय पश्चात् कुलीनता का आधार वशगत बन जाता है जिसके कारण कुलीनो का एक वर्ग बन जाता है और अन्य व्यक्तियो का दूसरा वर्ग। तीसरे, इसम शासक-वर्ग अपने वर्ग हित

को प्रधानता देते हैं, लोकहित का ध्यान नही रखते। चौथे, इसके अतर्गत नागरिकों में राजनीतिक चेतना और आत्म सम्मान की भावना का उदय नही हो पाता। पांचवे, इस प्रणाली मे भी सत्ता के दुरुपयोग की सम्भावना बनी रहती है।

4 लोकतंत्र

इस शब्द की व्युत्पत्ति से पता चलता है कि यह 'जनता का शासन' है। लार्ड ब्राइस के अनुसार, यह ऐसी सरकार है जिसमे शासनाधिकार जनसमुदाय मे निहित होता है। *उसने इसे 'बहुमत का शासन' भी कहा है।* एटली के अनुसार लोकतत्र का अर्थ है 'बहुमत द्वारा शासन और अल्पमत के लिए यथेष्ट सरक्षण'। अब्राहिम लिंकन ने इसे 'जनता की, जनता द्वारा और जनता के लिए सरकार' बताया है। हर्नशॉ के अनुसार, यह ऐसा राज्य है जिसमे सरकार जनता द्वारा नियुक्त, नियत्रित और पदच्युत की जाती है। इन परिभाषाओ को देखने से *यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकतत्र किसी वर्ग-विशेष की सरकार* न होकर एक लोक-सरकार होती है। यदि किसी लोकतत्रीय राज्य का प्रधान निर्वाचित हो तो उसे 'गणतत्र' (Republic) कहते हैं, किंतु लोकतत्रीय राज्य का प्रधान वशानुगत भी हो सकता है और उसके अधिकार सविधान द्वारा सीमित हो सकते हैं।

इतिहास—यह शासन-प्रणाली सहस्रो वर्षों से चली आ रही है। यह विचार भी अतिप्राचीन है कि प्रत्यक राज्य को सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के भरसक प्रयत्न करने चाहिए। उसे जनता के आदर्शों पर पूरा ध्यान देना चाहिए और जनता द्वारा स्थापित मापदडो के अनुसार कार्य करना चाहिए। डॉ० बेनीप्रसाद ने इस भावनाओ को 'अभावात्मक लोकतत्र' (Negative democracy) की सज्ञा देते हुए यह कहा है कि सभी अच्छी सरकारें इस धारणा के अनुसार काम करती रही हैं, किंतु यदि लोकतत्र से हमारा अभिप्राय यह है कि नागरिक शासन कार्य मे सक्रिय भाग लें तो इस प्रकार की प्रणाली अब तक केवल स्थानीय और कार्यात्मक (functional) क्षेत्रो मे ही प्रचलित रही हैं। इन सीमित क्षेत्रो के अतिरिक्त, व्यापक रूप मे केवल आधुनिक युग मे लोकतत्र का प्रसार हो सका है। *यातायात और सदेश के समुचित साधनों के अभाव मे,* अशिक्षा, गरीबी और राजनीतिक चेतना की कमी तथा आपसी भेदभाव, अविश्वास और झगडो के कारण केंद्रीय शासन मे सहस्रा वर्षों तक लोकतत्र का प्रचलन नही हो सका[1]। केवल पिछले दो-तीन सौ वर्षों से ही इस सबध मे आवश्यक कदम उठाए

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 227-229.

गए हैं।

लोकतन्त्र की परिभाषा देते हुए फाइनर कहता है कि इसका जन्म निरंकुश शासन के विरोध मे हुआ। उसके मतानुसार, अनेक व्यक्ति स्वतन्त्रता को अपने निश्चित ध्येय को प्राप्त करने का एक साधन मात्र समझते हैं। अठारहवी शताब्दी के अंत में यूरोप मे लोकतंत्र की भावना नकारात्मक, विद्रोही और क्रांतिकारी प्रवृत्तियों से भरपूर थी, किंतु इसके समर्थकों मे वर्तमान स्थिति के स्थान पर किसी नए समाज के निर्माण करने की चेतना नही थी। उसके कथनानुसार, इसके विध्वंसात्मक कार्य के समाप्त होने के पश्चात् उन्नीसवी शताब्दी के दूसरे भाग म लोकतंत्र की दिशा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण बना, और अनेक विचारकों ने यह धारणा प्रस्तुत की कि लोकतंत्र की दिशा 'समाजवादी' होनी चाहिए[1]। लोकतन्त्रवादियों मे जो लोग स्वतंत्रता पर बल देते हैं वे विचार विमर्श द्वारा शासन करने, शासित वर्गों को शनै शनै रियायत देने, अल्पसंख्यकों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखने, और धर्म, विश्वास तथा सम्पत्ति के प्रति कोमल भावनाओं को आवश्यक मानते हैं। किंतु जनसमुदाय इनको यथेष्ट नहीं समझता और व्यापक सुधारों का पक्षपाती है। अतएव, आधुनिक राज्यों के सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि किस प्रकार तीव्र गति से और बिना खूनखराबी और बलप्रयोग के सामाजिक और आर्थिक समता लाई जा सकती है[2]। फाइनर के मतानुसार यदि इन दोनों धारणाओं मे समन्वय नहीं होता, तो इनके अनुयायियों मे संघर्ष का होना अनिवार्य है। अत इस बात की और भी अधिक आवश्यकता है कि हम ऐसी संस्थाएँ बनाएँ जो उग्र भावनाओं पर नियंत्रण लगा सकें।

लोकतंत्रीय शासन के अनिवार्य तत्त्व—उन्नीसवीं शताब्दी में आकर लोकतंत्रीय राजनीतिक संस्थाओं का विकास हुआ[3]। इन संस्थाओं मे सर्वप्रथम स्थान लिखित संविधान का है। इससे सत्ता को सीमित करने मे सुविधा हुई और नागरिक अधिकारों का संरक्षण हो सका। द्वितीय लोकतंत्रीय संस्था संविधानी सरकार है जो कानूनों पर आधारित होती है। इसमे 'विधि-शासन' (Rule of Law) होता है और कानून की दृष्टि मे सभी नागरिकों को समान अधिकार और समता के सुअवसर प्राप्त होते हैं। तीसरी लोकतंत्रीय संस्था नागरिकों के अधिकारों की घोषणा है। जिसे फाइनर बुनियादी रूप मे आवश्यक मानते हैं। ये अधिकार क्या हों, इस संबंध मे मतभेद हो सकते हैं; लेकिन लोकतंत्र मे विश्वास रखने वाले लगभग सभी व्यक्ति यह स्वीकार करेंगे कि इन अधिकारों

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 124, 128, 139-140.

2 वही, पृष्ठ 128.

3 James Bryce, *Modern Democracies*, भाग 1, पृष्ठ 20.

की स्पष्ट और सविधानी व्याख्या होनी चाहिए। इस प्रकार की अंतिम संस्था लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था है जिसके अतर्गत सभी वयस्क नागरिकों को सार्वजनिक मामलों में क्रियात्मक रूप से भाग लेने के अवसर प्राप्त होते हैं। इसमें वयस्क मताधिकार, बहुमत निर्णय, प्रतिनिधि-सरकार आदि सम्मिलित हैं। यद्यपि इनमें से कई संस्थाएँ लोकतन्त्र के बिना भी पाई जाती हैं[1] तथापि सम्मिलित रूप में ये संस्थाएँ लोकतन्त्रीय शासन के अंतर्गत ही हो सकती हैं।

लोकतन्त्र का सामाजिक पक्ष—लोकतन्त्र लोकमत पर आधारित शासन होता है। इसके प्रभावी होने की सबसे बडी कसौटी यह है कि इसमें लोकमत को क्या मान्यता प्राप्त है और किस गति से लोकमत सरकारी कार्यों को प्रभावित कर पाता है[2]। तथापि आधुनिक लोकतन्त्र में हम यह मानकर चलना पडेगा कि लोकमत में भी अंतर्विरोध हो सकते हैं[3]। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के ऐसे उद्देश्य हो सकते हैं जो सामान्य हित के विरुद्ध हों। यदि राज्य किसी वर्ग विशेष के हितों का साधन नहीं करता तो उसे इन विभिन्न हितों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, लोकतन्त्र के सामाजिक सिद्धांतों में स्वतन्त्रता, समता और भाईचारा प्रमुख हैं। पिछले दिनों इन विचारों की नई व्याख्याएँ हुईं जिसके अतर्गत आर्थिक समता को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा है। साथ ही यह मांग की गई है कि हमें केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही स्वशासन के अधिकार नहीं होने चाहिए अपितु औद्योगिक क्षेत्र में भी इनका समुचित प्रबंध होना चाहिए। पिछले दिनों, कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की भावना बल पकडने लगी है और राजनीतिक लोकतन्त्र का स्थान धीरे धीरे अब सामाजिक लोकतन्त्र लेने लगा है[4]।

साम्यवादी दृष्टिकोण—सोवियत संघ के साम्यवादियों की यह धारणा है कि उन्होंने अपने देश में सर्वोत्तम लोकतन्त्र की स्थापना की है। इसके समर्थन में वे सामाजिक, आर्थिक और जातीय (ethnic) समता की ओर हमारा ध्यान दिलाते हैं। उनके कथनानुसार, पाश्चात्य देशों में प्रचलित राजनीतिक संस्थाएँ एवं प्रक्रियाएँ अर्थहीन हैं, क्योंकि एक वर्ग समाज में जिस वर्ग के हाथों में उत्पादन के साधन और उपकरण होते हैं, वस्तुतः वही शासक वर्ग होता है। अतएव, जब तक पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी लोकतन्त्र की संस्थाएँ केवल दिखावे भर की होंगी,

1 लिप्सन, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 213

2 वही, पृष्ठ 216

3 वही, पृष्ठ 221, 223

4 वही, पृष्ठ 240

जीवन की यथार्थताओं पर उनका विशेष प्रभाव न होगा। उनके कथनानुसार सोवियत व्यवस्था मे जनता को विभिन्न स्तरों पर क्रियात्मक और सृजनात्मक रूप से भाग लेने का पूरा सुयोग मिलता है और व्यक्तिगत पहलू की पूरी गुजाइश होती है। तथापि पिछले 15 वर्षों मे सोवियत सघ मे जो नई धारा प्रवाहित हुई है उससे कुछ ऐसा लगता है कि सोवियत जनता भी अब 'विधि-शासन', स्वतंत्र विचार विमर्श और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का महत्त्व समझने लगी है। यही नही, वह इस दिशा मे प्रगति करने के लिए समुचित वातावरण बनाने के लिए सतत् प्रयत्न कर रही है।

लोकतंत्र के तीन पहलू—लोकतन्त्रीय व्यवस्था के तीन पहलू हैं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक। जिस समाज मे ये तीनो रूप उपस्थित न होंगे, वहाँ पूर्ण लोकतन्त्रीय व्यवस्था नही हो सकती। इसके सामाजिक पहलू से हमारा आशय यह है कि समाज में वर्ग, जाति, धर्म, वर्ण और लिंग के आधार पर कोई भेदभाव न हो। नर और नारी, निर्धन और अमीर, सभी को समान माना जाए और उनके प्रति जीवन मे समता का व्यवहार हो। इसके आर्थिक पहलू से हमारा आशय यह है कि समाज मे धन के वितरण मे विषमता न हो और धन पर आधारित खाइयो को भरसक पाट दिया जाए, अर्थात् लोगों मे लगभग आर्थिक समानता हो। आर्थिक लोकतन्त्र मे सबको काम करने, अवकाश मिलने और उचित आय पाने और बिना रोक-टोक के जीवन का उपभोग करने का अधिकार सम्मिलित है। इसके राजनीतिक रूप मे मताधिकार, चुनाव लड़ने और पदग्रहण करने के अधिकार सम्मिलित है। इन अधिकारो के समुचित उपयोग के लिए यह आवश्यक है कि नागरिको को भाषण, प्रकाशन और सघ बनाने की स्वतन्त्रता हो।

लोकतंत्र की अभिधारणायें—हर्नशॉ के अनुसार, लोकतन्त्र की निम्न अभिधारणाएँ (*Postulates*) हैं प्रथम, साधारणत व्यक्तियो मे इतनी 'सामान्य बुद्धि' होती है कि वे विवेकशील नागरिको के नाते कार्य कर सकें, दूसरे, बुनियादी रूप मे वे ईमानदार होते हैं और अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति पूरा करते हैं; तीसरे, जनसमुदाय मे एक अतर्निहित सामाजिक एकता की भावना होती है, और चौथे, प्रत्येक जनसमुदाय मे एक सामान्य इच्छा होती है। जहाँ तक अंतिम अभिधारणा का प्रश्न है, अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रत्येक समाज मे विविध हित होते है जिनको हमे मान्यता देनी चाहिए और उनमे सामजस्य स्थापित करने के प्रयत्न करने चाहिए। इस दृष्टि से लोकतन्त्र सामाजिक सतुलन की एक समस्या है और लोकतन्त्रीय समाज के उद्देश्य विविध हितो में सतुलन रखते हुए निश्चित किए जाने चाहिए।

प्रत्यक्ष और प्रतिनिधिक लोकतन्त्र

ऐतिहासिक दृष्टि से लोकतन्त्र को प्रत्यक्ष और प्रतिनिधिक प्रणालियों में विभाजित किया जाता है। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र प्राचीन युग में यूनान, रोम और भारत में प्रचलित था। ऐसा शासन छोटे जनसमुदायों में ही सभव है। अत. आधुनिक देश राज्यों में इस प्रकार का शासन नहीं चल सकता। जब इनमें प्रतिनिधिक सस्थाएँ बन गईं तब परोक्ष अथवा प्रतिनिधिक लोकतन्त्रीय प्रणाली ने जन्म लिया। तथापि प्रत्यक्ष लोकतन्त्र से सम्बन्धित कुछ संस्थाएँ अब भी स्विटजरलैंड, सयुक्त राज्य (अमेरिका) आदि देशों में प्रचलित हैं। इनमें कुछ 'जनमत-सग्रह' (Plebiscite), 'जनमत-निर्णय' (Referendum), सार्वजनिक उपक्रम (Initiative) और 'वापिसी की माँग' प्रमुख हैं। स्विटजरलैंड के कुछ कैंटनों में अब भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय शासन प्रचलित है। वहाँ प्रति वर्ष एक निश्चित दिन सभी वयस्क पुरुष नागरिक एकत्रित होकर कानून बनाते, बजट पास करते और पदाधिकारियों का चुनाव करते हैं। क्योंकि ये कैंटन पहाड़ी प्रदेशों में हैं और इनकी जनसख्या सीमित है इसलिए व इन सस्थाओं का प्रयोग कर सकते हैं। तथापि उनके लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वे अपने प्रतिनिधि चुन कर उनके माध्यम से स्वशासन के अधिकारों का उपभोग करें। तो भी उनके लिए अपेक्षाकृत यह सरल होता है कि वे इन प्रतिनिधि अधिकारियों को लोकमत के नियन्त्रण म रखें और असन्तुष्ट होने पर उन्हें पद से हटा दें।

लोकतन्त्र के गुण—यह लोकतन्त्र का युग है और इसकी आस्था है कि राज्य का शासन लोकमत के अनुसार होना चाहिए। इस प्रणाली के अनेक गुण हैं। पहले, क्योंकि इस प्रणाली के अतर्गत प्रभुसत्ता अतत जनता म निहित होती है, अतएव इसमें जनता के सामान्य हित का पूरा ध्यान रखा जाता है, किसी विशेष वर्ग के हित का नहीं। दूसरे, यह प्रणाली नागरिकों के महत्त्व को स्वीकार करती है और सब व्यक्तियों को समान मानती है। इसका विश्वास है कि नागरिकों को सार्वजनिक कार्यों म भाग लेने का समान अधिकार होना चाहिए। तीसरे, इसके अतर्गत जनता की इच्छाओं, आवश्यकताओं, और आकांक्षाओं का पूरा ध्यान रखा जाता है। अतएव व्यभिचार अथवा निरकुशता व छूट मिल जाती है। चौथे, इसमें नागरिकों की सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी होती है और वे सोचसमझ से काम लेते हैं जिससे राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है और उनमें देश-प्रेम की भावना पुष्ट होती है। पाँचवें, क्योंकि यह शासन-प्रणाली नागरिकों के व्यक्तित्व का समुचित आदर करती है, अतएव उनको भी अपने उत्तरदायित्व का अनुभव होने लगता है और उनम भाईचारे और समाज-सेवा की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। छठे, इस प्रकार की सरकार में पदाधिकारियों के चुनाव या नियुक्ति का क्षेत्र

संकुचित नहीं होता, अत. देश की प्रतिभा का समुचित उपयोग हो सकता है। सातवें, इसमे प्रतिनिधियो का जनता के साथ निकट सम्पर्क बना रहता है और उन्हें जनता की भावनाओ, कठिनाइयो तथा आशाओ की पूरी जानकारी होती है। अत. राज्य उनके अनुरूप कार्य करने का प्रयत्न करता है। आठवें, इसमे शातिपूर्वक परिवर्तन या संशोधन किए जा सकते हैं और प्रगति सरलता से हो सकती है। 'विधि-शासन' और शासन की उत्तमता के कारण लोकतंत्रीय व्यवस्था मे समाज ने काफी प्रगति की है। नवें, सरकार जनता द्वारा निर्वाचित होने और उसी के प्रति उत्तरदायी होने से इसके अतर्गत विद्रोह और क्राति की ज्वाला भडकने नही पाती। दसवें, जनता की सरकार होने के कारण इसमे जनता को यह विश्वास रहता है कि उनकी उन्नति और कल्याण के लिए राज्य कार्य करेगा। ग्यारहवें, जनता के साथ निकट सम्पर्क होने के कारण इस प्रकार की सरकार बहुत कुशल होती है। बारहवें, इसके प्रतिपादको के मतानुसार, सभी नागरिको को समानता के सुअवसर मिलते है और यथासम्भव सभी नागरिको को 'न्यूनतम आय' की सुरक्षा प्राप्त होती है। तेरहवें, इस सरकार मे शाति व्यवस्था और प्रगति साथ साथ चल पाती है। अधिनायकतंत्र मे शाति और व्यवस्था तो होती है किंतु प्रगति की ओर ध्यान कम रहता है। कुछ लेखको के अनुसार, लोकतंत्रीय शासन में लोगो को सद्जीवन व्यतीत करने के अवसर मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि यह एक ऐसा शासन है जो विशेषज्ञो और जनता के प्रतिनिधियो के सहयोग से चलता है। जॉन स्टुअर्ट मिल के कथनानुसार, किसी शासन प्रणाली का सबसे अच्छा गुण यह होता है कि वह विवेक और सदाचरण को प्रोत्साहन दे, क्योंकि इन्ही बातो पर देश का भविष्य निर्भर होता है। लोकतंत्र मे यह गुण पूर्णत वर्तमान है।

लोकतंत्र के दोष—जहाँ इस शासन-प्रणाली मे गुण हैं वहाँ उसके दोष भी हैं। पहले, आलोचको के अनुसार, सभी व्यक्तियों को शासन-कार्य चलाने के योग्य मान लेना ठीक नही है। बर्क ने इसे 'कोरी बकवास' और रस्किन ने इसे 'पागलपन से भरी हुई मूर्खता' कहा है। इनके कथनानुसार, शासन कार्य एक कला है और इसके लिए विशेष योग्यता और ज्ञान की आवश्यकता होती है। दूसरे, अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि मतदाता हमेशा योग्य उम्मीदवारो को नही चुनते। अनेक नागरिक इतने उदासीन होते हैं कि वे मतदान भी नहीं करते। कुछ व्यक्ति बिना सोचे विचारे अपने मित्रो, पडोसियों अथवा पार्टी के आदेशानुसार मत दे देते हैं। कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो अपने मत का बाकायदा सौदा करते हैं। ऐसी दशा मे जब योग्य प्रतिनिधि नही चुने जाते, फिर अच्छा शासन कैसे हो? तीसरे, लोकतंत्रीय शासन मे कुछ लोग राजनीति को अपना पेशा

बना लेते हैं और जैसे भी सम्भव हो वे अपने पद से चिपके रहने का प्रयत्न करते हैं। वे अपनी भाषण-शक्ति से जनता को प्रभावित कर निर्वाचित हो जाते हैं; किन्तु उनमे इतनी योग्यता नही होती कि वे देश की उन्नति के लिए सृजनात्मक कार्य कर सकें। अतएव, उनसे लोकहित की आशा करना व्यर्थ है। चौथे, लोकतत्र के लिए राजनीनिक दलों का होना आवश्यक है; पर यही दल कभी-कभी सार्वजनिक जीवन को गदा कर देते हैं। वोट प्राप्त करने और सत्ता को हस्तगत करने के लिए वे विविध उचितानुचित उपायों को काम मे लाते हैं और सामान्य हितो की उपेक्षा कर वर्ग अथवा व्यक्ति-समूह के हित-साधन मे लगे रहते हैं। यही नही, दलबदी के अन्य सभी दोष लोकतत्रीय शासन मे भी उत्पन्न हो जाते हैं। पाँचवे, ट्रीटस्के के कथनानुसार, लोकतत्र मे धनिकों पर बहुत अत्याचार होता है और उन्हें निर्धनो के हित मे बुरी तरह चूसा जाता है। छठे, समाजवादियों का कहना है लोकतत्र मे धनिकों के पास बहुत शक्ति केंद्रित हो जाती है। वे धन की सहायता से सार्वजनिक जीवन को भ्रष्ट कर देते हैं और अपने हित के काम कराने का प्रयत्न करते हैं, जिसका जनसाधारण की आर्थिक अवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सातवें लोकतत्रीय शासन मे सगठन बहुत जटिल और खर्चीला हो जाता है। सरकारी विभागों और कर्मचारियों की सख्या बहुत अधिक बढ जाती है। व्यय राजकीय कोष से होने के कारण, राजनीतिज्ञों को मितव्ययी बनने का कोई उत्साह नहीं होता। आठवें, इस शासन-प्रणाली में कुशलता का सर्वथा अभाव होता है। आलोचकों के कथनानुसार, कार्यांग, विधानाग और न्यायांग के सदस्य प्राय अनाड़ी होते हैं और इन्ही पर राजकीय नीति बनाने और उसे लागू करने का उत्तरदायित्व होता है। नवें, लैकी के मतानुसार, इस प्रणाली मे गुणों के स्थान पर सख्या पर बल दिया जाता है। बहुमत चाहे ठीक हो या न हो, उसे मानना ही पड़ेगा। अतएव, लोकतत्र को निर्धनो, मूर्खों और अयोग्य व्यक्तियों का शासन बताया है। उसके मतानुसार समाज मे ऐसे ही व्यक्तियो का बहुमत होता है। दसवें, इसमे समय और शक्ति का भारी अपव्यय होता है। छोटी-छोटी बातें भी लबे-चौड़े विचार-विमर्श के बाद तय हो पाती हैं। इस प्रकार, जो काम एक व्यक्ति थोड़े समय में सुगमतापूर्वक कर सकता है, उसे करने के लिए अनेक व्यक्ति लगे रहते हैं। ग्यारहवें, सकटकालीन स्थिति मे लोकतत्रीय शासन बेकार सिद्ध होता है। न तो वह शीघ्र गति से निर्णय कर पाता है और न उसे शीघ्रता से कार्यरूप में परिणत करता है। बारहवें, इस प्रकार की सरकार अस्थिर और अल्पकालीन होती है। सरकारें जल्दी-जल्दी बदलती रहती हैं और उन्हें अपनी नीति को कार्यान्वित करने के लिए समय नही मिल पाता। नई सरकार आकर प्राय एक नई नीति

का अनुसरण करने लगती हैं। इस प्रकार देश की नीति निरंतर बदलती रहती है।

इनके अतिरिक्त, अन्य विद्वानों ने लोकतन्त्रीय प्रणाली के अन्य दोषों पर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। तेरहवें, समाजवादियों के अनुसार, लोकतन्त्रीय प्रणाली में स्थापित राजनीतिक स्वतन्त्रता कोरी बकवास है। नागरिकों की सब से बड़ी आवश्यकता आर्थिक सुरक्षा और समता के सुअवसर प्राप्त करने की है, किंतु पूंजीवादी समाज में जनता का एक बहुत बड़ा भाग निर्धन होने के कारण इतना समय भी नहीं निकाल पाता कि वह राजनीतिक स्वतन्त्रता से लाभ उठा सके। इसका सच्चा उपभोग तभी संभव है जब नागरिक अपनी भौतिक आवश्यकताओं की चिंता से मुक्त हो। उनके मतानुसार, बिना आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र स्थापित किए राजनीतिक स्वतन्त्रता की बातें करना निरर्थक है। चौदहवें, लैकी के कथनानुसार, लोकतन्त्र स्वतन्त्रता का विरोधी है। इसमें बहुत अधिक कानून बनाने की प्रवृत्ति पाई जाती है और जनता द्वारा निर्वाचित सरकार सब बातों में हस्तक्षेप करना अपना अधिकार समझने लगती है। पन्द्रहवें, हैनरी मेन ने लोकतन्त्र को बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति का विरोधी बताया है। उसके अनुसार, लोकतन्त्र में सामान्य नागरिकों की रुचि के अनुसार चलना पड़ता है जो परिष्कृत नहीं होती। इसका प्रभाव साहित्य, कला और विज्ञान पर भी पड़ता है। सोलहवें, लैकी और मेन के अनुसार, लोकतन्त्र के दोनों बुनियादी सिद्धांत, स्वतन्त्रता और समता, त्रुटिपूर्ण हैं। स्वतन्त्रता योग्यता के अनुसार दी जानी चाहिए, किंतु साधारण नागरिकों में देश के बड़े-बड़े प्रश्नों पर विचार करने की योग्यता का सर्वथा अभाव होता है। अतः उनके मतानुसार कार्य करने से देश अवनति की ओर अग्रसर होता है। सत्रहवें, इसमें उत्तरदायित्व की भावना का सर्वथा अभाव होता है। बेईमानी, रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार बढ़ जाता है और चारों ओर निर्बलता के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। अठारहवें, कुछ आलोचकों का कहना है कि लोकतन्त्रीय सरकार बहुमत के अनुसार नहीं चलती। प्रायः सत्तारूढ़ दल को मतदाताओं का बहुमत प्राप्त नहीं होता। भारत में भी बार-बार ऐसा हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि लोकतन्त्रीय शासन वास्तव में बहुमत पर आधारित नहीं होता। कुछ आलोचक तो इससे भी आगे बढ़कर यह कहते हैं कि लोकतन्त्र में वास्तविक सत्ता उन राजनीतिक नेताओं के हाथ में होती है जिन्होंने अपने दल के संगठन को अपने काबू में कर लिया है। उन्नीसवें, कोल आदि लेखक वर्तमान लोकतन्त्रीय प्रणाली की आलोचना इस आधार पर करते हैं कि प्रादेशिक प्रतिनिधित्व असंगत है। वस्तुतः कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता है। सही अर्थ में एक व्यक्ति केवल विशेष

बातो मे अनेक व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व कर सकता है। इन आलोचकों का कहना है कि हमारा प्रतिनिधित्व प्रादेशिक न होकर कार्यात्मक होना चाहिए। बीसवें, आलोचको के अनुसार, इस प्रणाली के अतर्गत सत्ता और पदों के लिए बहुत छीना-झपटी होती है जिसके कारण जनता के हितों की उपेक्षा कर दी जाती है। उक्त दोषों के अतिरिक्त ब्राइस ने कुछ और दोषो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इनमें प्रमुख धन की शक्ति है जो शासन और कानूनों को भ्रष्ट कर देती है[1]।

इन बातो पर विचार करने से पता चलता है कि उपर्युक्त दोषो में अनेक ऐसे हैं जो प्राय सभी शासन प्रणालियों मे पाए जाते हैं। अशिक्षा, अज्ञान, उदासीनता आदि ऐसे दोष हैं जिनको उत्तम नागरिकता की शिक्षा देने से दूर किया जा सकता है। कुछ दोष शक्ति के विकेंद्रीकरण से दूर हो सकते हैं। तथापि, हमारे अभी तक के लोकतंत्रीय शासन के अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो यह एक आदर्श प्रणाली सिद्ध हुई है, और न यह हमारी समस्याओं का समाधान ही कर सकी है। यह लोगो मे भाईचारे की भावना उत्पन्न नही कर सकी और न यह सम्पत्ति के विषम वितरण की समस्या को ही हल कर पाई है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या हमारे सम्मुख इससे उत्तम कोई शासन-व्यवस्था है। ससार मे शासन के क्षेत्र में अनेक प्रयोग हुए हैं, किंतु अभी तक कोई अन्य शासन-प्रणाली इससे अधिक सतोषजनक सिद्ध नहीं हुई।

लोकतंत्र को चुनौती—लोकतत्र के विरोधियो को मोटे रूप मे निम्न वर्गों मे रखा जा सकता है प्रथम, वे राजतत्र और कुलीनतंत्रवादी जिन्हें लोकतत्र के साथ कोई सहानुभूति नही है, द्वितीय, वे उदारवादी जिन्हें डर है कि उग्र लोकतत्र कही असहिष्णु न हो जाए और समाज मे समरूपता कायम करने का प्रयत्न न करने लगे, तृतीय, वे समाजवादी जिनके अनुसार, लोकतत्रीय व्यवस्था के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है; और चौथे, वे फासिस्ट और नाजी विचारक जिन्हें लोकतत्र से घृणा है और जो लोकतत्रीय व्यवस्था को अयोग्य, अस्थिर, दिशाशून्य और निर्बल बताते हैं अनेक विद्वानों का मत है कि वस्तुतः उदारवाद और समाजवाद का लोकतत्र से कोई विरोध नही है, और हमारी वर्तमान समस्याओं का समाधान तभी हो सकेगा जब इन दोनो के तत्वो का लोकतत्र के साथ समन्वय स्थापित हो जाएगा।

5. लोकतंत्र की सफलता की दशाएँ

लोकतत्र के इतिहास और विकास का विवेचन करने के उपरात डा० बेनी-

1 *Modern Democracies*, भाग 2, पृष्ठ 504

प्रसाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि गम्भीर अर्थ में कोई देश अभी तक लोक-तन्त्रीय व्यवस्था स्थापित नहीं कर पाया। प्राचीन और आधुनिक कालों में जब भी लोकतन्त्रीय प्रयोग हुए हैं, वातावरण उसके प्रतिकूल रहा है। उनका संकेत मूलतः सैनिकवाद, निर्धनता, अशिक्षा और सामाजिक कलह से है जिनके कारण लोकतंत्र की जड़ें मजबूत नहीं हो पातीं[1]। उनके मतानुसार, कुछ ऐसी दशाएँ और आवश्यकताएँ हैं जिनके पूरा होने पर ही लोकतंत्र का समुचित विकास सम्भव है।

सैनिकवाद का अभाव—लोकतंत्र उन्हीं देशों में पनप सकता है जो सैनिक-वाद से मुक्त हों। सिद्धांत की दृष्टि से लोकतंत्र बलप्रयोग का विरोधी है और वह व्यक्ति के गौरव को स्वीकार करता है। इसके विपरीत सैनिकवाद, सत्ता को केंद्रित करने और असीमित राजसत्ता के पक्ष में है। डा० बेनीप्रसाद के अनु-सार, सैनिकवाद के कारण इतिहास में कभी पूर्ण लोकतंत्रीय व्यवस्था का विकास नहीं हो पाया और जब तक सैनिकवाद का बोलबाला रहेगा ऐसा कभी नहीं हो सकेगा। सैनिकवाद सोचने की लोकतन्त्रीय पद्धति का विरोधी है। वह शिक्षा के रूप को भ्रष्ट कर अनुशासन और सहकारिता के स्थान पर आदेश मानने और आज्ञापालन की आवश्यकता पर जोर देता है[2]। लेकिन वह स्वीकार करते हैं कि सैनिकवाद को आसानी से समाप्त नहीं किया जा सकता[3]।

सम्पत्ति के वितरण में विषमता का लोप—लोकतंत्र तभी पनप सकता है जब सैनिकवाद के अतिरिक्त आर्थिक विषमता का लोप हो। किसी ऐसे देश में जहाँ अधिकतर लोग अत्यंत गरीबी का जीवन बिताते हों और कुछ लोग ऐश्वर्य से रहते हों, लोकतंत्रीय शासन सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। जब तक नागरिक जीविकोपार्जन के लिए साधन जुटाने के झंझट से मुक्त न होंगे। स्वतंत्र लोकतन्त्रीय संस्थाएँ दृढ़ नहीं हो सकतीं। विज्ञान और तकनीक में अब इतनी उन्नति हो चुकी है कि यदि हम प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग करें तो कोई कारण नहीं है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रचुर साधन प्राप्त न हों। ऐसा होने से सभी नागरिकों को पूर्ण आत्मविकास के अवसर प्राप्त हो सकेंगे और लोकतंत्र की आर्थिक नींव दृढ़ हो सकेगी[4]।

समुचित शिक्षा—लोकतंत्र की सफलता के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 245, 230.
2 वही, पृष्ठ 129-130.
3 वही, पृष्ठ 92.
4 वही, पृष्ठ 27.

नागरिक शिक्षित हो। अज्ञान और अशिक्षा के कारण नागरिकों का विवेकपूर्ण दृष्टिकोण नहीं बन पाता और सार्वजनिक मामलों को अच्छी तरह समझबूझ कर वे अपना मत प्रकाशित नहीं कर पाते। अज्ञान और भूल में रत नागरिकों के बीच लोकतंत्र का विकास असम्भव है; किंतु अज्ञान के अधकार को दूर कर ज्ञान और विज्ञान का प्रकाश किया जा सकता है। आवश्यकता केवल यह है कि वैज्ञानिक शिक्षा के द्वार सभी नागरिकों के लिए समान रूप से खुले हुए हों और उनमे सुकरात के समान ज्ञान के लिए असीम जिज्ञासा हो। शिक्षा से बुद्धि और विवेक मे वृद्धि होती है और नागरिको मे जागरूकता आती है जिससे वे सरकारी कार्यों की आलोचना करने मे नहीं हिचकते और आवश्यकतानुसार उसे क्रियात्मक सहयोग देने के लिए भी तत्पर रहते हैं[1]।

सतर्क नागरिकता—प्रबुद्ध होने के साथ ही नागरिकों को सतर्क भी होना चाहिए। उन्हें सार्वजनिक मामलों मे सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए और अपने साथी-नागरिकों को उनके अधिकारों के उपभोग और कर्तव्यों के पालन में सहायता देनी चाहिए। जहाँ आवश्यकता हो वे निडर होकर सरकारी काम की आलोचना करें; किंतु जब सरकार अच्छे काम कर रही हो तो उसे पूर्ण सहयोग भी दें और उसकी सराहना करें। स्वतंत्रता और लोकतंत्र की रक्षा का मूल्य 'शाश्वत सतर्कता' है और केवल प्रबुद्ध नागरिक ही समुचित रूप से जागरूक हो सकते हैं। लास्की के मतानुसार, अज्ञानी लोकतंत्रवादी लोकतंत्र की रक्षा नहीं कर सकते। उन्हें अपनी स्वतंत्रता को खो देने का आभास इतनी देर से मिलेगा कि सुधारात्मक कदम उठाने का समय ही शेष न रह जाएगा। उसने इस बात पर भी बल दिया है कि सतर्कता को प्रभावी बनाने के लिए उसे सगठित रूप देने की आवश्यकता है, जिससे उसका अभिप्राय यह है कि हम सगठन बना कर काम करें क्योंकि 'अकेला चना भाड नहीं फोड सकता'।

लोकतंत्र मे विश्वास—लोकतंत्र की सफलता के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि व्यक्तियों को उन आस्थाओं और मूल्यों मे विश्वास हो जिनका लोकतंत्र से घनिष्ठ सबध है। उदाहरण के लिए, उन्हें मतभेदों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए और अच्छी तरह सोच-विचार कर निर्णय करने चाहिए। उनकी शिक्षा, उनके सिद्धांतों और आदर्शों के अनुरूप होनी चाहिए। उनमे भाईचारे की भावना होनी चाहिए, समझौते करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए और दूसरों की भावनाओं तथा मतों का आदर करना चाहिए। इन सबके बिना लोकतंत्रीय समाज न ठीक से चल सकता है और न सफल हो सकता है।

विवेकशील नेता—लोकतंत्र की सफलता बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर

1 वही, पृष्ठ 62-64.

है कि उसे किस प्रकार के नेता मिले हुए हैं। एक लोकतत्रीय शासन मे देश के नेता समाज को बहुत लाभ और बहुत हानि दोनो ही पहुँचा सकते हैं। अतएव, यह आवश्यक है कि उनका चरित्र उच्च, सकल्प दृढ, निर्णय विवेकपूर्ण हो और उनमे पहल करने की क्षमता हो। इस सबध मे यह कहना अनुचित न होगा कि लोकतत्रीय प्रक्रिया स्वत. ही अच्छे ढग से नेता पैदा कर देती है। डा० बेनीप्रसाद के मतानुसार, 'यदि यह सत्य है कि सरकार कुछ व्यक्तियो के हाथ म केंद्रित हो जाती है तो वर्तमान दशाओ मे लोकतत्र ही एक ऐसी शासन-प्रणाली है जिसमे समुचित योग्यता और सेवा-भाव लिए हुए ऐसे व्यक्ति हमारे सम्मुख आते हैं जिनकी आदर्श राजनीतिक चितकों ने कल्पना की है'।

सामाजिक समता—सामाजिक समता लोकतत्र की एक अन्य बुनियादी आवश्यकता है। जाति तथा वर्णभेद और ऊँच-नीच के भाव लोकतत्र को तहस-नहस कर देते हैं। भाषागत और प्रादेशिक भेदभाव लोकतत्र को ठेस पहुँचाते हैं। लोकतत्र के लिए यह आवश्यक है कि उसके द्वार सब के लिए खुले हुए हो और सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के समान अवसर प्राप्त हों।

प्रेस की स्वतंत्रता—स्वतत्र प्रेस का होना लोकतत्र के लिए अपरिहार्य है। इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि लोगो को निष्पक्ष और सत्य समाचार प्राप्त हो। सरकार को अपनी नीतियो और कार्यों की व्याख्या करते रहना चाहिए जिससे नागरिको को उनके कारण और आवश्यकताओ का पता लगता रहे। स्वतत्र और निष्पक्ष प्रेस जनता को तथ्यो और घटनाओं से परिचित कराती है और साथ ही जनता की शिकायतो को सरकार के सामने रखने मे भी सहायता देती है। इस प्रकार एक निष्पक्ष और साहसी प्रेस के माध्यम से जनता और शासन के बीच स्वस्थ सबध कायम किए जा सकते हैं।

स्थानीय स्वशासन—लोकतत्र केवल केंद्र तक सीमित न रहकर स्थानीय स्तर पर भी लागू होना चाहिए जिससे नागरिक सक्रिय रूप से सार्वजनिक कार्यों मे भाग ले सकें। स्थानीय सस्थाएं एक प्रकार से छोटी विधान सभायें होती हैं। इनके माध्यम से स्थानीय नेताओं को आवश्यक प्रशिक्षण मिल जाता है। वस्तुत स्थानीय स्वशासन की सस्थाएँ राजनीतिक चेतना के विकास मे 'प्राथमिक विद्यालयों' का काम करती हैं और लोगो को उत्तरदायी नागरिक बनने मे सहायता देती हैं। वस्तुत आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न स्तरो पर जनता को सार्वजनिक कार्यों मे सक्रिय भाग लेने के अवसर प्राप्त हो और सरकार तथा नागरिकों के मध्य लगातार विचारो का आदान प्रदान होता रहे।

शक्तिशाली और प्रभावशाली विरोधी दल—ससदीय लोकतत्र मे एक शक्तिशाली और प्रभावशाली विरोधी दल का होना अत्यत आवश्यक है। इसके अभाव

में सरकार लापरवाह हो जाती है और अपनी सत्ता का दुरुपयोग करने लगती है। किंतु यदि एक सतर्क विरोधी दल उसके दोष ढूंढने और अवसर मिलने पर उसकी आलोचना करने के लिए तैयार रहता है तो सरकार भी सावधानी से और सोच-विचार कर काम करती है।

सुख और समृद्धि के लिए राष्ट्रीय आयोजन—वर्तमान परिस्थितियों में अब यह आवश्यक हो गया है कि राज्य लोकतंत्रीय प्रक्रिया द्वारा राष्ट्रीय योजनाएं बनाए, जिससे आर्थिक विकास शीघ्र गति से हो सके और नागरिकों का जीवन-स्तर ऊंचा उठ सके। ऐसी योजना बनाने का लाभ यह होता है कि राष्ट्र के समस्त प्राकृतिक साधनों का अधिकतम उपयोग हो सकता है और शीघ्रता से नागरिकों के जीवन को सुखी और समृद्ध बनाया जा सकता है।

उच्च चरित्र—लोकतंत्र की सफलता के लिए यह नितांत आवश्यक है कि नागरिक उच्च-चरित्र वाले हों। वे ईमानदार हों, कर्तव्यपरायण हों, सेवाभाव से ओतप्रोत हों और आत्म-त्याग के लिए तत्पर हों। उच्च चरित्र वाले नागरिकों और ईमानदार नेताओं के अभाव में लोकतंत्रीय शासन विफल हो जाता है।

औद्योगिक लोकतंत्र की उपस्थिति—औद्योगीकरण के इस युग में, लोकतंत्रीय व्यवस्था उस समय तक पूर्ण नहीं मानी जाती जब तक औद्योगिक क्षेत्र में भी लोकतंत्र प्रचलित न हो। कोल, मैक्सी और लास्की इस संबंध में एकमत हैं। एक मजदूर को केवल अच्छा वेतन और कम काम के घण्टे ही नहीं होने चाहिए बल्कि उसे अपने कारखाने अथवा कार्यालय के प्रबंध में भी भाग लेने के कुछ अधिकार मिलने चाहिए।

सैनिकों और वैज्ञानिकों पर नागरिक सत्ता का शासन—लोकतंत्रीय शासन में नाना प्रकार के विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार सार्वजनिक कर्मचारी और सैनिक अधिकारियों की भी आवश्यकता होती है। किंतु लोकतंत्रीय शासन तभी सफल हो सकता है जब ये विशेषज्ञ और सैनिक अधिकारी राजनीतिक सत्ता के प्रभुत्व को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करें और उनके आदेशों एवं निर्देशों का यथावत् पालन करें[1]। कहने का आशय यह है कि सभी सरकारी अधिकारी पूर्णतः सरकार के अनुशासन में होने चाहिए। तभी उनसे लोकहित में काम लिया जा सकेगा।

बुनियादी बातों में मतैक्य—लोकतंत्रीय शासन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि बुनियादी बातों पर नागरिकों और राजनीतिक दलों में मतैक्य

1 देखिए K. M. Panikkar, *The Afro-Asian States and their Problems*, लंदन, 1959, पृ॰ 29.

हो। हमारे कहने का आशय यह है कि उनकी विचार-विभिन्नता ऐसी नहीं होनी चाहिए जो विचार-विमर्श से शांतिपूर्ण ढंग द्वारा दूर न की जा सके। जब किसी समाज में एक ऐसा वर्ग अथवा व्यक्ति-समूह पैदा हो जाता है जिसके बहुमत से इतने गम्भीर बुनियादी मतभेद हो जाते हैं कि वे संविधानी उपायों से हल नहीं किए जा सकते, तो लोकतन्त्रीय प्रणाली के लिए एक गम्भीर खतरा पैदा हो जाता है।

उपर्युक्त दशाओं के पूरा होने पर हम कह सकते हैं कि लोकतन्त्रीय समाज की नींव सुदृढ़ बन गई है। तथापि डा० बेनीप्रसाद, यह विश्वास प्रकट करते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र में नागरिकों का अपनी 'सामान्य बुद्धि' का योगदान सबसे महत्त्वपूर्ण होता है[1]। उसकी उपस्थिति में अन्य समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। वैसे भी, विज्ञान की उन्नति के कारण अब हमारे लिए यह सम्भव हो गया है कि हम उन समस्त बाधाओं को पार कर सकें जो लोकतन्त्रीय व्यवस्था के सम्मुख उपस्थित हैं। अब हम एक बड़े पैमाने पर विशुद्ध लोकतन्त्र की स्थापना कर सकते हैं[2]।

भारतीय परिस्थिति—15 अगस्त, सन् 1947 ई० को जब भारत स्वाधीन हुआ, उसके सम्मुख अनेक समस्याएँ और कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं। अब 20 वर्ष बीत जाने पर हम देख सकते हैं कि इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर हमने किस सीमा तक सच्चे लोकतन्त्र की नींव डालने में सफलता प्राप्त की है।

हमें यह मानना पड़ेगा कि हमारे नागरिकों में अभी बहुत से लोग अशिक्षित, गरीब, रोगी और बेकार हैं। आर्थिक सुरक्षा का अभाव है। अन्न की कमी है। संविधान द्वारा छुआछूत को अवैध घोषित कर दिए जाने पर भी इस प्रथा का उन्मूलन नहीं हुआ। भाषागत और प्रादेशिक विभिन्नताएँ कभी-कभी एक दूसरे के प्रति अविश्वास और कटुता पैदा कर देती हैं। विरोधी दल सशक्त नहीं है। *यह अनेक टुकड़ों में बँटा हुआ है। जाति-पाँति की प्रथा ने देश की राजनीति को एक गलत दिशा दे दी है। स्वशासन की संस्थाओं की नींवें अभी दृढ़ नहीं हुई हैं।* शासन के लोकतन्त्रीय होने पर भी अभी तक प्रशासन में हम आमूल परिवर्तन नहीं कर सके जिसके कारण आज भी नौकरशाही का बोलबाला है। भ्रष्टाचार की घटनाएँ आए दिन सुनने को मिलती हैं। तथापि हमने काफी प्रगति की है। विस्थापितों की समस्या काफी सीमा तक हल हो चुकी है। राष्ट्रीय योजनाओं के अंतर्गत औद्योगीकरण की दृढ़ नींव डाली जा चुकी

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 244.

2 वही, पृष्ठ 225.

हैं। शिक्षा और स्वास्थ्य की दिशा मे उन्नति हुई है। अन्य दिशाओं मे उन्नति के चिह्न विद्यमान हैं। नवविकसित राज्यो मे भारत उन थोडे से राज्यो मे से है जिन्होंने अपने अवसरों से पूरा लाभ उठाकर ऐसा वातावरण बना लिया है कि उनकी प्रगति की दिशा निश्चित हो गई है। अब यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम परिस्थितियो से लाभ उठाकर कितनी तेजी के साथ उन आदर्शों को प्राप्त करने मे सफल होते हैं जो हमारे सम्मुख प्रस्तुत हैं। यदि हमारा सकल्प दृढ है तो कोई कारण नही कि हम शीघ्र ही उन्नति की ओर अग्रसर न हों।

6 प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की प्रथाएँ

लोकतन्त्रीय शासन चलाने की योग्यता प्राप्त करने का एकमात्र ढग उसका प्रत्यक्ष अनुभव है। फाइनर के अनुसार, लोकतन्त्र के दोषों को दूर करने का सबसे अधिक प्रभावी उपाय लोकतन्त्र की बढोत्तरी है। इन्ही भावनाओ से प्रेरित होकर कुछ देशो ने प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की कुछ प्रथाओ को अपनाया है। इनमे से कुछ तो स्विट्ज़रलैंड म लम्बे समय से चली आ रही हैं और कुछ नई हैं। नीचे हम सक्षेप मे इन पर विचार करेंगे।

जनमत-निर्णय—जनमत निर्णय (Plebiscite) का शाब्दिक अर्थ है, जनता द्वारा निर्णय। स्ट्रोग के अनुसार, इस प्रकार का सार्वजनिक मतदान केवल ऐसे राजनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण विषयो पर होता है जिनका कुछ स्थायी प्रभाव या परिणाम हो। उदाहरण के लिए भारत मे पिछले दिनों गोवा म इस प्रश्न पर मतदान लिया गया कि गोवा निवासी अपनी पृथक् स्थिति बनाए रखना चाहगे अथवा महाराष्ट्र म अपना विलय। आधुनिक समय म सम्भवत सन् 1804 मे सर्वप्रथम नैपोलियन इसे काम म लाया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जनता की इच्छा जानने के लिए अथवा राष्ट्रों द्वारा स्वभाग्य निर्णय के अधिकार का प्रयोग करते हुए यूरोप मे इसे कई बार काम म लाया गया। लीकौक का मत है कि 'प्लेबीसाइट' जनता के मत का प्रदर्शन होता है। उसका कोई कानूनी प्रतिफल नही होता[1]। किंतु इस विचार को मानना इसलिए असगत प्रतीत होता है कि एक बार जनता स उसके मत सग्रह करने के पश्चात् उसके अनुरूप काम न करने म अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं। वस्तुत प्लेबीसाइट' का प्रयोग तभी किया जाता है जब उसके द्वारा प्रदर्शित निर्णय को कानूनी रूप देने का इरादा होता है। अतएव, इसे 'जनमत निर्णय की सज्ञा देना युक्तिसगत प्रतीत होता है।

जनमत गणना—यह एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा मतदाताओ के मतो

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 163.

का इच्छा की जानकारी प्राप्त की जाती है। स्विटजरलैंड मे इसका सोलहवी शताब्दी से प्रयोग होने लगा, लेकिन सविधानी मामलो मे इसका सर्वप्रथम प्रयोग अमरीका मे हुआ और तत्पश्चात् स्विट्जरलैंड मे। साधारण कानूनो के लिए इसका उपयोग अपेक्षाकृत नई बात है। जहाँ अनिवार्य जनमत-गणना (Referendum) की प्रथा प्रचलित है वहाँ विधानाग द्वारा पारित कानूनो को उस समय तक लागू नही किया जाता जब तक जनता की उस पर राय नही ले ली जाती। यदि मतदाता अपना निर्णय उसके पक्ष मे देते है तो वह कानून लागू हो जाता है, नही तो रद्द हो जाता है। इस प्रकार की मत-गणना कानूनी रूप से अनिवार्य भी हो सकती है और वैकल्पिक भी। दूसरी दशा मे उसे सरकार की इच्छा अथवा नागरिको की माँग पर किया जाता है।

इस प्रथा के समर्थन मे यह कहा जाता है कि जनता इसकी सहायता से अपने विधायको के विरुद्ध लोकतन्त्र की रक्षा कर सकती है। यदि विधायक भ्रष्ट हो जाए अथवा पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने लगे तो इस प्रथा से अप्रिय कानूनो को लागू होने से रोके जाने की गारण्टी प्राप्त होती है। इसका दूसरा लाभ यह है कि यदि किसी कानून के सबध मे अधिक मतभेद हो तो उसे उस समय तक लागू होने से रोका जा सकता है जब तक नागरिक इस सबध मे एक सामान्य निर्णय न ले लें। साथ ही यह जनता मे राजनीतिक चेतना को जागृत करता है और जनता की सर्वोपरिता का एक अच्छा प्रदर्शन है। किंतु इस प्रथा के दोष भी हैं। सबसे बडा दोष यह है कि आजकल जो कानून बनते हैं उनके विषय इतने जटिल होते हैं कि जनता उनके सबध मे कोई विवेकपूर्ण मत नही दे सकती। यही नही, स्विट्जरलैंड मे उसके प्रयोग मे यह स्पष्ट कर दिया है कि जनता अपने विधायकों से कही अधिक अनुदार होती है और सरलता से नए परिवर्तनों का समर्थन नही करती। इसके कारण वहाँ अनेक आवश्यक और प्रगतिशील कानून वर्षों के लिए रुक गए। यही नही, इससे विधानाग मे उत्तरदायित्व की भावना में कमी आ जाती है, क्योकि जब जनता को ही अतिम निर्णय करना है तो फिर उन्हे अधिक सोचविचार की आवश्यकता क्या है। हम कह सकते हैं कि अभी तक का अनुभव इसके पक्ष मे नही है।

सार्वजनिक उपक्रम—यह प्रथा जनमत-गणना की पूरक कही गई है। यदि पहले उपाय द्वारा नागरिक विधानाग के बुरे कानूनो को रोक सकते हैं तो सार्वजनिक उपक्रम (Initiative) के द्वारा वे विधानाग की इच्छा के विरुद्ध भी नए कानून बना सकते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि जनता जिन कानूनो को चाहती है विधानाग उन्हें नही बनाता। किंतु यदि सार्वजनिक उपक्रम की प्रथा प्रचलित हो तो एक निर्दिष्ट सख्या मे नागरिकों के आवेदन-पत्र भेजने पर विधा-

नाग को उनके सुझाव को या तो कानून में परिणत करना पड़ता है या उस जनमत के लिए प्रचारित करना होता है। इसके उपयोग में अपेक्षाकृत अधिक राजनीतिक प्रौढ़ता की आवश्यकता है।

इसके पक्ष में वे सभी युक्तियाँ दी जाती हैं जो जनमत-गणना के लिए दी गई हैं। साथ ही, यह भी कहा जाता है कि निष्क्रिय होने पर जनता इस उपाय से कानून बनवा सकती है। सार्वजनिक उपक्रम के रहने पर नेताओं के राजनीतिक दावपेंच भी नहीं चल पाते। इसके दोष भी वही हैं जो जनमत-गणना के हैं। इनके अतिरिक्त, इसके विरोध में यह युक्ति दी जाती है कि यह प्रथा आदोलनकारियों, जनमत-गणकों और दल के नेताओं को विशेष रूप से प्रभावशाली बना देती है। प्रायः सार्वजनिक मत को जानने के लिए प्रचारित किए जाने वाले बिलों की रूपरेखा भी ठीक ढंग से तैयार नहीं की जाती। जहाँ पर इस उपाय को संविधानी संशोधन के लिए प्रयोग किया जाता है, वहाँ यह खतरा भी बढ़ जाता है कि बिना भलीभाँति सोचविचार के महत्त्वपूर्ण संशोधन कर लिए जाएँ।

वापसी की माँग—इस प्रथा द्वारा एक निर्दिष्ट संख्या में नागरिक किसी निर्वाचित पदाधिकारी की पदच्युत (Recall) करने की माँग कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में निश्चित समय पर मतदान लिया जाता है और यदि जनता का मत उसके विपक्ष में हो तो वह पद से हटा दिया जाता है। यह प्रथा संयुक्त राज्य (अमेरिका) और सोवियत संघ में प्रचलित है। इस संबंध में यह खतरा रहता है कि कहीं इसके प्रचलन से प्रतिनिधि स्वार्थी किंतु शक्तिशाली व्यक्तियों अथवा समूहों के हाथों के खिलौने न बन जाएँ और उनकी स्वतंत्रता नष्ट न हो जाए। इसका गुण यह है कि निर्वाचित व्यक्ति यदि सुस्त हो अथवा जनमत के प्रति लापरवाह हो तो उन्हें वापस बुलाया जा सकता है।

आज के गतिशील समाज में धीमी चाल से चलने वाली इन प्रथा प्रक्रियाओं का विशेष महत्त्व नहीं है। यही नहीं, अनुभव से हमें यह ज्ञात हुआ है कि जनता विधायकों की अपेक्षा कहीं अधिक अनुदार होती है और प्रगतिशील कानूनों का बहुत कम समर्थन करती है। फिर, मतदाताओं में इतनी योग्यता भी नहीं होती कि वे जटिल प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट कर सकें और उचित निर्णय कर सकें।

7. अधिनायकतंत्र

अधिनायकतंत्रीय शासन-प्रणाली नई नहीं है। प्राचीन यूनान और रोम में भी इस प्रकार का शासन प्रचलित था। किन्तु यूनान में तानाशाही (Tyranny) ऐसी शासनव्यवस्था को कहा जाता था जो संविधानी नहीं होती थी और जो

कानूनो पर आधारित न होकर बलप्रयोग पर आधारित थी। रोम मे भी तानाशाही के अनेक उदाहरण मिलते हैं। वहाँ प्राय. तानाशाही एक निश्चित समय के लिए होती थी जब 'विधि-शासन' को मसूख कर दिया जाता था। इगलैंड मे क्रॉमवैल का शासन और फ्रास मे नैपोलियन का शासन भी इसी प्रकार का था। कोब्बन के अनुसार, नैपोलियन सर्वप्रथम आधुनिक डिक्टेटर था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अधिनायकतत्र का बोलबाला हो गया। सोवियत सघ मे 'सर्वहारावर्ग' का अधिनायकतत्र सन् 1917 ई० मे स्थापित हुआ। टर्की मे कमालपाशा अतातुर्क एक लोकप्रिय डिक्टेटर बन गए। सन् 1922 ई० मे मुसोलनी ने इटली मे अपनी तानाशाही कायम की और सन् 1933 ई० मे हिटलर ने जर्मनी मे। अन्य देशो मे भी छोटे-बडे तानाशाह बन बैठे। इस समय भी तीन प्रकार के अधिनायकतत्र प्रचलित है राजनीतिक दलो की डिक्टेटरशिप जैसे कि सोवियत सघ, चीनी जनतत्र, रूमानिया, बुल्गेरिया, पोलैंड आदि देशो मे है, सैनिक अधिनायकतत्र जैसा कि पाकिस्तान, बर्मा आदि देशो मे चालू हैं, और फासिस्ट तानाशाही जैसी कि स्पेन और पुर्तगाल मे कायम है।

अधिनायकतत्र के मूल मे असविधानी ढग से सत्ता को हथियाना है। इस प्रकार की सत्ता 'विधि-शासन' पर आधारित नही होती, बल्कि प्राय. कानूनो की उपेक्षा करते हुए मनमाने ढग पर चलती है। ऐसे देश मे प्राय. एक व्यक्ति सर्वोपरि सत्ताधारी होता है जिसकी स्थिति एक सगठित राजनीतिक दल अथवा सैन्य-बल पर आधारित होती है[1]। आधुनिक अधिनायकतत्र निश्चित अवधि के लिए नही होता और न वह किसी प्रतिनिधिक सस्था के प्रति उत्तरदायी होता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जो अधिनायकतत्र स्थापित हुए उनका प्रमुख कारण अनेक देशो मे फैली हुई निराशा और नाराजगी की भावनाएँ थी। यही नही, युद्ध के पश्चात् बेकारी, आर्थिक सकट, और पुर्ननिर्माण की समस्याओ का समाधान करने मे लोकतत्रीय व्यवस्थाएँ असफल सिद्ध हुई; अतएव लोगो का लोकतत्र से विश्वास हटने लगा। जब उन्होने राष्ट्रवादी नेताओ के जोशीले भाषण सुने और उनके बताए हुए प्रोग्रामो और वचनो पर ध्यान दिया तो वे सोचने लगे कि सभवत. ऐसे नेताओ को सत्ता सौप देने से देश की समस्याओं का समाधान हो जाए। इसी भुलावे मे आकर जनता ने इन तानाशाहो को सत्ता हस्तगत कर दी। अवसर से लाभ उठाकर, इन्होने समग्रवादी (*totalitarian*) शासन स्थापित किए।

अधिनायकतत्र और लोकतत्र के प्रमुख भेदो को निम्नलिखित तालिका मे प्रस्तुत किया गया है :

---

1 Alfred Cobban, *Dictatorship*, पृष्ठ 26.

लोकतत्र	अधिनायकतत्र
1. यह व्यक्तित्व के महत्त्व को स्वीकार करता है और व्यक्ति को साध्य मानता है, साधन नही।	1. यह समष्टि पर बल देता है और उसके हित मे व्यक्ति को अपना सर्वस्व अर्पण करने की प्रेरणा देता है।
2. यह नागरिको के व्यक्तिगत अधिकारो को मान्यता देता है और उनकी सुरक्षा का प्रबध करता है।	2. यह उत्तरदायित्वो पर बल देता है। यह लोगो के विचारो को भी नियत्रित करने का प्रयत्न करता है और विरोधी विचारो को पनपने नही देता।
3. यह स्वतत्रता और सहमति पर आधारित है।	3 यह अनुशासन, आज्ञापालन और दमन पर आधारित है।
4. यह शांति और समृद्धि की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।	4 यह जनता को भुलावे मे डालने के लिए हमेशा बाह्य सकट और युद्ध की बाते करता है।
5. इसमे विरोधी दल तो होते ही हैं, उनके कार्यों को भी रचनात्मक माना जाता है।	5. इसमें विरोध और विरोधी दलो का कोई स्थान नही है।
6. यह विचार-विमर्श और वाद-विवाद पर आधारित एक शासन-प्रणाली है।	6. इसमे दल और नेता पर विश्वास करने और उनके आदेशो के पालन पर बल दिया जाता है।
7. इसमे प्रचार के साधनो का इस तरह उपयोग किया जाता है कि जनता को सार्वजनिक विषयो पर समाचार मिलते रहे जिससे नागरिक विवेकपूर्ण निर्णय कर सकें।	7. इसमे प्रचार के साधनो का उपयोग सत्तारूढ दल और उसके नेता के विचारो के प्रचार के लिए किया जाता है। स्वतन्त्र प्रेस का इसमें कोई स्थान नही है।
8. लोकतत्र सोचने और रहने की एक विधि है।	8. इसमे तानाशाही का बोलबाला रहता है और जनता को आज्ञापालन के लिए बाध्य किया जाता है।
9. यह विवेक पर आधारित है और जनता की शिक्षा पर विशेष ध्यान देता है। इसका विश्वास है कि	9. इसमे शिक्षा का उद्देश्य नेता और सत्तारूढ दल के विचारों का प्रचार है। यह बौद्धिक तत्त्वो

बौद्धिक प्रक्रिया से नागरिको को सामाजिक हित की बातें समझाई जा सकती हैं।	को प्रधानता नही देता वल्कि भावनाओ, विश्वास, और जोश को महत्त्वपूर्ण मानता है।
10. यह व्यक्तित्व के विकास पर बल देता है।	10 यह एकीकरण मे विश्वास रखता है, और सत्तारूढ दल के विचारो को नागरिको पर थोपने का प्रयत्न करता है।

डा० वेनीप्रसाद के मतानुसार, अधिनायकतन्त्र के चार प्रमुख लक्षण हैं : प्रथम, *यह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सैनिकवाद की उपज है* , दूसरे, इसमे नेता अपने को राष्ट्रीय एकता तथा भावनाओ का प्रतीक मानता है और प्राय इसकी एक विशिष्ट सामाजिक विचारधारा होती है , तीसरे, यह आतरिक दशाओ को सुधारने के स्थान पर युद्ध की ओर जनता का ध्यान केंद्रित करता है और केवल छोटे मोटे सुधार कर पाता है , तथा चौथे, आतरिक विद्रोह को यह दृढता के साथ दबा देता है।

तथाकथित गुण—जिस समय अधिनायकतन्त्र का बोलबाला था, कई बुद्धिजीवियो और विद्वानो ने इसकी भूरि-भूरि प्रशसा की । इनमें बर्नार्ड शॉ भी थे। इसम निम्न प्रमुख गुण बताए जाते हैं प्रथम, कार्यक्षमता अर्थात् इसमे व्यर्थ बातो मे समय नष्ट नही किया जाता । मुसोलिनी कहा करता था कि मेरा प्रोग्राम बातें बनाना नही, काम करना है। दूसरे, सकटकालीन परिस्थितियो का यह दृढतापूर्वक सामना करता है । इसमे सरलता से निर्णय किए जा सकते हैं और उन्हें दृढता से लागू किया जा सकता है। तीसरे, यह देश और राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढाता है। चौथे, यह योग्य और कुछ व्यक्तियो को उचित पद देकर उनकी कुशलता से लाभ उठाता है। पांचवे, इसमे देश की कुछ न कुछ उन्नति होती है और फैली हुई बेकारी और गरीबी मे कुछ कमी आ जाती है।

दोष—यह व्यक्तित्व के विकास को रोकता है। नागरिको को आर्थिक सुरक्षा के भुलावे म डालकर उनकी वास्तविक स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेता है। दूसरे, यह देश और राज्य को साध्य मानता है जिसके लिए व्यक्तियो से बलिदान की माँग करता है। तीसरे, यह शक्ति का उपासक है। इसके अनुसार, जिसके पास शक्ति होती है उसकी प्रतिष्ठा होती है । अतएव यह युद्ध की बातें करता है और उसके लिए तत्पर रहता है। अनेक बार यह जानबूझ कर युद्ध मोल लेता है जिससे लोगो का ध्यान आतरिक दुर्दशाओ म हटकर बाह्य समस्याओ मे उलझ जाए और व सरकार को पूरा सहयोग दें। चौथे, इसमे नागरिक उदासीन हो जाते हैं ; सार्वजनिक विषयों म वे अधिक सोच विचार नही करते और

चुपचाप नेता की बातें मान लेते हैं। उनके इस अविवेकपूर्ण व्यवहार के कारण अधिनायकतन्त्र के दोषो का परिमार्जन और भी कठिन हो जाता है। पांचवे, अधिनायकतन्त्र प्राय उग्र राष्ट्रीयता का समर्थक और अंतर्राष्ट्रीयता का प्रबल विरोधी होता है। मुसोलिनी प्रायः कहा करता था कि शांति और अंतर्राष्ट्रीयता का ढोंग कायर लोग रचा करते हैं। उसका एक कथन और भी है, 'सब कुछ राज्य मे है, सब कुछ राज्य के लिए है, राज्य के बाहर कुछ भी नही है'। इन विचारो के कारण प्राय. विश्व-शांति खतरे मे पड जाती है और मानवता को भावनाओ को गहरी क्षति पहुँचती है। छठे, तानाशाह अपने प्रतियोगियो को पसद नही करते। अतएव, जो योग्य व्यक्ति उसके समकक्ष आने लगते हैं वे प्राय उनका अंत कर देते हैं। अत यदि पहला तानाशाह कुशल और योग्य शासक भी हो, तो भी इस बात की कोई गारटी नही है कि उसका उत्तराधिकारी भी योग्य होगा। वैसे भी, उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर प्राय झगड़े हो सकते हैं। सातवें, क्योंकि यह शासन-प्रणाली लोकमत पर आधारित नही होती और इसके अंतर्गत यथार्थ लोकमत को जानने का कोई प्रयत्न नही किया जाता, अत अधिनायकतन्त्र मे विशेष स्थायित्व नही होता। कभी भी असतुष्ट जनता ऐसी सरकार का तख्ता पलटकर नया शासन स्थापित कर सकती है। आठवें, इस शासन-प्रणाली के अंतर्गत जनता मे इतना मनोबल नही रहता कि वे किसी बडी विपत्ति अथवा पराजय का वीरता से सामना कर सकें। अतएव सकट के उपस्थित होते ही प्राय ऐसी सरकार का तख्ता पलट जाता है।

उपर्युक्त बातो पर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि यद्यपि इस प्रणाली में कुछ गुण हैं तथापि व्यक्ति और जनता के हित की दृष्टि से अधिनायकतन्त्र बहुत अनिष्टकारी है और आज के युग मे विवेकशील बुद्धिजीवी इसका समर्थन नही करते।

13
आधुनिक शासन प्रणालियाँ

> यह कहने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि राज्यों के वर्गीकरण जैसी कोई बात नहीं होती। मूलतः सभी राज्य एक-से हैं और सभी में समान रूप से राज्य के सभी लक्षण पाए जाते हैं।
>
> —विलोबी

1. शासन-प्रणालियों का वर्गीकरण

अरस्तू के वर्गीकरण पर हम विचार कर चुके हैं। उसके विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि पुराने वर्गीकरण हमारे लिए व्यर्थ हैं। आधुनिक प्रतिनिधि-प्रणाली ने सरकार के संगठन और प्रक्रियाओं में इतने परिवर्तन ला दिए हैं कि एक आधार पर सरकारों का वर्गीकरण अर्थहीन हो गया है। ब्लुश्ली बर्जिस और लीकौक ने नए वर्गीकरण प्रस्तुत किए हैं। इनमें प्रथम दो विद्वानों के वर्गीकरणों में ऐसी कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती कि उन्हें स्वीकार किया जाए। जैसा कि गार्नर ने कहा है किसी एक सिद्धांत पर आधारित वर्गीकरण संतोषजनक नहीं हो सकता। आधुनिक वर्गीकरणों में केवल लीकौक का प्रस्ताव ही संतोषजनक लगता है। लीकौक ने अपने वर्गीकरण में ऐतिहासिक शासन-प्रणालियों को स्थान नहीं दिया। सर्वप्रथम वह सरकारों को दो वर्गों में विभाजित करता है: लोकतंत्रीय, और निरंकुश। निरंकुश सरकारों में वह उन समस्त शासनों को सम्मिलित कर लेता है जिनमें लोकमत को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता और जहाँ नागरिकों को समुचित राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं। लोकतंत्रीय सरकारों में वह उन समस्त शासनों की गणना करता है जहाँ अंततः प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है। लोकतंत्रीय प्रणालियों को वह सीमित राजतंत्र और गणतंत्र में विभाजित करता है। इन दोनों को वह फिर एकात्मक और संघीय सरकारों में विभाजित करता है। इस विभाजन का आधार यह है

कि राजसत्ता एक स्थान पर केंद्रित है अथवा बिखरी हुई है। एकात्मक और संघीय सरकारों को वह फिर संसदीय और गैर संसदीय प्रणालियों में विभाजित करता है। इस विभाजन का आधार यह है कि कार्यांग विधानांग के प्रति उत्तरदायी है अथवा नहीं[1]।

लीकॉक का वर्गीकरण युक्तिसंगत होते हुए भी मान्य नहीं है। वह इस बात की एकदम उपेक्षा कर देता है कि राज्य एकदलीय है अथवा बहुदलीय। इस बात पर भी वह कोई ध्यान नहीं देता कि राज्य के अन्तर्गत नागरिकों के बुनियादी अधिकार सुरक्षित हैं अथवा नहीं, और 'विधि शासन' है अथवा नहीं। उसका वर्गीकरण राज्य के लक्ष्यों की ओर भी ध्यान नहीं देता और इस बात पर भी विचार नहीं करता कि राज्य व्यक्तियों को साध्य मानता है या केवल साधन मात्र। फिर आज के इस युग में जब कि साम्यवादी और समाजवादी विचारधाराएँ दुनियाँ के लगभग चालीस प्रतिशत व्यक्तियों में मान्य हो गई हैं, इस ओर ध्यान न देना उचित नहीं लगता। आज यह आवश्यक प्रतीत होता है कि शासन-प्रणालियों के वर्गीकरण में केवल ऊपरी संगठन पर ही ध्यान न दिया जाए बल्कि अरस्तू का अनुकरण करते हुए यह भी देखा जाए कि राज्य का उद्देश्य और उसके कार्य सर्वसाधारण के हित में हैं अथवा नहीं। राजनीति विज्ञान के फलहीन बन जाने का एक प्रमुख कारण यह है कि राजनीतिक विचारक उन वास्तविकताओं के स्थान पर, जिनका व्यक्तियों के जीवन से घनिष्ठ संबंध है, बाह्य बातों पर अधिक ध्यान देते हैं। केवल कोल, लास्की जैसे कुछ विचारकों ने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया है।

उपरोक्त बातों पर विचार करते हुए शासन प्रणालियों के आधुनिक वर्गीकरण के लिए निम्न मूल विषयों पर ध्यान देना आवश्यक है (1) धार्मिक और लौकिक सरकार—यह भेद इस बात पर निर्भर है कि देश के सभी कार्य धर्मानुसार होते हैं अथवा लौकिक दृष्टिकोण से प्रभावित होकर। प्रथम स्थिति में सरकार को हम धर्मतंत्र (theocracy) कह सकते हैं। इस प्रकार की सरकार संभवतः अब समाप्त हो चुकी हैं। आधुनिक सरकारें धर्म को प्रधानता नहीं देतीं और प्रमुख राजनीतिक विचारक इस संबंध में एकमत हैं कि एक अच्छा राज्य धर्मनिरपेक्ष (secular) होना चाहिए। (2) लोकतंत्रीय और निरंकुश सरकारें—यह भेद इस बात पर निर्भर है कि जनता को राजनीति में सक्रिय भाग लेने की स्वतंत्रता है अथवा नहीं। निरंकुश सरकार के अंतर्गत असीमित राजतन्त्र और अधिनायकतन्त्र दोनों ही आ जाते हैं। (3) संविधानी और असंविधानी सरकारें—इस वर्गीकरण का आधार यह है कि शासन निश्चित नियमों

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 116-117.

और सिद्धांतो के अनुसार चलता है अथवा नही, और देश मे 'विधि शासन' है अथवा नही। असविधानी सरकार मे, कानूनो और नियमो का नही, व्यक्तियों का शासन होता है। ऐसी सरकारो मे सत्ताधारियो के आदेश ही कानून होते हैं और उनकी मनमानी चलती है। (४) **वर्गीय शासन और लोक-कल्याणकारी शासन**—यह भेद इस बात पर आधारित है कि वास्तविक राजसत्ता समाज के किस वर्ग मे स्थित है। यदि वह धनिक वर्ग अथवा किसी अन्य वर्ग विशेष मे सन्निहित है और सरकार इन वर्गों के हित की दृष्टि से कार्य करती है तो उसे हम वर्गीय सरकार कहेंगे। ऐसी सरकार सामतवादी, पूँजीवादी अथवा सैनिको द्वारा सचालित हो सकती है। इसके विपरीत, वे सरकारें हैं जो वर्ग-विशेष के हित पर ध्यान न देकर जनसाधारण के कल्याण के हेतु कार्य करती हैं। इनके अतर्गत साम्यवादी सरकारें, समाजवादी सरकारें और वे पूँजीवादी सरकारें भी आ जाती हैं जो लोक-कल्याणकारी कार्यों मे प्रवृत्त हैं। (५) **एकात्मक और संघीय सरकारें** तथा (६) **ससदीय और अध्यक्षात्मक (राष्ट्रपति) सरकारें**—आगे चलकर हम अतिम चार प्रकार की सरकारो पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

2. एकात्मक और संघीय सरकारें

यह भेद इस बात पर निर्भर है कि राजसत्ता एक ही स्थान पर केंद्रित है और अन्य प्रादेशिक या स्थानीय सरकारें उस केंद्रीय सरकार के अधीन हैं अथवा नहीं। सघ सरकार मे एक ओर तो एक केंद्रीय अथवा सघीय सरकार होती है और दूसरी ओर प्रादेशिक सरकारें। इन दोनों सरकारों मे कोई भी किसी के अधीन नहीं होती। दोनो के क्षेत्र पृथक् और निश्चित होते हैं और अपनी-अपनी अधिकार सीमाओ मे उन्हे पूर्णसत्ता प्राप्त होती है। दोनो की सत्ता का स्रोत एक ही होता है अर्थात् जनता के निश्चय पर आधारित अधिकारो का विभाजन जो सविधान मे निहित है।

एकात्मक सरकार—एकात्मक सरकारी व्यवस्था मे केवल एक सर्वोच्च सरकार होती है। अन्य स्थानीय और प्रादेशिक सरकारें या तो होती ही नही हैं, अथवा वे केंद्रीय सरकार के पूर्णतः अधीन होती हैं। इन अधीन सरकारो के अधिकारो को केंद्रीय सरकार जब चाहे घटा-बढा सकती है, यहाँ तक कि वह इन सरकारों का अत भी कर सकती है। इस प्रकार की सरकार के प्रमुख गुण हैं पहला, यह एक कुशल और प्रभावी सरकार होती है। इसमे एक ही केंद्र से शीघ्रता से साथ निर्णय हो जाते हैं और सरकार का सगठन भी सरल और एकरूप होता है। दूसरे, यह सरकार बहुत दृढ होती है। इसमे न तो अधिकारो के सबध मे कोई झगडा होना है और न कई स्तरो पर लबे विचार-विमर्श करने

पड़ते हैं। तीसरे, उपर्युक्त कारणों से ऐसी सरकार निश्चित और दृढ़ घरेलू और पर-राष्ट्रनीति बनाकर उसे कार्यरूप में परिणत कर सकती है। चौथे, इसका सगठन सीधा सादा होता है, खर्च भी इसमें कम पड़ता है। कार्य करने की गति में भी तेजी होती है। पाँचवें, इस प्रणाली में इतना लचीलापन होता है कि समय और आवश्यकता के अनुसार इसमें परिवर्तन किए जा सकते हैं। छठे, इस प्रकार की सरकार छोटे राज्यों के लिए बहुत उपयुक्त है।

एकात्मक सरकार के अवगुण भी है। पहला, इसमें केंद्रीय सरकार के काम बहुत अधिक हो जाते हैं; इसलिए कार्यकुशलता में कमी आ जाती है। एक तो काम धीरे धीरे होता है और वह भी ठीक से नहीं हो पाता। दूसरे, एक केंद्र से शासन होने के कारण इसमें स्थानीय और प्रादेशिक आवश्यकताओं की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया जा सकता। यही नहीं, स्थानीय प्रतिभा का भी सदुपयोग नहीं हो पाता। अतएव, जनसाधारण में सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीनता आ जाती है। तीसरे, केंद्र के बहुत अधिक शक्तिशाली हो जाने से उसके निरंकुश हो जाने की आशंका रहती है। यही नहीं, शक्ति के केंद्रित हो जाने से सत्ताधारियों के भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना भी बढ़ जाती है जिसका प्रभाव नागरिकों पर दुर्भाग्यपूर्ण होता है। चौथे केंद्र में इतनी क्षमता नहीं होती कि वह स्थानीय और प्रादेशिक कार्यों को कुशलता के साथ कर सके। राजनीति का यह एक साधारण नियम है कि वही लोग समस्याओं को अच्छी तरह से समझ सकते हैं जिनका उनसे निकट संबंध होता है। दूरी पर बैठे हुए राजनीतिक पदाधिकारियों अथवा सरकारी कर्मचारियों को यह क्या पता हो सकता है कि किसी स्थान विशेष अथवा प्रदेश की क्या आवश्यकताएँ हैं और उनको किस प्रकार सुगमतापूर्वक और कम खर्च से पूरा किया जा सकता है। अतएव, इस प्रणाली के अंतर्गत नौकरशाही के बढ़ जाने की सम्भावनाएँ रहती हैं जिससे नागरिकों की स्वतंत्रता पर आँच आती है। इन दोषों का विवेचन करते हुए गार्नर का कहना है कि यह स्थानीय पहल (initiative) को प्रोत्साहन नहीं देता, सार्वजनिक मामलों में लोगों को उदासीन बनाता है, स्थानीय सरकारों को बलहीन कर देता है, और केंद्रीय नौकरशाही के विकास को बढ़ावा देता है।

संघीय सरकार

संघीय सरकार में दो स्तरों पर पृथक् सरकारें होती हैं प्रथम, *केंद्रीय* अथवा संघीय सरकार, और दूसरी, प्रदेशों अथवा इकाइयों की सरकारें। इनमें से कोई भी सरकार दूसरे के अधीन नहीं होती। दोनों के पृथक् कार्य क्षेत्र होते हैं और अपने क्षेत्र में वे स्वायत्तशासी (autonomous) होती हैं। दोनों की सत्ता

का स्रोत एक ही होता है अर्थात् सविधान। सविधान से दोनो को सत्ता प्राप्त होती है और वही उनके अधिकार-क्षेत्रो की व्याख्या करता है। सघीय राज्य की परिभाषा देते हुए फाइनर ने कहा है कि यह एक ऐसा शासन है जिसमे सत्ता और शक्ति का एक भाग स्थानीय क्षेत्रों मे निहित होता है और दूसरा भाग केंद्रीय सस्था मे। डाइसी के कथनानुसार, सघीय राज्य एक ऐसी राजनीतिक रचना है जिसमे राष्ट्रीय एकता और शक्ति तथा प्रदेशो के अधिकारो की रक्षा करते हुए दोनों मे सामजस्य स्थापित किया जाता है। गार्नर के कथनानुसार, ऐसी शासन-प्रणालियो मे केंद्रीय और स्थानीय सगठन एक प्रभुसत्ता के अतर्गत स्थित होते हैं और ये दोनो प्रकार की सरकारें अपने निश्चित अधिकार-क्षेत्र की सीमाओ मे, जो सामान्य सविधान द्वारा निर्धारित की गई हैं, सर्वोपरि होती हैं। अत यह स्पष्ट है कि सघीय शासन मे प्रादेशिक सरकारो का होना आवश्यक है और उनकी पृथक् एव स्वतत्र सत्ता होती है जिस पर केंद्र का कोई नियत्रण नही होता।

एकात्मक और संघीय सरकारो के भेद

इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनो प्रकार की सरकारें एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। एकात्मक सरकार मे राज्यसत्ता केंद्रित होती है जबकि सघीय सरकार मे वह विभाजित होती है। दूसरे, एकात्मक सरकार मे दोनो ही सरकारो की सत्ता का एक सामान्य स्रोत होता है जिसमें उनके अधिकारों की व्याख्या की जाती है। प्राय यह एक लिखित सविधान के रूप मे होता है। यहाँ यह बताना सगत प्रतीत होता है कि स्थानीय अथवा प्रादेशिक सरकारों की उपस्थिति सघीय सरकार का विशिष्ट लक्षण नही है। कभी कभी एकात्मक शासन मे भी स्थानीय और प्रादेशिक सरकारें नियुक्त कर दी जाती हैं, किंतु ये सरकारें केंद्र के अधीन होती हैं और उनकी सत्ता केंद्र की कृपा पर निर्भर होती है। तीसरे, एकात्मक सरकार में एक ही केंद्रीय सरकार में सारी शक्ति केंद्रित होती है जबकि अनेक प्रादेशिक सरकारो के सगठन से सघीय राज्य का आरम्भ होता है। चौथे, एकात्मक सरकार मे केवल एक केंद्रीय नागरिकता होती है जबकि सघीय राज्य मे कभी कभी सघीय नागरिकता और प्रादेशिक नागरिकताएँ पृथक होती हैं। पाँचवे, एकात्मक सरकार मे एक लिखित और कठोर सविधान का होना आवश्यक नही है किंतु एक सघीय शासन के लिए वह आवश्यक होती है क्योंकि सघीय शासन मे सघीय और प्रादेशिक सरकारो के बीच जो अधिकार-क्षेत्र का विभाजन होता है वह केवल सुस्पष्ट ही नही होना चाहिए बल्कि इस विभाजन को सविधानी सरक्षण भी प्राप्त होना चाहिए अर्थात् इसमें सुगमता से सशोधन करना

सम्भव नहीं होना चाहिए। छठे, संघीय राज्य में अधिकार-क्षेत्र के विभाजन के संरक्षण के लिए प्रायः कुछ विधि निश्चित की जाती है। अमेरिका और भारत में सर्वोच्च न्यायालयों को संविधान की रक्षा करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। स्विट्जरलैंड में इनके अधिकार-क्षेत्रों की रक्षा का भार जनता पर है क्योंकि जनमत संग्रह द्वारा जनता स्वतः यह निर्णय कर सकती है कि इनके आपसी झगड़े और मतभेदों का निपटारा किस प्रकार किया जाए। सोवियत संघ में यह अधिकार संघीय संसद को प्राप्त है। कहने का आशय यह है कि अधिकार-क्षेत्रों को सुरक्षित रखने के लिए और इससे संबंधित झगड़ों के निपटारे के लिए कोई न कोई ढंग निर्धारित होना चाहिए। एकात्मक सरकार में इस प्रकार की कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसमें शक्ति केंद्रित होती है।

संघीय शासन और परिसंघ (Confederation) में भेद

कभी-कभी कुछ लोग संघीय शासन और परिसंघ में स्पष्ट भेद नहीं कर पाते जिसके कारण अनेक भूलें हो जाया करती हैं। वस्तुतः ये दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। लीकॉक के कथनानुसार, परिसंघ एक राज्य न होकर स्वतंत्र और सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न ऐसे राज्यों का समूह होता है जो किन्हीं सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संगठित हो गए हैं। कानूनी रूप से वे हर समय राज्यमंडल से पृथक् होने के लिए स्वतंत्र हैं। गार्नर के कथनानुसार, एक परिसंघ में अनेक प्रभुसत्ता सम्पन्न सरकारें होती हैं। साधारणतः परिसंघ के प्रत्येक सदस्य का अपना स्वतंत्र अस्तित्व होता है और वह अन्य राज्यों के साथ अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र होता है। यदि परिसंघ के सदस्यों में युद्ध छिड़ जाए, तो वह अंतर्राष्ट्रीय युद्ध होगा। इसके विपरीत संघीय राज्यों में यदि प्रदेशों के बीच आपस में अथवा प्रदेशों और केंद्र के बीच संघर्ष छिड़ जाए तो वह एक गृह-युद्ध होगा[1]। इस प्रकार, परिसंघ अत्यंत ढीला-ढाला होता है और वह स्थायी भी नहीं होता, जबकि संघीय शासन दृढ़ और स्थायी होता है। परिसंघ न तो स्वतः ही एक राज्य होता है और न इसकी अपनी कोई ऐसी सरकार होती है जो सीधे राज्य के नागरिकों को आदेश दे सके। वस्तुतः परिसंघ का नागरिकों के साथ कोई सीधा सम्पर्क नहीं होता। उसके प्रस्ताव सदस्य राज्यों पर सीधे लागू नहीं होते और न परिसंघ नागरिकों पर कर ही लगा सकता है। कुछ विद्वान् लेखक परिसंघ को संघ शासन का प्रथम सोपान मानते हैं। अपने मत के समर्थन में वे कहते हैं कि संयुक्त राज्य (अमरिका) और स्विट्जरलैंड में ऐसा ही हुआ था।

---

1 वही, पृष्ठ 251-52.

संघीय राज्य की आवश्यक दशाएँ

संघीय राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक कुछ दशाएँ हैं जिनकी अनुपस्थिति मे संघीय शासन कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए विद्वानों का यह मत है कि संघीय राज्य ऐसे प्रदेशो से मिलकर बनता है जो भौगोलिक रूप से आपस मे सम्बद्ध हों। दूर-दूर बिखरे हुए भू-मार्गो मे संघीय राज्य की स्थापना कठिन होती है, और यदि बीच मे किसी अन्य राज्य अथवा राज्यों के प्रदेश हो तो कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है। दूसरे, जो लोग मिलकर एक संघीय राज्य बनाना चाहते हैं उनमे कुछ सामान्य विचार, भावनाएँ और आकाक्षाएँ होनी चाहिए। प्राय उनमे भाषा, संस्कृति, धर्म आदि पर आधारित एकता के भाव होने हैं जिनके कारण संघीय राज्य की स्थापना सुगम हो जाती है। तीसरे, ऐसे लोगो और प्रदेशो मे संघ बनाने की इच्छा होनी चाहिए, एकता और एकरूपता की नहीं। जहाँ एकता और एकरूपता की आवश्यकता का अनुभव हो वहाँ एकात्मक शासन-प्रणाली अधिक उपयुक्त होती है। तथापि यह आवश्यक है कि अनेकरूपता के रहते हुए भी संघीय राज्य के लिए उत्सुक लोगों मे कुछ न कुछ एकता की भावना अवश्य हो जिसके बिना संघीय राज्य का निर्माण और उसका सुचारु रूप से चलना सम्भव नहीं होता। प्राय लोग संघीय राज्य की स्थापना तभी करते हैं जब वे किसी कारणवश अपने प्रदेशों के अधिकारो और अपनी विविधता को बनाए रखना चाहते हैं। चौथे, संघ के बनाने मे जो घटक हो उनमे जनसंख्या, क्षेत्रफल और प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से लगभग समानता होनी चाहिए। यदि संघीय राज्य मे एक क्षेत्र इतना अधिक शक्तिशाली और बडा हो कि दूसरे घटक उसके सामने फीके पड जाएँ तो इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि वह दूसरो पर हावी हो जाएगा और सच्चे अर्थ मे वह संघीय राज्य न रहेगा। पाँचवे, एक संघीय राज्य की स्थापना के लिए यह भी आवश्यक है कि जो लोग मिलकर ऐसा राज्य संगठित करना चाहते हैं उनमे कुछ सामान्य सामाजिक और राजनीतिक संस्थाएँ और विचार हो। इनके अभाव मे यदि संघीय राज्य स्थापित हो भी जाए, तो उसका स्थायी रहना दुर्लभ हो जाएगा। उदाहरण के लिए, एक ऐसे संघीय राज्य की कल्पना करना जिसका एक घटक लोकतन्त्रीय प्रणाली मे विश्वास करता हो और दूसरा अधिनायकतन्त्र मे, असंगत प्रतीत होती है। छठे, क्योंकि संघीय शासन-प्रणाली अपेक्षाकृत जटिल व खर्चीली होती है, अतएव, यह भी आवश्यक है कि सम्मिलित रूप से ऐसा राज्य बनाने वाले व्यक्तियों के पास पर्याप्त प्राकृतिक साधन हो और उनमे इतनी राजनीतिक चेतना भी हो कि वे सफलतापूर्वक ऐसा राज्य चला सकें। अंतिम रूप से यह बता देना आवश्यक है कि एक स्थायी संघीय राज्य का निर्माण तब तक सम्भव नहीं है जब

तक कि उसकी जनता मे सम्मिलित रूप से रहने की इच्छा न हो।

सघीय राज्य के अनिवार्य तत्व

इसके अनिवार्य तत्वो पर मेरियट, गिलक्राइस्ट, फाइनर आदि विद्वानों ने विचार किया है। उनके मतानुसार, सक्षेप मे, सघीय राज्य के निम्न अनिवार्य तत्व हैं (1) केंद्रीय और प्रादेशिक स्तरों पर पृथक् और स्वतत्र सरकारों का होना, (2) इन सरकारों के बीच अधिकारो का स्पष्ट और निश्चित विभाजन, (3) विचार विमर्श के बाद निर्मित एक लिखित और प्राय कठोर सविधान, (4) सविधान की सर्वोपरिता, (5) सीमित और सविधानी सरकार मे विश्वास, (6) विभिन्न स्तरो की सरकारों म मतभेद अथवा झगडे हो जाने पर निर्णय करने की कोई निश्चित विधि अथवा प्रक्रिया, (7) सघ के घटकों की सरकार के स्वरूप के सबध मे कुछ सामान्य विचार, (8) सघ के घटकों का सघीय ससद मे विशेष प्रतिनिधित्व, जिससे प्रादेशिक सरकारो के अधिकारो की रक्षा की जा सके, (9) घटको द्वारा सघ से सबध विच्छेद करने की सभावनाओ के सबध में नियम, और (10) प्रादेशिक इकाइयों के अधिकारो के सरक्षण के सबध मे कुछ विशिष्ट आयोजन। इनमें से कुछ तत्वों पर सक्षेप मे विचार किया जाएगा।

सविधान—सविधान में उन सभी बाता का निर्देश होता है जिनके आधार पर सघीय राज्य की स्थापना की जाती है। डाइसी के मतानुसार, इन विचारो को अलिखित होने से बाद मे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतएव, सघीय सरकारो मे सोच समझ कर सविधान बनाए जाते हैं और वे लिखित ही नहीं होते बल्कि अपेक्षाकृत उनका सशोधन भी कठिन होता है। साथ ही यह सविधान राज्य के सर्वोच्च कानून घोषित कर दिए जाते हैं अर्थात् वे अन्य सभी कानूनों से श्रेष्ठ होते हैं। अत सघीय और प्रादेशिक सरकारो को इसे सर्वाधिक मान्यता देनी होती है। इस व्यवस्था का एक परिणाम यह होता है कि सघीय और प्रादेशिक दोनों ही सरकारों के पास सीमित अधिकार होते हैं। अतएव, ये दोनों सरकारें सविधानी होती हैं। इन दोनों सरकारों के अधिकार क्षेत्रों का जो विभाजन होता है उसे विशेष सरक्षण दिया जाता है और उसम सशोधन करना विशेष रूप से कठिन बना दिया जाता है।

अधिकार क्षेत्रों का विभाजन—सघ एक द्वैध शासन होता है। अतएव, केंद्र और घटको के बीच उनके अधिकार-क्षेत्र का विभाजन अपरिहार्य है। इस विभाजन का सविधान मे समावेश किया जाता है जिससे सुगमतापूर्वक उसम सशोधन न किए जा सकें। प्राय इस विभाजन की विस्तृत व्याख्या की जाती है जिसस बाद म कठिनाइयाँ उपस्थित न हों। प्राय. सामान्य हित की बाते केंद्रीय अथवा

संघ सरकार को सौंप दी जाती हैं । उदाहरण के लिए, देश की रक्षा, पर-राष्ट्र-नीति, यातायात और संचार के साधन, विदेशी व्यापार आदि अनेक ऐसे अधिकार हैं जो केंद्र को सौंप दिए जाते हैं । दूसरी ओर, स्वास्थ्य, कृषि, शिक्षा, स्थानीय स्वशासन आदि प्राय प्रादेशिक सरकारों को प्राप्त होते हैं । इस विभाजन के संबंध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं और व्यवहार रूप में भी विभिन्न संघीय राज्यों में तरह-तरह के प्रबंध किए गए हैं । सोवियत संघ में तो घटक राज्यों को विदेशी मामलों और सैन्य संगठन के भी समान अधिकार प्राप्त हैं । यही नहीं, सोवियत संघ के दो घटक-राज्यों को, जिनके नाम यूक्राइन और बाइलोरशा हैं, संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता मिली हुई है । अत यह स्पष्ट हो जाता है कि इस संबंध में कुछ निश्चित धारणाएँ नहीं बनाई जा सकती ।

संघ बनाने का ढंग—संघीय राज्य प्राय दो प्रकार से स्थापित किए जाते हैं । कई बार कुछ स्वतंत्र राज्य मिलकर एक संघीय राज्य को जन्म देते हैं । इस विधि को एकीकरण (integration) कहते हैं । संघीय राज्य बनाने के दूसरे ढंग में एकात्मक राज्य का विकेंद्रीकरण करके पहले प्रदेशों को स्वायत्त बना दिया जाता है और फिर इन स्वायत्त प्रदेशों को मिलाकर एक संघीय राज्य का निर्माण होता है । संघ-निर्माण के इस ढंग को विघटन (disintegration) कहते हैं । भारत में सन् 1935 के संविधान के अंतर्गत इसी प्रकार संघीय शासन की योजना बनाई गई थी ।

अधिकार-क्षेत्रों के विभाजन की विधि—अधिकारों के विभाजन में प्राय. दो ढंग अपनाए जाते हैं । कुछ संघीय राज्यों में केवल संघीय सरकार की शक्तियों को निर्धारित कर दिया जाता है और यह मान लिया जाता है कि शेष सभी शक्तियाँ घटक प्रदेशों की सरकारों में निहित हैं । सोवियत संघ, संयुक्त राज्य (अमेरिका), स्विट्ज़रलैंड, और आस्ट्रेलिया ने इसी प्रकार के राज्य स्थापित किए हैं । ऐसे संघीय राज्यों को 'इकाई-प्रमुख' (centrifugal) कहते हैं । दूसरी ओर, कनेडा जैसे देशों के उदाहरण हैं जहाँ केवल प्रांतीय विषयों की सूची दी हुई है और शेष सभी अधिकार केंद्रीय अथवा संघीय सरकार में निहित हैं । इस प्रकार के संघीय राज्य को केंद्र-प्रमुख (centripetal) कहते हैं । ऐसी संघीय सरकारें अपेक्षाकृत अधिक शक्तिवर होती हैं । भारतीय संविधान के अंतर्गत न केवल केंद्रीय और राज्यों के विषयों की सूचियाँ हैं बल्कि एक समवर्ती सूची भी है, जिसके संबंध में केंद्र और प्रदेश दोनों ही कानून बना सकते हैं । किंतु यदि इन दोनों द्वारा बनाए हुए कानूनों में विरोध हो, तो केंद्रीय कानून माननीय होंगे । वस्तुत भारतीय संघ का एकात्मकता की ओर झुकाव है और वह संघीय राज्य के समस्त लक्षणों से पूर्ण नहीं है[1] ।

1 K. C. Wheare, *Federal Government*, पृष्ठ 28.

अवशिष्ट शक्तियाँ—अधिकार क्षेत्र की व्याख्या चाहे कितने ही ध्यानपूर्वक और विस्तार से की जाए, समय की गति के साथ ऐसे प्रश्न बराबर उठते रहेंगे जिनके सबंध मे सविधान मे कोई व्याख्या नहीं होती। उदाहरण के लिए, सन् 1945 ई० के पूर्व कोई देश यह कल्पना नही कर सकता था कि 'अणु शक्ति' इतनी महत्त्वपूर्ण हो जाएगी और अधिकार विभाजन मे उसको सम्मिलित करना होगा। इस प्रकार के जो अधिकार शेष रह जाते हैं उन्हे 'अवशिष्ट शक्तियाँ' (residuary powers) कहते हैं। कुछ सविधानो मे ऐसी 'अवशिष्ट शक्तियों' के सबध मे एक विधान होता है कि वे केंद्रीय शासन के पास होगी अथवा प्रादेशिक सरकारो के पास। ऐसी स्थिति मे कोई कठिनाई उपस्थित नही होती। लेकिन ऐसे भी सविधान है, जिनमे ऐसे कोई नियम नही हैं। तथापि यह प्रश्न ऐसा नही है जिसको छोडा जा सके। अतएव, सविधानी व्याख्या द्वारा अथवा सविधान मे सशोधन करके अथवा कुछ अभिसमयो को मानकर इस समस्या का समाधान कर दिया जाता है।

सघीय न्यायालय—हम देख आए हैं कि सघीय राज्य मे अधिकारो का वितरण सुस्पष्ट और सुनिश्चित होना चाहिए जिससे कोई मतभेद न हो और बाद मे कठिनाइयाँ उपस्थित न हो। किंतु इस सबध मे सावधानी से काम लेने पर भी मतभेद और झगडे उत्पन्न हो ही जाते हैं। अतएव, इनका निपटारा करने के लिए किसी एजेंसी की अत्यत आवश्यकता है। भारत और सयुक्त राज्य (अमेरिका) मे यह उत्तरदायित्व सर्वोच्च सघीय न्यायालयो को सौंपा गया है। लेकिन यह कहना कि एक स्वतत्र और निष्पक्ष सघीय न्यायालय का होना सघीय राज्य के लिए अपरिहार्य हैं, सगत प्रतीत नही होता। स्विट्ज़रलैंड मे इस प्रकार का कोई विधान नही है, तथापि स्विट्ज़रलैंड निश्चित रूप से एक सघीय राज्य है। सोवियत सघ म भी इस प्रकार की कोई व्यवस्था नही है और व्याख्या करने तथा मतभेदो को दूर करने का कार्य सघीय ससद को दिया हुआ है। कुछ विचारको का मत है कि सर्वोच्च न्यायालय के न होने से सोवियत सघ म प्रादेशिक सरकारो के अधिकार सुरक्षित नही हैं। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि एक स्वतत्र और निष्पक्ष सघीय न्यायालय का होना सघीय राज्य के लिए हम अपरिहार्य नही मान सकते, यद्यपि यह ठीक है कि आपसी मतभेदो और झगडो के निपटारे के लिए कोई न कोई व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

सघीय राज्यो के गुण—सघीय शासन के अनेक गुण हैं और यही कारण है कि इस प्रकार का शासन लोकप्रिय बनता जा रहा है। पहले, यह राष्ट्रीय एकता और प्रादेशिक स्वायत्तता म सामजस्य स्थापित करता है। इसमे अतर्गत विभिन्न प्रदेश अपनी विशेषताओ और विविधताओ की रक्षा करते हुए एक ही राज्य

के अतर्गत रह सकते हैं। एकात्मक सरकार मे इसकी कोई सम्भावना नही होती। दूसरे, इसमे केंद्रीयकरण से उत्पन्न दोषो से छुटकारा मिल जाता है और नौकरशाही का अपेक्षाकृत उतना बोलबाला नहीं होता और कार्य भी सुगमतापूर्वक और कुशलता से होता है। तीसरे, इसमे उचित कार्य-विभाजन रहता है। राष्ट्रीय विषय केंद्रीय सरकार के हाथो मे होते हैं और स्थानीय महत्त्व के विषय इकाइयो के पास। चौथे, इसमे स्थानीय प्रतिभा का सदुपयोग हो सकता है। अतएव, सार्वजनिक मामलो मे नागरिको की रुचि बढती है और उनमे राजनीतिक चेतना का भी समुचित विकास हो पाता है। पाँचवें, सघीय शासन ने एक बडे पैमाने पर लोकतत्रीय शासन को सम्भव बना दिया। एक बडे देश मे रहने वाले नागरिक भी इस प्रणाली के अतर्गत सार्वजनिक कार्यों मे भाग ले सकते हैं और प्रादेशिक तथा स्थानीय मामलो मे दिलचस्पी ले सकते हैं। छठे, यह प्रणाली उन बडे-बडे प्रदेशो के लिए, जिनकी स्थानीय दशाएँ एक-सी नहीं होती, बहुत अच्छी रहती है। इस प्रकार के देश मे एकात्मक सरकार ठीक-ठीक काम नही कर सकती, क्योकि उनकी प्रादेशिक आवश्यकताएँ एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। किंतु सघीय शासन मे इकाइयाँ तरह-तरह के कानून बना सकती हैं और उपयोगी सिद्ध होने पर ऐसे कानूनो और प्रयोगो को स्थायी रूप से अपना सकती हैं। सातवें, इसमे इकाइयो की सरकारो को भी अपने अधिकार-क्षेत्र मे पूर्णसत्ता प्राप्त होती है। अतएव, केंद्रीय निरकुशता से नागरिको की रक्षा हो जाती है। आठवें, सामूहिक रक्षा, आर्थिक विकास और अतर्राष्ट्रीय ख्याति की दृष्टि से सघीय शासन के बहुत लाभ हैं। यदि प्रदेश अपने छोटे-छोटे स्वतत्र राज्य बनाकर बैठते तो उनकी स्थिति अच्छी नही होती। अतिम रूप मे हम कह सकते हैं कि सघीय शासन ने मतभेदो को दूर किया है, पृथक्ता की भावना को पनपने से रोका है, सघर्षों और युद्धो की रोकथाम की है, और विभिन्न जातियो तथा समूहों को एक बर शक्तिशाली राज्यो को जन्म दिया है। हेनरी सिजविक के अनुसार, सघवाद का भविष्य अत्यत उज्ज्वल है। जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार, जहाँ भी स्थायी और सुचारु रूप से चलने वाले सघीय राज्यो के निर्माण की सम्भावना हो वहाँ उनकी स्थापना ससार के हित मे है।

संघीय राज्यों के दोष—सघीय राज्यो मे कुछ दोष भी हैं। पहला, इसमें केंद्रीय सरकार और इकाइयों की सरकारो मे प्राय मतभेद और झगडे होते रहते हैं जिनके कारण बहुत-सा समय और शक्ति का अपव्यय होता है। दूसरे, यह आतरिक और विदेशी मामलो मे दृढ और सबल नीति को नही अपना पाता, क्योकि सघीय सरकार के अधिकार सीमित होते हैं। उदाहरण के लिए, सयुक्त राज्य (अमेरिका) मे तलाक सबधी कानूनों की भिन्नता के कारण कभी-कभी

ऐसा होता है कि नागरिक एक राज्य में कानूनी रूप से तलाक दे जाते हैं पर दूसरे राज्य में आने पर उस तलाक को मान्यता नहीं मिलती। यदि इस बीच में पति और पत्नी ने नये विवाह कर लिए हों तो कठिनाई और भी अधिक बढ़ जाती है। तीसरा, इसका संगठन बहुत जटिल होता है और इसकी बारीकियों को समझना टेढ़ी खीर है। चौथे, कठोर और लिखित संविधान होने के कारण इसमें सरलता से परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता। अतएव, समयानुसार आवश्यक मोड़ देकर इससे काम नहीं निकाला जा सकता। इस प्रकार यह कठोर और अनुदार बन जाता है। पाँचवें, इसमें दोहरी शासन व्यवस्था होती है जिससे व्यय अधिक होता है। छठे, इसमें यदि एक इकाई बड़ी हो तो वह अन्य इकाइयों पर हावी हो जाने का प्रयत्न करती है और इस प्रकार सच्ची संघीय भावना का लोप हो जाता है। सातवें, आपसी झगड़े अथवा आंतरिक विद्रोह के कारण इसके भंग हो जाने का भय रहता है। आठवें, शनैः शनैः संघीय शासन में केन्द्र की सत्ता में वृद्धि होती रहती है और अन्तत वह इतनी शक्तिशाली बन जाती है कि इकाइयों का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। अतएव, कुछ विद्वान इसे एकात्मक राज्य की अन्तरिम सीढ़ी मानते हैं।

इन तथाकथित दोषों के होने पर भी संघीय शासन मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। ऐसे शासन के अंतर्गत विविधता की रक्षा करते हुए एक सामान्य सरकार बनाई जा सकती है। सम्भवतः यही कारण है कि इन दिनों नए-नए संघ बनाए जाने की चर्चा है। कुछ विद्वान तो एक विश्व संघ बनाने के स्वप्न देख रहे हैं। उनका विश्वास है कि बिना एक विश्व संघ बनाए मानव की शांति, सुख और समृद्धि संबंधी समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि संघों का युग अभी लद नहीं गया बल्कि आने वाला है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अंतर्गत राष्ट्रीय विविधताओं को बनाए रख कर एक बहुराष्ट्रीय राज्य स्थापित किया जा सकता है। आज बड़े-बड़े राज्यों के लाभ स्वीकार किए जाने लगे हैं। सोवियत संघ ने राष्ट्रीयता के आधार पर एक संघीय राज्य बनाकर हमारे सम्मुख एक ऐसा उदाहरण दिया है जिसको थोड़े से हेरफेर के साथ अन्य लोग भी अपने काम में ला सकते हैं।

3 संसदीय और राष्ट्रपति शासन

गार्नर के कथनानुसार, संसदीय शासन उस प्रणाली का नाम है जिसमें वास्तविक कार्यांग विधानांग की इच्छा पर निर्भर होता है। स्ट्रॉंग के अनुसार, जहाँ कार्यांग सीधे संसद् के प्रति उत्तरदायी होता है उसे संसदीय (उत्तरदायी) शासन कहना चाहिए। इसके विपरीत यदि वह एक निश्चित तिथि के बाद

संसद् से अधिक व्यापक किसी संस्था के (मतदाता आदि) प्रति अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हो, किंतु उसे पदच्युत न किया जा सके, तो ऐसी व्यवस्था को हम अध्यक्षात्मक अथवा राष्ट्रपति शासन कहेंगे।

संसदीय शासन के लक्षण—संसदीय शासन के अंतर्गत दो कार्यकारी (executive) होते हैं जिनमें एक दिखावे भर का होता है और दूसरा वास्तविक। दिखावटी कार्यकारी राज्य का प्रमुख होता है। वह संविधानी राजा अथवा रानी भी हो सकता है। चाहे उसका नाम कुछ भी हो उसके पास वास्तविक सत्ता नहीं होती। शासन की वास्तविक सत्ता एक मंत्रिमंडल को प्राप्त होती है जो संसद् के प्रति उत्तरदायी होता है। मंत्रिमंडल तभी तक देश पर शासन करता है जब तक उसे संसद् (अथवा राज्य के लोकप्रिय भवन) का विश्वास प्राप्त हो। दूसरे, संसद् के लोकप्रिय भवन में जिस राजनीतिक दल का बहुमत होता है वही मंत्रिमंडल बनाता है। इस पार्टी के संसदीय दल का नेता प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया जाता है और वह अपने सहयोगी चुनता है। तीसरे, मंत्रिमंडल के सदस्यों का समान दृष्टिकोण होता है और वे अपने राजनीतिक दल के कार्यक्रम और नीतियों को कार्य रूप देने का यत्न करते हैं। चौथे, मंत्रिमंडल के सदस्य आपस में मिलकर काम करते हैं और प्रधानमंत्री के नेतृत्व को स्वीकार करते हैं। पाँचवें, वे व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से संसद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मंत्रिमंडल अपनी नीति के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है, किंतु कभी-कभी विभागीय मामलों में मंत्रिमंडल सामूहिक उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करता और संबंधित मंत्री को उत्तरदायी ठहराता है। सामान्यतः अपनी नीतियों और राष्ट्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए वह सामूहिक उत्तरदायित्व स्वीकार करता है जिसके अर्थ यह होते हैं कि मंत्रिमंडल आलोचकों को उत्तर देने के लिए तत्पर रहता है और चाहे किसी मंत्री की आलोचना की जा रही हो उसके सहयोगी उसकी रक्षा के लिए उद्यत होते हैं। छठे, इसके अंतर्गत मंत्रिमंडल के सदस्य प्रायः संसद् के सदस्य भी होते हैं। कहीं-कहीं यह विधान है कि यदि वे संसद् के सदस्य न हों, तो उन्हें अपने पद पर बने रहने के लिए एक निश्चित अवधि में संसद् का सदस्य बन जाना चाहिए।

संसदीय प्रणाली के लाभ—इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें विधानांग और कार्यांग में निकट सम्पर्क रहता है। मंत्रिमंडल पूरी तरह संसद् पर निर्भर रहता है। अतः इन दोनों के बीच में कोई विरोध नहीं हो सकता। प्रायः मंत्री संसद् की कार्यवाही में स्वयं भाग लेते हैं और अपनी नीतियों और कार्यों के लिए संसद् की स्वीकृति लेते हैं। दूसरे, मंत्रिमंडल संसद् के द्वारा लोकमत के प्रति उत्तरदायी होता है। लोकमत की अवहेलना करके वह अधिक दिनों

तक सत्तारूढ़ नहीं रह सकता। उपचुनाव अथवा आम चुनाव में यह प्रकट हो जाता है कि सरकार के प्रति जनता का क्या रुख है और यदि लगातार कई बार सरकार उपचुनाव में हार जाए तो ऐसा माना जाता है कि मंत्रिमंडल ने जनता का विश्वास खो दिया है और इसकी परीक्षा करने के लिए उसे नए चुनाव कराने चाहिए। तीसरे, यह प्रणाली अपेक्षाकृत लचीली होती है। इसमें आवश्यकतानुसार शीघ्र गति से काम लिया जा सकता है। चौथे, इसमें उत्तरदायित्व एक ही स्थान पर केंद्रित होता है, और भले और बुरे कार्यों का राजनीतिक उत्तरदायित्व केवल मन्त्रिमंडल पर होता है। पाँचवें, इसमें सरकार के संगठन में एकता होती है। मन्त्रिमंडल संसद का नेतृत्व करता है और प्रधानमंत्री मन्त्रिमंडल का। इस प्रकार कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है। छठे, इस प्रणाली के अंतर्गत प्रायः एक विरोधी दल भी होता है जो अपनी आलोचनाओं और क्रियात्मक सुझावों से जनता की सेवा करता है। लास्की के कथनानुसार, विधानांग में कार्यांग के उपस्थित रहने का एक अच्छा परिणाम यह है कि मंत्रियों को अपनी नीति का स्पष्टीकरण करने का सुयोग मिल जाता है और आलोचकों को संगठित रूप से आलोचना करने का। इसमें उत्तरदायित्व की भावना दृढ़ होती है।

दोष—इस प्रणाली के भी कुछ दोष हैं। प्रथम, गार्नर के अनुसार, यह प्रणाली दलबंदी के आधार पर बनी होती है। यही नहीं, यह प्रणाली दलबंदी की भावना को बराबर उत्तेजित करती रहती है। दूसरे, आपत्ति-काल में इसके दोष और भी अखरते हैं। जब देश में जनता की एकता की अत्यंत आवश्यकता होती है तब भी इन दलों में झगड़े चलते रहते हैं। तीसरे, इसकी इस दृष्टि से भी आलोचना की गई है कि यह शक्ति के विभाजन के सिद्धांत के प्रतिकूल है। चौथे, इस प्रणाली के अन्तर्गत अनेक योग्य व्यक्तियों को राज्य में केवल इसलिए स्थान नहीं मिलता कि वे एक भिन्न विचारधारा अथवा दल के अनुयायी हैं। पाँचवें, इसमें सरकारें शीघ्रतापूर्वक बदलती रहती हैं। अतः कोई दीर्घकालीन योजना बनाना और उसके अनुसार कार्य करना बहुत कठिन हो जाता है।

अध्यक्षात्मक शासन—गैटिल के कथनानुसार यह ऐसा शासन है जिसमें कार्यांग विधानांग से स्वतंत्र रहता है और जिसमें कार्यांग को इतनी शक्ति प्राप्त होती है कि वह विधानांग के हस्तक्षेप का विरोध कर सके। इस शासन के प्रमुख लक्षणों में एक यह भी है कि यह सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। प्रायः इसका कार्यकाल निश्चित होता है और संसद द्वारा घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता। कभी-कभी इस प्रणाली के अंतर्गत भी एक मन्त्रिमंडल होता है जो संसदीय प्रणाली से बिल्कुल भिन्न होता है। अध्यक्ष प्रणाली का मन्त्रिमंडल अध्यक्ष के प्रति पूर्णतः उत्तरदायी होता है। इसके सदस्य संसद के सदस्य नहीं हो सकते।

यही नही इस प्रणाली के अतर्गत ससद् को भग करके नए सिरे से चुनाव कराने की भी कोई व्यवस्था नही होती। वस्तुत इसके गुण और दोष ससदीय प्रणाली के गुण और दोषो से ठीक विपरीत होते हैं।

अध्यक्ष प्रणाली के गुण—इसमे राष्ट्रपति (अर्थात् प्रधानाध्यक्ष) को एक निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है और अपने दिन प्रतिदिन के कामो के लिए उसे पूरी स्वतत्रता रहती है। दूसरे, अपना कार्यकाल और सत्ता निश्चित होने के कारण राष्ट्रपति को यह सुविधा रहती है कि वह अपनी नीति को दृढता से कार्य रूप मे परिणत कर सके। अतएव शासन मे भी अपेक्षाकृत दृढता और स्वतत्रता आ जाती है। तीसरे, यह प्रणाली विशेषत ऐसे राज्यो के लिए उपयुक्त है जहाँ भिन्न भिन्न जाति धर्म और सस्कृति के लोग रहते हैं।

दोष—इसमे सबसे बडा अवगुण यह है कि कार्याग और विधानाग की पृथक्ता के कारण इनमे आपसी सघर्ष होने की सम्भावना रहती है जिसके कारण *कभी-कभी गतिरोध उत्पन्न हो जाता है*। दूसरे, इसमे शक्ति और उत्तरदायित्व का ऐसा विकेंद्रीकरण होता है कि राज्य की नीति और कानूनो के लिए किसी को पूरी तरह उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता, क्योकि इसमे नेतृत्व निश्चित रूप से किसी एक सस्था अथवा अग को नही होता है। तीसरे, इस प्रणाली के अतर्गत कार्याग कभी-कभी निरकुश अनुत्तरदायी और खतरनाक बन जाता है। यदि राष्ट्रपति गडबड करने लगे तो उसे अपने पद से हटाने अथवा उसके कार्यों पर अकुश लगाने का कोई उपाय नही है। बुरे से बुरा अध्यक्ष भी अपने कार्यकाल मे पदच्युत नही किया जा सकता। चौथे, इसमे अच्छे और बुरे कानूनो का उत्तरदायित्व किसी पर नही डाला जा सकता क्योकि इसमे कार्य का उत्तरदायित्व स्पष्ट नही होता। पाँचवे, इसमे चुनाव के समय बहुत उत्तेजना रहती है। सत्ता एक व्यक्ति पर निर्भर होने के कारण इसमे शाति अथवा अशाति का अधिक भय रहता है। छठे इसमे जनता से सीधा लगाव न रहने के कारण अपेक्षाकृत कम लोच होता है जिसे एक दोष माना जा सकता है। सातवें, इसमे हम एक व्यक्ति से बहुत आशाएँ बना लेते है, जो प्राय पूरी नही होती। आठवें, इसमे आम चुनाव के समय बहुत जोश रहता है और ऐसे समय गृह युद्ध की सम्भावना भी बनी रहती है।

4. नौकरशाही

नौकरशाही (Bureaucracy) से हमारा अभिप्राय एक ऐसी सरकार से है जिसम राज्य के कार्य प्राय दफ्तरो मे, विशेष रूप से प्रशिक्षित अफसरो द्वारा, चलाए जाते हैं। नौकरशाही का नाम तभी उपयुक्त माना जाता है जब ऐसे सर-

के कल्याण की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। 'अभावात्मक राज्य' के स्थान पर अब 'लोक-कल्याणकारी राज्य' की भावना ज़ोर पकड़ती जा रही है। तथापि ध्यान देने योग्य बात यह है कि कल्पना के क्षेत्र मे हम भले ही लोक-कल्याणकारी राज्य के स्वप्न देखने लगें, व्यावहारिक रूप मे इस प्रकार के राज्य केवल उन्ही देशो मे स्थापित हो सकते हैं जो समृद्धिशाली हैं। ऐसे किसी देश मे जहां गरीबी, बीमारी, बेकारी आदि की समस्याएँ विकराल रूप धारण किए हुए हो, लोक-कल्याणकारी राज्य की बातें करना ख्याली पुलाव पकाने के समान है। लोक-कल्याणकारी राज्य केवल ऐसे देशो मे बन सकता है जहाँ जीवन की बुनियादी आवश्यकताओ और समस्याओ का समाधान हो चुका है और जहां जनसाधारण को 'सामाजिक सुरक्षा' प्राप्त हो चुकी है। अतएव, नवविकसित देशो के सबध मे लोक-कल्याणकारी राज्य की बातें करना असगत प्रतीत होता है। मृडाल के अनुसार, लोक-कल्याणकारी राज्य केवल उन देशों मे स्थापित हो सकते हैं जहां लोगो का जीवन-स्तर काफी ऊँचा बन चुका है और जहाँ सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र मे काफी सीमा तक समता आ गई है। अतएव, नव-विकसित देशो के लिए लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना केवल एक चरम लक्ष्य हो सकता है। तथापि, इसके बनने के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि शासन वर्गीय न हो और जनसाधारण की भलाई के लिए सतत् प्रयत्न किए जाएँ। ऐसा होने पर भी, लोक कल्याणकारी राज्य केवल एक सम्भावना-मात्र रहेगा और उसे साकार रूप देने मे हमें कई पीढ़ियों तक यत्न करने होंगे।

●

14
सरकार का संगठन

राजनीतिशास्त्रियों के लिए शक्ति पृथक्ता की जाँच की इससे अधिक कोई आवश्यकता नहीं है कि हम इस परिणाम पर पहुँच जाएँ शक्ति पृथक्ता को मान्यता देना हमारी उन सामान्य राजनीतिक आवश्यकताओं पर निर्भर है जिनको हम तात्कालिक समझते हैं।

—हर्मन फाइनर

1 सरकार के अग और उनके सबध

सरकार वह एजेंसी है जिसके माध्यम से राज्य के सकल्प बनते हैं और उनकी अभिव्यक्ति तथा पूर्ति होती है, अर्थात् राज्य के उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सरकार एक साधन मात्र है। हम सरकार के सगठन के प्रश्न का प्रादेशिक अथवा उसके कार्यों की दृष्टि से विवेचन कर सकते हैं। प्रादेशिक रूप में, सरकार कई स्तरो पर होती है केंद्रीय, प्रादेशिक, और स्थानीय। कार्यों की दृष्टि से सरकार को प्राय तीन विभागो अथवा अगो में बांटा गया है विधानाग, कार्यांग और न्यायाग। विधानाग राज्य के सकल्पों को व्यक्त करता है, कार्यांग इन्हे साकार रूप देता है और न्यायाग इनकी व्याख्या करता है और इनके अनुसार अपने निर्णय देता है।

सरकार के कार्यों का यह त्रिविध विभाजन सभी विचारको को मान्य नहीं है। विलोबी के अनुसार, इस सूची में दो अन्य कार्यों की बढोत्तरी की जा सकती है प्रशासन और निर्वाचक मडल। फाइनर के मतानुसार, सरकार के कार्यों मे दो बातें प्रमुख होती हैं सकल्प करना और उसे साकार रूप देना। सकल्प करने म निर्वाचक मडल, राजनीतिक दल, विधानांग, मन्त्रिमडल और राज्य का

प्रधान, सरकारी कर्मचारी, और न्यायांग भाग लेते हैं। उसके मतानुसार, राजनीतिक गतिविधि के सात प्रमुख केंद्र हैं जिनके परस्पर सहयोग से सरकार के कार्य चलते हैं[1]। किंतु अन्य विचारकों ने फाइनर के इस मत का समर्थन नहीं किया। प्रशासनिक विभाग कार्यांग का ही एक ऐसा पहलू है जिसमें विधानांग कार्यांग, प्रशासन और न्यायांग भी आ जाते हैं[2]। प्रशासन के महत्त्व को अब स्वीकार किया जाने लगा है और कुछ विद्वानों ने इसे सरकार का चौथा विभाग बताया है। जहाँ तक निर्वाचक मंडल और राजनीतिक दलों का प्रश्न है, उसके महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं, किंतु अनेक लेखक यह नहीं मानते कि ये दोनों सरकार के नियमित अंग हैं।

परस्पर सहयोग की आवश्यकता—सरकार के सुचारु रूप से चलने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि उसके विभिन्न अंग मिलकर काम करें। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने मद्य-निषेध कानून लागू करने का निश्चय किया है। सर्वप्रथम, यह निर्णय अपने दल में किया गया और तत्पश्चात् मंत्रिमंडलों द्वारा। इसके बाद विधानांगों में इस प्रकार के बिल प्रस्तुत किए गए। संभवतः कई स्थानों पर इनको कमेटियों के सुपुर्द कर दिया गया, जहाँ इनकी जाँच-पड़ताल की गई। तत्पश्चात् वे फिर विधानांग के सम्मुख प्रस्तुत किए गए और विभिन्न सोपानों (stages) को पार कर विधानांगों द्वारा पारित हुए। इसके उपरांत, उन्हें राज्यपालों के सम्मुख प्रस्तुत किया गया और उनकी सहमति मिल जाने पर उन्हें गजट में प्रकाशित किया गया और उस तिथि की घोषणा की गई जबसे ये कानून लागू होंगे। सरकारी कर्मचारियों को आवश्यक निर्देश दिए गए कि किस प्रकार इस कानून को लागू किया जाएगा। जो नागरिक इस कानून का उल्लंघन करते पाए गए, उनको पुलिस ने पकड़ा और उन्हें न्यायाधीशों के सम्मुख उपस्थित किया। सजा मिलने पर उन्हें जेल भेजा गया और अवधि पूरी होने पर वे छोड़ दिए गए। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि सरकार के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सहयोग पर उसका सुचारु रूप से चलना संभव है। यदि इन में से कोई भी अपने कर्तव्य का समुचित पालन न करे अथवा दूसरों को सहयोग देने से इन्कार करे तो इसका परिणाम गड़बड़ी के रूप में प्रकट होगा। एक ऐसी स्थिति की कल्पना कीजिए, जिसमें विधानांग जो कानून बनाता है न्यायांग उनके अनुसार निर्णय करने से इन्कार कर देता है अथवा कार्यांग उन्हें लागू करने का कोई प्रयत्न नहीं करता अथवा जेल के अधिकारी उन व्यक्तियों को जेल में भर्ती करने से इन्कार कर देते हैं

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 171.
2 रोडी, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 47.

जिन्ह न्यायाधीशो ने सजा दी है। यदि ऐसा हो, तो सरकारी कामो मे गति-रोध पैदा हो जाएगा और सगठित जीवन ही खतरे मे पड जाएगा। अत यह स्पष्ट है कि शासन की सफलता के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि उसके विभिन्न अग एक साथ मिलकर काम करें और एक दूसरे को पूर्ण सहयोग दें जिससे राज्य के उद्देश्यो की पूर्ति की जा सके।

2. शक्ति-पृथक्ता का सिद्धात

कुछ विद्वानो ने यह विचार प्रकट किया है कि व्यक्तिगत स्वतत्रता की रक्षा के लिए शक्ति का पृथक्करण अपरिहार्य है। गैटिल के कथनानुसार, इस सिद्धात का अभिप्राय यह है कि सरकार के तीनो प्रमुख कार्य भिन्न व्यक्तियो द्वारा सम्पादित होने चाहिए और इन तीनों विभागो के कार्यक्षेत्र इस प्रकार सीमित होने चाहिए कि वे अपने क्षेत्र मे स्वतत्र और सर्वोच्च बने रह।[1]

इस सिद्धात के प्रतिपादको मे प्राय अरस्तू का नाम लिया जाता है। अरस्तू ने सरकार के तीन प्रमुख कार्य बताए विचार-विमर्श, (deliberation) प्रशासन कार्य और न्याय कार्य। *विचार विमर्श के अतर्गत यह युद्ध और शाति, विधि-*निर्माण मैत्री सधि, मृत्यु-दण्ड, देशनिकाला, सम्पत्ति की जब्ती और प्रशासनिक पदाधिकारियो की नियुक्ति को सम्मिलित करता है। इसी प्रकार प्रशासन कार्य मे वह विशेष प्रकार के प्रशासन कार्यों की गणना के अधिकार को भी स्वीकार करता है[2]। यही नही, उस समय न्याय कार्य करने के लिए विशेष रूप से नियुक्त न्यायाधीश नही होते थे बल्कि सार्वजनिक न्यायालय होते थे। अत यह स्पष्ट है कि अरस्तू का शासन कार्यों का वर्गीकरण बाद मे मोंटेस्क्यु द्वारा दिए जाने वाले वर्गीकरण से भिन्न है और आधुनिक प्रक्रियाओ के अनुकूल भी नही है। इस सम्बध मे बोदाँ का उल्लेख भी किया जाता है। बोदाँ के अनुसार, शासक को न्याय कार्य स्वय न कर एक स्वतत्र न्यायालय को सौंप देने चाहिए। उसके कथनानुसार, यदि इन कार्यों को पृथक् न किया गया तो उसका फल यह होगा कि न्याय और दया, नियमो का दृढता से पालन और उनसे मनमानी छूट का एक अजीब मिश्रण बन जायगा। इस सिद्धात के प्रतिपादको में लॉक का नाम भी लिया जाता है। लॉक ने भी सरकार के तीन विभागो का उल्लेख किया है और उनके नाम विधानाग, कार्यांग और सघीय (federative) बताए हैं। उसके मतानुसार, सरकार के इन अंगा का निर्माण व्यक्तियो के 'प्राकृतिक अधिकारो' की रक्षा के लिए होता है। उसके मतानुसार एक सुव्यवस्थित राज्य मे विधा-

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 223

2 राजनीति, भाग 4 अध्याय 14.

नाग को कार्यांग से पृथक् रखना चाहिए, क्योंकि जो व्यक्ति कानून बनाते हैं यदि वे ही उन्हें लागू भी करेंगे तो सत्ता के दुरुपयोग करने की सम्भावना बढ़ जाएगी[1]। तथापि लॉक ने सरकार के विभिन्न अंगों के सहयोग और उनमें सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया है।

शक्ति-पृथक्ता के सिद्धांत का निरूपण करने वालों में मोंटेस्क्यु का नाम प्रमुख है। उसने अपनी पुस्तक स्प्रिट ऑफ द लॉज में जो सन् 1748 ई० में प्रकाशित हुई इस सिद्धांत को व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए परमावश्यक बताया है। उसके समय में फ्रांस में निरंकुशता का बोलबाला था और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का नामोनिशान न था। जब वह घूमते फिरते इंगलैंड पहुँचा तो वहाँ उसे नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को देखकर अत्यंत आश्चर्य हुआ। जब उसने विचार किया कि इसका आधार क्या है, तो वह इस परिणाम पर पहुँचा कि इसका वास्तविक आधार शक्ति-पृथक्ता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उसके मतानुसार, शक्ति एक स्थान पर केंद्रित नहीं होनी चाहिए। उसका विचार था कि स्वतंत्रता सरकारी व्यवस्था पर निर्भर नहीं है, बल्कि इस बात पर निर्भर है कि सरकारी कार्य किस भावना से प्रभावित होकर किए जाते हैं। उसके मतानुसार, केवल उदार शासन में ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकती है, और उसमें भी स्वतंत्रता की रक्षा तभी सम्भव है जबकि शक्ति का दुरुपयोग न हो। इस दुरुपयोग को रोकने का केवल एक उपाय है कि विभिन्न शक्तियाँ एक दूसरे की रोकथाम करें। संविधान का आयोजन इस प्रकार किया जाए कि किसी व्यक्ति को ऐसे कार्य न करने पड़े जिसके लिए वह कानूनन बाध्य नहीं है और किसी को ऐसे कार्य करने से न रोका जाए जिनकी कानून अनुमति देता है। अतः इस सिद्धांत का सार सरकारी कार्यों के त्रिविध विभाजन में निहित नहीं है, बल्कि सम्भाव्य प्रतिद्वंदियों में शक्ति के वितरण में है। और शक्ति की पृथक्ता का चरम उद्देश्य उदार शासन को प्रोत्साहन देता है[2]। मोंटेस्क्यु के कथनानुसार, 'राजनीतिक स्वतंत्रता केवल उदार शासनों में उपलब्ध होती है' और उनमें भी वह सदैव नहीं मिलती,

> उनमें वह उसी दशा में वर्तमान होती है जब सत्ता का दुरुपयोग न हो। अनुभव हमें बताता है कि चाहे जिस व्यक्ति को सत्ता सौंपी जाए, दुरुपयोग की सम्भावना रहेगी यह एक अटल सत्य है कि सद्गुणों के लिए भी सीमा की आवश्यकता होती है। इस दुरुपयोग की रोकथाम के लिए यह आवश्यक है कि एक शक्ति अन्य शक्तियों की रोकथाम करे . जहाँ

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 82 और 84

2 गार्नर, उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० 155-56

विधानी शक्ति और कार्यकारी शक्ति एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह मे निहित होती है, वहां स्वतत्रता का लोप हो जाता है, क्योकि इस बात की आशका रहती है कि वही राजा अथवा सीनेट निरकुश कानून बनाएगी और उसको निरकुशता के साथ लागू करेगी। इसी प्रकार, यदि न्यायिक शक्ति, कार्यकारी शक्ति और विधान-शक्ति से पृथक् नही होती, तो भी स्वतत्रता का लोप हो जाता है। यदि उसे विधानाग के साथ सम्मिलित कर दिया जाए तो प्रजा का जीवन और स्वतत्रता निरकुश शासन के अधीन हो जाता है, क्योकि ऐसी दशा मे निर्णायक ही विधायक भी होते हैं। यदि उसे कार्याग के साथ सयुक्त कर दिया जाए तो न्यायाधीश हिंसा और दमन से काम ले सकते हैं। यदि इन तीनो शक्तियों का एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को सौंप दिया जाए, फिर चाहे वे सम्भ्रात कुल के हो अथवा साधारण-वर्ग के .सभी बातो का अत हो जाएगा'।

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मोंटेस्क्यु सत्ता के केंद्रीकरण का एकदम विरोधी था। उसका सुझाव था कि शासन के तीनो कार्यों को भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे वितरित कर दिया जाए। फाइनर के कथनानुसार, 'वह एक ऐसे उपाय की खोज मे था जिससे शासन की सत्ता को सीमित किया जा सके, सविधान बनाया जा सके और ऐसी नहरो (=तरीको) का निर्माण किया जा सके जिनके सहारे शक्ति का प्रयोग हो, अर्थात् वह कुछ ऐसी माध्यमिक सत्ताओ को स्थापित करना चाहता था जो सम्भावित निरकुशता की रोकथाम कर सके। वह उग्र लोकतत्र का पक्षपाती न था'[1]। ध्यान देने की बात यह है कि मोंटेस्क्यु ने कभी भी पूर्ण शक्ति-पृथक्ता की मांग नही की; वह केवल शक्ति का विकेंद्रीकरण चाहता था और यद्यपि उसने ऐसी व्यवस्था बनाने पर जोर दिया जो अनियत्रित सत्ता की रोकथाम कर सके, तथापि उसका यह निश्चित मत था कि स्वतत्रता के लिए स्वाधीन और उदार भावना की आवश्यकता कही अधिक होती है। यही नही, उसने यह भी स्वीकार किया कि शक्ति-पृथक्ता के सिद्धात को साकार रूप देने में गत्यवरोध की भी आशका रहती है। तथापि उसने यह कहकर अपने मन को समझाया, कि 'क्योंकि वस्तुएँ बहुत देर तक स्थिर नही रह सकती, अत सरकार के विभिन्न अगो को भी मजबूर होकर मिलजुल कर काम करना होगा'।

मोंटेस्क्यु के इस सिद्धात का अमरीकी सविधान-निर्माताओ पर और क्रातिकालीन फ्रास पर विशेष प्रभाव पडा। मैसेचुसेट्स का सविधान (1780 ई०) स्पष्ट रूप से सरकार के कार्यों मे सयोजन की मनाही करता है। मोंटे-

1 वही, पृ॰ 159.

स्वयु के इन विचारों का अमेरिका के लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि यह सिद्धांत अमरीकी राजनीति में 'वेद-वाक्य' के समान माने जाने लगा। फाइनर के कथनानुसार, अमेरिका में संविधान निर्माताओं के सम्मुख व्यक्तिगत सम्पत्ति के संरक्षण का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण था[1]। इसी प्रकार क्रांतिकाल में फ्रांस में भी इस सिद्धांत को मान्यता दी गई और जो संविधान बने वे इसी आधार पर। किंतु, फाइनर के कथनानुसार, यह सिद्धांत सुधारकों, निहित वर्गों, और समरुचि समूहों का कार्य साधक बन गया[2]। उदाहरण के लिए फ्रांस में यह मांग की गई कि संसदीय प्रवृत्तियों के विरुद्ध (ये प्रवृत्तियां समाजवादी थीं) रोकथाम की जाए। फाइनर का मत है कि आज भी जब हम 'रुकावट और संतुलन' (Checks and balances) की मांग करते हैं तो हमें सरकारी हस्तक्षेप की आशंका होती है। यह मांग प्राय उन आर्थिक रूप से समृद्ध वर्गों द्वारा की जाती है जो लोकतंत्र की समता और सामूहिकता की प्रवृत्तियों से घबराते हैं। दूसरी ओर जो लोग एक नई सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए प्रयत्नशील हैं, उनमें इस सिद्धांत के प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाई देता[3]।

शक्ति पृथक्ता के सिद्धांत के पक्ष में युक्तियां—शक्ति पृथक्ता के सिद्धांत के पक्ष में अनेक युक्तियां दी गई हैं। पहले, यह सत्य है कि यदि शक्ति को नियंत्रित न किया गया तो आगे चलकर वह स्वतंत्रता के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। अत आम तौर पर शक्ति का केंद्रीकरण नहीं किया जाना चाहिए। जहां ऐसा करना आवश्यक हो, वहां दुरुपयोग के रोकने की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरे, यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि न्यायांग और कार्यांग पृथक हों। ऐसा न होने पर यह आशंका रहती है कि कहीं मनमाने कानून बनाकर उनको दृढ़ता से लागू न कर दिया जाए। कोई ऐसा भारतवासी, जिसको यह स्मरण है कि किस प्रकार जलियांवाला काण्ड के पश्चात् निरकुश कानूनों और आर्डिनेंसों की सहायता से राष्ट्रीय आंदोलन को कुचलने का प्रयत्न किया गया, इस सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकता। तीसरे, इस बात की भी अत्यंत आवश्यकता है कि न्यायिक शक्ति को कार्यकारी शक्ति से पृथक् रखा जाए। अन्यथा वही व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह अभियोक्ता, न्यायाधीश, और जेलाधिकारी बन बैठेगा। इस प्रकार, शक्ति के केंद्रीकरण के दो पहलू हैं एक तो कार्यकारी अफसर स्वयं न्यायाधीश अथवा मजिस्ट्रेट की तरह काम कर सकते हैं और दूसरे न्यायाधीश की स्थिति में काम करने वाले व्यक्ति कार्यांग के प्रशासनिक नियंत्रण

1 वही, पृष्ठ 162

2 वही, पृष्ठ 167.

3 वही, पृष्ठ 168 69.

मे हो सकते हैं। दोनो ही अवस्थाओं मे, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता खतरे मे पड जाती है। इन्ही बातो को ध्यान मे रखते हुए हमारे सविधान मे निर्देशक सिद्धातो का निरूपण करते समय सरकार को यह परामर्श दिया गया है कि यथासम्भव वह शीघ्रता से कार्यांग और न्यायाग को पृथक् कर दे। चौथे, विधानाग और न्यायाग को भी पृथक् होना चाहिए। ऐथेंस की लोकतन्त्रवादी सभा मे यह दोनो सत्ताएँ मिश्रित थी जिसका एक दुष्परिणाम सुकरात के मृत्युदड के रूप मे प्रकट हुआ। यदि विधायक स्वय ही न्यायाधीश भी बन जाता है अथवा यदि न्यायाधीश विधायको का भी काम करने लगते हैं तो शक्ति के निरकुश प्रयोग का खतरा बहुत बढ जाता है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का लोप हो जाता है। पाँचवें, कार्यांग और न्यायाग के लिए भिन्न स्वभाव और गुण वाले पदाधिकारियो की आवश्यकता होती है। न्यायाधीश को शात, निष्पक्ष, और जागरूक होना चाहिए। दूसरी ओर, कार्यकारी अधिकारियों को दृढ सकल्प और तुरत-मति होना चाहिए। विधायको मे भी योग्यता होनी चाहिए कि वे अपने निर्वाचक-मडल म व्याप्त लोकमत का अनुभव कर सकें और उनकी भावनाओ, आकाक्षाओ और शिकायतो को अधिकारियो तक पहुँचा द। कहने का अभिप्राय यह है कि न्यायाधीश एक अच्छा पुलिस अधिकारी नही हो सकता और न एक पुलिस अधिकारी अच्छा न्यायाधीश ही हो सकता है। अत कार्यक्षमता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि सरकार के विभिन्न कार्यों का सम्पादन करने के लिए विभिन्न योग्यतावाले व्यक्तियो को नियुक्त किया जाए।

शक्ति-पृथक्ता के सिद्धांत की आलोचना—उपर्युक्त तर्कों की सत्यता को स्वीकार करने पर भी यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्ति पृथक्ता अपरिहार्य नही है। सच तो यह है कि इस सिद्धात को मान्यता देना कई कारणो से न केवल अव्यावहारिक हो है बल्कि वाछित भी नही है। पहला, मोटस्क्यु ने यह स्वय स्वीकार किया कि इस सिद्धात को साकार रूप देने का यह परिणाम हो सकता है कि सरकारी कामा मे गत्यवरोध उपस्थित हो जाए। उसने यह आशा प्रकट की कि क्योकि वस्तुएँ बहुत समय तक स्थिर नही रहती अत कुछ समय के उपरात सरकार के विभिन्न अग भी किसी न किसी प्रकार पुन सहयोग से काम करने लगेंगे। किंतु उसने यह नही बताया कि सरकार के विभिन्न अगो म किस तरह सामजस्य स्थापित किया जा सकेगा। फाइनर के कथनानुसार, मोटेस्क्यु न इस समस्या की ओर भी ध्यान नही दिया कि इस सिद्धात को कार्यरूप मे परिणत करने से जो स्थिति उत्पन्न होगी वह क्या समाज की आवश्यकताओ को पूरा कर सकेगी, अर्थात् क्या तेजी के साथ

सरकारी काम किए जा सकेंगे[1]। सम्भवत मोंटस्क्यू के समय मे राज्य के कार्य इतने सीमित थे कि उसे इस प्रश्न पर ध्यान देने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही हुई। किंतु अब राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ गए हैं और वह लोक-हित के अनेक कार्यों को अपने हाथो मे लेने लगा है। ऐसी स्थिति मे राज्य के कार्यों की गति का प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है और उसको टालने से काम नही चल सकता। दूसरे, यदि अमरीकी संविधान का विवेचन किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति-पृथक्ता के सिद्धांत को मान्यता देने के कारण इसमे नेतृत्व की कमी आ गई है जिसके कारण सरकार कभी-कभी मूर्छित अवस्था मे रह जाती है और कभी उसमे ऐंठन आने लगती है[2]। क्योंकि अमरीकी संविधान में शासन के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करने की कोई व्यवस्था न थी, अतः जहाँ तक हो सका इस कार्य को राजनीतिक दलो के स्तरो पर किया गया जिसके कारण वहाँ सत्ता के वितरण मे एक उल्लेखनीय अंतर आ गया है। यद्यपि अब भी अमरीकी कांग्रेस को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हैं और यदि वह चाहे तो राष्ट्रपति के प्रोग्राम को रद्द कर सकती है अथवा उनमे आमूल परिवर्तन कर सकती है तथापि अब अनेक राजनीतिक समीक्षकों का यह निश्चित मत है कि अमरीकी संविधानी व्यवस्था मे प्रमुख चालक शक्ति राष्ट्रपति मे निहित है और यदि उसकी इच्छा हो तो तेजी से काम करने की सम्भावना हो जाती है[3]। तीसरे, कुछ विद्वानों का मत है कि सरकारी कार्यों का त्रिविध विभाजन अब अर्थहीन हो गया है। अब केवल विधानांग ही कानून नही बनाता, प्राय वह नियम बनाने का अधिकार कार्यांग को सौंप देता है। आज के युग में सभी शासनो के अंतर्गत कार्यांग ये नियम बनाता है जिन्हे मान्यता प्राप्त हो जाती है। यही नही, न्यायाधीश भी अपने सम्मुख मामलो का निर्णय करते समय, जाने अथवा अनजाने में, नए कानूनो का निर्माण करते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता को यदि कोई डर है तो सरकारी कर्मचारियो से। पिछले दिनो लार्ड ह्युअट (Hewett), ऐलन (Allen), और रैमजे म्योर (Ramsay Muir) ने नौकरशाही के विरुद्ध आवाज उठाते हुए कहा है कि एक 'नई निरंकुशता' (New Despotism) का जन्म हो रहा है। इन बातो को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि शक्तियों का त्रिविध विभाजन असंगत है[4]। गैटिल के

1 वही, पृष्ठ 161.

2 वही, पृष्ठ 165.

3 *रनॉर्ड ब्राउन उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 42.*

4 फाइनर, उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 170-71.

कथनानुसार, सरकार का प्रत्येक अंग अब अपने कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करता है। अनेक बार सरकार का एक ही अंग, विभिन्न समयों पर, विधान-शक्ति, न्यायिक-शक्ति और कार्यकारी-शक्ति का प्रयोग करता है[1]। अतः पूर्ण पृथकता असंभव ही नहीं, सैद्धांतिक रूप में अव्यावहारिक है। चौथे, फाइनर के कथनानुसार, राजनीतिक गतिविधियों के सात प्रमुख केंद्र हैं। वह स्वीकार करता है कि यद्यपि ये सातों ही एक दूसरे के लिए अत्यंत आवश्यक हैं, तथापि इनमें आपस में ईर्ष्या और अविश्वास की भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इनकी आपेक्षिक शक्ति राज्य के वातावरण, सरकार के उद्देश्यों और संविधानों ढाँचे पर निर्भर होती है। फाइनर के अनुसार, यह सोचना भ्रमपूर्ण होगा कि सरकार की शक्तियाँ एक विवेकपूर्ण व्यवस्था के अनुसार सामंजस्य स्थापित कर सकी हैं। ऐसी व्यवस्था युद्ध और आकस्मिक घटनाओं पर निर्भर हो सकती है और विवेकपूर्ण दूरदृष्टि पर भी[2]। पाँचवें, जैसा कि लास्की ने कहा है, सरकार के तीनों अंगों के क्षेत्र की इस प्रकार व्याख्या नहीं की जा सकती कि तीनों स्वाधीन भी बने रहें और अपने कार्यों को अपने क्षेत्रों तक ही सीमित करें। लीकॉक के मतानुसार, शक्ति-पृथक्ता को पूरी तरह लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि हम पृथक् चुनाव कराएँ और तीनों विभागों का स्वतंत्र कार्यकाल निश्चित कर दें। तब भी पृथकता पूरी तरह लागू न होगी। सम्भवतः कार्यांग द्वारा लागू किए जाने वाले कानून बहुत अधिक निरंकुश और अन्यायपूर्ण हो सकते हैं, फिर भी कार्यकारी अधिकारियों और न्यायाधीशों को उन्हें लागू करना होगा। अतः केवल शक्ति-पृथकता से व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा न हो सकेगी। अतः यह कहना निर्मूल है कि शक्ति-पृथकता के बिना व्यक्तिगत स्वतंत्रता असम्भव है। छठे, फाइनर के मतानुसार शक्तियों का विभाजन और शक्ति-पृथक्ता दो भिन्न धारणाएँ हैं जिनका एक दूसरे से अभिन्न संबंध नहीं है। वस्तुतः व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के लिए शक्तियों का विकेंद्रीकरण उतना आवश्यक नहीं है जितना कि रुकावटों और संरक्षणों का होना। अब विद्वानों का आम विचार यह है कि यदि किसी देश में बुनियादी अधिकारों को संविधान में स्थान दिया गया है और उन्हें लागू करने की समुचित व्यवस्था है, तथा साथ ही देश में 'विधि-शासन' (Rule of Law) भी चलता है, तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता सुरक्षित रह सकती है। इसके विपरीत संविधानी व्यवस्था में शक्ति पृथक्ता होने के कारण यदि भेदभाव, अविश्वास और गत्यवरोध उत्पन्न हो जाए, तो सामाजिक कल्याण के उद्देश्य की पूर्ति में अनेक बाधाएँ पड़ सकती हैं। सातवें,

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 228.

2 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 172.

लास्की के अनुसार, शक्ति-पृथक्ता से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि सभी शक्तियाँ समरूप हैं। सामान्यत न्यायाग और कार्यांग की शक्तियों को विधानाग की इच्छाओं द्वारा सीमित कर दिया जाता है। गेटिल के मतानुसार, लोकतन्त्रीय प्रणाली म सत्ता नागरिकों के हाथ मे केंद्रित होती है और रोकथाम एव सतुलन के द्वारा काफी सीमा तक अल्पमहयकों को भी कुछ सरक्षण मिल जाते हैं। बर्नार्ड ब्राउन क अनुसार, अब कार्यांग की शक्ति और प्रभाव बढता जा रहा है। इसका कारण यह है कि प्रमुख कार्यकारी पदाधिकारी राष्ट्रीय सकल्प और भावनाओं की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति करता है और विधानाग की अपेक्षा अधिक सुगमता से समयानुकूल कार्य कर सकता है। आठवें, कुछ विद्वानों ने मोंटेस्क्यु की आलोचना इस आधार पर की है कि उसकी राज्य की धारणा यत्रवद् है। उसका सिद्धात और शब्दावली बलविज्ञान से लिए गए हैं। 'क्योंकि उसम कोई अनुप्राणित करने वाला सिद्धात नही होना अत वह एक गतिहीन साम्यावस्था (equilibium) के रूप म प्रकट होता है। शक्तियों का सतुलन इतना नपा तुला है कि कोई भी अग कार्य करने म असमर्थ रहेगा'। किंगस्ले मार्टिन के अनुसार, शक्ति-पृथक्ता के सिद्धात से अधिक राज्य के कार्यों मे रुकावट डालने वाली अन्य कोई राजनीतिक व्यवस्था नहीं है। एक ऐसा राज्य जिसमें किसी को हानि पहुँचाने के अवसर न हों, अधिक जीवट वाला नहीं हो सकता। ऐवस्टीन के अनुसार, इस प्रकार की व्यवस्था ऐसे अभावात्मक राज्य क लिए ठीक हो सकती है जो केवल शाति व्यवस्था स्थापित करने और व्यक्तियों के अधिकारा तथा सम्पत्ति का सरक्षण करने के लिए बना हो, किंतु इसके अतर्गत एक आधुनिक राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। अतएव, यह सिद्धात समय के प्रतिकूल हो गया है। नवें, मोंटेस्क्यु ने अग्रेजी सविधानी प्रणाली को गलत समझा। जिस समय वह इगलैंड में पहुँचा ससदीय प्रणाली का उदय हो चुका था। और शक्ति-पृथक्ता का लोप हो गया था। किंतु मोंटेस्क्यु इन नई प्रवृत्तियों को नहीं समझ पाया। डाइसी के कथनानुसार, इगलैंड मे उस समय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सुरक्षित होने का कारण यह था कि इगलैंड विधि शासन मे विश्वास करता था और वहाँ नागरिकों के अधिकार परम्परागत सामान्य कानून पर आधारित थे। दसवें, कुछ आलोचकों न मोंटेस्क्यु द्वारा दिए हुए इस सिद्धात के नाम की भी आलोचना की। फाइनर के अनुसार, शक्ति पृथक्ता के स्थान पर यदि हम 'कार्यों के प्रभेद' की बात कहें तो अधिक सगत होगा। अन्य आलोचकों न 'शक्ति' शब्द के प्रयोग का विरोध किया है। उनका कहना है कि आधुनिक लोकतन्त्रीय व्यवस्था में शक्ति शब्द का उपयोग खटकता है। अतएव, हम शक्ति की पृथक्ता न कहकर कार्यों की पृथक्ता की

बात कहना चाहिए ।

यद्यपि मोंटेस्क्यु द्वारा प्रतिपादित शक्ति-पृथक्ता का सिद्धांत आज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता, तथापि इसमें सत्य का कुछ अंश है जिसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। उसने हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि सरकार की शक्तियाँ यदि केंद्रित होंगी तो उसका भयंकर दुष्परिणाम हो सकता है। यही नहीं, यद्यपि आज हम यह नहीं मानते कि शासन के सभी कार्य पृथक् हों, तथापि 'सुशासन' के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि न्यायांग पूर्णतः स्वतंत्र और निष्पक्ष हो (इस प्रश्न पर आगे चलकर विस्तार से विवेचन किया जाएगा)।

15
कार्यांग

प्रतिनिधि समाओं द्वारा अनुत्तरदायी कार्यवाहकों की अनियन्त्रित शक्ति को सीमित करने के प्रयत्न में आधुनिक लोकतंत्र का जन्म हुआ .. किंतु समकालीन युग में, प्रवृत्ति निश्चित रूप से बदल गई है—शक्ति अब संसदों से हट कर कार्यांगों को वापस मिल रही है।

—बर्नार्ड ब्राउन

फाइनर ने राजनीतिक गतिविधि के जिन सात प्रमुख केंद्रों का उल्लेख किया है उनमें से तीन कार्यांग के अंतर्गत आ जाते हैं : राज्य का प्रधान, मंत्रि-मंडल, और सरकारी कर्मचारी। गार्नर के कथनानुसार, 'एक व्यापक अर्थ में कार्यांग में वे सभी अधिकारी और एजेंसियाँ आ जाती हैं जिनका राज्य के संकल्प को लागू करने से संबंध है'।

1. कार्यांग और प्रशासन के भेद

अनेक लेखक कार्यांग और प्रशासन में स्पष्ट भेद करते हैं। इनमें से कुछ के मतानुसार, लोकप्रशासन राजनीति-विज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा है जिसका उद्देश्य उन जटिल समस्याओं का अध्ययन करना है जो वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मानवीय और भौतिक साधनों के संगठन और उनके निर्देशन से संबंधित हैं। विलोबी के अनुसार, कार्यकारी सत्ता से हमारा अभिप्राय उससे है जो सम्पूर्ण सरकार का प्रतिनिधित्व करती है और इस बात का निरीक्षण करती है कि राज्य के सभी अंग कानूनों का समुचित रूप से पालन कर रहे हैं। लोकप्रशासन से हमारा अभिप्राय उन कानूनों को वास्तव में लागू करने वाले अंग से है जिन्हें विधानांग बनाता है और न्यायांग जिनकी व्याख्या करता है। इस

भेद को बताने के लिए यह कह दिया जाता है कि कार्यांग सार रूप मे राजनीतिक होता है अर्थात् उसके कार्यों मे विवेक और निर्णय की आवश्यकता होती है जब कि प्रशासन मे निर्णीत नीतियो और आदेशो का पालन करना होता है। तथापि, कार्यांग को राजनीतिक कार्यवाहक और प्रशासन को स्थायी सरकारी कर्मचारी का पर्यायवाची समझ बैठना अनुचित और भ्रान्तिपूर्ण होगा। अब यह स्वीकार किया जाता है कि उच्च सरकारी कर्मचारी नीति-निर्धारण करने मे महत्त्वपूर्ण भाग लेते है। दूसरी ओर, प्रशासन को निर्देश देने और उसका नियन्त्रण करने का उत्तरदायित्व राजनीतिक कार्यकारियो अथवा कार्यपालिका मे निहित होता है।

2. कार्यांग के भेद

राजनीतिक और स्थायी कार्यकारी—आज के युग मे कार्यकारी और प्रशासनिक कार्य बहुत जटिल हो गए हैं। उनके कुशलतापूर्वक सम्पादन के लिए यह आवश्यक हो गया है कि राजनीतिज्ञो और विशेषज्ञो मे पूर्ण सहयोग हो। हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि और प्रशिक्षित प्रशासक मिलकर काम करें। इनमे से प्रथम को प्राय राजनीतिक कार्यकारी कह देते हैं और दूसरे को स्थायी कार्यकारी। राजनीतिक कार्यकारी का कार्यकाल निर्वाचन पर निर्भर होता है अथवा एक सीमित समय के लिए होता है, जब कि सार्वजनिक कर्मचारी आजीवन सेवा करते हैं। इससे हमारा आशय यह है कि वे सरकार की सेवा मे उस समय तक रहते हैं जब तक वे अवकाश ग्रहण की आयु तक न पहुँच जाए। अत सरकारी अफसरो के कार्यकाल में अनेक राजनीतिक कार्यकारी आते और जाते रहते हैं। स्थायी कार्यकारियो से यह आशा की जाती है कि वे राजनीतिक दृष्टि से पूर्णत निष्पक्ष रहेंगे और जो भी सरकार बनेगी उससे पूर्ण सहयोग करेंगे।

वास्तविक और दिखावटी कार्यकारी—यह भेद केवल ससदीय शासन प्रणाली और सीमित राजतन्त्र म होता है। इन दोनो प्रणालियों मे अतर्गत एक सविधानी कार्यकारी होता है जिसको वास्तव मे कोई अधिकार अथवा सत्ता प्राप्त नही होती, *यद्यपि कभी कभी समस्त शासन काय उसके नाम पर चलाया जाता है।* वास्तविक सत्ता दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह म निहित होती है। ससदीय प्रणाली म सत्ता मन्त्रिमडल के हाथो म होती है। सीमित राजतन्त्र मे वास्तविक सत्ता का उपभोग करने वाला कोई न कोई अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह होता है। इन प्रणालियो के अतर्गत जो दिखावटी कार्यकारी होता है उसको प्राय राज्य का प्रधान अथवा प्रमुख माना जाता है और प्रधानमन्त्री को सरकार का प्रधान कहते

हैं। उदाहरण के लिए यूनाइटेड किंगडम मे सारे शासन कार्य मन्त्रिमडल के नेता, प्रधानमन्त्री द्वारा किए जाते हैं यद्यपि प्रशासन रानी एलिजाबेथ के नाम से किया जाता है। इस प्रकार, ब्रिटेन की महारानी एक सविधानी प्रमुख है और वास्तविक सत्ता ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमडल मे निहित है। दिखावटी कार्यकारियो मे भारत का राष्ट्रपति और जापान का सम्राट भी है।

एकल और बहुल कार्यपालिका—एकल कार्यपालिका शासन वह होता है जिसमे वास्तविक सत्ता एक व्यक्ति के हाथ मे होती है और कोई अन्य व्यक्ति उसका भागीदार नही होता। उदाहरण के लिए, सयुक्त राज्य (अमेरिका) की सघीय सरकार मे वहाँ का राष्ट्रपति एकल कार्यपालिका-शासन का प्रमुख उदाहरण है। इसके विपरीत ब्रिटेन और भारत मे ससदीय शासन-प्रणालियाँ हैं जिसमें अनेक कार्यकारी होते हैं, यद्यपि समूचा मन्त्रिमडल एकमत होकर काम करता है। यह मन्त्रिमडल प्रधानमन्त्री का नेतृत्व स्वीकार करता है, जो मन्त्रिमडल की रचना और उसके जीवन मे एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना के कारण मन्त्रिमडल एक सुगठित समूह की तरह काम करता है। जहाँ कार्यकारी शक्ति एक व्यक्ति मे निहित न होकर एक व्यक्ति-समूह को दी हुई होती है उसे हम बहुल कार्यपालिका-शासन कहते है। स्पार्टा मे दो राजा हुआ करते थे और एथेंस में कार्यकारी सत्ता अनेक अफसरो के हाथ में होती थी। स्विस फेडरल कौंसिल बहुल कार्यपालिका-शासन का एक उत्तम उदाहरण है। इसी प्रकार सोवियत सघ का प्रेसीडियम भी अनेक कार्यकारी शासन का अनुपम उदाहरण है।

उत्तरदायी और अनुत्तरदायी कार्यकारी—जिन देशो मे कार्यकारी ससद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं, उन्हे उत्तरदायी अथवा ससदीय कार्यकारी कहते हैं और जहाँ वे ससद् के प्रति उत्तरदायी नही होते, उन्हे अनुत्तरदायी अथवा असंसदीय कार्यकारी कहते हैं। ससदीय कार्यकारी को ससद् का विश्वास न रहने की दशा मे पद से हटाया जा सकता है जबकि असंसदीय कार्यकारी को निश्चित अवधि की समाप्ति के पूर्व नही हटाया जा सकता।

वशानुगत और निर्वाचित कार्यकारी—वशानुगत कार्यकारी शासन मे राज्य का प्रमुख वशानुक्रम से सत्ता प्राप्त करता है। वशानुगत कार्यकारी प्राय. राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र मे होता है, यद्यपि इतिहास मे अनेक ऐसे उदाहरण हैं जब राजा का नियमित रूप से निर्वाचन हुआ है। जन्म से नियुक्ति लोकतन्त्रीय भावना के विरुद्ध है और सविधानी राजतन्त्र को छोडकर ऐसी व्यवस्था स्वीकार नहीं की जाती। लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था मे कार्यकारी का चुनाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जनता द्वारा किया जाता है और निर्वाचन का ढग राज्य की

शासन-प्रणाली पर निर्भर रहता है ।

3. कार्यकारी की नियुक्ति

कार्यकारी की नियुक्ति भिन्न-भिन्न देशों मे अलग-अलग ढग से की जाती है । इसके पांच प्रमुख ढग हैं वशानुगत, प्रत्यक्ष निर्वाचन, परोक्ष निर्वाचन, ससद् द्वारा निर्वाचन और नामजदगी ।

वशानुगत कार्यकारी—*इस प्रकार के कार्यकारी एक बार पदारूढ होने पर* जीवन-पर्यन्त शासन करते हैं । इस प्रकार की नियुक्ति का लाभ यह है कि इसमे बार-बार निर्वाचन नही करना पडता । इसके अतिरिक्त एक वशानुगत कार्यकारी को जो आदर और सम्मान प्राप्त हो सकता है, निर्वाचित कार्यकारी को वह नही मिलता । इस व्यवस्था मे स्थायित्व होता है और सरकारी नीति आए दिन बदलती नही रहती । यही नही, इस प्रकार का कार्यकारी इतना अनुभवी हो जाता है कि यदि वह राष्ट्रीयता और समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित हो तो *अपने मन्त्रिमडल को अच्छे परामर्श दे सकता है । तथापि इस प्रकार की* कार्यकारी का समय अब नही रहा । रूसो के कथनानुसार, सभी शासनो की गति पतनशील होती है , तथापि यह बात जितनी राजतत्र पर लागू होती है उतनी किसी अन्य शासन पर नही । फिर, राजा यदि योग्य भी हो तो इस बात की क्या गारटी दी जा सकती है कि उसका उत्तराधिकारी भी योग्य होगा । अयोग्य और निरकुश शासक देश को जितनी हानि पहुँचाते हैं उसका वर्णन करना कठिन है । इस व्यवस्था मे एक परेशानी यह भी है कि उत्तराधिकार के समय *अनेक झझट खडे हो उठते हैं । लीकोक के कथनानुसार, एक वशानुगत कार्य*-कारी की धारणा उतनी ही बेहूदा है जितनी एक वशानुगत गणितज्ञ अथवा राष्ट्र-कवि की ।

प्रत्यक्ष निर्वाचन—आधुनिक युग मे प्रत्यक्ष निर्वाचन राष्ट्रपति शासन का एक लक्षण है । इस प्रकार का निर्वाचन कई लैटिन अमेरिकन देशो मे होता है । आयरलैंड मे भी यही प्रथा है । सयुक्त-राज्य (अमेरिका) मे राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष होता है, लेकिन इस निर्वाचन का ढग ऐसा है कि वह लगभग प्रत्यक्ष *निर्वाचन के समान ही होता है । इस प्रणाली के कुछ लाभ हैं । प्रथम, यह लोक*-तत्रीय भावनाओ के अनुकूल है । दूसरे, इससे नागरिको की सार्वजनिक विषयो मे रुचि बनी रहती है । तीसरे, इससे राजनीतिक शिक्षा का प्रसार होता है । चौथे, जनसाधारण का एक ऐसे कार्यकारी मे अधिक विश्वास होता है जिसको उसने स्वय चुना हो ।

इस प्रणाली के कई दोष भी बताए गए हैं । उदाहरण के लिए कहा जाता

है कि जनता मे प्राय इतनी योग्यता नही होती कि वह विभिन्न उम्मीदवारो की योग्यताओ की परीक्षा कर उचित चुनाव कर सके। मेसन के अनुसार, राष्ट्रपति का चुनाव जनसाधारण द्वारा कराना उतना ही हास्यास्पद है जितना कि एक अधे व्यक्ति द्वारा रगो की पहचान कराना। फिर, ऐसे चुनाव मे अनेक प्रकार के तनाव पैदा हो जाते हैं और महत्त्वाकाक्षी लोगो को ऐसे अवसर मिल जाते हैं जिसमें वह षड्यत्र रचकर शासन का तख्ता पलट सकता है। यही नहीं, इस प्रकार के चुनाव मे दलीय भावना इतनी बढ जाती है कि राष्ट्रीय एकता की भावना को गहरी क्षति पहुँचती है और यह दुष्परिणाम उस हालत मे और भी अधिक दृष्टिगत होते हैं जब कार्यकारियो का कार्यकाल छोटा हो। कार्यकाल की अवधि छोटी होने पर पदाधिकारी को अपनी स्वतत्रता बनाए रखना भी कठिन हो जाता है। पद के लोभ मे आकर उन्हें दूसरे लोगों से तरह-तरह के समझौते करने पडते हैं और पदो का वितरण करना पडता है जो कुशलता की दृष्टि से और सार्वजनिक दृष्टि से भी अत्यत हानिप्रद हैं। यदि निर्वाचित कार्यकारी लोकप्रिय हो तो इस बात का भय बना रहता है कि वह कही डिक्टेटर बन जाने का स्वप्न न देखने लगे। यहा नहीं, यह व्यवस्था खर्चीली भी है और इसमे सार्वजनिक धन का अपव्यय होता है।

परोक्ष निर्वाचन—कुछ राज्यो में प्रमुख कार्यकारी का निर्वाचन एक विशिष्ट निर्वाचक-मडल द्वारा किया जाता है। इस प्रणाली को परोक्ष निर्वाचन कहते हैं। सयुक्त राज्य (अमेरिका) इसका एक प्रमुख उदाहरण है। अर्जेनटीना और फिनलैंड मे भी इसी प्रकार के कार्यकारी हैं। इस व्यवस्था मे प्रत्यक्ष निर्वाचन से उत्पन्न तनाव और गडबडियाँ नहीं होती और इसमे चुनाव भी विवेकपूर्ण ढग से हो जाता है।

इस प्रणाली म कुछ दोष भी हैं। सयुक्त राज्य (अमेरिका) मे परोक्ष निर्वाचन की पद्धति ऐसी बन गई है कि उसमे और प्रत्यक्ष निर्वाचन म बहुत अतर नही होता। फिर प्रत्यक्ष निर्वाचन ही क्यों न कराया जाय? इसमें एक अन्य दोष यह है कि सच्ची शक्ति निर्वाचक मडल म न होकर राजनीतिक दलो के नेताओं के हाथों मे आ जाती है और निर्वाचक मडल के सदस्यो को उनके आदेशानुसार काम करना होता है। फिर, इस प्रणाली में प्रत्यक्ष निर्वाचन से कम खर्च भी नहीं होता।

ससद् द्वारा निर्वाचन—यह प्रणाली स्विट्जरलैंड, इटली, आस्ट्रिया आदि राज्यो मे प्रचलित है। ससदीय शासन मे ससद् द्वारा निर्वाचन नही होता, किंतु प्राय बहुसख्यक दल का नेता प्रधानमत्री के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है। इसे भी निर्वाचन के समान ही समझना चाहिए। इस प्रणाली का सबसे

बड़ा लाभ यह है कि जिन लोगो को मतदान का अधिकार है वे अपेक्षाकृत चुराल और योग्य होते हैं। साथ ही, इस व्यवस्था के अंतर्गत कार्यांग और विधानांग मे सामंजस्य स्थापित हो जाता है जिसके कारण सारे कार्य सरलतापूर्वक हो जाते हैं।

किंतु यह व्यवस्था शक्ति-पृथक्ता के सिद्धांत के विरुद्ध है और इसमे एक यह बड़ा डर बना रहता है कि कही कोई महत्वाकांक्षी व्यक्ति विधायको को भुलावे मे डालकर स्वयं डिक्टेटर न बन बैठे। इसका एक दोष यह भी है कि इस प्रकार निर्वाचित कार्यकारी एक विशिष्ट राजनीतिक दल से संबंधित होता है। अतएव उसे जनता द्वारा वह आदर नही मिल पाता जो प्रत्यक्ष निर्वाचन से प्राप्त हो सकता है। यद्यपि दोनो ही दशाओ मे चुने हुए पदाधिकारी का संबंध एक दल से हो सकता है तथापि प्रत्यक्ष निर्वाचन मे मतदाताओ का स्पष्ट बहुमत मिल जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता उसे चाहती है।

मनोनीत कार्यकारी—यह व्यवस्था प्राय उपनिवेशो अथवा अन्य अधिकृत देशो मे लागू होती है। जब तक भारत स्वतंत्र नही था, हमारे यहाँ गवर्नरों और गवर्नर जनरल की नियुक्ति लंदन से होती थी। इस व्यवस्था का गुण यह है कि नियुक्ति समझ-सोचकर की जाती है। अतएव प्राय योग्य व्यक्ति नियुक्त किए जाते हैं और ऐसे व्यक्ति राजनीति के दलदल से दूर रहते हैं। इसका दोष यह है कि नियुक्ति पक्षपात पूर्ण हो सकती है और अयोग्य व्यक्तियो को भी उच्च पद दिए जा सकते हैं।

वैधानिक और निरंकुश कार्यकारी—यह भेद इस बात पर निर्भर है कि *कार्यकारी निश्चित नियमो और संविधान के अनुकूल आचरण करते हैं अथवा* वे कानूनो और संविधान की उपेक्षा करते हैं। यह भेद शासन-व्यवस्था के वैधानिक होने अथवा संविधान के प्रतिकूल होने से संबंधित है। अतएव, यहाँ इसका विवेचन करना आवश्यक नही है।

4. कार्यांग का कार्यकाल

वंशानुगत कार्यकारी को नियुक्ति हो जाने पर वह जीवन-पर्यन्त सत्ता का उपभोग करता है, अथवा उस समय तक जब तक वह किसी दबाव के कारण या स्वेच्छा से पद न त्याग दे। किंतु निर्वाचित पदाधिकारियो को एक ही सीमित कार्यकाल के लिए नियुक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए स्विट्जरलैंड का राष्ट्रपति केवल एक वर्ष के लिए मनोनीत होता है जब कि सोवियत संघ का राष्ट्रपति चार वर्ष के लिए। संयुक्त राज्य (अमेरिका) मे राष्ट्रपति का निर्वाचन चार वर्ष के लिए होता है और भारत मे पाँच वर्ष के लिए, जब कि

अर्जेनटीना मे उसका कार्यकाल ६ वर्ष है। इस प्रकार विभिन्न देशों मे राज्य के प्रमुख पदाधिकारी का कार्यकाल एक वर्ष से सात वर्ष तक पाया जाता है। कुछ देश छोटा कार्यकाल पसद करते हैं जब कि अन्य देश अपेक्षाकृत लम्बे समय के लिए निर्वाचन करते हैं।

अल्प कार्यकाल—राज्य के प्रधान पदाधिकारियो की अल्पकालीन अवधि रखने का सबसे बडा लाभ यह है कि उसमे निरकुश प्रवृत्ति उत्पन्न नही हो पाती। इसके विपरीत यदि यह एक लम्बी अवधि के लिए चुना जाए तो उसके मन मे यह भावना उत्पन्न हो सकती है कि क्यो न अपनी सत्ता को स्थायी बना लिया जाए ? यही नही, थोडे समय के लिए चुनाव करने का जनता के ऊपर भी अच्छा प्रभाव पडता है। वे यह समझ लेते हैं कि राज्य की वास्तविक प्रभुसत्ता उन्ही मे निहित है। अतएव, वे अधिक जागरूक हो जाते है और अपनी भूलों को सुधारने का प्रयत्न करते हैं। अल्प कार्यकाल का दोष यह है कि बार-बार चुनाव करने से मतदाताओ मे उदासीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण उनमे उत्तरदायित्व हीनता बढ़ जाती है। यही नही, बार-बार चुनाव करने से जनता मे हर समय खलबली-सी बनी रहती है जिससे लाभ उठाकर एक महत्वाकाक्षी व्यक्ति डिक्टेटर बनने का स्वप्न देख सकता है। इसका एक अन्य दोष यह भी है कि सरकार की नीति स्थिर नही रह पाती, प्रत्येक नए शासन के आने पर नई नीति निर्धारित होती है जिसका देश की उन्नति पर बुरा प्रभाव पडता है। अतएव विचारकों का मत है कि राज्य के उच्चाधिकारियो की कार्य-अवधि बहुत अल्पकालीन नही होनी चाहिए।

लम्बा कार्यकाल—इसके अनेक लाभ हैं। इसमें पदाधिकारियो को जनता की सेवा करने का यथेष्ट अवसर मिलता है। वे यदि चाहे, तो नई नीति निर्धारित कर सकते हैं और शासन की दिशा को एक नया मोड दे सकते हैं। उसे यह आशका नही रहती कि बहुत जल्दी दोबारा मतदाताओ का सामना करना पडेगा। तथापि लम्बे कार्यकाल के दोष भी हैं। इसमे यह भय बना रहता है कि पदाधिकारी निरकुश न बन जाए। कभी कभी इसमे मतदाता उदासीन हो जाते हैं। इन गुण-दोषो पर विचार करते हुए राजनीतिशास्त्रियों की यह आम राय है कि राज्य के उच्च पदाधिकारियों का कार्यकाल न बहुत छोटा होना चाहिए और न बहुत लम्बा। उनके मतानुसार चार या पांच वर्ष का कार्यकाल सर्वोत्तम रहेगा। इसमे स्थायित्व और प्रौढता दोनो का समावेश हो सकेगा।

पुनर्नियुक्ति की समस्या—कार्यकाल के प्रश्न के अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी कि राज्य के उच्च पदाधिकारियो को अपने कार्यकाल की अवधि समाप्त होने के पश्चात पुनर्नियुक्ति का अधिकार हो या न हो। विचारकों की इस सम्बन्ध

मे भिन्न भिन्न राय हैं। पुर्ननियुक्ति के समर्थक प्रौढ़ता की आवश्यकता और उसके महत्त्व पर जोर देते हैं। इसके विरोधी निरकुश बन जाने की सम्भावना पर। सामान्यत. विद्वानो का विचार है कि यदि कार्यकाल छोटा हो तो पुर्ननियुक्ति अवश्य सम्भव होनी चाहिए, किंतु यदि कार्यकाल यथेष्ट रूप से लम्बा हो तो पुर्ननियुक्ति अनावश्यक है। व्यवहार रूप मे, सयुक्त राज्य (अमेरिका) मे जहां कि राष्ट्रपति का कार्यकाल चार वर्ष है, केवल एक पुर्ननियुक्ति हो सकती है अर्थात् अब कोई राष्ट्रपति आठ वर्ष से अधिक की अवधि तक पद पर नहीं रह सकता। भारत के राष्ट्रपति के पद पर इस प्रकार के कोई प्रतिबध नहीं, तथापि यह आशा की जाती है कि राष्ट्रपति स्वय तीसरे कार्यकाल के लिए अपने पद पर न रहना चाहेंगे। इस प्रकार इस सबध मे विभिन्न देशो मे भिन्न रीतियाँ प्रचलित हैं।

5. कार्यांग के कार्य

गैटिल ने इन कार्यों को पांच श्रेणियों मे बांटा है (1) कूटनीतिक कार्य, (2) प्रशासनिक कार्य, (3) सेना-सबधी कार्य, (4) व्यवस्था-सबधी कार्य, और (5) न्याय-सबधी कार्य। हम इन कार्यों पर सक्षेप मे विचार करेंगे।

कूटनीतिक कार्य—इसके अतर्गत राजदूतो की नियुक्ति, विदेशी राजदूतों से भेंट, अतर्राष्ट्रीय सबध, अतर्राष्ट्रीय व्यापारिक सधियाँ, युद्ध, शाति, सधियाँ आदि आते हैं। ये कार्य इस प्रकार के हैं कि केवल कार्यांग ही इन्हे समुचित रूप से कर सकता है। यद्यपि कानूनी दृष्टि से यह कार्य विधानांग के हैं कि वह पर राष्ट्र-नीति निर्धारित करे, तथापि व्यवहार मे यह कार्य कार्यांग को ही करना होता है और वह विधानांग से केवल सहमति प्राप्त कर लेता है।

प्रशासनिक कार्य—इसके अतर्गत सरकारी विभागों की देखभाल, आतरिक शाति-व्यवस्था, सरकारी कर्मचारियो की नियुक्ति और उन्हे पदच्युत करना, कानूनो को लागू करना आदि सम्मिलित हैं। वैसे तो ये कार्य सरकारी कर्मचारी ही करते हैं जो वैतनिक और स्थायी रूप से नियुक्त होते हैं, तथापि यह उत्तरदायित्व राजनीतिक पदाधिकारियों का है कि वे उनकी देखभाल करें और उनके ऊपर समुचित नियत्रण रखें। एक लोकतत्रीय शासन मे सरकारी कर्मचारियों के गलत कार्यों के लिए राजनीतिक पदाधिकारी उत्तरदायी माने जाते हैं। अतएव, उन्हे यह कार्य बहुत सावधानी से करना पड़ता है।

सेना सबधी कार्य—इसके अतर्गत सैनिक अफसरों की नियुक्ति और उनका पदत्याग, सैनिक हलचलों के आदेश देना, मार्शल लॉ लागू करना, आदि सम्मिलित हैं। लोकतत्रीय राज्यों मे राज्य का प्रमुख राजनीतिक पदाधिकारी प्राय

कानूनी दृष्टि से सेनापति होता है, तथापि वह स्वयं सेना का संचालन कभी नहीं करता। वह केवल आदेश देता है।

व्यवस्था-संबंधी कार्य—इसके अंतर्गत विधानांग के अधिवेशन बुलाना, उसे स्थगित अथवा भंग करना, बिलों के मसविदे पेश करना, कानूनों को जारी करना, अध्यादेशों और राजाज्ञाओं को निकालना आदि आते हैं।

न्याय-संबंधी कार्य—इसके अंतर्गत न्यायाधीशों की नियुक्ति, बंदियों की आम रिहाई, और क्षमा-प्रदान आदि आते हैं। कुछ लेखकों का मत है कि इन कार्यों को हमें व्यवस्था-संबंधी कार्यों से पृथक् नहीं करना चाहिए, क्योंकि वस्तुतः ये कार्य उसी के अंग हैं।

इनके अतिरिक्त और भी कुछ कार्य हैं जिन्हें गैटिल ने नहीं गिनाया है। उदाहरण के लिए, राजस्व-सम्बंधी कार्य। कार्यांग को ही प्रायः आय-व्यय का लेखा और कर लगाने के प्रस्ताव विधानांग के सम्मुख प्रस्तुत करने पड़ते हैं और साथ ही यह भी देखना होता है कि सरकारी काम मितव्ययता के साथ हो। लोकतंत्रीय शासन में कार्यांग के इन कार्यों पर विधानांग विशेष रूप से नियंत्रण रखते हैं। अतएव, कार्यांग को बहुत सावधानी से काम करना होता है।

इनके अतिरिक्त आधुनिक राज्यों में कार्यांग के अधिकार आर्थिक क्षेत्र में भी बहुत बढ़ गए हैं। अनेक राज्यों में राष्ट्रीय आयोजन होने लगे हैं और कार्यांग से यह आशा की जाती है कि वह देश की उत्पादक शक्तियों को इस प्रकार प्रयुक्त करें कि देश में अधिकतम उत्पादन हो और लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठे। बीसवीं शताब्दी में ऐसे कार्यों की सीमा दिन पर दिन विस्तृत होती जा रही है।

कार्यांग की शक्तियों में वृद्धि—पिछले 30-40 सालों में कार्यांग की शक्तियों में वृद्धि होती जा रही है और सभी लोकतंत्रीय शासन-प्रणालियों में कार्यांग प्रमुख स्थान पाते जा रहे हैं। कार्टन रोडी ने इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि एक ओर प्रतिनिधि सभाओं की प्रवृद्धि और कुशलता के ऊपर विश्वास कम होता जा रहा है और दूसरी ओर विधानांग के प्रति अविश्वास घटता जा रहा है। यही नहीं, लोकतंत्रीय शासन में समस्याएँ इतनी जटिल और संख्या में इतनी अधिक होती जा रही हैं कि विधानांग के लिए उन पर अच्छी तरह सोच विचार करना और उनके संबंध में विवेकपूर्ण निर्णय दे सकना दुष्कर हो गया है। इसके अतिरिक्त, घरेलू और विदेश-नीति दोनों ही क्षेत्रों में तत्काल कार्य करने की आवश्यकता बढ़ती जा रही है[1]। स्पष्टतः विधानांगों से शीघ्र गति से काम करने की आशा नहीं की जा सकती। अतएव, नवविकसित देशों में औद्योगीकरण और आधुनीकीकरण की आवश्यकता के कारण भी कार्यांगों की शक्तियों में निरंतर

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 123.

वृद्धि हो रही है। बर्नार्ड ब्राउन के मतानुसार, वस्तुतः प्रधान कार्यकारी प्रतिनिधि-सभा की अपेक्षा राष्ट्रीय सकल्प का अधिक उत्तम प्रतीक होना है। निर्वाचन की प्रणाली में भी अब कुछ ऐसे परिवर्तन हो गए हैं कि मतदाता वोट देते समय उम्मीदवारों की योग्यताओं पर उतना ध्यान नही देते, जितना कि वे इस बात पर ध्यान देते हैं कि वे किस राजनीतिक दल अथवा नेता को सत्ता की बागडोर सौंप रहे हैं[1]। इसके साथ, लोग यह भी समझने लगे हैं कि लोकतंत्रीय शासन की सफलता इस बात पर निर्भर है कि हमारे नेता गतिशील और दृढ-सकल्प हो। ब्राउन के मतानुसार, आज यदि लोकतन्त्र का पतन हो तो उसका सभावित कारण कार्यांग की निर्बलता और ढिलमिलपन होगा। वस्तुत बिना अच्छे कार्यकारी नेताओ के कोई भी राजनीतिक व्यवस्था सम्मान और समर्थन नही प्राप्त कर सकती[2]।

विधानांग का कार्यांग पर नियंत्रण—उपर्युक्त कामो को करते समय कार्यांग पूर्णत स्वतत्र नही होता। लोकतन्त्रीय प्रणाली मे उस पर कुछ न कुछ प्रतिबध और नियत्रण लगे होते हैं। इसे अपना बजट और अपनी नीतियाँ विधानांग के सम्मुख पेश करनी पडती हैं और बिना विधानांग की अनुमति के वे लागू नही की जा सकतीं। कार्यांग जिन सधियो पर हस्ताक्षर करता है अथवा जो व्यापारिक समझौते करता है, वे किसी न किसी रूप मे विधानांग के सम्मुख उपस्थित होते हैं। कार्यांग द्वारा प्रस्तावित बिल जब तक विधानांग द्वारा पारित न हो जाएँ, कानून नही बनते। इस प्रकार राष्ट्रपति-शासन में भी कार्यांग को कुछ सीमा तक विधानांग का नियत्रण स्वीकार करना पडता है। इसका कारण स्पष्ट है। विधानांग मतदाताओ द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से चुना जाता है। उसमे जनता के प्रतिनिधि होते हैं जो उनकी भावनाओ को प्रतिबिम्बित करते हैं। लोकतन्त्रीय सिद्धात के अनुसार, प्रतिनिधि-सभाएँ कार्यांग की अपेक्षा लोकमत के अधिक समीप होती हैं। यही नही, लोकतन्त्र का यह बुनियादी सिद्धात है कि प्रभुसत्ता अतत. जनता मे निहित है। अतएव यह कहा जाता है कि जनता की प्रतिनिधि-सस्था अर्थात् विधानांग का कार्यांग के ऊपर नियत्रण होना चाहिए। तथापि यह मानना पडेगा कि कानूनी दृष्टि से विधानांग भले ही सर्वोपरि हो, वस्तुत. उपक्रम (initiative) कार्यांग के हाथो में ही रहता है। अतएव, विधानांग अधिक से अधिक कार्यांग के द्वारा सुझाए हुए प्रस्तावो को ठुकरा सकता है अथवा उनमे सशोधन कर सकता है। ऐसा बहुत कम होता है कि उनके स्थान पर वह अपने नए सुझाव दे। यही नही, अब यह सर्वविदित है कि आधुनिक

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृ॰ 44-45.

2 वही, पृ॰ 51.

विधानांग केवल कानूनो की रूपरेखा पारित करते हैं, विस्तार से उनकी व्याख्या नही करते। यही नहीं, प्राय इन कानूनों के अतर्गत कार्यांगों को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वे इन कानूनों की धाराओं के अनुकूल अधिनियम बनाएँ और आदेश जारी करें। यह सही है कि इस प्रकार के अधिनियमो और आदेशों को विधानाग के सम्मुख प्रस्तुत करना पडता है और इस प्रकार किसी न किसी रूप मे विधानाग का उन पर नियत्रण रहता है तथापि इस प्रकार के अधिनियमों और आदेशों की सख्या इतनी अधिक बढ गई है और वे इतने जटिल प्रश्नों से सबधित होते हैं कि विधानाग के साधारण सदस्यो के लिए यह कठिन है कि वे इनका समुचित अध्ययन करें और इनके दोषों को विधानाग के सम्मुख रखें। अत कही कही कार्यांग इस शक्ति का अनुचित लाभ उठाते हैं। फिर भी, यह स्वीकार करना पडेगा कि कार्यांग को ऐसी शक्ति देने के अतिरिक्त कोई चारा भी नही है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि विधानाग मे ऐसे कुशल और योग्य व्यक्ति हो जो कार्यांग की शक्तियो के प्रयोग के सबध मे सतर्क रहे और जहाँ भी यह देखें कि कार्यांग अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर रहा है, तुरत इन बातो की ओर विधानाग का ध्यान आकर्षित करें जिससे आवश्यक कार्यवाही की जा सके। क्योकि कार्यांग की शक्ति की वृद्धि को रोका नहीं जा सकता, अत लोकतत्र की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि विधानाग आलोचना और नियत्रण का कार्य समुचित रूप से करता रहे। यदि विधानाग इस कार्य को नहीं कर पाता तो राज्य में कोई दूसरी ऐसी शक्ति नही है जो इस उत्तरदायित्व का पालन करे[1]। बर्नार्ड ब्राउन के अनुसार, लोकतत्र का सार ही यह है कि सामाजिक समुदाय निरतर सरकारी कामों की जाँच-पडताल करते रहे और उनकी उत्तरदायित्वपूर्ण आलोचना करते रहे[2]। इसके अभाव मे लोकतत्र की रक्षा करना दुष्कर हो जाएगा।

6 सरकारी कर्मचारी मंडल

आधुनिक सरकारें जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो और कार्यकुशल विशेषज्ञों के सहयोग पर निर्भर हैं। निर्वाचित राजनेता लोकमत तथा जनता की आशाओं और भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनके अनुकूल सार्वजनिक नीतियाँ निर्धारित करते हैं। इन नीतियों को साकार रूप देने का कार्य सार्वजनिक कर्मचारियो का है। उसे कार्य रूप देने मे कभी-कभी कुछ परिवर्तन अथवा सशोधन की आवश्यकता पड जाती है। इन परिवर्तनों को बहुत

1 ब्राउन, वही, पृष्ठ 52

2 वही, पृष्ठ 85

सोच विचार के बाद किया जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी कर्मचारी केवल राजनीतिक कार्यकारियो के आदेशो का ही पालन नही करते, वे स्वय भी नीति के निर्धारण मे महत्वपूर्ण योग देते है।

आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व सार्वजनिक कर्मचारियो की नियुक्ति के समय योग्यता पर विशेष ध्यान नही दिया जाता था। अमेरिका मे यह बात यहाँ तक बढ गई थी कि नया राष्ट्रपति पुराने उच्च कर्मचारियो को निकाल कर नई भर्ती करने लगा जिसका प्रभाव शासन पर बहुत बुरा पडा। मैकोले ने सबसे पहले यह सुझाव दिया कि सार्वजनिक कर्मचारियो की नियुक्ति खुली प्रतियोगिता और सार्वजनिक परीक्षाओ के आधार पर होनी चाहिए। सर्वप्रथम, यह प्रथा भारत के लिए नियुक्त किए जाने वाले उच्च पदाधिकारियो के सबध मे अपनाई गई और वह इतनी सफल हुई कि धीरे-धीरे सारे ससार मे फैल गई। अब नियुक्तियाँ स्थायी कर दी गई हैं और कर्मचारियो की बराबर वेतन वृद्धि होती रहती है और उन्हे पेंशन आदि अनेक अधिकार प्राप्त हैं। यही नही, इनकी परीक्षा लेने और नियुक्ति के लिए एक अराजनीतिक सार्वजनिक सेवा-आयोग बना दिया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि सार्वजनिक कर्मचारी राजनीति के पचडे से अलग रहे और जो भी राजनीतिक पदाधिकारी हो उन्हे बिना भेदभाव के पूर्ण सहयोग दे सकें और उनकी नीतियो पर अमल कर सकें। इसका फल यह हुआ है कि सरकारी कर्मचारियो की प्रतिष्ठा बहुत बढ गई है और राजनीतिक पदाधिकारी भी इनके परामर्श पर पूरा ध्यान देने लगे है। इस प्रकार, इन दक्ष प्रबधको के सहयोग से राजनीतिक कार्यकारी शासन-प्रबध करते हैं।

आधुनिक सरकारी कर्मचारियों की विशेषताएँ—सरकारी कर्मचारी राजनीति मे तटस्थ वृत्ति अपनाते हैं जिससे वे सत्तारूढ राजनीतिक पदाधिकारियो को पूरा सहयोग दे सकें। जहाँ तक सम्भव हो वे अपने व्यक्तिगत विचारो से अपने कार्यो को प्रभावित नही होने देते। आधुनिक सरकारी कर्मचारियो की यह सबसे बडी विशेषता है। दूसरे, क्योकि उनकी नियुक्ति स्थायी होती है, अत. वे शीघ्र ही अनुभवी और प्रशिक्षित हो जाते हैं। तीसरे, साधारणत. सरकारी कर्मचारियो को अपनी सेवाओ के लिए कोई मान-अपमान नहीं मिलता; वे बेनाम रहते हैं। केवल उच्चतर सरकारी कर्मचारियो के नामो का उल्लेख होता है। ये कर्मचारी उस वर्ग मे आ जाते हैं जो नीति निर्धारण मे सक्रिय सहयोग देने लगते हैं। अतः लोकतन्त्रीय दृष्टि से यह अच्छा ही है कि जन-समुदाय को यह ज्ञात रहे कि किनके परामर्श पर राजनीतिक नेता काम करते हैं। इस का एक परिणाम यह हुआ है कि किसी कर्मचारी-विशेष की विधानाग मे आलो-

चना नहीं की जा सकती। लॉवेल के कथनानुसार, इगलैंड के राजा की तरह ये भी उत्तरदायित्वहीन हैं अर्थात् उनकी अच्छाई बुराई का श्रेय राजनीतिक पदाधिकारियों को मिलता है। चौथे, राजनीतिक कर्मचारियों की अपनी श्रेणियाँ हैं ऊंचे-नीचे पद हैं जिनमें वे विभाजित रहते हैं, और आदेश देने तथा आज्ञा मानने के निश्चित नियम हैं जिनके अनुसार वे कार्य करते हैं। प्रत्येक श्रेणी के कर्मचारियों के अधिकार और कर्तव्य निश्चित हैं। इस व्यवस्था के कारण कार्य-सचालन में सुगमता हो जाती है। पांचवें, आधुनिक सरकारी कर्मचारी लोकमत का सहर्ष अनुकरण करते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था में जनता और लोकमत सर्वोपरि हैं और उसी के हित में समस्त सरकारी कार्य होने चाहिए। उनके मन में यह भावना भी रहती है कि वे जनता के सेवा कार्य में लगे हुए हैं और इस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए समाज-कल्याण में अपना योग दे रहे हैं।

सरकारी कर्मचारियों के कार्य—राज्य के उद्देश्यों में लोकहित की भावना को प्रधानता मिल जाने से इसका प्रभाव सरकार के कामों पर भी पड़ा है। अब आधुनिक राज्यों में सरकारी कर्मचारियों के कार्य भी बदलते जा रहे हैं। उनके कार्य विविध प्रकार के होते हैं। उनसे आशा की जाती है कि वे राजनीतिक कार्यकारिणी द्वारा बनाई हुई नीति का पालन करें। कानूनी दृष्टि से नीतियों को साकार रूप देने का उत्तरदायित्व राजनीतिक कार्यकारिणी का है तथापि वास्तविक कार्य सरकारी कर्मचारी ही करते हैं। प्रशासन के अतिरिक्त उनके निम्नलिखित अन्य कार्य हैं पहला, उनका प्रमुख कार्य राजनीतिक कार्यकारी को परामर्श देना है। जैसे जैसे सरकारी कर्मचारी उच्च पदों पर बढ़ते जाते हैं उनकी जानकारी और अनुभव भी बढ़ते जाते हैं। उनकी तुलना में राजनीतिक कार्यकारी अपेक्षाकृत अनुभवहीन होते हैं। सरकारी कर्मचारियों का एक महत्वपूर्ण यह कार्य है कि वे राजनीतिक पदाधिकारियों के सम्मुख वे तथ्य, आंकड़े, सूचनाएँ आदि प्रस्तुत करें जिनके आधार पर राजनीतिक कार्यकारी अपनी नीति और रचनात्मक कार्यक्रम बना सकते हैं। लार्ड ह्युअर्ट, सी० के० एलन और रैमजे म्योर ने सरकारी कर्मचारियों के इस बढ़ते हुए प्रभाव के प्रति आशंका प्रकट की है। रैमजे म्योर के अनुसार, अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर सरकारी कर्मचारियों का प्रभाव इतना अधिक बढ़ जाता है कि मन्त्रियों को उनकी बात मानने के सिवाय और कोई चारा नहीं होता[1]। किंतु लास्की ने रैमजे म्योर के इस विचार की आलोचना की है। उसके अनुसार, मन्त्री कर्मचारियों की बात तभी मानते हैं जब उनकी अपनी नीति और दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं होते

1 *How Britain is Governed*, लंदन 1930.

और वे यह नही जानते कि क्या करें। जहाँ राजनीतिक पदाधिकारी, दृढ सकल्प और अनुभवी हैं वहाँ कर्मचारियो की कुछ भी नही चल पाती। लास्की के अनुसार, आधुनिक राज्य मे यह आवश्यक है कि सरकारी कर्मचारी राजनीतिक पदाधिकारियो को यह बताएँ कि जिन नीतियो को वे कार्यरूप देना चाहते हैं उनके मार्ग मे क्या कठिनाइयाँ हैं और उनका परिणाम क्या होगा? लेकिन इस बात का निर्णय करना कि क्या नीतियाँ अपनाई जाएँ, सदैव राजनीतिक पदाधिकारियो के हाथो मे होता है। तीसरे, कानूनो के अतर्गत अधिनियम बनाने का कार्य भी दिनो दिन महत्त्व का होता जा रहा है। साधारणत अब कानूनो की रूपरेखा विधानाग बनाता है और वह कानूनो के अतर्गत नियम और उपनियम बनाने का कार्य कार्यांग को सौप देता है। वस्तुत यह कार्य सरकारी कर्मचारी ही करते हैं। राजनीति पदाधिकारी केवल थोडी बहुत देखभाल कर लेते हैं। चौथे, सरकारी कर्मचारियो का यही कर्त्तव्य माना जाता है कि वह अपना कार्य कुशलतापूर्वक करे और समय तथा धन का अपव्यय न होने दें। इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए यह आवश्यक है कि वह बराबर शोध-कार्य मे लगे रहे और अपने सगठन तथा कार्य प्रणाली म ऐसे परिवर्तन करते रहे जिससे कार्य शीघ्रतापूर्वक और कम से कम खर्च मे हो।

भारत जैसे एक विशाल किंतु अपेक्षाकृत निर्धन राज्य मे, जो शीघ्र गति से बहुमुखी विकास करना चाहता है, सरकारी कर्मचारियो का स्थान और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। एक ऐसा राज्य, जो लोकहित मे सामाजिक, आर्थिक, और सास्कृतिक मामलो में कार्य करने को उद्यत है, तभी सफल हो सकता है जब कर्मचारी लग्न और उत्साह के साथ सेवा करें। एक समाजवादी लोकतत्रीय राज्य मे सरकारी कर्मचारियो के पूर्ण सहयोग से ही सुधार और प्रगति हो सकती है। भारत को, जो औद्योगीकरण और आधुनीकीकरण की ओर उन्मुख है, न केवल गतिशील नेताओ की आवश्यकता है, अपितु कर्त्तव्यपरायण सरकारी कर्मचारियों की भी बहुत जरूरत है। ऐसा होने पर ही जनता का विश्वास और पूरा सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

नियुक्ति का ढग—जैसा हम ऊपर देख चुके है, आजकल लगभग सभी आधुनिक देशो मे नियुक्तियाँ सार्वजनिक परीक्षा और मुलाकात के आधार पर होती हैं। भारत मे एक सघीय सार्वजनिक सेवा-आयोग है जो भारत-सरकार द्वारा नियुक्त होता है। इस आयोग के सदस्यो का कार्यकाल निश्चित होता है और उसके अधिकारियो को आवश्यक सरक्षण प्राप्त हैं। इसके कार्य निम्नलिखित होते हैं पहला, सरकारी कर्मचारियो की नियुक्ति-सबधी कार्य; दूसरा, कर्मचारियो के ऊपर अनुशासन-सबधी कार्य; तीसरा, कर्मचारियो को अपने विरुद्ध किए जाने

वाले मुकदमो मे खर्च देने सबंधी कार्य, चौथे, सरकारी कर्मचारियों के कार्यों से हानि उठाने वाले नागरिकों के दावे सबंधी कार्य, पाँचवें, सरकारी कर्मचारियों की तरक्की और बदली सबंधी कार्य, और छठे, नौकरी के समय चोट लगने अथवा अपग हो जाने से सबंधित कार्य। भारतीय सविधान के अनुसार, राष्ट्रपति और राज्यपालो को यह अधिकार है कि सरकारी कर्मचारियो से सबंधित किन्हीं मामलो मे वे सार्वजनिक सेवा-आयोग से परामर्श कर सकते हैं।

7 नई समस्याएँ और दिशाएँ

बर्नार्ड ब्राउन के अनुसार, जहाँ एक ओर सत्ता विधानाग से हट कर कार्यांग को मिलती जा रही है, वहाँ दूसरी ओर कार्यांगों के अतर्गत सत्ता राजनीतिक पदाधिकारियो से हट कर सरकारी कर्मचारियो को मिलती जा रही है। उसके अनुसार, जिस प्रकार विधायक कार्यांग विभाग के सम्मुख अपने को प्रभावहीन पाते हैं, वही हाल राजनीतिक पदाधिकारियो का सरकारी कर्मचारियो के सम्मुख होता है। आज सरकार को जिन समस्याओ को सुलझाना होता है वे इतनी पचीदा हैं कि अनुभवहीन व्यक्तियो के लिए उनका समझना कठिन होता जा है। नीति-निर्धारण में शक्ति हमेशा उन लोगों के हाथो मे चली जाती है जो यह जानते हैं कि कोई प्रणाली किस तरह चलती है। राज्य मे यह ज्ञान सिवाय सरकारी कर्मचारियों के और लोगो को बहुत कम होता है। यही सरकारी कर्मचारियो के प्रभाव और शक्ति के बढने का रहस्य है[1]। किंतु इस वृद्धि से आशंकित होने की आवश्यकता नही है क्योंकि अब सरकारी कर्मचारियों पर अनेक आतरिक और बाह्य नियत्रण हैं। बाह्य नियत्रणो मे हम राजनीतिक कार्यकारी, विधानाग और न्यायाग को सम्मिलित कर सकते हैं। आतरिक नियत्रणो मे वे नियम आ जाते हैं जिनके अनुसार सरकारी कर्मचारियो को कार्य करना होता है। तथापि नौकरशाही को रोकने का सबसे उत्तम उपाय यह है कि सगठन के ऐसे उपाय खोज निकाले जाएँ जिससे वे जनता के सीधे सम्पर्क मे आ जाएँ। इस सबध मे एक सुझाव यह दिया गया है कि हम परामर्शदात्री परिषदें और कमेटियाँ बनाएँ जिससे लोकमत उन्हें प्रभावित कर सके। बर्नार्ड ब्राउन के अनुसार, इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उपाय यह है कि नौकरशाही का ही समाजीकरण कर दिया जाए। यह तभी सम्भव है जब हम अपनी भर्ती की नीति इस प्रकार की बना दें कि उच्च सरकारी कर्मचारियो मे समाज के विभिन्न वर्गों से व्यक्ति भर्ती किए जा सकें[2]। इसका एक उपाय यह भी है कि यथासम्भव श्रमिक सघो, विश्वविद्यालयों और व्याव-

1 वही, पृष्ठ 49-50.

2 वही, पृष्ठ 53.

सायिक क्षेत्रो से अल्पकालीन आधार पर प्रत्यक्ष भर्ती की जाए जिससे सरकारी कर्मचारियो के बीच मे 'जाति' की भावना सुदृढ न हो सके। ब्रिटेन की मजदूर-दली सरकार ने इनमे से प्रथम उपाय अपनाया है। सम्भवत हम भी इस दिशा मे अग्रसर हो सकते हैं। इसके लिये शिक्षा के व्यापक प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता होगी। साथ ही उच्च नौकरियो मे प्रत्यक्ष चयन से न भर कर अधिक से अधिक पदोन्नति (promotion) की नीति अपनानी होगी।

●

16
विधानांग

> किसी प्रतिनिधि-सभा का यह कर्तव्य नहीं है कि वह प्रशासन के संबंध में बहुमत से निर्णय करे, अपितु ऐसा प्रबंध करना है कि निर्णय करने वाले व्यक्ति योग्य हों।
>
> —जॉन स्टुअर्ट मिल

एक लोकतंत्रीय राज्य में कानूनी दृष्टि से विधानांग सर्वोपरि होता है। यद्यपि अब व्यवहार रूप में कार्यांग और प्रशासन अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली होते जा रहे हैं, तथापि संसदीय सरकार के अंतर्गत विधानांग अब भी यह निर्णय करता है कि कौन शासन करेगा, साथ ही, वहाँ सरकार की नीतियों और कार्यों पर विचार-विमर्श किया जाता है, उनकी आलोचना की जाती है और उनमें संशोधन अथवा परिवर्तन कराए जा सकते हैं। वस्तुत समस्त लोकतंत्रीय शासनों में ये कार्य विधानांग ही करता है, क्योंकि इन कार्यों को कोई दूसरा विभाग नहीं कर सकता।

1 विधानांग के कार्य

विधानांग के कार्य विभिन्न देशों में विभिन्न होते हैं और वे शासन-प्रणाली एवं संविधान की धाराओं पर निर्भर हैं। जब भारत स्वतंत्र नहीं था, भारतीय विधान-सभाएँ केवल जनता के दुखों को बता सकती थी और विभिन्न मामलों पर विचार-विमर्श कर सकती थी। किंतु स्वतंत्र भारत में अन्य संसदीय सरकारों की तरह विधानांग न केवल सर्वोपरि कानून बनाने वाली संस्था है, अपितु वह मंत्रिमंडल के ऊपर भी सीधा नियंत्रण करता है। दूसरी ओर, सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत संसद् केवल वर्ष में एक या दो बार और वह भी बहुत थोड़े समय के लिए बैठती है। उसका प्रमुख कार्य मंत्रियों और प्रैसीडियम

से रिपोर्ट सुनना और उनके कार्य का अनुमोदन करना है। स्विट्ज़रलैंड में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय संस्थाओं के कारण विधानांग अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण है। है। अस्तु, विधानांग के कार्य सर्वत्र एक जैसे नहीं होते। तथापि कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं जिन्हें प्रत्येक लोकतन्त्रीय राज्य में विधानांग को करना होता है।

विधानांग का प्रथम प्रमुख कार्य कानून बनाना है। इसके लिए प्रत्येक राज्य में एक निश्चित विधान के अनुसार विधानांग को बिल पारित करने पड़ते हैं। इस संबंध में अब पहल राजनीतिक कार्यकारियों की ओर से होती है, तथापि विधानांग का योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अभी भी विधानांग यह निर्णय करता है कि कानूनों की रूपरेखा क्या हो और किस दृष्टि से उन्हें बनाया जाए। दूसरे, विधानांग एक विचार-विमर्श करने वाली संस्था है जहाँ घरेलू, विदेशी, और राजस्व-संबंधी नीतियों और कार्यों पर विचार होता है। तीसरे, लोकतन्त्रीय राज्य में बजट बनाने और पास करने, कर लगाने और खर्च की स्वीकृति देने का कार्य विधानांग के पास है। इसके अतिरिक्त, जिन देशों ने राष्ट्रीय योजनाएँ बनाने की नीति अपना ली है वहाँ विधानांग का ही यह कार्य होता है कि वह राष्ट्रीय योजना की रूपरेखा को स्वीकृति दे। चौथे, लोकतन्त्रीय राज्यों में विधानांग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह कार्यांग की देखभाल करे। ऐसी देख-रेख और नियंत्रण के अभाव में कार्यांग के अनुत्तरदायी हो जाने की आशंका रहती है। पाँचवें, अनेक देशों में संसद् के उच्च भवन को कुछ न्यायिक अधिकार भी दे दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन की लॉर्ड-सभा देश का सर्वोच्च न्यायालय भी है। भारत और संयुक्त राज्य (अमेरिका) में संसद् को राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पर महाभियोग (Impeachment) लगाने के अधिकार मिले हुए हैं। सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत को क्षमा-प्रदान का अधिकार है। छठे, विधानांग को प्रायः संविधान के संशोधन-संबंधी कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। यूनाइटेड किंगडम में, जहाँ साधारण कानून और संविधान में कोई भेद नहीं है, विधानांग जब चाहे संविधान में संशोधन कर सकता है। इसी प्रकार, अधिकतर संविधानों में विधानांगों को संविधान के संशोधन के अधिकार हैं। सातवें, प्रायः विधानांगों को एक निर्वाचक-मंडल का भी कार्य करना पड़ता है। किसी-किसी देश में इसका सम्बंध राजनीतिक पदाधिकारियों के चुनाव से होता है जब कि अन्य देशों में यह अधिकार सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति से संबंधित है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य (अमेरिका) में सीनेट को यह अधिकार प्राप्त है कि यह राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत उच्च सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति पर अपनी सहमति प्रदान करे। इसका अभिप्राय. यह है कि बिना उसकी अनुमति के कोई व्यक्ति विशिष्ट पदाधिकारी नहीं बन सकता।

आठवें, कुछ देशो मे विधानाग को विशिष्ट दशाओ मे प्रस्ताव पारित कर न्यायाधीशो को अपदस्थ करने का सुझाव देने का अधिकार है। ऐसा सुझाव विधानाग तभी दे सकता है जब न्यायाधीश विवेकहीन अथवा अयोग्य सिद्ध हो चुका हो, अथवा किसी शारीरिक कष्ट के कारण वह अपना कार्य करने मे असमर्थ हो। नवें, विलोबी के अनुसार, विधानाग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य 'डायरेक्टर्स के बोर्ड' की तरह काम करना है अर्थात् वह इस प्रश्न पर विचार कर सकता है कि सरकार का प्रशासनिक सगठन किस प्रकार हो और किसको क्या कार्य सौंपा जाए। दसवें, विधानाग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह लोकमत का प्रकाशन करे अर्थात् उसको प्रतिनिधियो एव कार्याग के सामने जनता के कष्टों को रखना चाहिए। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि विधानाग का कार्य केवल कानून बनाना नही है, उसे अन्य प्रकार से भी समाज-सेवा मे योग देना है।

2. विधानाग की रचना

कानूनी दृष्टि से विधानाग सर्वोपरि है। विधानाग ही सरकार का एक ऐसा अग है जिसमे सभी प्रदेशो और व्यक्ति समूहो का समुचित प्रतिनिधित्व हो सकता है। अतएव, जनता के प्रतिनिधियो को समाज के सभी वर्गों के हितो पर समुचित ध्यान देना चाहिए। यथासम्भव वयस्क मताधिकार के सिद्धात पर नागरिकता के अधिकार दिए जाने चाहिए।

ससद : एक सदनी अथवा द्वि-सदनी— ससद् एक सदन वाली अथवा दो सदनो की हो सकती है। यूरोप मे एक समय था जब कि ससद् के चार-पाँच सदन तक होते थे। किंतु क्रमश इनकी सख्या कम होती गई और आज बहुत कम ऐसे उदाहरण मिलेंगे जहाँ दो से अधिक सदन हो। सयुक्त राज्य (अमरिका) मे जब सविधान बना, तो यह कल्पना भी नही की गई थी कि सीनेट की सदस्य-सख्या इतनी बढ जाएगी कि इसके सदस्य सुगमतापूर्वक विचारों का आदान-प्रदान न कर सकेंगे। वहाँ उच्च सदन को बनाने का एक कारण यह था कि सयुक्त राज्य (अमरिका) एक सघीय राज्य है और सविधान-निर्माता एक ऐसा सदन बनाना चाहते थ जिसम सघ के सभी छोटे बडे राज्यो को समता के आधार पर प्रतिनिधित्व मिले। आशा यह की जाती थी कि सीनेट सघ की इकाइयो के अधिकारो की समुचित रक्षा कर सकेगी। लेकिन अब चाहे सघीय राज्य हो या न हो, ससार के अधिकतर देशो म द्विसदनी ससद् पाई जाती है। सर्वप्रथम, इस प्रकार की ससद् का उद्भव यूनाइटेड किंगडम मे अकस्मात् हुआ। लेकिन बाद मे इसके लाभ दृष्टिगत होने से अन्य देशो म भी इसका अनुकरण किया जाने लगा। सोवियत सघ ने भी द्विसदनी ससद् को अपनाया। कहने का अभिप्राय यह है कि

इस प्रकार की ससद् अब व्यापक रूप से प्रचलित हो गई है।

द्विसदनी संसद् की उपयोगिता—प्राय प्रश्न उठाया जाता है कि उच्च सदन की क्या आवश्यकता है ? विद्वानो ने इसके कई लाभ बताए है। पहला, उच्च सदन निम्न सदन द्वारा बिना अच्छी तरह सोच विचार किए जल्दी मे पारित बिलो पर अकुश लगाता है। उच्च सदन के होने से दोबारा बिल पर विचार करना होता है और इस कार्य मे देर लग जाती है। इस बीच उग्र लोगों का जोश ठडा हो जाता है और जनता मे गम्भीरतापूर्वक कानून के प्रभाव पर विचार किया जा सकता है। इस प्रकार उच्च सदन के होने से इतना समय मिल जाता है कि लोग विचारो का आदान प्रदान कर सकें और एक विवेकपूर्ण लोकमत बन सकें। दूसरे, जहाँ दो सदन होते हैं वहाँ निचला सदन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियो का बन सकता है। प्राय ये लोग गर्म विचार वाले, अनुभवहीन और लापरवाह होते हैं। भावुकता और उत्तेजना में बह कर वे जनता के दीर्घकालीन हानि-लाभ को भूल जाते हैं। इससे बचने का सुगम उपाय उच्च सदन का निर्माण है। ऐसे सदन के सदस्य अपेक्षाकृत योग्य, अनुभवी और शात विचार वाले होते हैं। यहाँ का वातावरण भी शात होता है। इस प्रकार दो सदनो के होने से सोच-विचार का कार्य भलीभांति हो जाता है। तीसरे, दो सदनो के होने से एक सदन की निरकुशता से बचाव हो जाता है। यदि सदन केवल एक हो, तो यह आशका बनी रहती है कि कही वह अपने को सर्वेसर्वा समझकर मनमानी न करने लगे। दो सदनो के होने से इस प्रकार का डर अपेक्षाकृत कम हो जाता है। चौथे, द्विसदनी ससद् मे लोकमत को अच्छी तरह समझा जा सकता है। यदि एक सदन होगा तो उसके सदस्य लोकमत से दूर पड सकते हैं। ऐसा विशेषत तब होता है जब सदन के समस्त सदस्य एक ही समय चुने गए हो, और उनका कार्यकाल अपेक्षाकृत लबा हो। द्विसदनी प्रणाली मे यह आशका कम हो जाती है। यही नहीं, गर्म और नर्म विचार वालो के मेल से ठीक नीति अपनाई जा सकती है। पाँचवें, द्वितीय सदन मे विशिष्ट हितो को मनोनीत किया जा सकता है। साथ ही, उसमे ऐसे व्यक्तियो को भी मनोनीत किया जा सकता है जो योग्य और अनुभवी हैं किंतु जो चुनाव के पचडे मे नही पडना चाहते अथवा जिन्हे प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा प्रतिनिधित्व मिलना कठिन है। छठे, द्वितीय सदन मे निर्वाचको की योग्यता को ऊँचा कर और उसकी न्यूनतम आयु की सीमा को निर्धारित करके उसमे अनुभवी व्यक्तियो को स्थान दिया जा सकता है। सातवें, सघीय राज्यो मे उच्च सदन अत्यत आवश्यक है। इसमे सघ की इकाइयों को समान अथवा किसी अन्य आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है जिससे वे अपने अधिकारो की रक्षा कर सकें और उनका अस्तित्व खतरे मे न पडे। आठवें, विधानाग का काम अब

इतना अधिक बढ गया है कि एक सदन समुचित रूप से उसे नही कर पाता। यदि उच्च सदन हो तो ऐसे कानूनो को जो विवादग्रस्त नही हैं, द्वितीय सदन मे प्रथम विचार के लिए पेश किया जा सकता है। इससे निचले सदन का बहुमूल्य समय बच सकता है। नवें, कुछ विद्वानो के अनुसार, दो सदनों के रहने से अधिकारियों को भी थोडी स्वतत्रता मिल जाती है और सार्वजनिक दृष्टि से यह अच्छी बात है। यदि एक ही सदन हो तो इस बात की आशका रहती है कि वह प्रशासन के कार्यों मे हस्तक्षेप कर कहीं गडबडी न पैदा कर दे। दसवें, यदि दोनो सदन किसी विषय मे एकमत हो तो इससे उनके निर्णय की अच्छाई पर विश्वास बढता है, किन्तु यदि वे एकमत न हो तो उस विषय पर दोबारा विचार करने का समय मिल जाता है। डा० फाइनर के कथनानुसार, जहाँ दोनो सदन एकमत हैं, कानून की प्रवृद्धि और उसके न्याय पर हमारी आस्था बढ जाती है; यदि उनमे मतभेद हो तो इस बात को आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है कि जनता अपने दृष्टिकोण पर फिर से विचार करे। इस प्रकार उच्च सदन के रहने से जल्दबाजी, बिना सोचे विचारे काम करना, और विशेष हितो का सरक्षण आदि समस्याओं को हल किया जा सकता है। हेनरी मेन के अनुसार, उच्च सदन न बनाने से यह अच्छा होगा कि किसी न किसी प्रकार का उच्च सदन बना लिया जाए। एक सुगठित उच्च सदन प्रतिस्पर्धी के रूप मे नीति का अनुमोदन-मात्र नही करता, अपितु उससे महत्त्वपूर्ण सरक्षण प्राप्त हो जाता है।

द्वितीय सदन के दोष—द्वितीय सदन के लोकप्रिय होने पर भी कई विद्वानो ने इसकी तीव्र आलोचना की है। उनके कथनानुसार, एक सदनी ससद् के लाभ और द्वि सदनी ससद् के दोष अपेक्षाकृत कही अधिक हैं। द्विसदनी ससद के दोषो को बताते हुए यह कहा गया है कि राज्य की इच्छा और सकल्प एक हो सकते हैं एक से अधिक नही। अतएव, दो सदनो का होना, जिनमे मतभेद की सम्भावना हो, राज्य की एकता की दृष्टि से बुरा है। दूसरे, कुछ विद्वानो का मत है कि *द्वितीय सदन व्यर्थ है। यदि उसका प्रथम सदन से मतभेद है तो* यह बहुत बुरी बात है और यदि उसका मत प्रथम सदन से मिलता है तो उसका होना व्यर्थ है। लास्की के मतानुसार, यदि ससद् के दोनो भवन एकमत हों तो फिर दूसरे सदन को बनाने का लाभ क्या है? दूसरी ओर यदि उच्च सदन का कानूनों के सबध मे मतभेद होता है तो गत्यवरोध हो सकता है जो अच्छी बात नही है। तीसरे, यह कहा गया है कि यदि दो सदन होंगे तो उनमे मतभेद और झगडों का होना स्वाभाविक है। शासन-प्रबध की दृष्टि से इसमे लाभ कम और हानि अधिक है। बहुत-सा समय आपसी झगडों मे बीत जाता है और आवश्यक कार्य रुके रह जाते हैं। चौथे, अनुभव यह बताता है कि उच्च सदन न तो कानूनों

को सुधारने मे विशेष सहायता पहुँचाते हैं और न उनके कारण सघ की इकाइयो के अधिकार ही सुरक्षित रहे हैं। इसके विपरीत दो सदनो के रहने से दोनों मे उत्तरदायित्व की भावना कम हो जाती है। पाँचवें, फाइनर के अनुसार, उच्च सदन प्रगति के मार्ग मे बाधक होता है। उन्हे बनाया ही इसलिए जाता है कि उच्च सदन के माध्यम से सविधान-निर्माता किन्हीं प्रथाओ आदि की रक्षा करना चाहते हैं। वैसे भी प्राय उच्च सदन अनुदार और सुधार-विरोधी होते हैं। छठे, दो सदनो के रहने से खर्च बहुत बढ़ जाता है और अपेक्षित लाभ नही होता। सातवें, उच्च सदन का निर्माण यदि पहले सदन के सदृश किया जाए तो वह व्यर्थ है और यदि किसी दूसरे ढग से किया जाए तो कुछ न कुछ अंश मे यह बात लोकतन्त्र-विरोधी होगी। आठवें, लास्की के कथनानुसार, उच्च सदन के माध्यम से जल्दबाजी मे किए हुए कार्यों पर रोक लगाने की बात व्यर्थ है। सच्ची रुकावट तो जनता की जागरूकता और सरकार की सतर्कता पर निर्भर है। यही नही, अब बिलो को पारित करके कानून बनाने की व्यवस्था इतनी जटिल बन गई है और उसमे इतना अधिक समय लग जाता है कि इसकी कोई आवश्यकता नही है कि दूसरा सदन दोबारा उस पर विचार करे और तब वह पारित हो। नवें, उच्च सदन के कारण प्राय गत्यवरोध हो जाते हैं और सुधार की दीर्घकालीन योजनाएँ यो ही धरी रह जाती हैं। दसवें, दो सदनो के कारण लोकमत को समझने मे बहुत कठिनाई होती है। यदि दो सदन हो, तो इसमे से किसका निर्णय लोकमत के अनुकूल माना जाए। जनता की सामान्य इच्छा एक ही हो सकती है, अनेक नही। ऐबे सीज के अनुसार, "कानून जनता की इच्छा के अनुकूल होता है; जनता की एक समय एक ही विषय पर दो भिन्न इच्छाएँ नही हो सकती। अतएव, जो विधानांग जनता का प्रतिनिधित्व करता है, वह भी अनिवार्य रूप से एक ही होना चाहिए। जहाँ दो सदन होंगे, आपस मे मतभेद और विभाजन हो जाएँगे ।" ग्यारहवें, यह कहना कि उच्च सदन अल्पसख्यकों के अधिकारो की रक्षा करेगा अथवा विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व कर सकेगा, अनुचित प्रतीत होता है। अब कानून बनाते समय सभी ऐसे वर्गों और हितो की राय ले ली जाती है जिनका उस कानून से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सबध है। यही नही, कोई भी उच्च सदन असामान्य हितो को सरक्षण नहीं दे सकता और न वह अल्पसख्यको के अधिकारो और हितों की उस समय तक रक्षा कर सकता है जब तक देश मे विधि शासन न हो और जनता में सहिष्णुता तथा सद्भाव न हो। बारहवें, फाइनर के अनुसार, उच्च सदन इसलिए स्थापित किए जाते हैं कि सविधान निर्माताओ को लोकमत से किन्ही

निहित स्वार्थों की रक्षा करनी होती है, अर्थात् वे लोकतन्त्र-विरोधी होते है[1]। भारत मे उच्च सदनों के अस्तित्व का बहुत दुरुपयोग हुआ है। उदाहरण के लिए, एक बार बम्बई व्यवस्थापिका परिषद् मे मोरारजी देसाई को सदस्य मनोनीत कर दिया गया जब कि आम चुनाव मे उनकी हार हो गई थी और बाद मे वे बम्बई के मुख्यमन्त्री बने। इसी प्रकार मद्रास मे राजगोपालाचारी को उच्च भवन मे मनोनीत कर दिया गया और वे वहां के मुख्यमन्त्री बन गए। अंतिम, अनुभव यह बताता है कि उच्च सदन की विशेष उपयोगिता नही है। उच्च सदन कानूनों में बहुत कम ऐसे सशोधन अथवा परिवर्तन करता है जो निचले सदन द्वारा स्वीकार किए जाते हो। उदाहरण के लिए, सयुक्त राज्य (अमेरिका) मे निचले भवन द्वारा पारित अधिक बिल सीनेट की अपेक्षा राष्ट्रपति द्वारा अमान्य कर दिए जाते हैं।

इन्ही दोषों पर ध्यान देते हुए विद्वान लेखकों का कहना है कि उच्च सदन बनाने का कोई लाभ नहीं है। ली-स्मिथ के अनुसार, यदि उच्च सदन बनाना ही है, तो अच्छा होगा कि निचले सदन द्वारा उसे निर्वाचित किया जाए[2] और यह निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से हो। लास्की के मतानुसार, इस सुझाव का एक लाभ यह है कि सत्तारूढ दल की बात मानी जाएगी और साथ ही उच्च सदन और निचले सदन का कार्यकाल साथ ही साथ समाप्त हो जाएगा। इसके अतिरिक्त, इस व्यवस्था मे दोनो सदनो मे पारस्परिक सघर्ष की कोई सम्भावना न होगी। उच्च भवन का कार्य केवल यह होगा कि वह निचले भवन द्वारा पारित बिलो मे सशोधन करे। इस प्रकार यह जल्दबाजी रोक सकेगा और भूलो को सुधार सकेगा, किंतु बिलो को यह रद्द नही कर सकेगा[3]।

उपर्युक्त गुण-दोष पर विचार करने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यद्यपि उच्च सदन का कुछ महत्त्व है, तथापि वह अपरिहार्य नहीं है। अमेरिका की सीनेट मे बहुत अनुभवी और योग्य व्यक्ति पहुँच जाते हैं और वे कानून बनाने और नीति-निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं। इसी प्रकार ब्रिटिश लॉर्ड सभा मे भी अनेक अनुभवी राजनीतिज्ञ हैं। तथापि 1911 ई० के कानून के द्वारा और फिर द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् उसके अधिकारों को सीमित करना पडा, और अब उसमे केवल कुछ देरी करने की सामर्थ्य ही

---

1 गारनर, उपर्युक्त ग्रन्थ, भाग 1, पृष्ठ 739 40.

2 ली स्मिथ, *Second Chambers in Theory and Practice* लंदन, 1923, पृष्ठ 221.

3 वही, पृष्ठ 40 और 249.

रह गई है। इनके विपरीत कैनेडा की सीनेट अपक्षाकृत शक्तिहीन है। भारत मे राज्यसभा परोक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यो का सदन है जो विभिन्न सघीय इकाइयो का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह सदन महत्त्वपूर्ण कार्य करता रहा है। किंतु स्विट्जरलैंड म उच्च सदन और निचला भवन दोनो ही प्रभावहीन हैं, क्योकि वहां कार्यांग बहुत प्रभावशाली है और जनमत गणना तथा सार्वजनिक उपक्रम के कारण विधि-निर्माण की शक्ति अतत जनता के हाथो मे है। सोवियत सघ मे सोवियत ऑफ नेशनैलिटीज़ के निम्न सदन के सदृश अधिकार हैं। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतर राज्यों मे द्विसदनी ससदें हैं, यद्यपि इनमे से अनेक मे उच्च सदन गौण हो गए हैं।

द्वितीय सदन की रचना और अधिकार—यदि राज्य में उच्च सदन का होना आवश्यक समझा जाए, तो प्रश्न यह उठता है कि उसकी रचना कैसे हो? प्रथम, एकात्मक राज्यो मे उसके अधिकार निचले सदन से कम होने चाहिए जिससे गतिरोध उत्पन्न न हो। दूसरे, उसकी सदस्य-सख्या निचले सदन से कम होनी चाहिए। तीसरे, ऊपरी सदन के सदस्यो की आयु भी कुछ अधिक रखी जा सकती है। चौथे, वशानुगत आधार पर सदस्यो को मनोनीत नही किया जाना चाहिए क्योकि यह लोकतत्रीय सिद्धात के प्रतिकूल है। पांचवें, यदि उसकी रचना ली स्मिथ और लास्की के मतानुसार होती है तो दोनों सदनो का कार्यकाल एक ही रहना स्वाभाविक हो जाता है। किंतु यदि उसकी बनावट एक भिन्न आधार पर की जाती है तो ऊपरी सदन का कार्यकाल निचले सदन से कुछ अधिक रखा जा सकता है और उसके कुछ अशो का चुनाव बीच बीच में किया जा सकता है जिससे कि ऊपरी सदन लोकमत से सम्पर्क न खो बैठे।

यदि ली स्मिथ और लास्की का प्रस्ताव स्वीकार्य न हो तो हमारे सम्मुख नियुक्ति के केवल तीन ढग शेष रह जाते हैं (1) मनोनीत करना, (2) प्रत्यक्ष चुनाव, किंतु भिन्न भिन्न निर्वाचन क्षेत्रो से, और (3) अप्रत्यक्ष चुनाव। सदस्यों को या तो जीवन भर के लिए मनोनीत किया जा सकता है अथवा एक विशेष अवधि के लिए। सघीय राज्यो मे भिन्न निर्वाचन-क्षेत्र की समस्या कुछ सीमा तक इसलिए हल हो जाती है कि सघ की इकाइयो को निर्वाचन-क्षेत्र माना जा सकता है, किंतु एकात्मक राज्यों मे यह व्यवस्था करना कठिन है। जहां तक अप्रत्यक्ष चुनावों का प्रश्न है, वे कई प्रकार के हो सकते हैं। नार्वे मे ऊपरी सदन का चुनाव निचला भवन करता है। भारत मे 1935 ई० के ऐक्ट के अनुसार बगाल और बिहार के ऊपरी सदनो की एक बडी सख्या निचले भवन चुनते थे। राज्य सभा के चुनाव मे विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य चुनाव करते हैं। सघीय प्रदेशो के सदस्य ससद् द्वारा निर्धारित कानून के अनुसार चुने

जाते हैं और 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। डा० बेनीप्रसाद के अनुसार, यथासम्भव उच्च सदन में विशेष आर्थिक हितों और स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और यदि हो सके तो विशेषज्ञों को भी मनोनीत किया जाना चाहिए।

3 कानून बनाने की प्रक्रिया

कानून बनाने की प्रक्रिया कुछ सीमा तक जटिल होती है। इसमे कुशल लेखकों और विधि विशारदों के सहयोग की भी आवश्यकता होती है जिससे भाषा और कानून की दृष्टि से कोई कमी न रह जाए। भारत में वित्तीय विधेयकों के अतिरिक्त अन्य कोई बिल संसद के किसी सदन में आरम्भ हो सकता है। वह तब तक पारित नहीं माना जाता जब तक बिना संशोधन के या केवल ऐसे संशोधनों के साथ जिन्हें दोनों सदनों ने स्वीकार कर लिया है, वह दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत न हो जाए। अधिकतर बिल मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं और इनको तीन सोपानों को पार करना होता है। प्राय प्रथम सोपान में केवल बिल का नाम पढ़कर सुना दिया जाता है और कोई बहस नहीं होती। द्वितीय सोपान के समय केवल बिल के उद्देश्यों और सिद्धांतों पर बहस होती है और बिल पर मत लिए जाते हैं। इसके बाद बिल को एक समिति (committee) के सुपुर्द कर दिया जाता है जहाँ उस पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाता है, यहाँ तक कि प्रत्येक शब्द और विराम चिह्नों पर भी विचार किया जाता है। तत्पश्चात् समिति सदन में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती है। फिर एक बार बिल पर भलीभाँति विचार किया जाता है। लेकिन इस तृतीय सोपान में शाब्दिक संशोधनों के अतिरिक्त अन्य संशोधन स्वीकृत नहीं किए जाते। इसके बाद मत लिए जाते हैं और बिल दूसरे भवन को भेज दिया जाता है जहाँ फिर इसी प्रकार बिल पर विचार होता है। यदि दूसरा भवन बिल में संशोधन का सुझाव देता है तो वह फिर प्रथम भवन के सम्मुख प्रस्तुत होता है जहाँ इन संशोधनों को माना जा सकता है या उनसे असहमति प्रकट की जा सकती है। यदि बिल को दूसरा सदन 6 मास के अंदर स्वीकार न करे या दोनों भवनों में कुछ मतभेद हो तो राष्ट्रपति उस पर पुन विचार करने के लिए एक संयुक्त बैठक का आयोजन कर सकता है। संयुक्त बैठक में सभी प्रश्नों पर दोनों सदनों के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से निर्णय किया जाता है और इस प्रकार पारित विधेयक दोनों सदनों द्वारा पारित माना जाता है। इस संयुक्त बैठक में केवल ऐसे ही संशोधन रखे जाते हैं जो पारण में देरी के कारण आवश्यक हो गए हों अथवा जो एक सदन द्वारा प्रस्तावित होकर दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत हुए हों।

वित्तीय विधेयक केवल लोकसभा मे प्रस्तावित किए जा सकते हैं। लोकसभा से पारित हो जाने के पश्चात् वे राज्यसभा के पास उसकी सिफारिशों के लिए पहुँचाए जाते हैं। राज्यसभा उसे प्राप्त होने की तिथि से २४ दिन की अवधि मे अपनी सिफारिशों सहित लोकसभा को लौटाती है। यह लोकसभा की इच्छा पर निर्भर है कि वह राज्यसभा की सिफारिशो को माने अथवा न माने। यदि इनमे से किसी सिफारिश को वह स्वीकार कर लेती है तो धन-विधेयक ऐसे सशोधनो सहित दोनो सदनो द्वारा पारित समझा जाता है और यदि इन सिफारिशो को स्वीकार नही करती तो वित्तीय विधेयक उस रूप मे पारित समझा जाता है जिसमे लोकसभा ने उसे पारित किया हो। यदि राज्यसभा 24 दिन के भीतर इस विधेयक को अपनी सिफारिशो सहित लोकसभा को नही लौटाती तो इस अवधि की समाप्ति पर यह दोनो सदनों द्वारा उस रूप मे पारित माना जाएगा जिसमे उसे लोकसभा ने स्वीकार किया है। कहने का अभिप्राय यह है कि वित्तीय मामलो मे राज्यसभा न तो पहल कर सकती है और न उसकी आवाज निर्णायक होती है। कोई विधेयक वित्तीय विधेयक है या नही, इस प्रश्न पर लोकसभा के अध्यक्ष (Speaker) का निर्णय अंतिम होता है। राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित करते समय और राज्यसभा को भेजते समय लोकसभा का अध्यक्ष यह प्रमाणित करता है कि अमुक विधेयक वित्तीय है।

पारित हो जाने पर विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष पेश किया जाता है। राष्ट्रपति उसे अपनी अनुमति दे सकता है अथवा उसे सदनों को अपने सदेश के साथ लौटा सकता है। इस संदेश मे वह पुनर्विचार अथवा सशोधनों का सुझाव दे सकता है जिन पर सदनों को शीघ्र विचार करना होता है। यदि विधेयक सदनो द्वारा सशोधन सहित या उनके बिना पुनः पारित हो जाते हैं तो राष्ट्रपति को उन्हे स्वीकार करना होता है।

17
न्यायांग

एक सशक्त राजनीतिक नेता, जो शासन-व्यवस्था को बदल सकता है, कभी अपने राजनीतिक उद्देश्यों को न्यायांग द्वारा भग्न होते हुए सहन नहीं कर सकता।

—एम० ए० केपलेन और एन० कर्जन्बाख

1. न्यायाग का महत्त्व

न्यायाग से हमारा अभिप्राय उन सरकारी पदाधिकारियों से है जिनका कर्त्तव्य अपने समक्ष उपस्थित मामलो मे कानून के अनुसार अपने निर्णय देना है। ऐसा करते समय वे प्रस्तुत मामलो का विवेचन करके कानूनों की व्याख्या करते हुए अपना निर्णय देते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि उस विषय पर सीधे लागू होने वाला कोई स्पष्ट कानून नही होता। ऐसी दशा मे न्यायाधीश सामान्य बुद्धि, विवेक और न्याय के आधार पर अपने निर्णय देते हैं और आगे चल कर ये निर्णय अन्य न्यायाधीशों के लिए दृष्टात बन जाते हैं। कुछ देशो में इस प्रकार के पूर्वनिर्णयों (precedents) का विशेष आदर होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कुछ सीमा तक न्यायाधीश भी कानूनो के निर्माण में योग देते हैं। कुछ राज्यों में उन्हें सविधान का सर्वोच्च मान कर उसकी रक्षा करने का उत्तरदायित्व भी सौंपा जाता है। इसके कारण उन्हें यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वे ससद् अथवा विधानाग द्वारा पारित कानूनो की वैधता की जाँच करें अर्थात् यह देखें कि ऐसे कानून सविधान के अनुकूल हैं अथवा प्रतिकूल। प्रतिकूल होने की दशा मे ऐसे कानूनो को अवैध घोषित कर दिया जाता है। न्यायाधीशों के इस अधिकार को 'न्यायिक पुनर्विलोकन' (judicial review) कहते हैं।

उपर्युक्त विवरण स यह स्पष्ट हो गया होगा कि देश की शासन व्यवस्था

मे न्यायाग का कितना अधिक महत्त्व है । ब्राइस के अनुसार, एक राज्य की शासन-व्यवस्था की कुशलता का परिचय इस बात से होता है कि वहां न्यायाग कितना दक्ष है और वह कितनी शीघ्रतापूर्वक अपने निर्णय देता है । जिस देश मे न्यायाग सुचारु रूप से कार्य नही करता, यदि वह अधकार के गर्त मे समा जाए तो कोई आश्चर्य की बात नही । कहने का आशय यह है कि न्यायाग नागरिकों के अधिकारो का संरक्षक होता है और उस पर सविधान के सरक्षण का उत्तरदायित्व है । मैरियट के अनुसार, यदि नागरिको को न्याय पाने मे देर लगती है अथवा न्याय की सतोषजनक व्यवस्था नही है, तो नागरिको का जीवन दुखद बन जाता है ।

2 न्यायाग के कार्य

साधारणत न्यायाग का कार्य कानूनो की व्याख्या करना और उनके अनुसार अपने निर्णय देना है । उनका काम कानूनो की अच्छाई और बुराई पर विचार करना नही है, अपितु कानूनो को लागू करना है । हां, यदि राज्य मे न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धात को मान्यता दी गई है, तो उसका उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह कानूनो की वैधता की जाँच करे। सक्षेप मे न्यायाधीशो के कार्य है प्रथम, कानूनो की व्याख्या करना और उनके सामने जो मामले आएँ कानूनो के अनुसार उनका निर्णय करना । दूसरे, जहां कानून स्पष्ट न हो अथवा कोई कानून प्रत्यक्ष रूप से लागू न होता हो तो ऐसी दशा मे सामान्य-बुद्धि, विवेक और नैतिकता के आधार पर निर्णय देना। इस प्रकार के निर्णय आगे चलकर अन्य न्यायाधीशो के लिए दृष्टात बन जाते हैं । तीसरे, नागरिक अधिकारो की रक्षा करना। कई राज्यो मे बुनियादी नागरिक अधिकारो का विवरण सविधान मे दे दिया जाता है ताकि उसे सविधान और न्यायाग का सरक्षण प्राप्त हो सके। ऐसी अवस्था मे न्यायाग का यह विशेष उत्तरदायित्व होता है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि सरकार का कोई अग इन अधिकारो पर कुठाराघात नही करता । चौथे, सविधान की अधिकृत व्याख्या करना और उसका सरक्षण करना । कुछ देशो *मे संविधान को 'सर्वोच्च विधि' घोषित कर दिया जाता है, जिसका अभिप्राय* यह है कि देश के जो भी कानून उसके प्रतिकूल होगे, वे अवैध माने जाएँग । ऐसी अवस्था मे न्यायाग का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि जब भी किसी कानून अथवा अध्यादेश की सविधान के साथ अनुकूलता का प्रश्न उठाया जाए, तो वह इस पर भलीभांति विचार कर अपना निर्णय दे । सयुक्त राज्य (अमरिका) और भारतीय सविधान मे इस प्रकार की व्यवस्था है । पाँचवें, निषेधात्मक आदेश देना । न्यायाधीशो का यह भी एक महत्वपूर्ण कार्य है कि यदि कोई

कानून-विरुद्ध कार्य किया जा रहा है और उसे तत्काल न रोकने से बहुत हानि होने का भय है तो वे ऐसे कार्यों को रोकने का आदेश दें। इसके अतर्गत बदी-गृह से मुक्त करने की आज्ञा भी आ जाती है। छठे, सघीय राज्यो मे प्राय: न्यायाग को सघीय व्यवस्था की रक्षा का कार्य भी सौंप दिया जाता है। ऐसी स्थिति मे न्यायाग का यह उत्तरदायित्व होता है कि सघ की इकाइयो के अधिकार सविधान की धाराओं के प्रतिकूल और उनकी इच्छा के विरुद्ध सीमित न किए जाएँ, अर्थात् सविधान द्वारा सघ और उसकी इकाइयो के अधिकारो के विभाजन की रक्षा करनी होती है। सातवें, कुछ राज्यो मे न्यायाग को परामर्श देने का अधिकार भी दिया गया है। प्राय ऐसे परामर्श कार्याग अथवा राज्य का प्रधान ऐसे पेचीदे मामलो पर लेता है जिनका सविधान की व्याख्या से सम्बध होता है। कभी-कभी ऐसा परामर्श उन तथ्यो के सबध मे भी लिया जा सकता है जो महत्त्वपूर्ण हो किंतु जिनके सम्बध मे भ्राति उत्पन्न हो गई हो। सामान्यत: इस प्रकार के परामर्शों की कानूनी वैधता नही होती, क्योंकि ऐसे परामर्श विशेष मामलो मे न होकर व्यापक प्रश्नो पर दिए जाते हैं। हमारे सविधान मे भी न्यायाग को इस प्रकार के अधिकार दिए गए हैं। आठवें, न्यायाग के उच्च विभागो के सम्मुख विभिन्न प्रकार के दीवानी, फौजदारी और वित्तीय मुकद्दमे अपील में प्रस्तुत होते हैं। उन्हे अपराधियों को दड देने, हानि उठाने वाले पक्ष को हर्जाना दिलाने आदि की अपीलें सुनने का अधिकार होता है। यह कहा गया है कि इन मामलो का निपटारा करने मे न्यायाधीशो को बहुत देरी नही लगानी चाहिए, क्योंकि देर लगाना लगभग न्याय न देने के बराबर है। इसका अभिप्राय यह नही है कि निर्णय जल्दबाजी से किए जाएँ क्योंकि दूसरी लोकोक्तियाँ ये भी हैं कि 'जल्दबाजी का काम शैतान का होता है' और 'जल्दबाजी मे प्राय न्याय का खून हो जाता है'। नवें, इनके अतिरिक्त विभिन्न राज्यो में न्यायाग को और भी कई प्रकार के काम सौंप दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए, सयुक्त राज्य (अमरिका) मे जब सीनेट राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लगाता है तो सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश सीनेट की बैठक का सभापतित्व करता है। इनके अतिरिक्त, अनेक देशो मे न्यायाधीशो को तरह-तरह के लाइसेंस देने, नागरिकीकरण के अधिकार, कानूनी विवाह कराने का अधिकार, नाबालिगो के सरक्षक और सम्पत्ति के प्रबधक नियुक्त करने का अधिकार आदि भी होते हैं। कई देशो मे उन्हे वसीयतो को मान्यता देने के भी अधिकार प्राप्त हैं। कुछ देशों मे उन्हे चुनाव के सम्बध मे विशेष न्यायालयों से अपील सुनने का अधिकार है। कई बार न्यायाधीशों को आपस मे समझौते कराने पड़ते हैं और घरेलू सम्पत्ति मे बटवारे करने मे सहायता देनी होती है।

3. न्यायाधीशों की निष्पक्षता और स्वतंत्रता की समस्या

सिजविक के अनुसार, किसी देश के न्याय का मापदड उसकी सभ्यता की एक अच्छी कसौटी है। इससे पता चल जाता है कि अमुक समाज कितनी उन्नति कर चुका है। हम देख चुके हैं कि न्यायाधीश विविध कार्य करते हैं। वे अपने कार्यों का उचित ढग से उस समय तक सम्पादन नही कर सकते जब तक इसके लिए उचित वातावरण न हो। इस प्रश्न का हम आगे चलकर 'विधि-शासन' के अतर्गत विवेचन करेंगे। उचित वातावरण के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीश पूर्णत. निष्पक्ष और स्वतत्र हो। गार्नर के कथनानुसार, यदि न्यायाधीशो मे प्रज्ञान, ईमानदारी और निर्भीकता नही होगी तो वे अपने उन उच्च उद्देश्यो को प्राप्त नही कर सकेंगे जिनकी उनसे आशा की जाती है। और यह तभी हो सकता है जब उन पर किसी प्रकार का दबाव न हो। साथ ही, उन्हें कानून और कानूनी प्रक्रियाओ का समुचित ज्ञान होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, उनमे इतना मनोबल होना चाहिए कि प्रलोभन अथवा दबाव उन्हे अपने कर्त्तव्य से डिगा न सके। यही नही, उन्हे शान्त प्रवृत्ति का होना चाहिए; उन्हे धीरता और गभीरता से अपने निर्णय करने और सुनाने चाहिए। न्याय, नैतिकता और विवेक पर ध्यान देते हुए उन्ह अपने उत्तरदायित्वो को निभाना चाहिए। इन गुणो के बिना न्यायाधीश अपने कर्त्तव्यो का समुचित पालन नही कर सकते। यद्यपि कुछ विद्वानो का यह मत है कि न्यायाधीश पूर्णतः वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकते, तथापि यह सभी विचारक स्वीकार करते है कि उनको निष्पक्ष और निर्भीक होना चाहिए। इसमे जो आवश्यक बातें सहायक होती हैं उनका हम अन्यत्र स्थान पर विवेचन करेंगे।

न्यायाधीशों की नियुक्ति—इस सबध मे सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि न्यायाधीशो की नियुक्ति किस प्रकार हो ताकि वे स्वाभिमानी, निर्भीक और ईमानदार बने रह सकें। उनकी नियुक्ति की दो विधियां हैं . चुनाव, और सीधी नियुक्ति। चुनाव या तो विधानाग द्वारा किया जाता है अथवा जनता करती है। जनता द्वारा चुनाव सोवियत सघ मे प्रचलित है। स्विट्जरलैंड के कुछ कैंटनों मे भी यह व्यवस्था लागू है। तथापि इसके कुछ दोष हैं। प्रथम, यह कि मतदाताओ को इतना ज्ञान और क्षमता नही होती कि वे योग्य व्यक्तियो की पहचान कर सकें। अत चतुर उम्मीदवार जनता को भ्रम मे डालकर चुनाव जीत जाते जाते हैं। दूसरे, इससे न्यायाग मे दलबन्दी का प्रवेश हो जाता है और न्यायाधीशो को समयानुकूल कार्य करना होता है। यदि उनकी नियुक्ति अल्पकालीन हो तो ये बुराइयां और भी बढ जाती हैं। निर्वाचित न्यायाधीशो को अपने दल के अधिकारियो को प्रसन्न रखना पडता है, ऐसा न होने पर उन्हे आशका रहती है कि

शायद अगली बार उन्हे चुनाव के लिए खड़ा ही न किया जाए। तीसरे, निर्वाचित न्यायाधीशो को लोकमत का भी ध्यान रखना पड़ता है। अत. उसे कई बार कानूनो के अतिरिक्त लोकमत के अनुकूल अपने निर्णय देने पड़ते हैं। चौथे, इस प्रकार के व्यक्ति कभी कभी कानून और कानूनी प्रक्रियाओ से अनभिज्ञ होते हैं जिसके कारण न्यायालयो मे एक मखोल-सा बन जाता है। इन बातों को ध्यान म रखते हुए लास्की ने कहा है कि जनता द्वारा निर्वाचित, न्यायाधीशो की नियुक्ति का सबसे बुरा ढग है। इसी प्रकार के दोष अप्रत्यक्ष निर्वाचन मे भी पाए जाते हैं, फिर चाहे उन्हे विधानाग चुने या अन्य कोई निर्वाचन मडल। उपर्युक्त दोषो के अतिरिक्त, इस विधि मे कुछ और दोष भी हैं। प्रथम, यह शक्ति पृथक्‌ता के सिद्धात के विरुद्ध है। इसम एक अर्थ मे न्यायाधीश को विधानाग को प्रसन्न रखने के यत्न करने पड़ते हैं। दूसरे, मतदाताओं के समान विधायकों में भी इतनी क्षमता नही होती कि वे यह निर्णय कर सकें कि कौन-से उम्मीदवार न्यायाधीश के पद के योग्य है। अत कई बार वे कुपात्रो को चुन लेते हैं। तीसरे, इस व्यवस्था के कारण न्यायाधीश 'राजनीति की दलदल' मे आ फँसते हैं जिसके कारण उनकी स्वतत्रता, निष्पक्षता और निर्भीकता नष्ट हो जाती है।

सीधी नियुक्ति कार्याग द्वारा ही की जा सकती है परन्तु यदि कार्याग मनमाने ढग पर नियुक्ति करे तो यह भी एक अत्यत दोषपूर्ण व्यवस्था होगी। अत अब न्यायाधीशों की नियुक्ति सार्वजनिक प्रतियोगिता परीक्षाओ द्वारा की जाती है। इसमे वे ही अभ्यार्थी भाग ले सकते है जिनमे न्यूनतम कानूनी योग्यताएँ हो। यही नही, प्राय आधुनिक राज्यो म यह नियम बना दिया गया है कि राज्य का प्रमुख इनकी नियुक्तियाँ करते समय प्रधान न्यायाधीश से परामर्श करे। उच्च न्यायालयो मे नियुक्तियाँ दो प्रकार से होती हैं नीचे से तरक्की देकर और सीधी नियुक्ति। पहली विधि मे न्यायाधीश अपनी योग्यता को प्रमाणित कर चुके होते हैं। दूसरी विधि के अतर्गत, प्राय उन लोगो को लिया जाता है जो एक वकील अथवा विधि शास्त्री के रूप म ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इस प्रकार नियुक्त होने वाले न्यायाधीश स्वतत्रता, निष्पक्षता और निर्भीकता से काम ले सकते हैं। कुछ आलोचक कहते है कि सीधी नियुक्ति म भी पक्षपात की सम्भावना रहती है। गार्नर के अनुसार, सयुक्त राज्य (अमरिका) के राज्यो म ऐसे अनेक उदाहरण हैं जब न्यायाधीशों की नियुक्ति व्यक्तिगत पक्षपात अथवा राजनीतिक दल के लिए काम करने के उपलक्ष म 'पारितोषिक' के रूप मे की गई है, किन्तु अभी तक इससे श्रेष्ठ कोई व्यवस्था नही सुझाई गई। भारत में भी उच्च न्यायाधीशो की नियुक्ति प्रधान न्यायाधीश के परामर्श पर राष्ट्रपति करता है। हमारे न्यायाधीश अपनी निष्पक्षता एव निर्भीकता के लिए विख्यात है।

कार्यकाल, वेतन आदि—पिछली शताब्दी तक अनेक राज्यों में न्यायाधीशों का कार्यकाल दो या चार वर्षों का होता था, किन्तु अब विचारकों का यह निश्चित मत है कि अल्प कार्यकाल न्यायाधीशों को निष्पक्ष और निर्भीक नहीं बनने देता। लगभग सभी आधुनिक राज्यों में अब न्यायाधीशों का कार्यकाल स्थायी अथवा जीवन-पर्यन्त होता है। इसका आशय यह हुआ कि अवकाश-ग्रहण करने की आयु पर्यन्त वे अपने पद पर रह सकते हैं। केवल शारीरिक या मानसिक दुर्बलता अथवा कतिपय गम्भीर अपराधों के कारण ही उन्हें हटाया जा सकता है और वह भी उस दशा में जब अच्छी तरह सोच-विचार करने के बाद संसद् एक विशेष बहुमत से इस प्रकार का प्रस्ताव पारित करे। संयुक्त राज्य के कुछ राज्यों में 'वापसी की सार्वजनिक मांग पर' न्यायाधीशों को पदच्युत कर दिया जाता है। किंतु इस व्यवस्था को इसलिए श्रेयकर नहीं माना जा सकता कि इससे न्यायाधीशों की निष्पक्षता और निर्भीकता नष्ट हो जाती है।

पद के स्थायित्व के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीशों को समुचित वेतन-भत्ता मिले जिससे वे निश्चित होकर अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। यही नहीं, एक बार उनके वेतन-भत्ते के नियत हो जाने पर फिर किसी दशा में उसमें कमी नहीं की जानी चाहिए। साथ ही, उन्हें प्राप्त अन्य सुविधाओं में भी कोई कमी नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही वे निश्चित, निष्पक्ष और निर्भीक होकर अपने उत्तरदायित्वों को निभा सकते हैं। साथ ही, यदि उनका वेतन-भत्ता और अन्य सुविधाएँ पर्याप्त एवं सम्मान यथेष्ट होगा तो योग्य व्यक्ति इन पदों के लिए आकर्षित होंगे।

स्थायी कार्यकाल और पर्याप्त वेतन भत्ते के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पद के लिए कुछ न्यूनतम योग्यताएँ निर्धारित कर दी जाएँ जिससे अयोग्य, अनुभवहीन व्यक्ति न्यायाधीश न बन सकें। इनके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि एक ऐसी व्यवस्था की जाए कि अपने कार्यकाल की समाप्ति पर अवकाश ग्रहण करने के बाद न्यायाधीश कम से कम उन प्रदेशों में वकालत न करें जहाँ वे न्यायाधीश रह चुके हैं। जहाँ तक सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का प्रश्न है, उन्हें अवकाश ग्रहण करने के बाद अन्य कोई राजकीय पद अथवा वकालत करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। इन बातों के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि (कम से कम) न्यायांग को कार्यांग की अधीनता अथवा दबाव से मुक्त करने की समुचित व्यवस्था की जाए। सम्भवतः इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए हमारे संविधान के निर्देशक-सिद्धांतों में एक सिद्धांत यह भी है कि शीघ्रातिशीघ्र न्यायांग को कार्यांग से पूर्णतः पृथक् कर दिया जाए। विलोबी के कथनानुसार, न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता और निष्प-

क्षता के लिए यह आवश्यक है कि वे राजनीतिक गठबंधनों से मुक्त हों, नियुक्त हो जाने के पश्चात् उनका कार्यकाल स्थायी हो, साधारणतः कार्यांग द्वारा उन्हें पदच्युत न किया जा सके और उनका वेतन-भत्ता पर्याप्त हो जिससे उनके कार्यकाल में कमी न की जा सके।

न्यायाधीश किस सीमा तक स्वतंत्र और निष्पक्ष हो सकते हैं ?—पिछले चालीस-पचास वर्षों में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण बन गया है कि क्या न्यायाधीश पूर्णतः स्वतंत्र और निष्पक्ष हो सकते हैं ? सर्वप्रथम, यह प्रश्न संयुक्त राज्य (अमरिका) में उठाया गया। इसका कारण यह था कि वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय बहुमत द्वारा किए जाते हैं। कई बार ऐसा हुआ कि निर्णय 5-4 के बहुमत से हुए। इसका आशय यह हुआ कि कानून की दृष्टि से न्यायाधीशों का एक बड़ा अल्पमत भी निर्णय के पक्ष में न था। तथापि बहुमत के कारण वही निर्णय अधिकृत घोषित हुआ। अतएव, अनेक विद्वानों ने यह शंका की कि जिस प्रश्न पर 5 न्यायाधीशों का एक मत है और 4 न्यायाधीशों का दूसरा, हम कहाँ तक निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि ऐसा निर्णय कानूनी दृष्टि से उचित ही है। इसी प्रकार का एक निर्णय भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने भी 1967 ई० के प्रारम्भ में बुनियादी अधिकारों के सम्बन्ध में दिया है जिससे हमारे सम्मुख भी यह प्रश्न उपस्थित हो गया है। इसके अतिरिक्त, कई बार ऐसा हुआ कि पहले अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय ने एक निर्णय किया और कुछ वर्षों के बाद उसी प्रकार के दूसरे मामले में न्यायालय ने अपने पुराने निर्णय को बदल कर भिन्न निर्णय दे दिया। कई बार, ऐसा हुआ कि इस बीच में या तो किसी न्यायाधीश की मृत्यु हो गई अथवा किसी ने अवकाश-ग्रहण कर लिया। अर्थात् नया निर्णय इसलिए दिया गया कि नए नियुक्ति होने वाले न्यायाधीश ने अपना मत अभी तक अल्पमत में होने वाले न्यायाधीशों के अनुकूल दिया। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का वह निर्णय भी, जिसकी हमने चर्चा की है, पुराने सर्वसम्मत से दिए हुए निर्णय से भिन्न है। अत: विचारकों के सामने यह प्रश्न एक नए रूप में उपस्थित हुआ क्या न्यायाधीशों के व्यक्तिगत विचार और दृष्टिकोण उनके निर्णयों को प्रभावित नहीं करते ? विवेचन करने पर यह पाया गया कि वस्तुतः न्यायाधीशों के दृष्टिकोण और विचारों की उनके निर्णयों पर गम्भीर छाप होती है। प्रश्न यह उठता है कि यदि न्यायाधीशों के दृष्टिकोण उनके मत को प्रभावित करते हैं, तो यह कहाँ तक उचित है कि विधानांग के मत के समक्ष न्यायाधीशों के (व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर आधारित) बहुमत को मान्यता दी जाए। यह समस्या इसलिए और भी उठ खड़ी हुई कि कई बार सर्वोच्च न्यायालय ने यह घोषणा की कि विधानांग ने नागरिकों के व्यवसाय करने के अधिकार पर जो रोकें लगाई हैं, वे अनुचित हैं। अनेक विद्वान लेखकों का

कहना है कि ऐसे कानूनों के राजनीतिक औचित्य अथवा अनौचित्य पर विचार करना न्यायाधीशों का काम नहीं है ; यह उत्तरदायित्व तो विधानांग का है। ब्रोगन आदि कई विद्वानों ने घोषणा की कि अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय एक तीसरा सदन बन गया है और उसके निर्णय संसद् के दो सदनों के निर्णय से अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक हैं। जब इस प्रकार के प्रश्न उठाए जा रहे थे और उन पर गर्मागरम बहसें चल रही थीं तो कुछ लोगों को आशंका हुई कि इससे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की प्रतिष्ठा को काफी ठेस पहुँचेगी। हर्ष का विषय है कि अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने व्यावहारिक रूप में अब यह मान लिया है कि उन्हें कानूनों के राजनीतिक औचित्यों पर विचार नहीं करना चाहिए, केवल कानूनी दृष्टि से उनका विवेचन करना चाहिए। साथ ही उनके निर्णय समय की बदलती हुई मान्यताओं के अनुकूल होने चाहिए।

4. न्यायांग की पृथक्ता का प्रश्न

ऊपर हम कह चुके हैं कि न्यायांग तभी स्वतन्त्र, निर्भीक और निष्पक्ष हो सकता है जब उसे कार्यांग की आधीनता और दबाव से मुक्त कर दिया जाए। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि विधानांग और न्यायांग के कार्य पृथक् व्यक्तियों और पदाधिकारियों को सौंपे जाएँ। इसे न्यायांग की स्वतन्त्रता का सिद्धांत कहते हैं, और जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, भारतीय संविधान ने इसे राज्य के एक निर्देशक सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया है और सभी प्रदेशों में इस दिशा में प्रयत्न किए जा रहे हैं। तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि न्यायांग और कार्यांग को पूर्णतः पृथक् नहीं किया जा सकता। कई मामलों में इनके अधिकार एक-दूसरे के क्षेत्र से बहुत सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए, पिछले दिनों से प्रशासनिक अधिकारियों को विभिन्न प्रकार के न्याय-संबंधी अधिकार सौंपना एक आम रिवाज बन गया है। इसे प्रशासनिक न्याय कहते हैं। मोटे रूप में यह तीन प्रकार से हमारे ऊपर प्रभाव डालता है : एक, प्रायः राजकीय कानूनों, नियमों, अधिनियमों और राजाज्ञाओं को लागू करने और मनवाने का भार प्रशासनिक अधिकारियों को सौंपा जाता है। प्रायः इन बातों से संबंधित उनके अधिकार यदि न्यायिक नहीं तो अर्धन्यायिक अवश्य कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए म्युनिसिपैलिटी इस बात का निर्णय करती है कि आपने अपनी इमारत का जो नक्शा उसे दिया है, उसे वह मंजूर करे अथवा नहीं। इसी प्रकार प्रशासनिक अधिकारियों को इस बात की छूट है कि जो लोग मोटर चलाने का लाइसेंस प्राप्त करना चाहते हैं उनकी वे परीक्षा लें और इसके बाद इसका निर्णय करें कि उन्हें लाइसेंस दिया जाए अथवा नहीं। इस प्रकार के अन्य सैकड़ों अधिकार प्रशासनिक

अफसरो को प्राप्त हैं। यही नहीं, कई देशो में यह नियम बनाया गया है कि इन अफसरो का निर्णय अंतिम होगा और उसके विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकेगी। अत यह स्पष्ट है धीरे धीरे न्याय के क्षेत्र मे प्रशासनिक अधिकारियो का प्रवेश होता जा रहा है। दूसरे, कुछ सीमा तक आज भी न्यायाधीश कार्यकारियों के अधीन होते हैं। प्राय उनकी नियुक्ति कार्यकारियो द्वारा की जाती है और उनकी तरक्की भी कार्यकारियों पर निर्भर रहती है। तीसरे, कार्यकारियो को निर्णय के पहले या बाद म सजा अथवा जुर्माने को कम करने, आंशिक अथवा पूर्णत क्षमा-प्रदान करने का अधिकार होता है। इसी प्रकार, जिस समय संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर दी जाती है और मार्शल लॉ लागू हो जाता है, उस समय असाधारण न्यायालय कार्य करने लगते हैं जिसमे प्राय सैनिक अधिकारी होते हैं। दूसरी ओर, न्यायाग को भी अनेक प्रकार के ऐसे कार्य करने पडते हैं जो कार्यांग के सीमा-क्षेत्र का अतिक्रमण करते हैं। उदाहरण के लिए, छोटी उम्र के बच्चो के लिए सरक्षक नियुक्त करना अथवा जायदाद के लिए प्रबधकर्त्ता नियुक्त करना आदि।

अब यह स्वीकार किया जाता है कि न्यायाग और कार्यांग का एक-दूसरे के क्षेत्र में अतिक्रमण आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल है और इसलिए उस पर रोक नहीं लगाई जा सकती। अधिक से अधिक हम यह कर सकते हैं कि जहाँ प्रशासनिक अफसरो को न्याय सबधी अधिकार दिए जाएँ, उनके निर्णय अंतिम न हों, और विशेष परिस्थितियो मे उनके निर्णयो के विरुद्ध साधारण न्यायालयों म अपील करने का अधिकार हो। वस्तुत अनेक राज्यो म अब इस प्रकार की व्यवस्था या तो कर दी गई है या की जा रही है। इस प्रकार प्रशासनिक अधि-कारियो द्वारा किए जाने वाले न्याय सबधी कार्य भी अब उच्च न्यायालयों के मातहत हो गए हैं।

स्वतंत्र न्यायाग का महत्त्व—शक्ति-पृथक्ता के सिद्धान्त के सबध मे भले ही विद्वानों म मतैक्य न हो, व इस बात को स्वीकार करते हैं कि नागरिकों के अधि-कारो की रक्षा के लिए और अन्य कारणों स एक स्वतंत्र और निष्पक्ष न्यायाग का होना नितात आवश्यक है। इस कथन स हमारा अभिप्राय यह है कि सर्वप्रथम, न्यायाधीश कार्यकारियों स पृथक होने चाहिए और उनको प्रशासन के कार्य नहीं सौंपने चाहिए, नहीं तो प्रशासनिक अधिकारी स्वय ही अभियोक्ता और न्याया-धीश बन बैठेंगे, और यह एक सर्वमान्य सत्य है कि कोई व्यक्ति अपने मामले म निष्पक्ष निर्णय नहीं द सकता। यही नहीं, जहाँ न्यायाग और कार्यांग मिले-जुले रहते हैं, वहाँ न्यायाधीशों को कार्यकारियो की कृपा पर निर्भर रहना पडता है। उनकी उन्नति आदि भी कार्यकारियों पर निर्भर रहती है। ऐसी दशा मे वे कार्यांग

के दवाव से मुक्त नही हो सकते। दूसरे, प्रशासनिक अधिकारियो और न्यायाधीशो के लिए जो योग्यताएँ अपेक्षित हैं, वे केवल भिन्न ही नही, बल्कि परस्पर विरोधी हैं। प्रशासको मे फुर्ती, तुरत-निर्णय करने की क्षमता और दृढता होनी चाहिए। इसके विपरीत न्यायाधीश मे शात-स्वभाव, निष्पक्षता और विवेकशीलता होनी चाहिए। अत यह स्पष्ट है कि अच्छे प्रशासनिक अच्छे न्यायाधीश नही हो सकते और अच्छे न्यायाधीश यदाकदा ही अच्छे प्रशासनिक बन पाते हैं। तीसरे, ऐसे ही कारणो से न्यायाधीशो का विधानागो से भी पृथक् रखना चाहिए। यदि वे विधानाग के सदस्य होगे तो उनका एक विशिष्ट राजनीतिक दृष्टिकोण हो सकता है जबकि न्यायाधीशो को निरपेक्ष भाव से सभी मतो पर विचार करना चाहिए। सक्रिय राजनीति मे भाग लेने से न्यायाधीश राजनीति के दलदल मे फँस जायेंगे और अपनी स्वतत्रता और निष्पक्षता खो बैठेंगे। चौथे, प्राय न्यायाधीशो को राजनीतिक कार्यकारियो और प्रशासनिक अधिकारियो के कार्यों की आलोचना करनी पडती है। आजकल अनेक राज्यो मे नागरिको के बुनियादी रक्षा का भार भी न्यायाधीशो को सौप दिया जाता है। यही नही, सघीय राज्यो मे सघ और राज्यो के मध्य अधिकार-विभाजन के सरक्षण का भार भी प्राय· उच्च न्यायालयो को दे दिया जाता है। अत यदि न्यायाग किसी भी अश तक कार्यांग के अधीन अथवा दबाव मे होगा तो वह अपनी स्वतत्रता, निर्भीकता और निष्पक्षता की रक्षा नही कर सकता। अतः हमे न्यायांग को शासन के अन्य विभागो से पृथक् करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

5. विधि-शासन

जैसाकि हम कह आये है 'विधि-शासन' का अभिप्राय होता है कि शासन कानून के अनुसार हो, व्यक्तियो की मनमानी न हो। 'विधि शासन' के सिद्धात पर प्लेटो और अरस्तू ने बहुत कुछ कहा है। हमारे मतानुसार, वर्तमान राज्यो मे 'विधि-शासन' अत्यत आवश्यक है। व्यक्ति के मनमाने शासन से 'विधि-शासन' हमेशा उत्तम माना जाएगा। किंतु आधुनिक 'विधि-शासन' का रूप प्लेटो-अरस्तू की कल्पना के विधि शासन से कुछ भिन्न है। इस प्रकार की व्यवस्था का जन्म सर्वप्रथम ब्रिटेन मे हुआ और वही से आगे चलकर यह ससार के दूसरे देशो मे फैल गया। डाइसी ने इसका विवेचन करते हुए इसके निम्न सिद्धांत स्थिर किए हैं . प्रथम, नागरिको को केवल उन अपराधो के लिए दड दिया जा सकता है जो किसी घोषित और लागू किए हुए कानूनो के विरुद्ध हो। उन्हे किसी ऐसे अपराध के लिए दड नही दिया जा सकता, जिनका कानूनो ने निषेध न किया हो। दूसरे, कानून की दृष्टि से सभी समान हैं। इसका अर्थ यह है

कि कोई व्यक्ति कानून के ऊपर नहीं है; और जो व्यक्ति भी अपराध करेगा वह कानून के शिकंजे से नहीं बच सकता। अपराध करने वाला चाहे जो हो, उसे साधारण कानूनों के अनुसार साधारण न्यायालयों में पेश होकर जवाब देना पड़ेगा। इस सम्बंध मे धनी और निर्धन, ऊँचे और नीचे आदि का कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा, यहाँ तक कि इस बात पर भी कोई ध्यान नहीं दिया जाएगा कि कानून तोड़ने वाला व्यक्ति सरकारी कर्मचारी या अफसर है अथवा साधारण नागरिक।

समकालीन विचारक डाइसी के इस मत को पूर्णत मान्यता नहीं देते। इसका कारण यह है कि इंगलैंड मे भी अब 'प्रशासनिक विधि' का चलन हो गया है। यदि कोई सरकारी कर्मचारी अथवा अफसर सरकारी कार्यों को करते हुए कोई ज्यादती कर बैठता है अथवा कानूनों को भग करता है, जिससे नागरिकों को हानि होती है तो वे अब हर्जाने की मांग कर सकते हैं। यह मामले अब साधारण न्यायालयों मे न जाकर प्रशासनिक न्यायालयों में जाते हैं और इन मामलों का फैसला साधारण कानूनों द्वारा न होकर विशिष्ट प्रशासनिक नियमों के अनुसार होता है। इस प्रकार इंगलैंड में भी अब डाइसी के अर्थ मे 'विधि-शासन' नहीं रह गया। तथापि यह नई व्यवस्था भी 'विधि-शासन' के मूल तत्त्व (अर्थात् कानून के अनुकूल आचरण और मनमानी पर रोक) के अनुकूल है।

पिछले ५० वर्षों मे राज्य के कार्य बहुत अधिक बढ गए हैं और राज्य अब अनेक सामाजिक, आर्थिक, और सास्कृतिक कार्य करता है जो बहुत पेचीदा हैं। अतएव विधानांग इनके सम्बंध में जो कानून बनाता है वे बहुत विस्तृत नहीं होते। प्राय विधानांग केवल कानून की रूपरेखा, उसके उद्देश्य और उसकी मुख्य धाराएँ पारित कर देता है और कार्यकारियों को इस बात की अनुमति दे देता है कि वे इन कानूनों के अतर्गत नियम, उपनियम, और अध्यादेश जारी कर दें। इस प्रकार के बनाए हुए नियमों को 'अधीनस्थ विधि-निर्माण' (Subordinate Legislation) कहते हैं। इस प्रकार के बनाए हुए नियम भी विधानांग द्वारा पारित कानूनों के समान ही लागू होते हैं, किंतु न्यायालयों को इन अधिनियमों और राजाज्ञाओं की वैधता की जाँच करने का अधिकार होता है अर्थात् यह देखने का कि इनको बनाते समय कार्यांग कहीं अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर तो नहीं निकल गया। समकालीन विद्वानों का मत है कि वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए 'अधीनस्थ विधि-निर्माण' अनिवार्य हो गया है। अतएव, प्रश्न यह नहीं है कि 'अधीनस्थ विधि निर्माण' हो या न हो, बल्कि यह है कि इसके सम्भावित दुरुपयोग को कैसे रोका जाए। यदि उचित प्रबंध कर दिया जाए तो यह व्यवस्था 'विधि-शासन' के मूल तत्त्व की विरोधी नहीं है। शिकागो विश्वविद्यालय में, यूनैस्को के तत्वा-

बयान में होने वाले विधि शास्त्रियों की एक परिषद् ने गम्भीर विचार-विमर्श के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि विधि शासन का अभिप्राय है 'मानव अधिकारों की सकल्पना' और इसका उद्देश्य है व्यक्तिगत स्वतत्रता और सार्वजनिक व्यवस्था में सामजस्य स्थापित करना। इस परिषद् के अनुसार, विधि-शासन का सार सस्थाओं में निहित नहीं है बल्कि उन मूल्यों में निहित है जिनको हम स्थापित करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह है कि वैधता का वातावरण और कानूनी व्यवस्था को बनाए रखा जाए। वाडे के कथनानुसार, पिछले दिनों विधि शासन में जो दिलचस्पी बढ़ने लगी है उसका प्रमुख रूप मनमाने और निरकुश शासन का विरोध करना है।

6 प्रशासनिक कानून

विधि-शासन का चलन मुख्यत· अंग्रेज़ी भाषा भाषी और ब्रिटेन से प्रभावित देशों में है। यूरोपीय महाद्वीप म और ऐसे अन्य देशों में, जो रोमन कानून से प्रभावित हुए हैं, एक *भिन्न व्यवस्था है जिसको 'प्रशासनिक कानून की व्यवस्था'* कह सकते है। इसके अतर्गत दो प्रकार के न्यायालय, कानून और न्यायिक प्रक्रियाएँ होती हैं। एक तो वह जो नागरिकों के आपसी सबधो और व्यवहार पर लागू होती है और दूसरी वह जो नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों के मामलों में लागू होती हैं। यदि नागरिकों को सरकारी कर्मचारियों से कोई शिकायत है अथवा सरकारी कर्मचारियों के कारण उन्हें हानि पहुँची है तो वे विशिष्ट न्यायालयों म, जहाँ विशिष्ट कानून और विशिष्ट न्यायिक प्रक्रियाएँ चलती हैं, अपना मामला ले जा सकते हैं। इनके कानून सरल होते हैं और शीघ्रता से फैसले भी हो जाते हैं। जिन देशों में यह व्यवस्था लागू है वहाँ की जनता ने इसे बहुत *पसद किया है। इसका कारण यह है कि नागरिकों को सरलता से न्याय मिल* जाता है और उन्हें कानूनी दाव-पेंच के पचडे में नहीं पडना पडता। क्योंकि सरकारी कर्मचारियों को स्वय अपने पास से कोई दड अथवा जुर्माना नहीं देना पडता, अत उन्हें वस्तु-स्थिति को ज्यों का त्यों बताने में कोई आपत्ति नहीं होती। इस व्यवस्था के अतर्गत प्रशासनिक कानूनों का निर्माण हुआ, और विशेष प्रशासनिक न्यायालय बनाए गए, जो सुगम न्यायिक प्रक्रिया के अनुसार कार्य करते हैं। कहने को यह व्यवस्था विधि शासन की व्यवस्था के प्रतिकूल प्रतीत होती है, किंतु यदि हम विधि-शासन के मूल तत्त्व को देखें तो हम यह पाएँगे कि इस व्यवस्था में भी कोई कानून विरोधी अथवा मनमाने ढग पर काम करने की प्रवृत्ति नहीं है। *एक समय था जब अनेक विद्वान लेखक इन व्यवस्थाओं में से एक के प्रबल* समर्थक थे और दूसरे के विरोधी थे। किंतु अब धीरे-धीरे इस प्रकार की उग्र

धारणाएँ समाप्त हो रही हैं और विचारक यह मानने लगे हैं कि समकालीन युग मे विधि-शासन और प्रशासनिक कानूनों की व्यवस्था दोनों में ही हेरफेर हो रहे हैं जिनके कारण ये दोनो व्यवस्थाएँ एक-दूसरे के काफी समीप आ गई हैं।

●

दे देती है। प्रारम्भ में ये संस्थाएँ सरकारी होती थी, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन संस्थाओं में भी लोकतन्त्रीय सिद्धांत लागू किया जाने लगा और इन्हें स्वशासन की महत्त्वपूर्ण इकाई मान लिया गया। स्थानीय स्वायत्त-शासन से हमारा अभिप्राय यह है कि स्थानीय मामलों का प्रबंध स्थानीय व्यक्ति स्वयं अपने प्रतिनिधियों द्वारा करें।

स्थानीय संस्थाओं और संघ की इकाइयों का भेद—इन दोनों के अंतर को समझ लेना आवश्यक है। प्रथम, स्थानीय संस्थाएँ पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होतीं; वे केंद्रीय अथवा प्रादेशिक शासन के अधीन होती हैं। दूसरी ओर संघ की इकाइयाँ किसी केंद्रीय शासन के अधीन नहीं होती, अपने कार्यक्षेत्र में वे पूर्णतः स्वतन्त्र और सर्वोपरि होती हैं। दूसरे, स्थानीय संस्थाओं पर उच्चतर शासन का कुछ न कुछ नियन्त्रण अवश्य होता है जबकि संघ की इकाइयों पर इस प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं होता। तीसरे, स्थानीय संस्थाओं के अधिकार-क्षेत्र को बिना उनकी सहमति के घटाया-बढ़ाया जा सकता है, किंतु संघ की इकाइयों के अधिकारों में इस प्रकार की घटा-बढ़ी बिना संविधान में संशोधन किए नहीं की जा सकती। चौथे स्थानीय संस्थाओं के कार्य केवल स्थानीय महत्त्व के होते हैं जिनकी देखभाल वहीं के रहने वाले व्यक्ति अच्छी तरह और स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, सफाई, बिजली, पानी का प्रबंध, नालियों को बनवाना, स्थानीय सड़कों को बनवाना, बीमारी को रोकथाम, आग बुझाने का प्रबंध, प्राथमिक शिक्षा, स्थानीय उपवन आदि बनवाना। इसके विपरीत, संघ की इकाइयों के कार्य स्थानीय न होकर प्रादेशिक होते हैं।

उपादेयता—आज के विशाल राज्यों में केंद्रीय शासन स्थानीय मामलों की अच्छी तरह देखभाल नहीं कर सकता। साथ ही लोकतन्त्र के सिद्धांतों के पालन के लिए यह उचित प्रतीत होता है कि केंद्रीय स्तर के अतिरिक्त स्थानीय और प्रादेशिक स्तरों पर भी शासन-प्रबंध जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में हो। इसी प्रकार की भावनाओं से प्रभावित होकर स्थानीय स्वायत्त-शासन की संस्थाओं का विकास हुआ। इसके अनेक लाभ हैं. प्रथम, इनसे शासन में बहुत सुविधा हो जाती है। केंद्रीय शासन से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह दूर-दूर फैले हुए समस्त नगरों और गाँवों का ठीक-ठीक प्रबंध करे। यह काम उनके लिए बहुत कठिनाई का होगा। केंद्रीय शासन के अपने ही कार्य इतने बढ़ गए हैं कि उन पर स्थानीय शासन का बोझ पड़ जाने से उसकी कार्य-क्षमता में कमी आ जायेगी। इसलिए अधिकारों का विकेंद्रीकरण किया जाता है। यदि शासन का प्रबंध एक ही स्थान से किया जाए तो केंद्रीय शासन का कार्यक्षेत्र इतना अधिक बढ़ जाएगा कि उसके लिए सभी कार्य सुचारु रूप से करना कठिन

हो जाएगा। वस्तुत एक दूर पर बैठी हुई केंद्रीय सरकार स्थानीय प्रबंध ठीक से नही कर सकती। न तो वह उनकी आवश्यकताओ को ही ठीक से समझ सकती है और न समय पर उनका काम ही कर सकती है। दूसरे, प्रायः स्थानीय मामले ऐसे होते हैं कि उनमे प्रतिदिन देखभाल की आवश्यकता होती है। अत यह काम वे ही अच्छी तरह कर सकते हैं जो उन क्षेत्रो के रहने वाले हो और उन स्थानो की आवश्यकताओ को भलीभाँति समझते हो। तीसरे, यदि केंद्र इन कामो को करना भी चाहे तो उसका परिणाम यह होगा कि 'नौकरशाही' और उससे उत्पन्न दोष बहुत बढ़ जाएँगे। साथ ही अत्यधिक केंद्रीकरण के समस्त दोषो का भी समावेश हो जाएगा। काम मे देरी, मनमानी करना, भ्रष्टाचार और दक्षता की कमी आदि दोष फैल जाएँगे। इस प्रकार, स्थानीय स्वशासन की सस्थाएँ अत्यधिक केंद्रीकरण के दोषो से देश की रक्षा करती हैं और नौकरशाही को भी नियत्रण मे रखती है। चौथे, केंद्रीय शासन यदि स्थानीय प्रबध करे तो यह व्यवस्था बहुत महँगी पडेगी। वही काम यदि स्थानीय सस्थाएँ करें तो काम अच्छा और कम खर्च मे हो सकता है। यही नही, स्वायत्त-शासन अपने खर्च के लिए स्थानीय कर लगा सकती है जिससे उन्हे पूरी तरह सरकार पर निर्भर नही रहना पडता। जब वे स्वय कर लगाती हैं तो प्राय. कर-दाता यह जानना चाहते हैं कि उनके दिए हुए धन का सदुपयोग हो रहा है अथवा नही। पाँचवें, इनके अतिरिक्त स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था मे स्थानीय नेताओ को आगे बढ कर काम करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार उन्हे राजनीतिक अनुभव प्राप्त होता हैं जो आगे चलकर प्रादेशिक अथवा केंद्रीय स्तर पर भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है। इस दृष्टि से ये सस्थाएँ लोकतत्रीय प्रणाली की सरकार शिक्षण-सस्थाएँ हैं। इनके द्वारा ही नागरिको मे स्वशासन की रचनात्मक शिक्षा मिलती है। इन्ही बातो को देखते हुए डि टोकयवैली ने कहा है कि 'नागरिको की स्थानीय सस्थाएँ स्वतत्र राष्ट्रों की शक्ति होती है।.. .एक राष्ट्र भले ही अपनी स्वतत्र सरकार बना ले, किंतु म्युनिस्पिल सस्थाओ की प्रवृत्ति के बिना उनमे स्वतत्रता की भावना नही पनप सकती'। विद्वान लेखक के ये विचार यथार्थ हैं। इन सस्थाओ के द्वारा नागरिको को पता चलता है कि शासन-प्रबध किस प्रकार होता है और उसमे क्या समस्याएँ और कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार का अभ्यास नागरिको की उदासीनता और सुस्ती का अत करता है और सार्वजनिक कार्यों के प्रति उनमे चाव पैदा करता है। इसमे उन्हे सेवा-भाव को क्रियात्मक रूप देने का अवसर भी मिलता है। स्थानीय स्वशासन नागरिको को जागरूक बनाता है जिससे वे सजग हो जाते हैं और सदैव इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके हितो पर आँच न आए।

इससे उनमे राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है और स्वशासन का उन्हे अनुभव तथा अभ्यास होता है। यही नहीं, उनमे मिलजुल कर काम करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और उचित अनुचित की पहचान भी होती है। छठे, स्थानीय स्वशासन की सस्थाएँ जितना सेवाकार्य करती हैं उतना अन्य कोई सस्थाएँ नही कर सकतीं। इसका कारण यह है कि स्थानीय मामलो का लोगो के जीवन से बहुत निकट का सम्बन्ध होता है। इसलिए उनके प्रति उनकी रुचि भी अधिक होती है। साथ ही वे जानते हैं कि यदि वे आगे बढकर इन कार्यों को समुचित रूप से नहीं करेंगे तो दूसरी कोई सत्ता इन कार्यों को नही करेगी। उनके मत मे स्वत ही यह भावना होती है कि उनका नगर साफ सुथरा, सुन्दर और स्वस्थ रहे। वे चाहते हैं कि पानी, बिजली, आदि का प्रबध उत्तम हो। उनकी इच्छा होती है कि उनके नगर मे अच्छी सडकें, अच्छे पार्क, अच्छे पुस्तकालय, आदि हो। दूर से बैठे हुए सरकारी कर्मचारियो का इन बातों से इतना लगाव नही हो सकता क्योकि उनके व्यक्तिगत जीवन से इन समस्याओ का कोई सम्बध नही होता। इसी कारण स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ को लोकतत्र की शिक्षण-भूमि कहा गया है। स्थानीय स्वशासन के माध्यम से नागरिको मे अनुभव और अभ्यास तो होता ही है, साथ ही उनमे उत्तरदायित्व की भावना भी आती है जो उन्हें राष्ट्रीय राजनीति मे भाग लेने के योग्य बनाती है। यही नही, यह उनके सेवाभाव को प्रोत्साहित करती है। ब्राइस के कथनानुसार, जो व्यक्ति स्थानीय स्तर पर निर्भीकतापूर्वक और सेवा-भाव से प्रेरित होकर काम करते हैं उन्ह उन गुणो का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है जो देश की नागरिकता के लिए नितात आवश्यक हैं।

2 स्थानीय स्वायत्त-शासन के कार्य

स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ के कार्य सभी राज्यो मे एक-समान नहीं होते। उनम थोडा-बहुत अतर रहता है तथापि इनके कार्यों के सम्बध मे कुछ सामान्य सिद्धात हैं जिनका विवेचन किया जा सकता है। प्राय राष्ट्रीय महत्त्व के सभी ऐसे कार्य जो सामान्य हित मे होते हैं और जिनको राष्ट्रीय स्तर पर ही समुचित ढग से पूरा किया जा सकता है, केंद्रीय शासन को सौंप दिए जाते हैं। दूसरी ओर वे सभी कार्य जो स्थानीय महत्त्व के हैं और जिनको स्थानीय स्तर पर ही अच्छी तरह सुगमतापूर्वक और कम खर्च मे किया जा सकता है, स्थानीय सस्थाओ को सौंप दिए जाते हैं। ये सर्वमान्य सिद्धात हैं, तथापि इन को लागू करने में भिन्नता हो सकती है।

स्थानीय सस्थाओ के कार्यों को प्राय विचारको ने दो वर्गों मे विभाजित

किया है : प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष सेवाओ मे तीन प्रकार के कार्य सम्मिलित हैं : शिक्षा सबधी और सांस्कृतिक; सामाजिक और अन्य सामान्य कार्य; और सार्वजनिक कार्य निर्माण एव सेवा। इनमे से प्रथम के अतर्गत प्राथमिक शिक्षा, पुस्तकालय, सामाजिक शिक्षा, पार्क, बगीचे और क्रीडा-स्थल आदि आते हैं। दूसरे के अतर्गत, स्वास्थ्य और सफाई, सडको और नालियो का निर्माण, अस्पताल, जल-व्यवस्था, रोशनी का प्रबध, आग बुझाने की व्यवस्था, नगर-विकास योजना, इमारतो के निर्माण पर नियत्रण, यातायात पर नियत्रण, जन्म और मरण का लेखा, अपग और निर्धन व्यक्तियो की देखभाल आदि आते है। सार्वजनिक सेवा निर्माण एव कार्यों के अतर्गत पीने योग्य पानी की समुचित व्यवस्था, गैस और बिजली का प्रबध, राजमार्गों का निर्माण, सार्वजनिक यातायात का प्रबध आदि आते हैं। कार्यों की इन सूचियो को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि कई ऐसे कार्य हैं जो दूसरी और तीसरी दोनो ही सूचियो मे आ सकते है। उदाहरण के लिए रोशनी का प्रबध एव जल व्यवस्था। अप्रत्यक्ष सेवाओ मे अनेक बातें आती हैं, जैसे स्थानीय चुनाव, स्थानीय नियुक्तियाँ, वित्त व्यवस्था, कर लगाना और इकट्ठा करना, सार्वजनिक सम्पत्ति की देखभाल आदि। इंगलैंड, फ्रास, सोवियत सघ, सयुक्त राज्य (अमेरिका) जैसे देशों मे स्थानीय सस्थाओ को ऐसे बहुत से कार्य दिए गए हैं जो उक्त सूची मे सम्मिलित नहीं हैं। अब स्थानीय सस्थाओ का कार्यक्षेत्र बढता ही जा रहा है, किंतु भारत मे अभी तक इस दिशा में कोई कदम नही उठाया गया।

3. स्थानीय स्वशासन के गुण-दोष

स्थानीय स्वशासन सस्थाओ की उपयोगिता पर हम विचार कर चुके हैं। ब्राइस ने इन्हे लोकतत्र के फुब्बारे की छोटी-छोटी फुआरें बताया है। स्वायत्त-शासन की इन सस्थाओ के अनेक लाभ हैं। प्रथम, यह स्वशासन की शिक्षा देते हैं और इनके अतर्गत प्राप्त अनुभव और अभ्यास आगे चलकर राष्ट्रीय स्तर पर बहुत काम आता है। लास्की ने इनके शैक्षिक महत्व पर बहुत बल दिया है। दूसरे, इनसे लोगो मे सहकारिता से काम करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है और वे उत्तरदायित्व वहन करने के योग्य हो जाते हैं। जीवन के साथ निकट सम्पर्क होने के कारण इनके कार्यों मे नागरिको की अधिक दिलचस्पी होती है और इसी कारण कार्य कुशलता भी अधिक होती है। तीसरे, यह केंद्रीय शासन को ऐसे अनेक झझटो से मुक्त कर देता है जिनका समुचित हल करना उसकी शक्ति से बाहर होता है। चौथे, यह व्यवस्था मितव्ययी होती है। नागरिक यह जानते हैं कि जो भी वे खर्च करेंगे करो के रूप मे उन्ही को उसका भुग-

तान करना होगा। अत वे बहुत सोच विचार के साथ खर्च करते हैं। इसका दूसरा पहलू यह है कि राष्ट्रीय कोष से इस मद मे खर्च नही करना पडता और यह ठीक भी है कि स्थानीय कार्यों के लिए स्थानीय कर लगाकर धन एकत्रित किया जाए। साथ ही, यह प्रमाणित हो चुका है कि स्थानीय सरकार ही स्थानीय आवश्यकताओं को कम खर्च मे और अधिक कुशलता के साथ पूरा कर सकती है। यहाँ इस पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि प्रत्येक नगर और गाँव की अपनी विशेष समस्याएं होती हैं और उनका हल इन विशेषताओं को ध्यान म रखते हुए करना चाहिए। यह कार्य स्थानीय व्यक्ति ही भलीभाँति कर सकते हैं। पाँचवें, ये सस्थाएँ लोगों मे अपने जन्म स्थान के लिए प्रेम और आपस मे एक सामान्य भावना को जन्म देती हैं। नागरिक अपने सीमित स्वार्थों से ऊँचे उठकर अपने स्थान के हितो की ओर ध्यान देना सीख जाते हैं और आगे चलकर वे पूरे देश और मानवता के हितों पर भी ध्यान देने लगते हैं। छठे इन सस्थाओ ने सामाजिक सेवा और सार्वजनिक हितो के लिए बहुत कार्य किए हैं। सोवियत सघ मे स्थानीय सस्थाओ को आर्थिक क्षेत्र मे भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन गुणो को देखते हुए हम कह सकते हैं कि स्वशासन की सस्थाएँ उत्तम नागरिकता के लिए अत्यत आवश्यक हैं। इनके द्वारा लोकतन्त्र के बीज पनपते हैं और निरकुशता पर रोक लगती है।

इन सस्थाओ के कुछ दोष भी हैं। प्रथम, कभी-कभी इनके कारण लोगो मे एक सकुचित स्थानीय भावना उत्पन्न हो जाती है और वे अपने नगर और जिले को देश की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने लगते हैं। दूसरे, भारत मे यह देखा गया है कि यदि इन स्थानीय सस्थाओ पर उचित नियत्रण न हो तो इनमे अनेक गडबडियाँ होने लगती हैं। उदाहरण के लिए, इनमे राजनीतिक दलबन्दी और पक्षपात बल पकड लेता है और सार्वजनिक हितो पर पूरा ध्यान नही दिया जाता। तीसरे कुछ आलोचकों का कहना है कि इन सस्थाओं में कार्य-कुशलता का अभाव होता है। स्थानीय व्यक्ति नियमों के प्रति बहुत लापरवाह होते हैं और बहुधा मनमानी करते हैं। स्थानीय कर्मचारी प्राय अयोग्य होते हैं और कुशलतापूर्वक अपना काम नहीं कर सकते। चौथे, कुछ आलोचकों का कहना है कि इन सस्थाओ के मितव्ययी होने की बात ठीक नहीं है। सार्वजनिक कोष और सम्पत्ति के प्रति बहुधा नागरिक लापरवाह होते हैं। यह भी देखा गया है कि अपने मित्रों को नौकरी देने के लिए अनावश्यक नियुक्तियाँ कर दी जाती हैं। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि खर्च कम होने के स्थान पर बढ़ जाता है और काम फिर भी कुशलतापूर्वक नहीं होता। अन्तिम रूप में यह कहा जा सकता है कि स्थानीय स्वशासन संस्थाओ मे भ्रष्टाचार, दलबन्दी, जाति के प्रति पक्षपात

आदि अनेक दोष पाए जाते हैं। हमारा मत है कि भारत मे इस प्रकार के दोष इसलिए पाए जाते हैं कि स्थानीय सस्थाओ के प्रबध मे ऊपर के अफसर बहुत हस्तक्षेप करते हैं। इसके अतिरिक्त इन सस्थाओ का कार्य-क्षेत्र प्राय: इतना सीमित होता है कि योग्य व्यक्तियो को इनमे भाग लेने के लिए कोई उत्साह नही होता। साथ ही, हमारे देश में इन सस्थाओ की आय बहुत सीमित है और खर्च की मदें ऐसी हैं जिनके लिए जितना भी धन मिले उतना ही थोडा है। इसलिए हताश होकर हमे यह नही सोचना चाहिए कि ये सस्थाएँ अनावश्यक हैं और इनके स्थान पर सरकारी प्रबधक नियुक्त कर दिए जाएँ। ये विचार *लोकतत्रीय भावना के प्रतिकूल हैं। इसके अतिरिक्त, हमे यह नही भूलना चाहिए* कि 'लोकतत्र के दोषो का उपचार अधिक लोकतत्र है'। हम इन सस्थाओ को अधिक दायित्व सौंपने चाहिए और उनको यथेष्ट धन देना चाहिए जिससे वे अपने कार्यों को ठीक ढग से कर सकें। आवश्यकतानुसार इन पर नियत्रण हो, किन्तु दिन-प्रतिदिन के काम मे हस्तक्षेप के रूप में नही।

4. स्थानीय स्वशासनिक सस्थाओ पर नियत्रण

यद्यपि इन सस्थाओ को अपने काम करने की यथेष्ट स्वतत्रता होती है, किंतु वे पूर्णत स्वाधीन नही हैं। इनके ऊपर केंद्रीय अथवा प्रादेशिक सरकार का नियत्रण रहता है। किसी-किसी देश मे नियत्रण इतना अधिक होता है कि स्थानीय सस्थाओ के अधिकार बहुत सीमित हो जाते हैं। आज अनेक विद्वान लेखक यह स्वीकार करते हैं कि बाह्य नियत्रण राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यत आवश्यक है क्योकि आज की स्थानीय समस्याओ का एक राष्ट्रीय पहलू भी होता है। उदाहरण के लिए प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य और यातायात को ही ले लीजिए। समकालीन युग मे ये सभी बातें देश के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि इन मामलो मे लापरवाही अथवा कुशलता की कमी को सहन नही किया जा सकता और न स्थानीय सस्थाओ को इन विषयो मे मनमानी करने की अनुमति ही दी जा सकती है। इसलिए यह सुझाव दिया गया है कि केंद्रीय अथवा प्रादेशिक सरकार को कुछ आदर्शात्मक कानून (normative legislation) बनाने का अधिकार होना चाहिए और उन नियमो के अतर्गत उपनियम और आदेश जारी करने का अधिकार इन सस्थाओ को दिया जाना चाहिए। ऐसा करना इसलिए और भी आवश्यक हो गया है कि उपर्युक्त विषयो की देखभाल के लिए स्थानीय स्तर पर शोध-कार्य नही किए जा सकते। अतएव, केंद्रीय आदर्शात्मक कानूनो के अभाव मे स्थानीय सस्थाओं के पिछड जाने की सभावना है। इसके अतिरिक्त इन सस्थाओं को प्राय. केंद्रीय अथवा प्रादेशिक सरकारें समुचित आर्थिक सहायता देती हैं। इसलिए यह

आवश्यक हो जाता है कि वे इस बात की जाँच-पड़ताल भी करें कि इस सहायता का दुरुपयोग तो नही हो रहा। जहाँ, हम इस प्रकार के आदर्शात्मक नियत्रण के समर्थक हैं, वहाँ नियत्रण के नाम पर विस्तार की बातो मे हस्तक्षेप करना भी हम अनुचित मानते हैं। इससे आत्म निर्भरता जाती रहती है और उत्साह नष्ट हो जाता है। अत अच्छा यह है कि सरकार व्यापक नियम बना दे और उन नियमो के अतर्गत स्थानीय सस्थाओं को काम करने की पूरी स्वतत्रता दे दे। डा० बेनीप्रसाद के अनुसार, स्थानीय सस्थाओ को सरकार से परामर्श और आदेश मिलने चाहिए। ये आदेश यथासम्भव सरकारी नियत्रण अथवा हस्तक्षेप के रूप मे नही बल्कि आय व्यय लेखे की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल के रूप मे होना चाहिए। वस्तुत इन सस्थाओं की प्रक्रियाओं मे सच्चा सुधार बहुत कुछ जनता की राजनीतिक चेतना, सक्रिय सहयोग एव जागरूकता पर निर्भर है।

सफलता के लिए आवश्यक दशाएँ

इन सस्थाओ के सतोषजनक ढग से कार्य न करने पर हमे हताश नही होना चाहिए। जैसाकि हम कह चुके हैं, लोकतत्रीय सस्थाओं के दोषो का परिमार्जन करने का एकमात्र उपाय है, अधिक लोकतत्र। इसलिए लास्की के मतानुसार, इन सस्थाओ का कार्य-क्षेत्र जितना अधिक बढ़ाया जा सके, बढ़ाया जाना चाहिए। साथ ही, प्रतिदिन के कार्यों मे यथासम्भव हस्तक्षेप नही होना चाहिए, और इन्हे अर्थाभाव भी नहीं होना चाहिए। लास्की के कथनानुसार, स्थानीय सस्थाओ को भूल करने का अधिकार होना चाहिए। यदि उन्हे यथेष्ट अधिकार और पहल करने के अवसर नही दिए जाएँगे तो ये सस्थाएँ कभी अच्छी तरह नही पनप सकेंगी, और सुगठित और सफल स्थानीय स्वशासित सस्थाओ के अभाव मे लोकतत्र का पौधा कभी सशक्त नहीं बन पाएगा।

●

19

मताधिकार तथा प्रतिनिधित्व

प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि पृथक् चुनाव-पद्धति राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधक हुई है, किंतु प्रत्येक व्यक्ति समवत यह उतनी अच्छी प्रकार नहीं समझता कि पृथक् चुनाव-पद्धति अल्पसंख्यक समुदाय के लिए और भी अधिक बुरी है। वह बहुमत को अल्पमत से सर्वथा स्वतत्र बना देती है और उसके मत प्राय विरोधी होते हैं। पृथक् चुनाव-पद्धति में इसका फल यह होता है कि अल्पसख्यकों को सदैव एक विरोधी बहुमत का सामना करना होता है जो अपनी सख्या के बल पर उनकी इच्छाओं का हनन कर सकते हैं।

—नेहरू कमेटी रिपोर्ट

वर्तमान युग अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधिक लोकतत्र का है जिसमे नागरिकों को सीधे शासन के कामो में भाग लेने के अवसर नही मिलते। राज्य के विस्तार, एक स्थान की दूसरे स्थान से दूरी, जनसख्या की अधिकता आदि के कारण यह असम्भव हो जाता है। इस स्थिति मे लोगो के लिए अपने प्रतिनिधि चुनकर उनके माध्यम से शासन-कार्य चलाना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार मताधिकार और प्रतिनिधित्व आज के लोकतत्र के बुनियादी आधार हैं।

1. मताधिकार

राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति को मत देने का अधिकार नही दिया जाता। उदाहरण के लिए नाबालिगो, भयकर अपराधियो, पागलो और विदेशियो को कही भी मताधिकार नही दिया जाता। इस प्रकार का अधिकार जिन व्यक्तियो को दिया जाता है उन्हे मतदाता कहते हैं और इस अधिकार को मताधिकार कहते हैं और मतदाताओं को सामूहिक रूप से निर्वाचक-मडल कहा जाता है। जिस

क्षेत्र से मतदाता एक या एक से अधिक प्रतिनिधि चुनते हैं उसे निर्वाचन-क्षेत्र कहते हैं। जिस कागज पर मतदान किया जाता है उसे मतपत्र कहते हैं। नागरिकों द्वारा अपने प्रतिनिधि चुनने को निर्वाचन या चुनाव कहते हैं। यदि कोई प्रतिनिधि त्यागपत्र दे दे अथवा अन्य किसी कारण से उसके कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व नए सिरे से चुनाव कराने पड़े तो उसे उपचुनाव कहते हैं। जिस स्थान पर वोट पड़ते हैं उसे चुनाव-स्थान कहते हैं।

मताधिकार के स्वरूप के संबंध में दो मत प्रचलित हैं। एक यह कि जनता ही समस्त शक्ति का स्रोत है। अतएव, प्रत्येक नागरिक को मतदान का अधिकार होना चाहिए। दूसरा मत यह है कि मताधिकार 'सामाजिक हित' की दृष्टि से दिया जाता है। अतएव, यह नागरिकों का अधिकार और कर्तव्य दोनों ही हैं, और 'लोकहित' में ही इसका उपयोग होना चाहिए। हमारे मतानुसार, मताधिकार केवल लोकहित के लिए ही आवश्यक नहीं है बल्कि नागरिकों के व्यक्तिगत विकास के लिए भी अत्यंत आवश्यक है। तथापि यह कार्य इतना उत्तरदायित्वपूर्ण है कि बच्चों, मूर्खों, पागलों, दिवालियों, भयंकर अपराधियों आदि को यह अधिकार नहीं सौंपा जा सकता। इन अपवादों के अतिरिक्त सभी वयस्क नागरिकों को बिना भेदभाव के मतदान का अधिकार वयस्क अथवा सार्वलौकिक मताधिकार कहलाता है। किंतु यदि यह अधिकार केवल पुरुषों को ही प्राप्त हो तो इसे पुरुष-मताधिकार कहते हैं। इसी प्रकार, जहाँ स्त्रियों को मतदान के अधिकार दिलाने की बात की जाती है, इस प्रयास को नारी-मताधिकार आन्दोलन कहते हैं। आज के युग में विद्वानों की आम राय यह है कि सभी वयस्क नर-नारियों को समान रूप से मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।

वयस्क मताधिकार क्यों ?

वयस्क मताधिकार के पक्ष में अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं। प्रथम, यह प्रजातंत्र के सिद्धांतों और भावनाओं के अनुकूल है। प्रजातंत्र इस भावना पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति समान है और जनता ही शक्ति का मूल स्रोत है। यदि यह बात ठीक है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य बातें ठीक होने पर, सभी वयस्क नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकार, जिसका मताधिकार एक महत्वपूर्ण भाग है, मिलना चाहिए। दूसरे, मताधिकार प्राप्त होने से व्यक्ति को आत्मसम्मान की भावना जाग्रत होती है और उसे समाज में अपने महत्त्व का भान होने लगता है और यह बात उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है। तीसरे, जिन व्यक्तियों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते उनके अन्य नागरिक अधिकार भी सुरक्षित नहीं रह पाते। नागरिक अधिकारों के सुरक्षित

होने की सबसे बड़ी गारंटी मताधिकार की उपलब्धि है। चौथे, राज्य की नीति उसके निर्णय और कानून नागरिकों के जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। अतएव, लोकतन्त्रीय शासन में यह आवश्यक है कि नागरिकों को भी इनके बनाने में भाग हो और यह तभी सम्भव हो सकता है जब राज्य की नीति निर्धारित करने वाले और कानून बनाने वाले अधिकारी जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी हों। पाँचवें, यदि एक वयस्क नागरिक को मताधिकार नहीं दिया जाता तो उसमें और एक विदेशी में विशेष भेद नहीं रह जाता, क्योंकि आजकल के समय में नागरिक अधिकार तो सभी व्यक्तियों को, चाहे वे देशी हों या विदेशी, समान रूप से प्राप्त होते हैं। अत यह आवश्यक है कि जहाँ नागरिक के राज्य के प्रति कर्तव्य विदेशियों से बहुत अधिक हैं, उसके अधिकार भी इन कर्तव्यों के अनुरूप हों। छठे, मताधिकार प्राप्त हो जाने से नागरिकों की सार्वजनिक कार्यों में रुचि बढ़ती है और उनमें राजनीतिक जागृति पैदा होती है। सातवें, मताधिकार मिलने से उनमें नागरिक चेतना आ जाती है और उत्तरदायित्व की भावना पैदा होती है। नागरिक यह अनुभव करते हैं कि वे सब एक हैं और मिलजुल कर देश की नीति निर्धारित करते हैं। मताधिकार जनसाधारण के राजनीतिक शिक्षण का सबसे सफल ढंग है। जब नागरिकों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं तो वे सभाओं, समाचार-पत्रों और आपसी विचार-विमर्श से राजनीतिक बातों को जानने का यत्न करते हैं और इस प्रकार उनमें यथेष्ट राजनीतिक चेतना आ जाती है। आठवें, क्योंकि राजकीय निर्णयों का लोगों के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है, अत यह आवश्यक है कि जिन पर उनका प्रभाव पड़ता है उनके विचारों पर भी ध्यान दिया जाए। आजकल के युग में उनके प्रतिनिधियों की राय जान कर और लोकमत पर ध्यान देकर यह सम्भव हो सकता है। नवें, अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा का भी यह एक अच्छा उपाय है। मताधिकार मिलने से अल्पसंख्यकों को भी अपने प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिल जाता है, अथवा कम से कम उन्हें प्रतिनिधि के चुनाव को प्रभावित करने का अवसर मिल जाता है जिसके कारण कोई भी राजनीतिक दल उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

वयस्क मताधिकार की आलोचना—लोकतन्त्र के विरोधी लेखकों ने वयस्क मताधिकार की कड़ी आलोचना की है। उदाहरण के लिए, लेंकी और मेन ने इसे नासमझी और गलत से भरा हुआ बताया है। उनके कथनानुसार, साधारण मतदाता, अनपढ़ और नासमझ होता है। उनको सार्वजनिक बातों में न रुचि होती है और न इतनी योग्यता कि वह उन पर अच्छी तरह विचार कर सके। अतः वह बहुधा जाति-पाति, धर्म, परिवार, स्थानिक बातों अथवा भावनाओं में

बह जाता है और विवेकपूर्ण निर्णय नहीं कर पाता। इसीलिए जॉन स्टुअर्ट मिल ने यह विचार प्रकट किया था कि यदि हम सभी वयस्क नागरिकों को मताधिकार देना चाहते हैं तो हमें इससे पहले उन्हें शिक्षित बनाना चाहिए। दूसरे, नासमझ और अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में राष्ट्र का भविष्य छोड़ देना बुद्धिमत्ता का प्रमाण नहीं है। ब्लुश्ली के कथनानुसार, अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में शासन की बागडोर सौंप देना आत्महत्या के बराबर है। तीसरे, अधिकतर मतदाता निर्धन होते हैं। वे सदा धनाभाव से दुःखी रहते हैं और भोजन के साधन जुटाने में ही व्यस्त रहते हैं। उनके पास न इतना समय होता है और न इतनी योग्यता कि वे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय बातों पर सोच-विचार कर सकें। इसलिए बहुधा यह देखा गया है कि वे थोड़े से धन के लोभ में अपने बहुमूल्य अधिकार को बेच देते हैं। चौथे, आज शासन की समस्याएँ इतनी जटिल हो गई हैं कि जनसाधारण के लिए उनको समझना अत्यंत कठिन है। लावलेऐ के अनुसार, अनपढ़ लोगों को मताधिकार देना अराजकता को जन्म और निरंकुशता को प्रोत्साहन देना है। पाँचवें, मताधिकार एक सामाजिक उत्तरदायित्व है। अतः इसे बहुत सावधानी से और सोच-विचार से उपयोग में लाना चाहिए। कुपात्रों को यह अधिकार देने के भयंकर परिणाम हो सकते हैं। छठे, हेनरी मेन के अनुसार, जनसाधारण प्रायः अज्ञानी होते हैं। यदि उनके मतानुसार कार्य किया जाए तो सम्भवतः नई वैज्ञानिक खोजों का लाभ उठाना ही कठिन हो जाए। कुछ ऐतिहासिक उदाहरण देते हुए वह बताता है कि किस प्रकार आम लोगों ने कपड़े के उद्योग में होने वाले आविष्कारों का विरोध किया। इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वयस्क मताधिकार के कारण वैज्ञानिक प्रगति के रुक जाने की आशंका है।

निष्कर्ष—वयस्क मताधिकार के आलोचकों की आशंकाएँ निराधार सिद्ध हुई हैं और मताधिकार के प्रसार से वे भयंकर परिणाम नहीं निकले जिनका उन्हें भय था। भारत इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है, यह बहुत उत्तम होगा यदि नागरिक शिक्षित हों, लेकिन जिन देशों में तीन-चौथाई या उससे अधिक व्यक्ति अशिक्षित हैं उनमें क्या किया जाए? क्या किसान-मजदूरों को मताधिकार से इसलिए वंचित कर दिया जाए कि वे अशिक्षित हैं? इस सम्बन्ध में दो प्रश्न उठते हैं। पहला, यह कि क्या पढ़े लिखे होना ही इस बात की गारंटी है कि नागरिक में राजनीतिक प्रौढ़ता होगी? कम से कम भारत का अनुभव तो यह सिद्ध नहीं करता। हमारे यहाँ के अशिक्षित लोग अपने हित की बातों को अच्छी तरह समझ लेते हैं। इसके विपरीत ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाएँगे जबकि उच्चशिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी राजनीतिक नासमझी का परिचय

देते हैं। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या शिक्षा के अभाव मे लोकतन्त्र का ही परित्याग कर दिया जाए ? फिर यदि जनसख्या का एक बहुत बडा भाग आज अशिक्षित है तो इसके लिए कौन उत्तरदायी है · समाज अथवा वे स्वय ? और यदि समाज इसके लिए उत्तरदायी है, तो इसका दड वे क्यो भुगते ? फिर, जब तक उन्हें मताधिकार नहीं मिलेगा कौन उनकी शिक्षा और हितो की रक्षा पर ध्यान देगा ? उपर्युक्त युक्तियो से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा के आधार पर मताधिकार पर प्रतिबध लगाना न्यायपूर्ण नही है। इसी प्रकार, कुछ पुराने ढग के लोग सम्पत्ति-सबधी प्रतिबध लगाने के पक्ष मे हैं। उनका कहना है कि वोट देने का अधिकार केवल उन नागरिको को मिलना चाहिए जिनके पास कुछ व्यक्तिगत सम्पत्ति है, किंतु यह युक्ति एकदम थोथी लगती है। सम्पत्तिशाली व्यक्तियो को निर्धनो की तुलना में वैसे ही बहुत से लाभ प्राप्त होते हैं और अपने धन के कारण उन्हे अनेक सुविधाएँ प्राप्त रहती हैं। इनके अतिरिक्त यदि सम्पत्ति की योग्यता को मताधिकार के लिए आवश्यक बना दिया गया तो गरीबो के साथ यह दोहरा अन्याय होगा। एक तो वे मताधिकार से वचित हो जाएँगे और दूसरे अमीरो को अत्यधिक प्रतिनिधित्व मिल जाएगा जिसके कारण गरीबो के हितो की उपेक्षा बढ जायगी। अतएव, किसी भी दृष्टि से वयस्क मताधिकार का विरोध उचित नही माना जा सकता।

नारी मताधिकार

बीसवी शताब्दी के पहले बहुत कम देशो मे नारियो को पुरुषो के समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। इंगलैंड मे भी उन्हे सन् 1929 ई० मे जाकर समान अधिकार प्राप्त हुए। पिछले महायुद्ध के पश्चात् यूरोप के कई देशो मे नारियों को सीमित मताधिकार दिए गए और अब द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् बहुत से राज्यो मे उन्हें समान अधिकार प्राप्त हो गए हैं। भारत मे स्त्रियो को इनके लिए कोई आदोलन अथवा सघर्ष नही करना पडा। राष्ट्रीय स्वाधीनता की लडाई मे पुरुषों के साथ कधे से कधा मिला कर उनके काम करने का फल यह हुआ कि स्वेच्छापूर्वक पुरुषो ने उन्हे समान रूप से राजनीतिक अधिकार दिए और इस सम्बध मे भारत कई यूरोपीय देशों से भी आगे हैं। स्विटजरलैंड मे अभी भी कई कैंटन हैं जहां नारियों को मताधिकार प्राप्त नहीं हैं। तथापि उनके पक्ष मे अनेक विद्वान लेखकों ने अपनी सबल लेखनी उठाई है। इनमे जॉन स्टुअर्ट मिल प्रमुख हैं। मिल और दूसरे विद्वानो ने नारी मताधिकार के विरोधियो को करारा प्रत्युत्तर दिया है। नीचे हम सक्षेप मे इस पर विचार करेंगे।

सर्वप्रथम, कहा जाता है कि स्त्रियां शारीरिक रूप से दुर्बल होती हैं और राज्य की रक्षा के लिए वे शस्त्र ग्रहण नही कर सकतीं। अत उन्हें मताधिकार

क्यों दिया जाए ? यह मत असंगत है। माना कि वे निर्बल हैं, किंतु इस कारण तो उन्हें अपनी रक्षा के लिए और भी अधिक अधिकार मिलने चाहिए। फिर, द्वितीय महायुद्ध में अनेक देशों में नारियों ने पुरुषों के साथ समान रूप से युद्ध में भाग लिया। यदि वे युद्ध में भाग न भी लें, तो भी उनका अन्य क्षेत्रों में कार्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। दूसरे, दुर्बल होने पर भी बुद्धि में वे पुरुषों से कम नहीं होतीं। जहाँ कहीं उन्हें समान सुविधाएँ और अवसर मिले हैं, वे पुरुषों से पीछे नहीं रहीं। तीसरे, यदि लोकतंत्र व्यक्ति की समानता के सिद्धांत को मानता है तो फिर लिंग के आधार पर भेदभाव कैसे किया जा सकता है ? चौथे, अपने व्यक्तित्व के विकास, नागरिक चेतना और राजनीतिक जागृति की नारियों को भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी पुरुषों को। यही नहीं, अपने सामाजिक हितों की रक्षा के लिए उन्हें राजनीतिक अधिकार और प्रतिनिधित्व की पुरुषों से कहीं अधिक आवश्यकता है। पाँचवें, यह कथन भी कि राजनीतिक जीवन में भाग लेने से नारियों के स्त्रियोचित गुण नष्ट हो जाएँगे, ठीक नहीं है। इस के विपरीत उनके सार्वजनिक क्षेत्र में आने से उसकी अनेक बुराइयाँ व गदगी दूर हो जाएँगी। छठे, यह कहना भी कि राजनीतिक अधिकार देने से स्त्रियाँ घरेलू कामों पर ध्यान देना बद कर देंगी, ठीक नहीं है। इसके विपरीत स्त्रियों की सकुचित मनोवृत्ति के कारण जो आपसी झगड़े होते हैं, वे भी दूर हो जाएँगे। उनके दृष्टिकोण विकसित हो जाएँगे और छोटी मोटी बातों पर ध्यान देने के स्थान पर, वे राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय बातों पर विचार-विमर्श करने लगेंगी। सातवें, यह कहना भी ठीक नहीं है कि स्त्रियों के राजनीति में प्रवेश से घरों में भी राजनीतिक मतभेद पैदा हो जाएँगे और गृह कलह फैल जाएगा। आज भी भाई भाइयों, भाई बहनों, बाप-बेटों में राजनीतिक मतभेद होते हैं, और यदि उनके कारण गृह-कलह नहीं होते तो स्त्रियों के साथ राजनीतिक मतभेद होने से ऐसा क्यों होना चाहिए ? इस आधार पर गृह कलह तभी होंगे जब पुरुष असहिष्णु हों। ऐसी दशा में दोष पुरुषों का होगा, नारियों का नहीं। इसके विपरीत स्त्रियों के राजनीति में प्रवेश से, पारिवारिक जीवन में एक नया सौंदर्य आ जाएगा और स्त्री-पुरुष सभी राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय बातों पर विचार विमर्श कर सकेंगे। आठवें, यह कहा जाता है कि स्त्रियाँ मताधिकार की बात नहीं करतीं और न उसकी उन्हें चिंता है। अत उन्हें यह अधिकार क्यों दिया जाए ? यह बात ठीक नहीं है। सभी देशों में कुछ न कुछ स्त्रियाँ तो राजनीतिक अधिकार माँगती ही हैं। उन्हें इनसे वचित करना एक अन्याय होगा। नवें, (कहा जाता है कि स्त्रियाँ अपने राजनीतिक विचारों के लिए पुरुषों पर आश्रित होती हैं, फिर उन्हें राजनीतिक अधिकार देने का क्या लाभ ? मिल के मतानुसार, यदि ऐसा ही हो तो

हानि क्या है ? किंतु यदि ऐसा न हो और वे अपने अधिकारो का सदुपयोग करें, तो उससे बहुत अधिक लाभ होगा । दसवें, कुछ लोगो को आशका है कि स्त्रियो को मताधिकार देने से धर्माधिकारियो का राजनीति में प्रभाव बढ जायगा । यदि यह सच है तो इससे बचने का हमे शीघ्रातिशीघ्र उपाय करना चाहिए और इस बात का समुचित प्रबध करना चाहिए कि धर्माधिकारी राजनीतिक मामलो मे हस्तक्षेप न करें । किंतु इस आधार पर नारियो को उनके अधिकार से वचित करना अनुचित होगा । अतिम रूप से यह कहा जा सकता है कि जब नारियाँ *कुशलतापूर्वक राज्य की बागडोर सम्भाल सकती हैं, पुरुषो के साथ कधे से कधा* भिडाकर जीवन क्षेत्र मे काम कर सकती हैं, तो फिर राजनीतिक क्षेत्र मे भी उनका प्रवेश क्यो न हो ? जहाँ तक हमारे देश का प्रश्न है, हमारे सविधान मे नारियो को समान राजनीतिक अधिकार दिए हैं ।

2 चुनाव पद्धति

प्राचीन यूनान और रोम मे (एव भारत मे भी) खुली सभा मे हाथ उठा कर नागरिक मतदान दिया करते थे । बाद मे रोम मे गुप्त मतदान की प्रथा का आरम्भ हुआ । अब यह आवश्यक समझा जाता है कि व्यवस्था ऐसी हो कि मतदान गोपनीय रह सके । गुप्त मतदान इसलिए आवश्यक माना जाता है कि *नागरिक निर्भय होकर अपने विचारो के अनुरूप मत दे सकें।* भारत मे गुप्त मतदान की व्यवस्था की गई है । किंतु इसके मार्ग मे एक बडी बाधा यह है कि हमारी जनसख्या का एक बडा भाग अनपढ है । इसके लिए पहले विभिन्न रग के अथवा विभिन्न चिन्हो से अकित सीलबद पेटियाँ काम मे लाई जाती थी । किंतु अब मतपत्र मे ही राजनीतिक दलो और व्यक्तियो के चुनाव-चिन्ह अकित कर दिये जाते हैं जिससे बिना पढे लिखे लोग भी अपनी इच्छानुसार मतदान कर सकें ।

अनिवार्य मतदान—कुछ राज्यों मे जहाँ यह विश्वास किया जाता है कि मतदान नागरिक का अधिकार ही नही, बल्कि एक सार्वजनिक कर्त्तव्य है, मतदान न देने पर जुर्माना देना पडता है । इस प्रणाली को अनिवार्य मतदान कहते हैं । किंतु जिन व्यक्तियों की सार्वजनिक कार्यों मे कोई रुचि नही है उन्हें मतदान के लिए बाध्य करने से क्या लाभ है ? अत यह प्रथा अधिक प्रचलित नही है ।

अधिक मतदान—कुछ विद्वानो का विचार है कि शिक्षा अथवा सम्पत्ति के आधार पर नागरिकों को एक से अधिक वोट देने का अधिकार होना चाहिए। इसके अतिरिक्त, कहीं कही एक से अधिक स्थानो पर निवास स्थान होने पर

ऐसे नागरिक उन सभी निर्वाचक क्षेत्रों में वोट देने के अधिकारी हो जाते हैं। जिन राज्यों में नागरिक को एक से अधिक मत देने का अधिकार मिला हुआ है वे भी प्राय यह नियम बना देते हैं कि अधिकतम कितने मत दिए जा सकते हैं। किंतु अब एक से अधिक वोट देने की प्रणाली को अनुचित माना जाता है और आम धारणा यह है कि सामान्यत किसी नागरिक को एक ही चुनाव में लिए एक से अधिक वोट देने का अवसर नहीं होना चाहिए। हाँ, यदि कोई विशिष्ट निर्वाचक-मडल हो, तो उसमें दूसरा वोट देने का अधिकार दिया जा सकता है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष चुनाव—प्रत्यक्ष चुनाव में मतदाता सीधे अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। इसका लाभ यह है कि प्रतिनिधि और उसके मतदाताओं का निकट सम्पर्क बना रहता है। प्रतिनिधि कुछ सीमा तक अपने को मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी समझता है। यही नहीं, वह उनकी भलाई के सतत् प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त दूसरा ढग अप्रत्यक्ष चुनाव का है। इसके अतर्गत मतदाता सीधे प्रतिनिधि का चुनाव नहीं करते बल्कि एक निर्वाचक मडल चुनते हैं और यह निर्वाचक मडल प्रतिनिधि चुनता है। इस प्रणाली के गुणों का वर्णन करते हुए कुछ लेखक कहते हैं कि इस रीति से जोश कम हो जाता है, देश का वातावरण शात रहता है, राजनीतिक दलबदी कम हो जाती है और महत्त्वाकाक्षी लोगों को निरकुश बनने के कम अवसर मिलते हैं। उपर्युक्त कारणों से इसे अविकसित देशों के लिए उपयुक्त बताया जाता है। किंतु यह ढग जनता में अविश्वास पर आधारित है। इसके अतिरिक्त, क्योंकि इसमें प्रतिनिधि और मतदाताओं का सीधा और निकट सम्पर्क नहीं होता, इसलिए गडबड घुटाले के अवसर रहते हैं। सार्वजनिक हित की प्राय उपेक्षा हो जाती है और राजनीतिक दल अपनी मनमानी करने लगते हैं। भ्रष्टाचार और रिश्वतखोरी का बाजार गर्म हो जाता है। लोकतत्र दिखावे भर का रह जाता है। अतएव, विधानांगों के चुनाव के लिए इस रीति को कहीं पसद नहीं किया जाता। हाँ, पदाधिकारियों के चुनाव के लिए इस रीति को अपनाने में उतनी आपत्ति नहीं है। भारत में राज्यसभा के सदस्यों और राष्ट्रपति के चुनाव में अप्रत्यक्ष प्रणाली का ही अवलम्बन किया गया है।

3 निर्वाचन-क्षेत्र

निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्य वाले या अनेक सदस्य वाले हो सकते हैं। एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्रों में, राज्य को सदस्यों की सख्या के अनुसार निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से एक प्रतिनिधि चुन

लिया जाता है। इसके विपरीत बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रो मे एक से अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। यह भी सम्भव है कि पूरा राज्य ही एक निर्वाचन-क्षेत्र मान लिया जाए। इसको 'आम टिकट प्रणाली' कहते हैं। आस्ट्रेलिया मे सघीय उच्च सदन के चुनाव मे सघ की इकाइयो का एक ही निर्वाचक-मडल होता है।

एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र—इस प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रो मे अनेक गुण हैं। पहला, इनमे चुनाव का ढग सरल और सुविधाजनक होता है। जो उम्मीदवार सबसे अधिक मत पाता है उसे सफल घोषित कर दिया जाता है। इस प्रकार मत-गणना मे न कोई कठिनाई होती है और न कोई विलम्ब। दूसरे, इसमे मतदाताओ के अपने प्रतिनिधि से बहुत घनिष्ठ सबध रहते हैं। अत प्रतिनिधियों को भी अपने कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्वो का भान रहता है। तीसरे, जिन क्षेत्रो मे अल्पसख्यक समुदाय केंद्रित हैं वहाँ से वे अपने प्रतिनिधियो को चुनकर भेज सकते हैं। चौथे, इस प्रणाली मे उत्तरदायित्व की भावना बनी रहती है।

इसके अनेक दोष भी हैं। पहले, इसमें निर्वाचन-क्षेत्र बहुत छोटा होता है। अतएव, योग्य व्यक्ति सुगमता से नही मिलते जिसके कारण मतदाताओ का अपने प्रतिनिधियो को चुनने का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है। दूसरे, इसमे अल्पमत को कोई प्रतिनिधित्व नही मिलता और पूरा प्रतिनिधित्व बहुसख्यक दल को प्राप्त हो जाता है। तीसरे, इसमे स्थानीय बातो को अधिक महत्त्व दिया जाता है और राष्ट्रीय बातो पर कम, लोगो मे यह भावना घर कर जाती है कि प्रतिनिधियो का प्रमुख कार्य अपने निर्वाचन-क्षेत्र के हितो का सरक्षण है। चौथे, इसमें जनता का उचित प्रतिनिधित्व नही हो पाता। कई बार ऐसा देखा गया है कि सफल होने वाले उम्मीदवार अथवा दल को मतदाताओ का स्पष्ट बहुमत प्राप्त नही होता। भारतीय चतुर्थ आम चुनावो मे ऐसे अनेक उदाहरण हमारे सम्मुख आए हैं। निम्न उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। मान लीजिए कि एक निर्वाचन-क्षेत्र मे 10,000 व्यक्ति मतदान करते हैं और ४ उम्मीदवार हैं। मान लीजिए कि उनको क्रमश: 3500 ; 3400 ; 2500 ; और 600 मत मिलते हैं। इसमे पहला प्रत्याशी जिसे 10,000 मतो मे से केवल 3500 मत प्राप्त हुए हैं विजयी घोषित कर दिया जाता है जबकि उसके विपक्ष में मत डालने वाले 6500 व्यक्तियों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। इस प्रकार इस पद्धति मे राष्ट्र का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। जहाँ एक ओर अल्पमत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार विजयी घोषित कर दिया जाता है, वहाँ दूसरी ओर यह भी हुआ है कि जनता मे कम समर्थन प्राप्त करने वाले राजनीतिक दल ने दूसरो की अपेक्षा अधिक सीटें हथिया ली हैं। निम्न उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा। मान लीजिए कि 5 निर्वाचन-क्षेत्र हैं जिनमें 2 दल क और ख चुनाव लड़ते हैं और प्रत्येक क्षेत्र मे 10,000 मतदाता हैं ; किंतु इनमे से बहुत से मत अवैध

घोषित कर दिए जाते हैं। मान लीजिए कि अतत परिणाम इस प्रकार हैं :—

सीट	1	2	3	4	5
दल क	5000	5500	5500	1000	4100
दल ख	1500	4000	4500	5000	3150

उपर्युक्त चुनाव मे दल क को 21,100 मत मिलते हैं जबकि दल ख को 18,150 मत प्राप्त हुए हैं। किंतु दल क को 4 सीटें मिल जाती हैं और दल ख को केवल 1 यद्यपि उसके समर्थन करने वालों में इतना अतर नहीं है। इस उदाहरण में बहुमत को अनुपात से अधिक स्थान मिल गए हैं। अनेक बार ऐसा होता है कि सबसे बड़े राजनीतिक दल को यद्यपि 50 प्रतिशत से भी कम मत मिलते हैं फिर भी उसे बहुत से स्थान मिल जाते हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं जब छोटे राजनीतिक दलो को जनता का यथेष्ट समर्थन प्राप्त होने पर भी एक स्थान भी नही मिला। अत यह सम्भव है कि एक ऐसे राजनीतिक दल के हाथों मे सत्ता की बागडोर आ जाए जिसको मतदाताओं के अल्पसख्यको को उचित अनुपात से भी अधिक स्थान मिल जाएं। ये दोनों ही बातें दोषपूर्ण हैं। पाँचवें, इस प्रणाली मे 'गैरी-मैंडरिंग' की दोषयुक्त प्रथा को प्रोत्साहन मिलता है। इसका अर्थ निर्वाचन क्षेत्रों को इस प्रकार बाँटना है कि विरोधी पक्ष कुछ निर्वाचन क्षेत्रो मे सीमित हो जाए और सत्तारूढ दल का बहुमत अधिक से अधिक निर्वाचन क्षेत्रों मे फैल जाए जिसमे उसे अधिकतम स्थान मिल जाएँ। छठे, इस पद्धति मे मतदाताओं को अपनी इच्छानुसार प्रतिनिधि चुनने के अवसर भी नही मिलते। निर्वाचन-क्षेत्रों के छोटे और सीमित होने के कारण यह सम्भव है कि खड़े होने वाले उम्मीदवारो मे कोई भी व्यक्ति ऐसा न हो जो मतदाताओं के विचारो के अनुरूप हो। ऐसी दशा म वोट देते समय वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि कौन उनका उचित प्रतिनिधित्व कर सकता है, बल्कि वे उनके विरुद्ध मतदान करते हैं जो उन्हें नापसद हैं। इन बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र सही प्रतिनिधित्व करने मे सहायक नही होते। अतएव अनेक विद्वानो ने बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रो का समर्थन किया है। उनकी धारणा है कि इस प्रकार के निर्वाचन क्षेत्रो म वे सभी दोष दूर हो जाएँगे जो एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्रों मे होते हैं। ससद् राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधित्व करेगी, राष्ट्रीय हित की ओर ध्यान दिया जाएगा, और नागरिक अपनी इच्छा के अनुकूल प्रतिनिधियों को चुन सकेंगे[1]।

इस पद्धति के भी अनेक दोष हैं। उदाहरण के लिए इसमे दलगत भावना

1 देखिए John R. Commons, *Proportional Representatives*, द्वितीय सस्करण 1907, पृष्ठ 83 84 और Hallett, *Proportional Representation*, पृष्ठ 27-28

और भी प्रबल हो उठती है और उम्मीदवारो की स्वतन्त्रता का लोप हो जाता है। दल का अनुशासन पूरी तरह न मानने वाले सदस्यो का चुना जाना असम्भव हो जाता है। क्योंकि राजनीतिक दल इस प्रकार के उम्मीदवारो को खडा करना उचित नही समझते और बिना किसी राजनीतिक दल का समर्थन प्राप्त हुए किसी का जीतना दुर्लभ है। यही नही, इस पद्धति के अतर्गत अनेक छोटे-मोटे राजनीतिक दल उत्पन्न हो जाते हैं जो अपनी 'तीन चावल की खिचडी' अलग पकाते हैं। साथ ही, इस पद्धति के अतर्गत उम्मीदवारो के व्यक्तिगत गुणो का मूल्याकन करना असम्भव हो जाता है। कई राज्यो मे, जहां इस पद्धति को अपनाया गया, किसी भी राजनीतिक दल के लिए बहुमत प्राप्त करना लगभग असम्भव हो गया जिसके कारण शासन मे स्थायित्व जाता रहा है। यही नही, कुछ विद्वान लेखको का कहना है कि हम ससद् मे सभी दृष्टिकोणो के व्यक्तियों का समावेश नही चाहते। यदि हमारी ऐसी ही इच्छा है तो फिर मूर्खों, पागलो, दिवालियो और अपराधियो को भी प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। स्पष्टत यह विचार हास्यास्पद है। उनके मतानुसार, आवश्यकता इस बात की है कि राज्य मे प्रचलित मुख्य विचारो को यथेष्ट प्रतिनिधित्व मिले जिससे वे ऐसी दृढ और स्थायी सरकार बना सकें जो अपनी घोषित नीति को कार्य रूप दे सके। अधिकतर देशो मे अब एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र प्रचलित हैं।

4. अल्पसंख्यको का प्रतिनिधित्व

अल्पसख्यको से हमारा अभिप्राय ऐसे जनसमुदाय से है जो सख्या मे अपेक्षाकृत कम हैं किंतु जिनकी अपनी भाषागत्, सास्कृतिक, साम्प्रदायिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक विशेषताएँ हैं जिनका वे सरक्षण चाहते हैं। समस्या यह है कि कौन-सी ऐसी पद्धति अपनाई जाए जिसमे बहुसख्यक और अल्पसख्यक, दोनो को ही समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके। वस्तुत इस समस्या के दो रूप हैं: प्रथम, अल्पसख्यकों के हितो का सरक्षण और दूसरे, उनका उचित प्रतिनिधित्व। जैसाकि हम ऊपर कह चुके हैं अल्पसख्यको के हितो के सरक्षण का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उनके बुनियादी अधिकारों को सरक्षण दिया जाए और उनकी रक्षा का भार सर्वोच्च न्यायालय को सौंप दिया जाए। प्रश्न यह उठता है कि उनके अधिकारों की रक्षा के अतिरिक्त क्या यह आवश्यक है कि उन्हे विशेष प्रतिनिधित्व मिले? सिजविक ने इस विचार का विरोध किया है। उसके कथनानुसार, ससद् मे विरोधी विचारो को प्रतिनिधित्व देने से उसकी कार्यक्षमता मे कमी आ जाती है, दलबदी बढती है, सरकारें अल्पकालीन हो जाती हैं, सहिष्णुता के भाव उत्पन्न होने के स्थान पर कट्टरता को बल मिलता है और भेद-

भाव की भावना जोर पकड़ने लगती है। यद्यपि उपर्युक्त तर्कों को अमान्य नहीं किया जा सकता तथापि अब आम विचार यह है कि यदि किसी देश में विशिष्ट अल्पसंख्यक जनसमूह हैं तो उनकी सर्वथा उपेक्षा करना अनुचित होगा। अतएव, कोई न कोई ऐसे उपाय निकाले जाने चाहिए जिससे उन्हें समुचित प्रतिनिधित्व मिल सकें। जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार, लोकतंत्र का यह सारभूत सिद्धांत है कि अल्पसंख्यकों का उचित प्रतिनिधित्व हो, इसके अभाव में लोकतंत्र खोखला हो जाएगा। यही नहीं, उनके मतानुसार, यदि बहुमत अल्पसंख्यकों के प्रति लापरवाह बन जाता है तो इसका फल निरंकुश शासन होता है जो लोकतंत्र की भावना के प्रतिकूल है। यदि यह सत्य है कि बहुमत को शासन करने का अधिकार होना चाहिए तो हमें भी यह नहीं भूलना चाहिए कि अल्पसंख्यकों के प्रति इस प्रकार का व्यवहार होना चाहिए कि वे स्वेच्छापूर्वक बहुमत के निर्णय का स्वागत करें। इसके लिए यह आवश्यक है कि अल्पसंख्यकों के हितों और विचारों को ध्यान में रखा जाए और जहाँ तक सम्भव हो उनका आदर किया जाए। लॅकी के कथनानुसार, अल्पसंख्यकों को अनुपात के अनुसार प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। लोकतंत्र में इसके प्रतिकूल आचरण नहीं होना चाहिए। उपर्युक्त तर्कों के आधार पर अनेक विद्वान लेखकों ने इस बात पर जोर दिया है कि हमें कोई न कोई ऐसे उपाय निकालने चाहिए जिनसे अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व मिल सके। इनमें से कुछ उपायों पर हम नीचे विचार करेंगे।

द्वितीय मतपत्र की प्रणाली (Second Ballot System)—इसके अंतर्गत चुनाव में यदि तीन या अधिक उम्मीदवार हों और उनमें से किसी को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो (अर्थात् 50 प्रतिशत मतों से कुछ अधिक) तो प्रथम दो उम्मीदवारों को छोड़कर शेष का नाम निकाल दिया जाता है और दूसरे मतदान में इनमें से एक को चुनना पड़ता है। इसका लाभ केवल यह है कि बिना स्पष्ट बहुमत प्राप्त किए कोई प्रतिनिधि नहीं चुना जा सकता[1]। लेकिन इस प्रणाली के द्वारा अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व मिल ही जाए, इसकी कोई गारंटी नहीं है।

वैकल्पिक वोट की प्रणाली (Alternate Vote System)—इसमें निर्वाचन-क्षेत्र एक सदस्य वाला होता है और चुनाव के लिए पूर्ण बहुमत आवश्यक है। प्रत्येक मतदाता केवल एक ही मतदान कर सकता है तथापि उसे इस बात का अवसर दिया जाता है कि वह यह संकेत कर दे कि यदि उसकी इच्छा का उम्मीदवार न चुना गया तो वह दूसरे और तीसरे नम्बर पर किसको चुनना चाहेगे। इस प्रणाली में पहली पसंद की वोट गिने जाने पर यदि किसी उम्मीदवार को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो तो सबसे कम वोट पाने वाले उम्मीदवारों का नाम हटा

1 देखिए Humphreys, *Proportional Representation*, 1911, पृष्ठ 85

लिया जाता है और उनके द्वारा प्राप्त वोटें दूसरी पसद वालो मे बाँट दी जाती हैं। इस प्रकार यह सिलसिला उस समय तक चलता रहता है जब तक किसी एक सदस्य को पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो जाए। इस प्रणाली के गुण दोष लगभग वही हैं जो द्वितीय मतदान प्रणाली के है। केवल एक विशेष लाभ यह है कि उसमे द्वितीय मतदान की आवश्यकता नही होती।

सीमित वोट प्रणाली (Limited Vote System)—इसमे बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं जिनमे प्राय तीन या अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक, किंतु नियत सख्या मे, जो प्रतिनिधियो की सख्या से कम होती है, वोट देने का अधिकार होता है। उदाहरण के लिए यदि 5 प्रतिनिधि चुने जाते हैं तो नागरिको को 3 या 4 मत देने का अधिकार दिया जा सकता है, किंतु यह सख्या निश्चित कर दी जाती है। कोई भी नागरिक किसी उम्मीदवार को एक से अधिक मत नही दे सकता। इससे लाभ यह हो सकता है कि अल्पसख्यको को भी सम्भवत कुछ स्थान प्राप्त हो जाएँ। पर ऐसा होना आवश्यक नही है। फिर, उनका प्रतिनिधित्व अनुपात के अनुसार हो, यह भी जरूरी नही है।

एकत्रित वोट प्रणाली (Cumulative Vote System)—इसमे निर्वाचन-क्षेत्र अनेक सदस्यो वाले होते हैं और प्रत्येक नागरिक को उतनी ही वोटें मिलती हैं जितने प्रतिनिधि चुनने हैं। किंतु उन्हें इस बात की स्वतत्रता होती है कि वे अपने वोट विभिन्न उम्मीदवारो को दें अथवा अपने सारे वोट एक या एक से अधिक उम्मीदवार को दे दें। इसमे भी इस बात की सम्भावना रहती है कि अल्पसख्यको को कुछ स्थान प्राप्त हो जाएँ, किंतु ऐसा होने पर भी उन्ह ठीक अनुपात से प्रतिनिधित्व प्राप्त होने की गारटी नही होती।

एक वोट की प्रणाली (Single Vote System)—इसमे निर्वाचन क्षेत्र बहुसख्यक होते हैं किंतु नागरिको को केवल एक मत देने का अधिकार होता है। इसमें भी अल्पसख्यको को कुछ स्थान मिल सकते हैं, किंतु यह नही कहा जा सकता कि उनका प्रतिनिधित्व ठीक अनुपात से होगा।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation)

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हैं। स्ट्रोग के मतानुसार, इनके सामान्य लक्षण यह हैं प्रथम, इनम बहुसख्यक निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। दूसरे, उम्मीदवार स्पष्ट या अपेक्षित बहुमत द्वारा नही किंतु एक निश्चित सख्या म मत प्राप्त करन पर चुन लिया जाता है। इस निश्चित सख्या को अंग्रेजी म 'कोटा' कहत है जिस प्राप्त करने के कई तरीके सुझाए गए हैं। तीसरे, इनके अतर्गत अल्पसख्यको का ठीक अनुपात म प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व की दो प्रमुख प्रणालियां हैं : (1) हस्तांतरणीय एकल वोट प्रणाली (Single Tranferable Vote System) और (2) सूची-प्रणाली (List System)। पहले हम सूची प्रणाली पर विचार करेंगे।

सूची प्रणाली—इसमें बहुसदस्यक निर्वाचन-क्षेत्र होता है जिसमें चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या कम से कम तीन होनी चाहिए। कभी-कभी पूरे देश को ही एक निर्वाचन क्षेत्र मान लिया जाता है। इसमें विभिन्न राजनीतिक दल अपने उम्मीदवारों की सूची तैयार कर क्रमश: सदस्यों के नाम लिख देते हैं। इसी क्रम के अनुसार वे चुने जाते हैं। इस प्रणाली में मतदाता अपना वोट एक दल की पूरी सूची को देता है, व्यक्तिगत उम्मीदवारों को नहीं। मत-गणना करके उसी के अनुपात से विभिन्न दलों की सदस्य संख्या स्थिर कर दी जाती है। जिस दल को जिस अनुपात में जनता से समर्थन प्राप्त है उसी के अनुसार उसे अपने दल की सूची के सदस्यों को संसद में भेजने का अधिकार होता है। कभी-कभी समस्त सूची पर वोट देने के साथ-साथ नागरिकों को यह भी छूट दे दी जाती है कि व उस क्रम को पलट दें जो राजनीतिक दल ने स्थिर किया है। सीटों के वितरण के लिए वैध वोटों के योग को सदस्यों की संख्या से विभाजित कर दिया जाता है और इस प्रकार कोटा प्राप्त हो जाता है। इस कोटा के विभाजन से प्रत्येक राजनीतिक दल को प्राप्त होने वाले सदस्यों की संख्या का पता लग जाता है। यदि कुछ सीट बची रह जाती हैं तो उसके संबंध में भी कुछ निश्चित व्यवस्था होती है। एक व्यवस्था यह हो सकती है कि जिस दल के मत 'कोटा के आधे से अधिक' मत-गणना में शेष रह गए हों, उस एक सीट और दे दी जाए। दूसरा उपाय यह अपनाया गया है कि बहुसंख्यक दल को एक अतिरिक्त सीट दे दी जाती है।

हस्तान्तरणीय वोट प्रणाली

सर्वप्रथम, इस प्रणाली को मार्ले आंद्रे ने सन् 1793 ई० में प्रस्तुत किया था। किंतु प्रारम्भ में इसका न अधिक प्रचार हुआ और न अधिक चलन। सन् 1851 ई० में थामस हेयर ने अपनी पुस्तक लिखकर इसका प्रचार किया। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी इसका समर्थन किया। इस प्रणाली के प्रमुख लक्षण हैं बहुसदस्यक निर्वाचन मंडल का होना, प्रत्येक मतदाता को एक वोट मिलना; उसे अपनी पसंद बताने की स्वतंत्रता का होना, और अतिरिक्त (अनावश्यक) मतों का हस्तांतरित किया जाना। इस प्रणाली में भी विजयी होने के लिए उम्मीदवार को कोटा के अनुरूप मत प्राप्त करने होते हैं। हेयर और आंद्रे का सुझाव था कि 'कोटा' निकालने के लिए वैध वोटों के योग को प्रतिनिधि संख्या से विभाजित कर दिया जाए। किंतु इसके कारण कुछ अशुद्धियां रह जाती थीं। अतएव, ड्रूप

ने सन् 1881 ई० मे यह सुझाव दिया कि कोटा निकालने की विधि मे थोडा परिवर्तन कर दिया जाए। उसने जो ढग बताया उसको निम्न फार्मूले के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है

$$\text{कोटा} = \frac{\text{वैध वोटो का योग}}{\text{सीटो की सख्या और} + 1} + 1$$

उदाहरण के लिए यदि समस्त वैध मतो का योग एक लाख है और सीटें चार हैं तो कोटा 20 001 होगा। इस विधि मे अशुद्धियाँ कम होती है और कम से कम वोटो से कोटा की उपलब्धि हो जाती है।

हम बता चुके है कि इसमे भी वैकल्पिक वोट प्रणाली के समान नागरिक अपनी पसद दिखाने के लिए उम्मीदवारो के नामो के सम्मुख 1,2,3 4. लिख सकते है। सबसे पहले कोटा निकाल लिया जाता है। फिर गणना करके यह देखा जाता है कि कितने उम्मीदवारो ने कोटा के बराबर मत या उससे अधिक मत प्राप्त कर लिए हैं। जो ऐसा करने मे सफल हुए हैवे विजयी घोषित कर दिए जाते हैं। यदि उनके वोट कोटा से अधिक है तो उनके ये 'अतिरिक्त मत' दूसरी पसद वाले सदस्यो मे हस्तातरित कर दिए जाते है। यदि इस प्रकार सब सीटें भर जाती हैं तो आगे गणना नही करनी पडती। नही तो, सबसे कम मत पाने वाले उम्मीदवारो का नाम हटाकर उनके मतो को दूसरी पसद वाले उम्मीदवारो मे हस्तातरित कर दिया जाता है और यह सिलसिला तब तक चलता रहता है जब तक सभी रिक्त स्थानो की पूर्ति न हो जाए। नीचे एक उदाहरण दिया जा रहा है[1]।

इस उदाहरण मे आठ प्रत्याशी है। सुविधा की दृष्टि से हमने उन्हे 'क', 'ख', 'ग', 'घ', 'ड', 'ट', 'ठ', 'ढ' के नाम दिए हैं। केवल चार व्यक्तियो को चुनना है। कुल मतो की सख्या 5000 है। उपर्युक्त ढग के प्रयोग से कोटा 1001 बनता है। प्रथम गणना मे केवल एक प्रत्याशी कोटा से अधिक मत प्राप्त करता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम न्यूनतम मत पाने वाले प्रत्याशियो के नाम हटाकर देखें कि उनके मतदाताओ ने अपनी 'दूसरी पसद' किस के पक्ष मे दी है। इस प्रकार मत हस्तातरित करने मे प्राय यह देखा गया कि मतदाता कभी कभी चि ह लगाना ही भूल जाते हैं। ऐसे मत बेकार हो जाते हैं। अथवा मतदाता यदि क्रम सख्या लिखने म भूल कर दें, तो भी उनका मत व्यर्थ हो जाता है। हस्तातरित करने के पश्चात् फिर देखते हैं कि क्या आवश्यक सख्या म प्रत्याशियो को कोटा का अक या उससे अधिक मत मिल गए हैं। ऐसा होने पर चुनाव परिणाम घोषित कर दिए जाते हैं।

---

1 उपर्युक्त तालिका लखक एव श्रीमती चद्रकाता अग्रवाल द्वारा लिखित 'नागरिक शास्त्र के मूल सिद्धात' से उद्धरित की जा रही है।

कुल मतों की संख्या = 5000				स्थान 4				कोटा या चुनाव अंक 1001		
उम्मीदवारों के नाम	पहली गणना	दूसरी गणना		तीसरी गणना		चौथी गणना		पाँचवीं गणना		अंतिम परिणाम
		'क' के अतिरिक्त मतों की बाँट	परिणाम	'ग' के मतों की बाँट	परिणाम	'ड' के मतों की बाँट	परिणाम	'ठ' के मतों की बाँट	परिणाम	
क	1400	−399	1001		1001		1001		1001	निर्वाचित
ख	450	+ 99	549		549	+ 50	599		599	
ग	250		250	−250	—		—		—	
घ	700	+200	900		900	+101	1001		1001	निर्वाचित
ड	300		300		300	−300	—		—	
ट	750	+100	850	+151	1001		1001		1001	निर्वाचित
ठ	350		350		350		350	−350	—	
ड	800		800	+ 81	881	+100	981	+ 20	1001	निर्वाचित
बेकार या खराब वोट				+ 18	18	+ 49	67	+330	397	
योग	5000	...	5000	...	5000	...	5000	...	5000	

उपर्युक्त उदाहरण से इस प्रणाली की गणना का ढग स्पष्ट हो गया होगा। नीचे हम इसके गुण-दोषो पर विचार करेंगे।

तथाकथित गुण—इस प्रणाली के समर्थको ने इसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है। उनके कथनानुसार इस प्रणाली मे इतने गुण हैं कि इसको तुरत अपना लेना चाहिए। पहला, इस प्रणाली के प्रयोग से सभी राजनीतिक दलो को अपनी शक्ति के अनुपात से स्थान मिल जाएँगे। अतएव, यह प्रणाली न्यायपूर्ण है और इसके अतर्गत ससद् लोकमत की यथातथ प्रतिबिम्ब बन जाती है। दूसरा, इसमे मतदाताओ को अपनी इच्छानुसार प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिल जाता है। उन्हे नकारात्मक ढग से मतदान नही करना पडता। तीसरे इसमे बहुसख्यक दल को उसके अनुपात से स्थान मिल जाते हैं और अल्पसख्यको को भी उनके अनुपात से। इसके कारण बहुसख्यक दल निरकुश नही हो पाता और अल्पसख्यको के अधिकार भी सुरक्षित रहते हैं। **चौथा**, लार्ड ऐक्टन के अनुसार, यह प्रणाली पूर्णत लोकतत्रीय है। इसमे मतदाताओ के मत व्यर्थ नही जाते और अधिकतर मतदाताओ को प्रतिनिधित्व मिल जाता है। **पांचवें**, इसके अनुसार, राजनीतिक दलो के सर्वोत्तम और विश्वस्त व्यक्ति चुने जाते हैं। छठे, कामन्स के मतानुसार, यह प्रणाली राजनीतिक दलो के अस्तित्व को केवल स्वीकार ही नही करती, अपितु उन्हे आवश्यक मानती है। इसमे दलो को भी सामाजिक और आर्थिक आधार पर सगठित होने मे सुगमता हो जाती है। सातवें, इसके अतर्गत छोटे दलो को शक्ति सतुलन के कारण अत्यधिक प्रभाव डालने के अवसर नही मिलते, क्योकि चुनाव का परिणाम सामयिक भावनाओ की अपेक्षा स्थायी विचारो पर अधिक आधारित होता है। इसमे मतदाता केवल अपनी प्रथम रुचि बताकर नही रह जाते बल्कि अपनी अन्य पसद भी देते हैं। आठवें, इसके अतर्गत 'गैरीमैंडरिंग करना (अर्थात् ऐसे चुनाव क्षेत्र बनाना कि अपनी पार्टी को लाभ हो और दूसरो को हानि) सम्भव नही है। नवें, इसमे मतदाताओ को अपेक्षाकृत यथेष्ट स्वतत्रता का अनुभव होता है क्योकि वे न केवल अपनी इच्छानुसार राजनीतिक दल को मत दे सकते हैं अपितु दल के नेताओ मे से भी जिसको चाहे वोट दे सकते है। दसवें, कीथ के अनुसार, इस प्रणाली के अपनाने से उन गैर दलीय मतदाताओ का महत्त्व कम हो जाता है जो अन्यथा चुनाव के परिणामो पर बहुत प्रभाव डालते हैं। ग्यारहवें, इस अपनाने से मतदाताओ को विशेष राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है और सार्वजनिक नीतियो को समझने बूझने के अवसर मिल जाते हैं। बारहवें, हैलेट के अनुसार, इसके अतर्गत, वस्तुत बहुसख्यक शासन लागू होता है, अन्यथा चुनाव की दूसरी प्रणालियो मे इसका कोई आश्वासन नही होता कि जिस राजनीतिक दल को अधिक स्थान प्राप्त हो गए हैं उसे वास्तव

मे जनता के बहुसख्यक लोगों का समर्थन प्राप्त है। तेरहवें, हैलेट का कथन है कि इस प्रणाली से दलगत सगठन का प्रभाव कम हो जाता है और मतदाताओं को दल के सगठन पर प्रभाव डालने के अवसर मिल जाते हैं। **चौदहवें,** इस प्रणाली के अतर्गत बारबार निर्वाचन-क्षेत्रो को नही बनाना पडता। मतदाताओ की सख्या के घटने बढने पर प्रतिनिधियो की सख्या कम या अधिक कर दी जाती है। **पद्रहवें,** इस प्रणाली को अपनाने से नेतृत्व और शासन मे स्थायित्व आ जाता है जिसके कारण जिस नीति को अपनाया जाता है उसके परिणामो का अच्छी तरह अध्ययन किया जा सकता है। सोलहवें, हैलेट के अनुसार, इस प्रणाली के अतर्गत नेतृत्व के विकास मे बहुत सहायता मिलती है। **सत्रहवें,** चुनाव की धोखाघडी नही चल पाती क्योकि इस प्रकार के अवसर सीमित हो जाते हैं। अतिम रूप से यह कहा जा सकता है कि इस प्रणाली को अपनाने से चुनाव मे सद्‌भाव और सहकारिता की भावनाएँ पनपती हैं और वैरभाव पैदा नही होता।

तथाकथित कमियाँ और दोष—जिस प्रकार इस प्रणाली के प्रबल समर्थक हैं, ठीक उसी प्रकार उसके विरोधी भी हैं। इन विरोधियो का कहना है कि **प्रथम,** इस प्रणाली को अपनाने का एक दुष्परिणाम यह होगा कि किसी भी राजनीतिक दल को सुगमता से बहुमत प्राप्त नही हो सकेगा जिसके कारण शासन मे अस्थिरता आ जाएगी। दूसरे, डाइसी और लास्की के मतानुसार, एक अच्छी शासन-प्रणाली के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमे देश म प्रचलित सभी विचारो को प्रतिनिधित्व मिले। वस्तुत ऐसा करने से शासन की नीति को निर्धारित करना तो कठिन हो ही जाएगा, शासन चलाना भी दूभर हो जाएगा। अतएव, इन विद्वानों का मत है कि देश मे केवल प्रमुख विचारों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। तीसरे, चुनाव की यह पद्धति इतनी पेचीदा है कि सामान्य मतदाता इसे ठीक समझ भी न सकेगा और उसे राजनीतिक नेताओं के आदेश लेने के लिए बाध्य होना पडेगा, जिसके कारण राजनीतिक दलो और नेताओ का प्रभाव अधिक होगा, कम नही। चौथे, विधानाग वादविवाद प्रतियोगिताएँ सभाएँ नही होते अपितु नीति निर्धारित करने वाली उत्तरदायी सभाएँ होते है। अतएव, यह आवश्यक है कि चुनाव की प्रणाली ऐसी हो जिससे स्थिर सरकार बन सके और दृढ नीति अपनाई जा सके। इस प्रणाली के अतर्गत ऐसा होना अत्यत कठिन है। पाँचवें डाइसी के कथनानुसार, इसमे अनेक छोटे छोटे दल बन जाएँगे जो एक दूसरे को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करेंगे जिससे राष्ट्रीय हितो को हानि होगी। इसमे दलगत गिरोहो को पृथक् होकर अलग सगठन बनाने का प्रोत्साहन भी मिलेगा। छठे, फाइनर का कथन है कि इस प्रणाली को अपनाने से मत-

दाताओं और प्रतिनिधि मे जो निकट सम्पर्क और सद्भाव होते हैं वे नष्ट हो जाएँगे। सातवें, जिसके कारण अनेक छोटे-छोटे दल पैदा हो जाएँगे जिनसे राष्ट्र को कोई लाभ न होगा। निर्वाचन-क्षेत्र के बड़े होने से उम्मीदवारों के लिए बिना दल की पूरी सहायता के चुनाव लड़ना कठिन हो जाएगा। अतएव दल और उनके नेताओं का प्रभाव बढ़ जाएगा और सदस्यो के लिए स्वतन्त्र मत बनाए रखना कठिन हो जाएगा। आठवें, फाइनर के अनुसार, इस प्रणाली के अतर्गत शासन की प्रमुख नीतियो के बारे मे चुनाव द्वारा कोई निश्चित निर्णय नही हो सकेगा और मतदाताओ तथा सरकार को स्पष्टत यह पता नहीं लग सकेगा कि लोकमत किस पक्ष मे है। इसका परिणाम यह होगा कि सुदृढ नीति बनाना और उस पर चलना दुष्कर हो जाएगा। नवें, एक सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्रों मे आम चुनाव के अतिरिक्त उपचुनाव भी होते है जिनसे यह पता लग जाता है कि लोकमत सरकार के पक्ष मे है या विरुद्ध है। लेकिन इस प्रणाली को अपनाने से उपचुनाव की आवश्यकता नही रहेगी। अतएव, यह जानने का कोई सर्वमान्य ढग न रहेगा कि लोकमत का रुख किधर है।

इस प्रथा के समर्थकों ने अपने आलोचकों को प्रत्युत्तर दिए हैं। उनका कहना है कि जहाँ भी इस प्रणाली को अपनाया गया है अभ्यास मे मतदाताओं को कोई कठिनाई नही हुई। जहाँ तक कि मतगणना का प्रश्न है उसके लिए विशेषज्ञों को नियुक्त किया जा सकता है। यह सत्य है कि इसमे चुनाव परिणाम घोषित करने मे कुछ देरी हो जाती है किंतु इस न्यायपूर्ण प्रणाली को अपनाने से यदि एक दिन की देरी हो भी जाए तो इसे सहन कर लेना चाहिए। दूसरे, इनका कहना है है कि यद्यपि यह ठीक है कि इतने बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों मे जनता से प्रतिनिधि बहुत निकट सम्पर्क नही रख सकते, तथापि निकट सम्पर्क से एक हानि भी है। अनेक बार प्रतिनिधि स्थानीय बातों पर अधिक ध्यान देने लगते हैं और राष्ट्रीय मामलों पर कम। तीसरे, यदि इस प्रणाली को अपनाने मे कुछ अधिक खर्च भी आ जाए तो उसे हमें सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। चौथे, इस प्रणाली के पेचीदेपन की चर्चा करते हुए रैमजे म्योर कहते हैं कि यदि कुछ ऐसे मतदाता है जो अपने उम्मीदवारों के नामों को भी याद नहीं कर सकते तो क्या यह अच्छा नही होगा कि ऐसे नागरिक मतदान से वंचित रह जाएँ? पाँचवें, गीथ के अनुसार, इस प्रणाली मे अवैध मतों की संख्या अधिक नही होगी। छठे, उनके अनुसार शासन अशक्त नही होगा और नागरिकों का बहुमत की निरंकुशता से भी बचाव हो जाएगा। सातवें, हैलेट के अनुसार इस प्रणाली के अपनाने से शासन कहीं अस्थिर और अशक्त नही हुआ।

इन प्रणालियों को अपनाना या न अपनाना देश की राजनीतिक स्थिति,

जनता की राजनीतिक चेतना एवं प्रौढ़ता और जनता के शिक्षित होने पर निर्भर है।

5. साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व भारत की अपनी विशेषता है। यहाँ अंग्रेजी शासन ने धार्मिक आधार पर प्रमुख धर्मावलम्बियों को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया। सर्वप्रथम सन् 1906 ई० में मुसलमानों के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया, तत्पश्चात् अन्य धर्मावलम्बियों को भी पृथक् प्रतिनिधित्व दे दिया गया, यहाँ तक कि सन् 1935 ई० के संविधान के अंतर्गत स्त्रियों, व्यापारियों, जमींदारों आदि को भी पृथक् स्थान दे दिए गए। यही नहीं, कुछ अल्पसंख्यकों को अनुपात से भी अधिक सीटें दे दी गईं। अंग्रेजी शासन में इस प्रकार के पृथक् प्रतिनिधित्व देने का मूल कारण साम्प्रदायिक विद्वेष पैदा करना था। अंग्रेजी राज्य 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति पर चलता था। इसके कारण साम्प्रदायिकता का विष धीरे-धीरे इतना फैला कि सभी विधानांगों में, यहाँ तक कि स्थानीय बोर्डों और सरकारी नौकरियों में भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँग की जाने लगी। समाज में कटुता इतनी अधिक बढ़ गई कि आगे चलकर मुस्लिम लीग ने अपना दावा पेश किया कि भारतीय मुसलमान एक पृथक् राष्ट्र हैं और यह माँग की कि उनका एक पृथक् राज्य होना चाहिए। और अंत में पाकिस्तान बन कर रहा।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के विरोध में जितना भी कहा जाए थोड़ा है। पहले, यह धार्मिक कटुता पैदा करता है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि जब प्रतिनिधि धार्मिक आधार पर चुने जाएँगे तो उसका परिणाम यही होगा कि जो जितनी कट्टरता और धर्मांधता की बातें करेगा उसी को अधिक मत मिलेंगे। इससे धार्मिक विद्वेष का बढ़ना स्वाभाविक है। दूसरे, इसके कारण सामान्य राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हो पाता, क्योंकि साम्प्रदायिक प्रतिनिधि संकुचित हितों की बात पहले सोचते हैं। तीसरे, इसके कारण सहिष्णुता और समझौता करने की भावना का लोप हो जाता है। साम्प्रदायिक उत्तेजना बढ़ती है और अल्पसंख्यकों की माँग बढ़ती जाती है। चौथे, यह प्रणाली अराष्ट्रीय और अलोकतंत्रीय है क्योंकि यह धर्म के आधार पर भेदभाव को मान्यता देती है। पाँचवें, इससे अल्पसंख्यकों को विशेष लाभ नहीं होता। उन्हें भले ही अपनी संख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व मिल जाए, किंतु वे कभी बहुमत में नहीं आ सकते। ऐसी दशा में यदि संयुक्त निर्वाचन प्रणाली हो तो वे बहुसंख्यक समुदाय से प्रतिनिधियों को चुनने में अपना प्रभाव डाल सकते हैं। किंतु यदि उनको पृथक् प्रति-

निधित्व मिला हुआ है तो वे केवल कुछ सीटो के लिए अपने व्यक्ति चुन सकते हैं। यही नही, पृथक् प्रणाली मे उन्हे बहुसख्यको से कोई सहानुभूति की आशा करने का अधिकार नही होता, यह बात दूसरी है कि बहुसख्यको के प्रतिनिधि स्वेच्छा से उनके अधिकारो और हितो का ध्यान रखें। छठे इससे सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन बहुत गदला हो जाता है और राजनीतिक दल भी धर्म के आधार पर बनने लगते हैं। इसके विपरीत, यदि राजनीतिक दल सामाजिक और आर्थिक आधार पर बनें तो सम्भव है कि आज का अल्पमत आगे चलकर कल का बहुमत बन जाए। किंतु धर्म पर आधारित अल्पमत बहुमत नही बन सकता। सातवें, क्योंकि अल्पसख्यक कभी पदारूढ नही हो सकते, अतएव उनके राजनीतिक कार्य ध्वसात्मक हो जाते हैं, जैसाकि हमारे देश मे हुआ। जो होना था वह हो गया, किंतु यदि इस विष-बेल को हम समूल नष्ट नही करेंगे तो आगे चलकर हमे इसके भयकर परिणामो को भुगतना पडेगा। हर्ष की बात है कि स्वतत्र भारत के सविधान मे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अत कर दिया गया है। केवल अनुसूचित जातियो के लिए अतरिम काल मे विशेष प्रतिनिधित्व मिलता रहेगा। किंतु इस बात की व्यवस्था कर दी गई है कि यह पृथक् प्रतिनिधित्व भी आगे चल कर समाप्त हो जाए। यहीं नही, ससद् ने एक प्रस्ताव पारित कर अपना मत प्रकट किया है कि वह साम्प्रदायिक आधार पर राजनीतिक दलो के सगठन को आदर की दृष्टि से नही देखता। इस सबध में कुछ कानूनी पाबदियां लगा दी गईं हैं, किंतु इन कानूनो म कुछ कमियां हैं जिनके कारण इस रोक को पूरी तरह लागू नही किया जा सका है। आवश्यकता इस बात की है कि इस दोष को दूर कर दिया जाए जिससे साम्प्रदायिकता का वृक्ष फिर कभी नए सिरे से हमारे देश मे न पनप सके।

6. वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)

अधिकतर देशो मे प्रतिनिधित्व प्रादेशिक (territorial) आधार पर होता है अर्थात् एक निश्चित भूभाग पर रहने वाले मतदाता कुछ प्रतिनिधि चुनते हैं। इस पद्धति की अनेक विद्वानो ने आलोचना की है। इनमे से रूसो जैसे विद्वानो की आलोचना बुनियादी है। उनका कहना है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे का प्रतिनिधित्व नही कर सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रतिनिधिक लोकतन्त्र असगत है। हम यहां इन विचारो की चर्चा नही करेंगे, क्योंकि साधारणत समकालीन विचारक यह स्वीकार करते हैं कि लोकतन्त्र को लागू करने का प्रतिनिधित्व के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नही है। दूसरे विद्वान वे हैं जो कि प्रतिनिधित्व के प्रादेशिक आधार की आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को जीवन के सभी क्षेत्रों मे प्रतिनिधित्व नही कर सकता। यह आशा करना कि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सास्कृतिक आदि क्षेत्रो मे एक व्यक्ति अपने निर्वाचको का समुचित प्रतिनिधित्व कर सकेगा, निराधार है। अतएव, यह माँग की जाती है कि प्रतिनिधित्व वृत्ति के आधार पर होना चाहिए, अन्यथा प्रतिनिधि सभाएँ व्यर्थ हैं। अग्रेज विद्वान जी० डी० एच० कोल[1] तथा वेब दम्पत्ति ने वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया है। इस प्रणाली के अन्य समर्थको म ग्रेहम वैलास और विलियम मैकडोनेल्ड भी हैं। कोल के मतानुसार, सच्चा लोकतत्र एक सर्वशक्तिशाली प्रतिनिधि सभा पर आधारित नहीं होना चाहिए, अपितु अनेक प्रतिनिधि सस्थाओ पर होना चाहिए जो विभिन्न पहलुओ पर विचार करें और जिनके विचारों का समन्वय करने का उचित प्रबध हो। वेब दम्पत्ति ने अपनी एक पुस्तक मे यह सुझाव दिया है कि इगलैंड मे एक के स्थान पर दो ससद् होनी चाहिए, एक सामाजिक और आर्थिक मामलों के लिए और दूसरी राजनीतिक बातो से सबधित। इसमे से दूसरी ससद् का आधार प्रादेशिक हो सकता है। इससे कुछ मिलता जुलता ढग इटली मे फासिस्टों ने अपनाया। नाजी सविधान मे भी इस प्रकार की कुछ व्यवस्था थी।

वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व के मार्ग मे कुछ बाधाएँ हैं। पहले, इसमें आर्थिक पक्ष का प्रतिनिधित्व तो ठीक ठीक हो जाएगा किंतु अन्य क्षेत्रों मे क्या होगा? दूसरे यदि विधानाग को इस आधार पर सगठित किया जाए तो कितने सदन बनाए जाए? इस सम्बध मे इस पद्धति के समर्थको मे भी अनेक मतभेद हैं। तीसरे, इनकी सख्या के सम्बध मे मतैक्य भी हो जाए, तो प्रश्न यह उठता है कि उनके अधिकार क्या हो और उनके विचारो को कैसे समन्वित किया जाए? फिर क्या इन सब सदनों की शक्ति एक समान होगी? यदि नही, तो किसकी शक्ति अधिक होगी? जिस सदन की शक्ति अधिक होगी, क्या वह सर्वोपरि नही हो जाएगा? उक्त प्रश्नों का कोई सतोषजनक उत्तर अभी तक नही मिल सका। चौथे इस पद्धति को अपनाने से लोग राष्ट्रीय हितो पर अधिक ध्यान न देंगे बल्कि अपने सकुचित हितो को प्रधानता देने लगेंगे। पाँचवें, अभी तक ऐसी कोई सर्वसम्मत योजना नही बनी जिसके अतर्गत विभिन्न वृत्तियों के लोगों को प्रतिनिधित्व दिया जाए। मजदूरो और मिल मालिको को किस आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाए? अधिकतर स्त्रियाँ गृह-कार्य मे लगी रहती हैं, उन्हें प्रतिनिधित्व दिया जाए या नहीं? और यदि दिया जाए तो किस आधार पर? यह ऐसे प्रश्न हैं जिन्हे सुलझाना आसान नही है। छठे, कार्यनैमी के मतानुसार, यह कहना ठीक नहीं है कि एक ही वृत्ति के लोगो के विचार एकसमान होंगे।

1 देखिए *Guild Socialism Restated*, पृ॰ 32-34.

वस्तुत. यह भी सम्भव हो सकता है कि एक ही व्यवसाय के व्यक्ति अपनी वृत्ति वाले व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि चुनना पसंद न करे। यदि ऐसा हो तो उन्हें इसके लिए बाध्य क्यों किया जाए ? सातवें, उन लोगों की व्यवस्था क्या होगी जो कभी एक काम करते हैं और कभी दूसरा। आठवें, इस प्रकार बने सदनों में पारस्परिक सम्बंध कैसे निर्धारित होंगे और उन की नीतियों तथा विचारों में कैसे समन्वय किया जाएगा ? उपर्युक्त कठिनाइयों को देखते हुए वृत्तिमूलक प्रति-निधित्व को नहीं अपनाया जा सकता, भले ही सैद्धांतिक दृष्टि से यह पद्धति आकर्षक हो।

7 मतदाताओं और प्रतिनिधियों के सम्बंध

एक प्रश्न यह उठता है कि प्रतिनिधि का अपने निर्वाचकों के साथ क्या सम्बंध होना चाहिए। इस सम्बंध में दो विचार हैं। एक तो यह कि एक बार चुन लिए जाने के बाद प्रतिनिधि को पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए कि वह अपने विवेक के अनुसार कार्य करे। यदि उसे लोकमत और अपने राजनीतिक भविष्य का ध्यान है तो वह स्वयं ऐसा कोई कार्य नहीं करेगा जो उसके निर्वा-चकों की इच्छा के विरुद्ध हो। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ बर्क इसी मत के समर्थक थे। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि प्रतिनिधि केवल अपने विचारों का प्रति-निधित्व नहीं करता, बल्कि एक पूरे निर्वाचन-क्षेत्र और साथ ही अपने राज-नीतिक दल का भी प्रतिनिधित्व करता है। अतः वह इन दोनों में से किसी की उपेक्षा नहीं कर सकता और उसके लिए यह आवश्यक है कि वह सदैव इस बात का ध्यान रखे कि उसके निर्वाचकों की क्या इच्छा है और उसके दल के क्या विचार हैं और उनके अनुकूल कार्य करे, स्वतन्त्र रूप में नहीं। कुछ लोगों ने दूसरे विचार की आलोचना की है। उनका कहना है कि किसी राष्ट्रीय प्रश्न पर निर्वाचकों का मत जानना सरल नहीं है। दूसरे इस काम में देरी भी लगती है। तीसरे, यदि प्रतिनिधि की व्यक्तिगत राय अपने निर्वाचकों की राय से भिन्न है तो वह अपने विचारों के अनुकूल आचरण करे या निर्वाचकों की बात माने, मुख्यत उस दशा में जब निर्वाचकों की निश्चित राय जानना कठिन हो ? चौथे, यदि यह बंधन लगाया गया तो आत्मसम्मानप्रिय व्यक्ति चुने जाना पसंद नहीं करेंगे। पाँचवें, यदि प्रतिनिधि को एक डेलीगेट का ही रूप देना है (अर्थात् प्रत्येक बात में उसे अपने निर्वाचकों का आदेश मानना है) तो फिर क्यों न जनमत-संग्रह की प्रणाली अपना ली जाए ? छठे, डेलीगेट होने की स्थिति में सदस्यों को स्थानीय बातों पर अधिक ध्यान देना होगा जिससे राष्ट्र के हितों को क्षति पहुँच सकती है।

बीसवीं शताब्दी मे इस समस्या ने एक नया रूप ले लिया है। अब राजनीतिक दल इतने सगठित और सुदृढ हो गए हैं कि अधिकतर सदस्य राजनीतिक दलो के उम्मीदवार होते हैं और चुने जाने के पश्चात् उन्हे अपने दलो के आदेशो को मानना होता है। अतएव, प्रश्न केवल यह ही नहीं रह गया कि सदस्य अपने निर्वाचको की बात मानें, अपितु यह हो गया है कि किस सीमा तक वे अपने दल के आदेशानुसार काम करें। रैमजे म्योर का विचार है कि सदस्यो को यथेष्ट स्वतन्त्रता होनी चाहिए ताकि भिन्न विचार होने पर वे स्वतन्त्रतापूर्वक उसका प्रकाशन कर सकें। लास्की के मतानुसार, इस प्रकार की स्वच्छदता देने से राजनीतिक दलो का अनुशासन समाप्त हो जाएगा, सरकारें अस्थिर हो जाएँगी और राष्ट्रीय नीतियो को दृढतापूर्वक लागू नही किया जा सकेगा। अभी तक लोकतत्रीय प्रणाली की यह एक कमी रही है कि उसमे सरकार स्थिर नहीं रहतीं और वे दृढ नीति नहीं अपना पाती। यदि उपर्युक्त बात मान ली जाए तो दशा और भी बिगड जाएगी। फिर लास्की कहते हैं कि सदस्य दल मे इसलिए आते हैं कि अधिकतर बातो मे वे दल से सहमत हैं। असहमति का प्रश्न केवल कुछ बातों मे होता है। ऐसी दशा मे राष्ट्रीय दृष्टि से यह अधिक अच्छा होगा कि वे अनुशासन को माने और दल के आदेशानुसार कार्य करें। नही तो परिणाम यह हो सकता है कि ससद् मे सरकार की हार हो जाए और नए चुनाव कराने पडे। निश्चय है, अपने दल से किसी सदस्य के कितने ही मतभेद हो, विपक्षियों से उसके मतभेद उससे भी अधिक होगे और वह यह नहीं चाहेगा कि विरोधी दल सत्तारूढ हो जाए। अतएव, यह उचित प्रतीत होता है कि सामान्यत सदस्य अपने दल के आदेशानुसार कार्य करें। किंतु यदि उसका दल उस कार्य क्रम को त्याग दे जिसके आधार पर चुनाव लडे गए हैं तो उसे इस बात की छूट होनी चाहिए कि वह दल के आदेशो का पालन न करे।

०

20

राजनीतिक दल और हित-गुट

लोकतंत्र में राजनीतिक प्रक्रियाओं के लिए यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि विशेष समर्थन क्यों किया जाता है, इसे समझकर हम गुटबदी और सामाजिक सवर्ष का मूल्याकन कर सकेंगे, विशेष समर्थन करने वाले व्यक्तियों को पहचान सकेंगे, उनकी तकनीक का विवेचन कर सकेंगे और उनके उद्देश्यों की जाँच कर सकेंगे, समकालीन समाज के उद्देश्यों और मूल्यों की दृष्टि से हम उनके उद्देश्यों का मूल्याकन कर सकेंगे और यह भी देख सकेंगे कि व्यक्तिगत स्वार्थ की दृष्टि से ये कहाँ तक मान्य हो सकते हैं।

—टॉटन जे० एन्डरसन

यह प्रतिनिधिक लोकतत्र का युग है। इसके सुचारु रूप से सचालन के लिए यह आवश्यक है कि समान विचार वाले नागरिक मिलजुल कर काम करें। यदि जनता के प्रतिनिधि राजनीतिक दलो मे सगठित नही होगे तो विधानाग में विविध विचार वाले असगठित व्यक्तियो के लिए, विचार विमर्श के उपरात किसी निश्चय पर पहुँचना बहुत कठिन हो जाएगा। अत यह स्पष्ट है कि बिना राजनीतिक दलो के अस्तित्व के प्रतिनिधिक सरकार सुचारु रूप से नही चल सकती। अमरीकी सविधान के निर्माताओ ने यह अभिमत प्रकट किया था कि यदि राजनीतिक दल न हों तो सम्भवत *शासन-कार्य लोकहित के अनुरूप हो* सकेगा, किन्तु थोडे ही दिनो में यह स्पष्ट हो गया कि यह धारणा भ्रातिपूर्ण है, और धीरे धीरे वहाँ भी राजनीतिक दलों को मान्यता प्राप्त हो गई है।

1. राजनीतिक दल की परिभाषा और स्वरूप

राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो कुछ

समस्याओं के रूप और उनके समाधान के सम्बध मे एकमत हैं और जिन्होंने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिल कर वैध ढग से काम करने का निश्चय कर लिया है। गैटिल के कथनानुसार, राजनीतिक दल ऐसा व्यक्ति समूह होता है जो किसी सीमा तक सगठित है और जो एक राजनीतिक संगठन के रूप मे कार्य करता है और अपने मतदान की शक्ति का उपयोग करते हुए सत्तारूढ होने का प्रयत्न करता है जिससे वह अपनी नीतियो को कार्यरूप दे सके[1]। मैकीवर के कथनानुसार, यह एक ऐसा व्यक्ति समूह है जो किन्ही सिद्धातों अथवा नीतियो के समर्थन के लिए सगठित है और सविधानी साधनो द्वारा उन्हें शासन की नीति बनाने का यत्न करता है। सिजविक के अनुसार, राजनीतिक दल, क्षणिक अवसरो के लिए नही, लम्बी अवधि के लिए सगठित किए जाते हैं। बर्क के अनुसार, राजनीतिक दलो का उद्देश्य राष्ट्रीय हित के लिए काम करना है। उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से राजनीतिक दलो के निम्न लक्षण प्रकट होते हैं (1) लम्बी अवधि के लिए सगठन, (2) कतिपय सिद्धातों अथवा नीतियो के बारे मे सहमति, (3) अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए शान्तिपूर्ण और सविधानी उपाय अपनाने का विचार (कुछ राजनीतिक दल बलप्रयोग पर भी विश्वास करते हैं), और (4) राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अपनी नीतियो को कार्यरूप देने की लालसा। अत यह स्पष्ट है कि मोटे रूप में एक राजनीतिक दल के सदस्यों के समान विचार होने चाहिए। यदि बुनियादी बातो पर वे एकमत हो तो अन्य विस्तार की बातों मे मतभेद हो सकते हैं। प्रत्येक बडे राजनीतिक दल मे प्राय कई पक्ष होते हैं। उदाहरण के लिए अखिल भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस मे एक ओर वाम पक्ष (Leftists) है तो दूसरी ओर एक अनुदार पक्ष (Rightists) भी है और इन दोनो के बीच मे कुछ ऐसे सदस्य और नेता है जो केंद्र की स्थिति मे हैं अर्थात् वे इन दोनों पक्षो मे से किसी के साथ नही हैं बल्कि मध्यम मार्ग अपनाते हैं। यही स्थिति अन्य राजनीतिक दलो में भी है।

राजनीतिक दल और गुटबदी मे एक बडा भेद है जिसकी ओर बर्क ने हमारा ध्यान आकर्षित किया है। राजनीतिक दल हमेशा राष्ट्रीय हित मे काम करते हैं जबकि गुटो के सदस्य अपने व्यक्तिगत अथवा वर्ग-हित का साधन करने का प्रयत्न करते हैं। व्यवहार रूप मे अब इस भेद की ओर अधिक ध्यान नही दिया जाता। इसका एक कारण यह है कि जो सकुचित दृष्टिकोण से, राजनीति मे काम करने वाले व्यक्ति समूह या गुट हैं, वे भी अब यह आभास देते हैं कि वे लोकहित की दृष्टि से काम कर रहे हैं।

राजनीतिक दलों का विकास—जेम्स ब्राइस के कथनानुसार, राजनीतिक दल

1 *Political Science*, पृष्ठ 289.

लोकतन्त्रीय प्रणाली से भी अधिक प्राचीन हैं। प्राचीन यूनान और रोम में दलबंदी थी और दलगत भावनाएँ थी, और इसी प्रकार मध्यकालीन यूरोप में भी किसी न किसी रूप में राजनीतिक दलबंदी चलती थी। तथापि यदि आधुनिक दृष्टि से इन ऐतिहासिक दलों को आंका जाए तो ये गुटों में गिने जाएँगे, क्योंकि ये स्पष्ट रूप से वर्ग स्वार्थ के लिए कार्य करते थे। आधुनिक दल इन प्राचीन गिरोहों से भिन्न हैं और इनका प्रारम्भ इंगलैंड में हुआ। यह कहा जा सकता है कि इंगलैंड के राजनीतिक दल अन्य देशों के दलों के पूर्वगामी हैं। इगलैंड में स्टुअर्ट युग में राजनीतिक दल सगठित हुए। इन्हे क्रमश 'राउड हैड्स' और 'कैवेलियर्स' कहते हैं। बाद में ये अपने नाम बदलकर ह्विग और टोरी बन गए। जार्ज तृतीय के शासन काल के अन्त तक जाते जाते अनुदार दल और उदार दलों की स्थापना हो गई जो अभी तक बने हुए हैं। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में एक नए मजदूर दल का जन्म हुआ। आज इंगलैंड में दो प्रमुख दल हैं अनुदार दल (Conservative Party) और मजदूर दल (Labour Party) इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा छोटा सा दल है, उदार दल (Liberal Party)।

जैसाकि हम कह चुके है अमरीकी सविधान निर्माताओं की यह धारणा थी कि दलगत भावना राष्ट्र को हानि पहुँचाती है। अत वे इनके सगठन के विरुद्ध थे। तथापि जैसे ही सविधान निर्मित हुआ उसके पक्ष और विरोध में दो पक्ष बन गए और आगे चलकर राजनीतिक दलों ने अनेक रूप बदले। सोवियत सघ में जब ज़ार का शासन समाप्त हुआ तो बोल्शेविकों के नेता लेनिन का यह विचार था कि सभी वामपथी और राष्ट्रीय दलों के सहयोग से सरकार बनाई जाए। किंतु गृह युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप के कारण लगभग अन्य सभी राजनीतिक दल विरोधियों से जा मिले जिसके कारण बोल्शेविकों को अपनी दलीय सरकार बनानी पड़ी और उसके बाद सोवियत सघ में अन्य दलों को स्वतन्त्र रूप से सगठित होने का अधिकार नहीं मिला। भारत में अब छोटे-बड़े अनेक राजनीतिक दल बन गए हैं। जब तक हमारा स्वाधीनता सग्राम चल रहा था, 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' एक प्रमुख राजनीतिक सगठन थी। इसके अतिरिक्त, एक उदार दल था और तीन साम्प्रदायिक दल थे जिनके नाम थे, हिंदू महासभा, *मुस्लिम लीग और अकाली दल*। प्रादेशिक स्तर पर और भी छोटे-छोटे दल थे। किंतु द्वितीय महायुद्ध के समय और उसके बाद अनेक अन्य दल स्थापित हो गए। उदाहरण के लिए, साम्यवादी दल, समाजवादी दल, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, जनसघ, स्वतन्त्र पार्टी आदि। इनमें से कुछ दलों की नीति इतनी अस्पष्ट है कि यह कहना कठिन है कि इसमें से कौन दल किन सिद्धातों और नीतियों का समर्थन करता है।

दलों का आधार—ब्राइस के मतानुसार, प्रत्येक जनसमुदाय मे विभिन्न विचारो के लोग पाए जाते हैं। इनमे से कुछ विचार परस्पर-विरोधी होते हैं। इन विचारो के प्रतिपादन करने वाले व्यक्तियो मे से कुछ नेता बन जाते हैं और अन्य नागरिक उनका अनुमोदन और समर्थन करने लगते हैं। आगे चलकर यही लोग सगठित राजनीतिक दल बना लेते हैं। इन दलो का मनोवैज्ञानिक आधार मनुष्य की चार प्रवृत्तियाँ हैं सहानुभूति, अनुकरण, प्रतिरोध और स्पर्धा। इन्ही के कारण व्यक्ति-समूह सामान्य नीतियो और सिद्धातों के आधार पर अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए पृथक् सगठन बना लेते हैं।

राजनीतिक दल कभी कभी धार्मिक और नस्ली भेद के आधार पर सगठित किए जाते हैं। किंतु एक लोकतत्रीय समाज मे इस प्रकार के राजनीतिक दल श्रेयकर नही होते। वे विद्वेष के प्रचार में लगे रहते हैं और कोई रचनात्मक कार्य नही कर सकते। अतएव यह आवश्यक है कि राजनीतिक दल सामाजिक और आर्थिक नीतियो के आधार पर सगठित हो। अन्य समस्याएँ यदि देश के लिए महत्त्वपूर्ण हैं तो उनको भी लिया जा सकता है, किंतु वे गौण होनी चाहिए। एक पराधीन देश मे राष्ट्रीयता का आधार लेकर और स्वाधीनता का लक्ष्य सम्मुख रखकर राजनीतिक सगठन किए जाते हैं। भारत मे 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' ऐसा ही सगठन था। तथापि स्वाधीनता प्राप्त होने के पश्चात् हमारे राष्ट्रनिर्माता, श्री मोहनदास करमचन्द गांधी ने अपने अंतिम लेख मे यह मत प्रकट किया कि यद्यपि हम राजनीतिक रूप से स्वाधीनता प्राप्त कर चुके हैं, तो भी अभी हमे सच्चे अर्थ में स्वराज्य पाने के लिए बहुत काम करना शेष है। उन्होने आदेश दिया कि अब लोगो को सामाजिक और आर्थिक स्वाधीनता के हेतु कार्य करना चाहिए[1]। खेद की बात है कि कानून का निषेध होने पर भी हमारे देश मे अभी भी साम्प्रदायिकता के आधार पर राजनीतिक दल बने हुए हैं। अच्छा हो यदि सभी राजनीतिक दलो का आधार सुनिश्चित आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम हो जिससे जनता यह समझ सके कि वे हमारे देश को किस दिशा मे ले जाना चाहते हैं। हमारे देश मे जाति-प्रथा का राजनीति पर बहुत प्रभाव है। जब तक इस भावना को हम समूल नष्ट नही कर देंगे, भारतीय लोकतत्र कभी नही पनप सकता। स्वर्गीय श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे राष्ट्रीयता पर भाषण देते हुए यह विचार प्रकट किया था कि राष्ट्रीयता के लिए वैयक्तिक समानता की भावना आवश्यक है। जाति-प्रथा का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा कि जब तक भारत मे ऐसे तत्त्व वर्त-

1 देखिए लेखक की पुस्तिका, बापू का बलिदान हमारे लिए खुली चुनौती है, आगरा, 1948, पृष्ठ 1-3

मान हैं जो जाति के आधार पर एक दूसरे के साथ खान-पान, शादी-विवाह आदि नही करते, यहां तक कि एक दूसरे के सम्पर्क से घृणा करते है, समानता, स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की नीवें दृढ आधार पर स्थित नही हो सकती।

2. राजनीतिक दलो के कार्य

हम देख चुके हैं कि आधुनिक लोकतन्त्रीय शासन के लिए राजनीतिक दल आवश्यक हैं। कुछ विद्वानो ने इसे लोकतन्त्र के लिए 'रीढ की हड्डी' के सदृश बताया है। राजनीतिक दल जो कार्य करते हैं वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मेरियम ने इनके पाँच प्रमुख कार्य बताए हैं (1) पदाधिकारियों का चुनाव, (2) नीति निर्धारण, (3) शासन का संचालन अथवा उसकी सृजनात्मक आलोचना, (4) राजनीतिक प्रचार और शिक्षण, तथा (5) व्यक्ति और सरकार के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाए रखने मे सहायता देना। मुनरो ने भी दलो के ऐसे ही कार्य बताए है। उसकी सूची मे एक कार्य उल्लेखनीय है, सामूहिक और व्यक्तिगत राजनीतिक उत्तरदायित्व की स्थापना। नीचे हम इन कार्यों पर संक्षेप मे विचार करेंगे।

इनका प्रमुख कार्य अपने सिद्धांतो के अनुसार जनता के सम्मुख एक निश्चित दृष्टिकोण, नीति और कार्यक्रम उपस्थित करना है और साथ ही, हर सम्भव उपाय द्वारा जनता मे अपने विचारों का प्रचार करना है। इसके लिए वे सभाएँ और प्रदर्शन करते हैं, लेख और पुस्तिकाएँ लिखते हैं, समाचार-पत्र निकालते हैं, तथा अन्य उपायो द्वारा प्रचार करते हैं। इन सबका उद्देश्य यह होता है कि जनता मे अपने अनुयायियो और समर्थको की संख्या को बढ़ाया जाए। दूसरे, इनके प्रचार से नागरिको को राजनीतिक शिक्षा मिलती है, उन्हे समस्याओं के विभिन्न पहलुओ का पता लगता है। नीतियो की अच्छाइयाँ बुराइयाँ परखने का अवसर मिलता है और राजनीतिक चेतना फैलती है। तीसरे, प्रत्येक दल ऐसे कार्य करता है जिनसे उसका प्रभाव बढे और वह सत्तारूढ होकर अपने कार्यक्रम को साकार रूप दे सके। इसके लिए राजनीतिक दल चुनाव लड़ते हैं, उम्मीदवार खड़े करते हैं, मतदाताओ की सूची बनवाने मे सहायता देते हैं, प्रचार करते है और चुनाव मे समर्थन की प्रार्थना करते है। यह सब इसलिए किया जाता है कि उनके उम्मीदवारो की चुनाव मे विजय हो। चौथे, चुनाव मे विजय प्राप्त होने पर दल शासन की बागडोर अपने हाथ मे ले लेता है और अपना कार्यक्रम पूरा करने का प्रयत्न करता है। सुगठित राजनीतिक दलो के अपने शोध विभाग होते हैं जिनका काम यह खोज करते रहना होता है कि उनके दल द्वारा मान्य नीतियो और सिद्धान्तो को कैसे साकार रूप दिया जा सकता है।

इसका लाभ यह है कि जब दल सत्तारूढ़ होता है तो उसे पहले से यह ज्ञान होता है कि उसे अपना कार्यक्रम पूरा करने के लिए क्या करना चाहिए। पाँचवें, यदि चुनाव मे दल को बहुमत प्राप्त न हो और उसे विरोध-पक्ष ग्रहण करना पड़े तो भी उसके कार्य का महत्त्व कम नही हो जाता। विरोधी-पक्ष के रूप मे उसका यह उत्तरदायित्व है कि वह सरकार को सचेत रखे। उसका कार्य जनता के दुख दर्द को विधानाग मे प्रस्तुत करना है और सरकारी नीतियो और बिलो म सुधार के प्रस्ताव रखना है। उसका प्रयत्न यह होता है कि वह पदारूढ दल की भूलो से पूरा लाभ उठाए। वह सरकारी कानूनो और शासन प्रबध की खराबियाँ बताता है और इस बात के लिए तत्पर रहता है कि यदि पदारूढ दल किसी कारणवश त्याग पत्र दे दे तो वह स्वय शासन-प्रबध सम्भाल ले। छठे, सत्तारूढ राजनीतिक दल सरकार के विभिन्न विभागो और अगो मे सहयोग और सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। साथ ही, वह सरकार और जनता का निकट सम्पर्क बनाए रखता है। उत्तरदायी शासन म यह कार्य अपेक्षाकृत सरल है, क्योकि उसम विधानाग और मत्रिमडल दोनो मे सत्तारूढ दल का आधिपत्य होता है। किंतु अनुत्तरदायी सरकारो मे (विशेषत यदि व शक्ति पृथक्ता के सिद्धात पर सगठित हो) यह कार्य कुछ कठिन हो जाता है और सरकारी विभागो म गति-रोध होने का डर रहता है। सातवें, राजनीतिक दल अपने दृष्टिकोण से सर-कारी कामो की व्याख्या करते है। वे नागरिको को समझाते हैं कि उनका दल लोकहित म क्या कर रहा है और आगे क्या करना चाहता है। दूसरी ओर, व जनता के विचारो, उनकी कठिनाइयों, इच्छाओ और आकाक्षाओं को सर-कार के कानो तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। आठवें, उनका कार्य अपने सदस्यो को सगठित और अनुशासित रखना है, क्योकि इसके बिना कोई भी राजनीतिक दल उन्नति नही कर सकता। नवें, वह अपने पदाधिकारियों का चुनाव करता है और विधानाग एव कार्याग के लिए दल के उम्मीदवारो को मनोनीत करता है। दसवें, उसका एक प्रमुख कार्य यह है कि सामान्य विचारो वाले नागरिको को एक ही सगठन के अतगत लाए। कोई भी राजनीतिक दल उस समय तक उन्नति नही कर सकता जब तक वह नए नए सदस्यो का सक्रिय सहयोग प्राप्त नही कर पाता। अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए यह अत्यतावश्यक है।

3 राजनीतिक दलो के गुण-दोष

आधुनिक लोकतत्रीय शासन के लिए राजनीतिक दलो की उपयोगिता स्पष्ट है। पहले, बिना राजनीतिक दलो के प्रतिनिधित्व लोकतत्रीय सरकार नहीं चल सकती। यदि राजनीतिक दल न हो तो विधानाग मे जितने भी सदस्य होंगे

उतने ही मत होगे। अतः विचार-विमर्श में बहुत समय लगेगा और फिर भी विधानांग का किसी निश्चय पर पहुँचना दुष्कर होगा। दूसरे, सगठित दलो के अभाव मे व्यक्तिगत और वर्गीय हितो को महत्त्व मिलेगा। निर्वाचित प्रतिनिधि भी अपने स्वार्थ-साधन के लिए गुट बना लेंगे और जनहित की उपेक्षा करेंगे। इसके विपरीत, राजनीतिक दल सकुचित हितो के स्थान पर लोकहित पर ध्यान देते हैं और व्यक्तिगत बातो के स्थान पर निश्चित नीति और कार्य क्रम के अनुसार कार्य करते हैं। तीसरे, राजनीतिक दलो के अभाव मे सरकारो की स्थिरता नष्ट हो जाएगी। रोज नए-नए गुट बनते-बिगडते रहेगे और सरकारे भी बदलती रहेंगी। सगठित राजनीतिक दल इस प्रकार की अव्यवस्था और अस्थिरता का अत कर देते हैं और चुनाव के परिणामो के आधार पर स्थिर सरकारे बन सकती हैं। चौथे, राजनीतिक दलो के कारण कानून बनने से पहले बिलो पर अच्छी तरह विचार हो जाता है। इससे समय की बचत भी हो जाती है। सगठित दलो के प्रतिनिधि अपनी बातो को विधानाग के सम्मुख रखते हैं और कोरे वाद-विवाद मे समय नष्ट नही होता। पाँचवें, राजनीतिक दलो के अस्तित्व के कारण विधानाग मे एक सजग विरोधी दल भी रहता है जो सरकारी कामो पर आलोचनात्मक दृष्टि रखता है। अत शासन को सावधानी रखनी होती है जिससे विरोधी पक्ष को आलोचना करने के कम-से कम अवसर मिलें। वस्तुत. विरोधी पक्ष को आलोचना करने की स्वतन्त्रता देना इस बात की गारटी है कि शासन निरकुश नही होगा। छठे, राजनीतिक दलो के कारण नागरिको मे राजनीतिक चेतना फैलती है और उन्हे राजनीतिक शिक्षा मिलती है। सातवें, नागरिको को साम्प्रदायिक, धार्मिक, और नस्ली भेदभावो से ऊपर उठकर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समस्याओ को देखने-समझने मे राजनीतिक दल सहायता देते हैं। अत नागरिको का दृष्टिकोण सीमित और उनकी मनोवृत्ति सकुचित न रह कर व्यापक बन जाती है। आठवें, इन दलो ने यह सम्भव कर दिया है कि विभिन्न सरकारी विभाग और अग सहकारिता और सामजस्य के साथ काम करें। नवें, इन दलों ने मतदाताओ के काम को सरल बना कर लोकतन्त्र को एक व्यवस्थित रूप दे दिया है और इस प्रकार उसे सफल होने मे सहायता दी है। दसवें, अनेक राजनीतिक दल ऐसे परोपकारी और रचनात्मक कार्य भी करते हैं जिनका राजनीति से विशेष सम्बध नही होता। ये कार्य बहुधा समाज-सेवा का होता है। राजनीतिक दलों के अभाव मे यह कार्य भी अधूरा रह जाएगा। ग्यारहवें, राजनीतिक दलों के अपने शोध-विभाग होते हैं जिनमे महत्त्वपूर्ण अनुसधान होते रहते हैं। इनका उद्देश्य तथ्य और विचार प्रस्तुत करना है जिनके आधार पर दल अपनी नीति निर्धारित कर सके और अवसर आने पर उसे साकार रूप दे सकें।

जहाँ राजनीतिक दलों की उपयोगिता है, वहाँ उनके दोष भी हैं। पहले, वे समाज में गुटबंदी पैदा करते हैं और देश के वातावरण को कटु और विषाक्त बना देते हैं जिनका प्रभाव सार्वजनिक जीवन पर बहुत बुरा होता है। दूसरे, इनके कारण शासन दलीय बन जाता है अर्थात् चुनाव जीतने के पश्चात् जब सत्ता बहुसंख्यक दल के हाथों में आ जाती है, तो वह केवल अपने दल के लोगों को विभिन्न पदों पर नियुक्त करता है। विरोधी पक्ष के व्यक्ति चाहे जितने योग्य हों, उनकी सेवा से लाभ उठाना दल की दृष्टि से हानिकारक माना जाता है। प्राय विरोधी-पक्ष भी सत्तारूढ़ दल को सक्रिय सहयोग देने को उत्सुक नहीं होता क्योंकि वह आलोचना करने का अपना अधिकार सुरक्षित रखना चाहता है। तीसरे, इसका परिणाम दलबंदी की संकुचित भावना के रूप में प्रकट होता है जिससे प्रभावित होकर लोग राष्ट्रीय हित को भुला देते हैं और संकुचित दलगत स्वार्थों और हितों का ध्यान रखते हैं। चौथे, दलबंदी की भावना का एक स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि विरोधी-पक्ष उचित-अनुचित पर ध्यान दिए बिना सरकार के कार्य का विरोध करता है। वह इसी धुन में रहता है कि जैसे भी हो सरकार को अपयश मिले जिससे उसे सत्ता हस्तगत करने का अवसर मिले। ब्राइस के शब्दों में, 'विधानांग एक अखाड़ा बन जाता है. ..जिसमें देश के हित भुला दिए जाते हैं'। वस्तुत. दलों का कार्य नासमझी से शासन का विरोध करना नहीं है बल्कि क्रियात्मक आलोचना करना है। अर्थात् यह दोष दलबंदी का नहीं अपितु राजनीतिक शिक्षा और चेतना की कमी का है। पाँचवें, दलबंदी के कारण केवल विधानांग ही नहीं अपितु सारा देश दलों में बँट जाता है और इनमें आपस में कहा-सुनी और झगड़े होते रहते हैं। देशभक्ति का विचार पीछे पड़ जाता है और दलबंदी की भावना उग्र हो उठती है। कभी-कभी गुण-दोषों पर विचार किए बिना अपने दल का समर्थन और विपक्षियों का विरोध किया जाता है। छठे, दल अपने स्वार्थ साधन के लिए झूठे और गंदे प्रचार का आश्रय लेते हैं, सनसनीदार समाचार देते हैं और बेईमानी तथा हिंसापूर्ण उपाय अपनाने में भी संकोच नहीं करते। सातवें, दल के कठोर अनुशासन के कारण स्वतंत्र विचार और कार्य की सम्भावना नहीं रहती, और अनुशासन के नाम पर व्यक्तियों की स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है। आठवें, दलगत शासन में बहुत पक्षपात और गड़बड़ियाँ होती हैं। सरकारी पदों और नौकरियों पर अपने मित्रों, सम्बंधियों और दल के साथियों को भर लिया जाता है। जिसका प्रभाव देश के शासन पर बहुत बुरा पड़ता है। कार्य-क्षमता में कमी आ जाती है और सिद्धांतों को छोड़ कर व्यक्तिगत सम्बंधों के आधार पर शासन होने लगता है। नवें, कुछ महत्त्वाकांक्षी और प्रभावशाली नेता दल के संगठन पर अधिकार कर लेते हैं और

उसे अपने स्वार्थ-साधन का एक अस्त्र बना लेते हैं। ये लोग दल के नाम पर वैध और अवैध काम करते रहते हैं और साधारण सदस्यों की कोई सुनाई नहीं होती। दसवें, कभी-कभी लोकमत को प्रसन्न रखने के लिए ऐसे कानून पास कर दिए जाते हैं जो हानिकारक होते हैं, और आवश्यक बिलो को इसलिए रोक लिया जाता है कि दल के प्रमुख और प्रभावशाली समर्थक उनके अनुकूल नहीं है। इस प्रकार लोकमत को शिक्षित करने के स्थान पर दल अपने समर्थको को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते हैं जिससे सार्वजनिक हित को हानि होती है। ग्यारहवें, दल के नेता जिन धनिक लोगो से आर्थिक सहायता लेते हैं, प्राय गुप्त रूप से वे उनसे समझौते कर लेते हैं। इससे धनिक वर्ग को लाभ होता है और जनता अधेरे मे रहती है। फाइनर ने राजनीति पर धन के प्रभाव का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा है कि लोकतत्र म धन के प्रभाव को कम करना अत्यत आवश्यक है। और इस समस्या का हल किए बिना लोकतत्र को सफल नही बनाया जा सकता। बारहवे, स्थानीय सस्थाएँ राजनीतिक शिक्षण का प्रागण बताई गई हैं। तथापि, दलबदी के प्रवेश से इनका जीवन भी अत्यत कलुषित हो गया है और इनके सदस्य भी अब जनसेवा के आधार पर न चुने जाकर दलगत भावना के आधार पर चुने जाते है।

इन अवगुणो को देखने से प्रतीत होता है कि इनमे से अनेक दोषो को राजनीतिक शिक्षा और दलो के लोकतत्रीय सगठन से दूर किया जा सकता है। लोकतत्रीय सगठन से हमारा अभिप्राय यह है कि दल के साधारण सदस्यो को उसकी कार्यकारिणी समितियो को चुनने और उम्मीदवारो को मनोनीत करने का अधिकार होना चाहिए। साथ ही, दलो के कार्यक्रम को निर्धारित करने मे उनकी सुनाई होनी चाहिए। दलो के सगठन को लोकतत्रीय बनाने से नेतागिरी के कारण जो दोष आ जाते हैं, वे दूर हो सकेंगे और लोगों मे राजनीतिक चेतना बढ़ेगी।

4 दलीय व्यवस्थाएँ

पाश्चात्य लोकतत्रीय व्यवस्था म दो प्रकार की दलीय प्रणालियाँ प्रचलित हैं . द्विदलीय व्यवस्था, और बहुदलीय व्यवस्था। इनके अतिरिक्त अनेक समाजवादी और गैरसमाजवादी राज्यों म एकदलीय व्यवस्था भी चल रही है। नीचे हम सक्षेप म इन पर विवेचन करेंगे।

द्विदलीय व्यवस्था—सेट क कथनानुसार, द्विदलीय व्यवस्था से हमारा अभिप्राय यह नही है कि राज्य मे केवल दो ही राजनीतिक दल हो, प्रत्युत हमारा आशय यह है कि यदि अन्य दल हों तो इतने छोटे कि उनका राजनीति पर

पर विशेष प्रभाव न हो और विधानाग में बहुमत प्राप्त करने के लिए उनके साथ मिलकर सयुक्त सरकार बनाने की आवश्यकता न पड़े। अतरिम काल मे एक तृतीय दल का उदय भी हो सकता है। प्राय आगे चलकर यह दल पूर्वगामी दलो मे से एक का स्थान ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार कुछ वर्षों मे पुनः द्विदलीय व्यवस्था कायम हो जाती है। ब्रिटेन और अमरीका मे दो प्रमुख राजनीतिक दल हैं जिनके कारण वहाँ लोकतत्रीय शासन सुचारु रूप से चलता है। कुछ लेखक द्विदलीय व्यवस्था से इतने प्रभावित हुए हैं कि वे लोकतत्रीय शासन के सुचारु रूप से चलने के लिए देश मे द्विदलीय व्यवस्था को अत्यत आवश्यक मानते हैं।

बहुदलीय व्यवस्था—यूरोपीय महाद्वीप के अन्य देशों में द्विदलीय व्यवस्था नहीं पनप पाई। दो प्रमुख राजनीतिक दलो के अभाव मे वहाँ अनेक छोटे-बड़े दल होते हैं और उनके मेलजोल से सयुक्त सरकारें बनती हैं। इसमे कठिनाई यह होती है कि अनेक दलीय सम्मिश्रण सम्भव है और उनकी सयुक्त सरकारें बन सकती है। इसके कारण सरकार में अस्थिरता आती है। किसी दल को सरकार के टूट जाने से कोई हानि अथवा क्षोभ नहीं होता, क्योकि उन्हे यह फिर भी आशा बनी रहती कि नई सरकार मे उन्हे पुन स्थान मिल जाएगा। इसके अर्थ यह हुए कि सयुक्त सरकार बनाने वाले राजनीतिक दलो मे मेल-जोल का ठोस आधार नहीं होता और इनके समझौते प्राय अल्पकालीन होते हैं।

द्विदलीय व्यवस्था के गुण-दोष—द्विदलीय व्यवस्था के अनेक गुण और लाभ हैं। पहले, इसके अतर्गत लोकतत्रीय शासन-प्रणाली अत्यत सुचारु रूप से चल पाती है। शासन में स्थिरता आती है। उदाहरण के लिए, जबकि इंगलैंड मे मत्रिमडलो का औसत जीवनकाल लगभग साढे तीन वर्ष है, फ्रास मे तृतीय और चतुर्थ गणतत्र के अतर्गत मत्रिमडल का औसत कार्यकाल केवल 9 मास होता था। दूसरे, स्थायित्व के कारण इस प्रकार की शासन-प्रणाली मे कार्यकुशलता भी अधिक होती है। साथ ही, इसमे एक लम्बे समय के लिए निश्चित और दृढ़ नीति अपनाई जा सकती है। तीसरे, कुछ विद्वानो के अनुसार, द्विदलीय लोकतत्रीय शासन मे जनता को इस बात की वास्तविक छूट होती है कि वे दो प्रमुख नीतियों और कार्यक्रमों मे से इच्छानुसार एक को चुन लें। इस प्रथा के अतर्गत अपने विचार बनाना सरल होता है और सरकार के सगठन मे कठिनाई नहीं होती। दोनो प्रमुख दलों म से एक शासन की बागडोर सम्हालता है और दूसरा विरोधी-पक्ष बन जाता है। एक अर्थ मे विरोधी-पक्ष भी एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व को पूरा करता है। उसका सबसे बड़ा काम यह है कि सरकार को निरकुश बनने से रोके, उसे सीमा से बाहर न जाने दे और नागरिक अधिकारो की सुरक्षा

के प्रति जागरूक रहे। साथ ही, विरोधी-पक्ष को सदैव इस बात के लिए तत्पर रहना चाहिए कि यदि आवश्यक हो तो वह शासन की बागडोर सम्भाल ले। यही नहीं, इस व्यवस्था के अंतर्गत विरोधी-दल भी रचनात्मक कार्य में सक्रिय योग देता है। विरोधी दल का कर्तव्य यह नहीं है कि सत्तारूढ़ दल की वह बुराई करता फिरे, तथापि एक उत्तरदायी विरोधी दल के लिए यह आवश्यक है कि जहाँ वह दोष देखे उनको निघड़क होकर इंगित करे। चौथे, लास्की के मतानुसार, इस व्यवस्था के अंतर्गत एक अर्थ में जनता सरकार का प्रत्यक्ष निर्वाचन करती है। साथ ही इसमें अपनी नीतियों को साकार रूप देने के लिए सरकार को प्रचार करना पड़ता है। यदि सरकार जिन कार्यों को करना चाहती है उन्हें करने में अपने को असमर्थ पाती है तो जनता के समक्ष वह अपनी परिस्थितियों का उल्लेख कर सकती है। कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रिटेन में विरोधी पक्ष और सरकारी पक्ष, दोनों का ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है यहाँ तक कि वहाँ विरोधी पक्ष को 'सरकारी' घोषित कर दिया गया है और उसके नेता को राज्य की ओर से पारिश्रमिक मिलना है।

द्विदलीय व्यवस्था के कुछ दोष भी हैं। पहले, इस व्यवस्था में विधानांग के अधिकार और उसका महत्त्व बहुत कम हो जाता है। हम कह आए हैं कि वर्तमान युग में कार्यांग की शक्ति दिन पर दिन प्रबल होती जा रही है। रैमजे म्योर ने बिना अच्छी तरह विश्लेषण किए इसे 'ब्रिटिश मंत्रिमंडल की डिक्टेटरशिप' की संज्ञा दी है। इसका आधार वह दृढ़ अनुशासन है जो दल अपने सदस्यों पर लागू करता है। दूसरे, इस व्यवस्था के अंतर्गत नागरिकों को केवल दो उम्मीदवारों में से एक को चुनने का अवसर मिलता है। यह भी सम्भव है कि मतदाता इन दोनों में किसी को पसंद न करे। ऐसी दशा में वह उस व्यक्ति के विरुद्ध मतदान करता है जिसको किसी कारणवश वह नहीं चाहता। इस प्रकार इसमें मतदान नकारात्मक हो जाता है। तीसरे, जो लोग राज्य में केवल दो दल चाहते हैं वे यह भूल जाते हैं कि दो राजनीतिक दल नागरिकों के विभिन्न दृष्टिकोणों को समाहित नहीं कर सकते। चौथे, इस व्यवस्था को अपनाने से निहित स्वार्थों और कई वर्गों को प्रतिनिधित्व से वंचित हो जाना पड़ता है। पाँचवें, संसदीय प्रणाली में मंत्रिमंडल अपने समर्थकों की उपेक्षा नहीं कर सकता। दलबंदी की धुन में अनेक बार विवेकशील व्यक्ति भी मदांध हो जाते हैं और बड़ी बड़ी भूलें कर बैठते हैं। छठे, दल का अनुशासन इतना कड़ा होता है कि यदि सदस्य दल के दृष्टिकोण से पूरी तरह सहमत न भी हो तो भी उन्हें दल के आदेशों का पालन करना होता है। इस कारण सदस्यों के व्यक्तित्व को धक्का लगता है। सातवें, इस व्यवस्था के अंतर्गत सत्तारूढ़ दल से बाहर

चाहे कितने ही प्रतिभाशाली व्यक्ति हों, शासन कार्य में उनका उपयोग नहीं किया जा सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह व्यवस्था देश के योग्य व्यक्तियों की सेवाओं का समुचित उपयोग नहीं कर पाती। आठवें, इस प्रणाली में कभी-कभी विरोधी-पक्ष बड़े उत्तरदायित्वहीन बातें करता है। उसकी आलोचना रचनात्मक न होकर केवल विनाशात्मक होती है जिसके कारण जनता का कोई हित नहीं होता।

बहुदलीय व्यवस्था के गुण दोष—बहुदलीय व्यवस्था के समर्थक प्राय. ऐसे राजनीतिज्ञ और विचारक हैं जो बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों के भी समर्थक हैं और प्राय आनुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में भी हैं। अत इसके गुणों पर विचार करते हुए वे उन्हीं युक्तियों को उपस्थित करते हैं जो बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में है। क्योंकि हम इन पर ऊपर विचार कर चुके हैं, अत यहाँ पर उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि इस व्यवस्था में शासन निरंकुश नहीं बन सकता, शासन-कार्य हमेशा आदान-प्रदान और समझौते के आधार पर चलता है और विधानांग अपेक्षाकृत लोकमत का प्रतिनिधित्व अधिक उत्तम रूप में करता है। किंतु इस व्यवस्था में वे सभी दोष हैं जो बहुसदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्रों और आनुपातिक प्रतिनिधित्व में पाए जाते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसके कारण सरकार में स्थायित्व नहीं आ पाता, दृढ़ नीति नहीं अपनाई जा सकती और राजनीति के अखाड़े में हर समय दाव-पेच चलते रहते हैं। इससे भी बड़ी बात यह है कि इस प्रकार की व्यवस्था एक ऐसे समय में चल सकती थी जब राज्य के उद्देश्य और कार्य सीमित थे। किंतु आज के युग म जब राज्य से यह आशा की जाती है कि वह सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में लोक कल्याण के हेतु कार्य करे, हमें एक ऐसी सरकार की आवश्यकता है जो दृढ़-संकल्प और गतिशील हो। किंतु बहुदलीय व्यवस्था में इस प्रकार की सरकार का बनना दुर्लभ है। इस प्रणाली का अनुमोदन करने वाले विचारक राजनीति व्यवस्था में आमूल परिवर्तनों के विरोधी होते हैं और वे राज्य के कार्यों को सीमित रखना चाहते हैं।

एकदलीय व्यवस्था—बीसवीं शताब्दी में अनेक देशों में एकदलीय व्यवस्था स्थापित हुई है। इसके प्रमुख उदाहरण सोवियत देश की बोलशेविक सरकार और तुर्की की मुस्तफा कमाल पाशा की सरकार थी। तत्पश्चात् इटली में फासिस्ट सरकार और जर्मनी म नाजी सरकार बनी। अन्य यूरोपीय और लैटिन अमेरिका के देशों में भी एकदलीय सरकारें कायम हुईं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इस प्रकार की सरकारों का प्रसार कम नहीं हुआ है। इस प्रकार की सरकारें केवल पूर्वी यूरोप, स्पेन, पुर्तगाल, लैटिन अमरिका तक ही सीमित नहीं हैं, अपितु अनेक

नवविकसित एशियाई और अफ्रीकी राज्यो मे भी इसी प्रकार की सरकारें स्थापित हुई हैं। आलोचनात्मक दृष्टि से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एकदलीय सरकारें सब एक जैसी नही हैं। इनको हम कुछ प्रमुख श्रेणियों मे विभाजित कर सकते हैं प्रथम, सोवियत सघ, पूर्व-यूरोपीय, युगोस्लाविया, अल्बानिया, चीन गणतत्र, क्यूबा आदि की समाजवादी सरकारें जिनका ध्येय अतत एक साम्यवादी समाज का निर्माण करना है। द्वितीय श्रेणी मे स्पेन, फासिस्ट, पुर्तगाल आदि की सरकारें आती हैं। तृतीय श्रेणी में हम बर्मा और मिस्र जैसी सरकारो को रख सकते हैं जो राष्ट्रीयता और समाजवाद की भावनाओ से ओत-प्रोत हैं और जिनका सूत्रपात्र सैनिको की ओर से हुआ। स्थापित होने के पश्चात् इन सरकारो को व्यापक राष्ट्रीय समर्थन प्राप्त हुआ। चौथी श्रेणी में हम कुछ लैटिन अमेरिकन देशो और पाकिस्तानी सरकार को रख सकते हैं जिनका मूल आधार सामती शक्ति और नवविकसित पूँजीवाद है। ये सरकारें प्राय किसी नेता को केंद्र बनाकर, सैनिक शक्ति के सहारे स्थापित की जाती हैं।

हम एकदलीय सरकारो को सैद्धातिक रूप से हेय नही समझना चाहिए। यदि हम बीसवी सदी के उदाहरण ही लें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अनेक एकदलीय सरकारो को जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ है और उन्होंने देश की भलाई के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। उदाहरण के लिए, तुर्की की सरकार को ही लीजिए। यद्यपि तुर्की का राष्ट्रपति मुस्तफा कमाल पाशा निश्चित ही एक अधिनायकतत्र का प्रतीक था, तथापि उसकी सरकार जनहितैषी थी और उसने राज्य को आधुनिक बनाने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया। सोवियत सघ मे, अनेक दोषों और कमियो के रहते हुए भी जो महान् उन्नति हुई है उसे आज उसके प्रबल विरोधी भी स्वीकार करते हैं। एशिया और अफ्रीका की अनेक एकदलीय सरकारो को व्यापक समर्थन प्राप्त है। इसलिए हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस प्रश्न पर भी विचार करें कि वे दशाएँ क्या हैं जिनमे इस प्रकार की सरकारो का जन्म होता है और उन्हे व्यापक समर्थन प्राप्त हो जाता है। व्यापक दृष्टि से एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशो की औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण की समस्याएँ एक जैसी हैं। इन देशो मे अशिक्षा, प्रशिक्षित शासको का अभाव, नागरिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी परम्पराओं की कमी, सम्पत्ति और आय मे महान् विषमताएँ आदि ने इतनी कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी हैं कि बिना व्यापक सार्वजनिक सगठन बनाए देश की समस्याओ का हल नही किया जा सकता। इनमे यथार्थ के प्रति आस्था है। वे एक ऐसा समाज बनाना चाहते हैं जिसमे आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय और आधुनिकीकरण हो सके। बर्नार्ड ब्राउन के अनुसार, आधुनिकीकरण और विकास के ये

कार्य परम्परागत लोकतत्रीय आधार पर भी हो सकते हैं और एकदलीय व्यवस्था के अनुसार भी। यही नही, इन दोनो आदर्शो के बीच की दशाएँ भी है[1]। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी देश मे जो व्यवस्था स्थापित की गई है उसमें विचार-विमर्श की स्वतत्रता है या नही, और वह अपने नागरिकों को विकास के समान अवसर प्रदान करती है अथवा नही। यदि उसमे नागरिकों को सार्वजनिक मामलो म सहयोग देने के अवसर प्राप्त हैं, यदि नागरिको की शिक्षा का उचित प्रबध है यदि नागरिको के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का सतत् प्रयास किया जा रहा है, और यदि नागरिको मे आत्मसम्मान और आत्मविकास की भावनाएँ जाग्रत हो रही हैं तो हम एसी व्यवस्था का आदर करना चाहिए और उसे लोकतत्र के अनुकूल मानना चाहिए[2]। जो नेता विभिन्न मतो के प्रकाशन पर रोक नही लगाते, आलोचनाओ को नही दबाते और व्यक्ति की स्वतत्रता का सम्मान करते है, वे कम स कम लोकतत्र के विकास का मार्ग तो अवरुद्ध नही करते। अतएव, बिना सोचे समझे इनकी सैद्धातिक आलोचना करके हमे इनको हतोत्साहित नही करना चाहिए।

5 हित-गुट

रूसो और अन्य आदर्शवादी विचारकों ने यह सुझाव उपस्थित किया कि नागरिकों को अपनी व्यक्तिगत इच्छाओ और आकाक्षाओ को दबा कर सामान्य हित के कार्य करन चाहिए। किंतु अब यह स्वीकार किया जाता है कि 'सामान्य हित' की धारणा अस्पष्ट है। विद्वानो का यह भी मत है कि जनसमुदाय के हित म नागरिको के व्यक्तिगत हितो का बलिदान करना आवश्यक नहीं है। वस्तुत राज्य का प्रमुख कार्य यह होना चाहिए कि वह समाज मे विभिन्न वर्गों और व्यक्तियो के हित म सतुलन और सामजस्य स्थापित करे। कुछ विद्वानो ने राजनीति की परिभाषा करते हुए उसे 'विविध हितो का सतुलन करने वाली एक कला बताया है जिसका उद्देश्य अधिकतम लोगो को अधिकतम सतोष देना है'।

राजनीतिक दलों के अतिरिक्त समाज मे अनेक सगठित समूह और समुदाय होते हैं जिनका उद्देश्य अपने सदस्यो के हित म काम करना होना है। उदाहरण के लिए, श्रमिकों, मिल मालिको, किसानो, शिक्षको आदि ने अपने अपने समुदाय बना लिए हैं। सयुक्त राज्य (अमेरिका) जैसे देशों म 'हित गुट' (Interest groups) बहुत सुगठित है और वे शासन के अग। पर विविध प्रकार से प्रभाव डालने का प्रयत्न करते है जिससे शासन उनके हितो के अनुकूल अपनी नीति निर्धारित करे

1 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 78

2 वही, पृष्ठ 85

और उसे लागू करे। अमेरिका मे इन हित-गुटो (प्रभाव-गुटो) के ऊपर यथेष्ट शोध-कार्य हुआ है। पिछले दिनो इगलैंड में भी इस प्रकार की खोजें हुई हैं। पिछले दस वर्षों मे भारत मे भी कुछ कार्य हो रहा है। यद्यपि अभी तक कोई वैज्ञानिक शोध-ग्रथ देखने मे नही आए, तथापि जनता मे यह आम धारणा है कि प्रशासन के विभिन्न स्तरो पर धनिक वर्ग और निहित-स्वार्थ काफी प्रभाव और दबाव डाल पाते हैं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि हमारे सार्वजनिक नेता और मत्री भी इन प्रभावो से अछूते नही हैं। कुछ लोगो की यह धारणा है कि भारत मे समाजवाद की दिशा मे अधिक उन्नति न होने का मुख्य कारण ही यह है कि हमारी सरकारें धनिक वर्गों के प्रभाव मे हैं। इस प्रकार के विचार और धारणाएँ कहाँ तक युक्तिसगत हैं, यह कहना बहुत कठिन है। आशा की जाती है कि इस सम्बध मे जो शोध कार्य हो रहे है वे इस विषय पर प्रकाश डाल सकेंगे।

●

21
लोकमत

लोकतन्त्र के अन्तर्गत, लोकमत एक सक्रिय और आगे बढ़ाने वाला तत्त्व बन जाता है। जनता सरकार को केवल एक ऐसी एजेन्सी मानती है जिसे शक्ति सौंप दी गई है किंतु उसे आदेश मानने के उत्तरदायित्व से बरी नहीं किया गया।

—एडवर्ड एम० सेट

लोकमत का महत्त्व सभी विचारक स्वीकार करते हैं। जोस ओर्टेगा के कथनानुसार, आज तक कोई भी व्यक्ति बिना अपने शासन को लोकमत पर आधारित किए राज्य नहीं कर पाया[1]। तथापि लोकतन्त्रीय शासन और गैर-लोकतन्त्रीय शासन में इस सम्बन्ध में एक प्रमुख भेद है। गैरलोकतन्त्रीय शासन में सरकार के लिए केवल यह आवश्यक है कि जनता उसका समर्थन करे, जब कि लोकतन्त्रीय शासन लोकमत के अनुकूल कार्य करता है।

लोकमत क्या है ?

जनता में अनेक प्रकार के विचार और भावनाएं होती हैं। ब्राइस के कथनानुसार इनमें से कुछ अधिक शक्तिशाली होती हैं क्योंकि वे दृढ़ विश्वास पर आधारित हैं और उन्हें जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त है। जब इस प्रकार की एक विचार-धारा या मनोभाव स्पष्ट रूप से बहुत प्रबल बन जाता है तो उसी को हम लोकमत की संज्ञा दे देते हैं[2]। संक्षेप में लोकमत एक ऐसा मत होता है जिसको व्यापक रूप में जनता मानती है।

ब्राइस का उपर्युक्त विचार लोकमत की स्पष्ट व्याख्या नहीं करता। एक

---

1 *The Revolt of Masses*, 1932, पृष्ठ 138

2 *The American Commonwealth*, खंड 2, पृष्ठ 259.

प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है कि जनता मे किन्हे गिना जाए ? सेट के कथनानुसार, जनसमुदाय का प्रत्येक व्यक्ति मत के निर्माण मे समान योग नही देता। उदाहरण के लिए आप नाबालिगो को इस प्रकार के व्यक्तियो की गणना से अलग कर सकते हैं। उसके मतानुसार, जनता के समस्त वयस्क लोगो को हमे इस श्रेणी मे सम्मिलित कर लेना चाहिए[1]।

कठिनाई यह है कि एक जनसमुदाय मे पूर्ण मतैक्य नही होता। जार्ज कॉर्नेवॅल ल्युइस के कथनानुसार, हमारे पास इसके अतिरिक्त और कोई चारा नही रह जाता कि हम मतो की गणना करें और जो बहुमत हो उसी को लोकमत मान लें। लॉवेल के अनुसार, इस यन्त्रवत् प्रणाली की सफलता इस बात पर निर्भर है कि लोगो का मत समुचित विचारविमर्श के उपरात निर्धारित हुआ है अथवा नहीं। यही नही, यदि जनता चुनाव के परिणामो को खुले दिल से स्वीकार नही करेगी तो लोकमत की एकता भी नष्ट हो जाएगी और लोकतन्त्र की नीव हिल जाएँगी[2]।

लोकमत का निर्माण—आम दिलचस्पी के प्रत्येक प्रश्न पर लोगो के विविध विचार होते हैं। इनमें कुछ स्पष्ट और तर्कसगत होते हैं और कुछ अस्पष्ट। विचारो के आदान-प्रदान के पश्चात् कुछ सीमा तक यह अस्पष्टता और विविधता कम हो जाती है और मिलते जुलते विचार एकरूप होकर निश्चित दृष्टिबिंदुओ के रूप मे प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार के दृष्टिबिन्दुओ और विचारो मे जिसे लोग व्यापक रूप से स्वीकार करते हैं उसे आगे चलकर 'लोकमत' का नाम दे दिया जाता है। लॅविन के अनुसार, विभिन्न विचारों के मध्य किसी एक विचार को चुन कर मान्यता देने से लोकमत बनता है[3]। उसका कहना है कि यह मत तर्कसगत होना चाहिए। किंतु किम्बल यग के अनुसार हो सकता है यह मत तर्कसगत हो अथवा केवल विश्वास पर आधारित हो और यह भी सम्भव है कि वह केवल भावनाओं पर आधारित हो[4]।

लोकमत के निर्माण मे सहायता देने वाले साधनो मे सर्वप्रथम हमे जनता को स्थान देना चाहिए। बिना जनता के कोई विचार, दृष्टिबिंदु, भावनाएँ अथवा मत नही हो सकता। किंतु इसमे कुछ व्यक्तियो का योग दूसरो की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है। ऐसे व्यक्ति जो सार्वजनिक समस्याओ पर विचार करते हैं और उन्हें प्रकट करते रहते हैं, लोकमत के निर्माता कहे जा सकते हैं।

---

1 उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 502.

2 *Public Opinion and Popular Government*, अध्याय 1 और 3.

3 *Public Opinion in War and Peace*, 1923, पृष्ठ 12-13.

4 *Social Psychology*, 1930, पृष्ठ 575.

इस प्रकार के व्यक्तियो मे विधायक, कार्यकारी, राजनीतिज्ञ, पत्रकार, बुद्धिजीवी आदि होते हैं। इनमे हम उन अनुसधानकर्त्ताओ और विद्वानो को भी सम्मिलित कर सकते हैं जो सार्वजनिक मामलों पर शोध कार्य करते हैं, जो कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर अथवा व्यक्तिगत रुचि के कारण सार्वजनिक नीतियो और घटनाओ पर ध्यान देते हैं। यद्यपि वे स्वय नए विचारो का निर्माण नही करते, तथापि उनमे इतनी योग्यता होती है कि वे प्रस्तुत विचारों के गुण-दोषो का विवेचन कर सकें और अपना मत निर्धारित करें। इन लोगो को हम लोकमत के प्रसारक कह सकते इनके अतिरिक्त, एक बहुत बडी सख्या मे वे लोग होते हैं जिनको सार्वजनिक समस्याओ मे इतनी दिलचस्पी नही होनी है कि वे उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर सकें। प्राय अपने जीवकोपार्जन के कारण वे इतने व्यस्त रहते हैं कि उनमे न इसके लिए इच्छा होती है और न क्षमता ही। इस प्रकार के व्यक्ति प्राय प्रचलित विचारो मे से किसी एक को ग्रहण कर लेते हैं। ऐसा करते समय हो सकता है कि किसी सम्माननीय व्यक्ति का विचार होने के कारण अथवा किसी अन्य कारण से उन्होने इस विचार को अपना लिया हो। य लोग यद्यपि विचारो को जन्म नही देते और उनको बनाने बिगाडने मे उनका कोई हाथ नहीं होता, तथापि वे उसे लोकमत का रूप देने मे महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं[1]। उनके द्वारा अपनाए जाने पर ही वह लोकमत बनता है। किसी विचार का प्रारम्भ गिने-चुने व्यक्तियो से होता है। आगे बढकर वही लोकमत का रूप धारण कर लेता है। सेट के कथनानुसार, जो मत प्राय लोकमत के रूप मे प्रकट होता है वह एक अत्यत सीमित अर्थ मे जनता का मत होता है। कहने का आशय यह है कि वह जनता का मत इसी अर्थ म होता है कि जनता ने उसे अपना लिया है[2]। प्रश्न यह है कि जनता ने उसे क्यों अपनाया, किसी दूसरे मत को क्यो नही अपनाया? यह प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि प्रचलित विचारों मे अनेकरूपता होती है। सेट के कथनानुसार, व्यक्ति किसी विचार को इसलिए अपनाता है कि वह उसकी भावना और हित के अनुकूल होता है[3]।

प्रचार

प्रचलित विचार स्वय नागरिकों के सम्मुख नही आते, वे उनके सम्मुख प्रस्तुत किए जाते हैं। उन्हें जनता तक पहुँचाने मे प्रचार का बडा हाथ है। समाज मे अनेक ऐसे समूह और समुदाय हैं जो किसी न किसी बात का प्रचार करते रहते हैं। कभी-कभी उनके द्वारा अपनाए गए ढग सीधे सादे होते हैं और कभी टेढे-मेढे। वाल्टर लिपमैन के अनुसार, आधुनिक युग मे सबसे महत्त्वपूर्ण क्रांति

1 आदम, भाग I, पृष्ठ 157.
2 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 507.
3 वही, पृष्ठ 508

शासितो में सहमति उत्पन्न करने की कला में हुई है। लोगो का समर्थन प्राप्त करने की कला अत्यत महत्त्वपूर्ण बन गई है और सभी लोकप्रिय सरकारें इसका उपयोग करती है[1]। प्रकाशन इस दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। आन्द्रे सीगफ्राइड के अनुसार, प्रलोभन बहुत बडे हैं और साधन बहुत दक्ष। वस्तुत लोकमत बहुत प्रभावशाली अस्त्र है। इसको सगठित करना, इसको एक विशेष दिशा देना और इसे *इस सीमा तक उत्तेजित करना कि लोग बोखला उठें—अब एक* तकनीक बन गया है जिसका अध्ययन और उपयोग किया जा सकता है[2]। तथापि हम सेट के इस मत से सहमत हैं कि लोगो को प्रभावित करने की भी एक सीमा है, और इस सीमा को पार कर लोगो को प्रभावित कर सकना दुष्कर है। यदि कोई विचार एक ऐसी सामाजिक प्रवृत्ति का विरोधी है जो लोकप्रिय है अथवा किसी प्रचलित मनोदिशा का विरोधी है तो उसका सफल होना बहुत कठिन है[3]। इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी है कि यदि मनुष्य, प्रचार द्वारा इतनी सरलता से बह जाता है, तो फिर क्या उसे कुछ सीमाओ के अदर किसी दशा म बहाया जा सकता है ?

प्रचार का महत्त्व क्षणिक हो सकता है। जैसा कि प्लेटो और अरस्तू ने कहा है 'अति' के विरुद्ध प्राय प्रतिक्रिया होती है। लिकन ने भी कहा है कि 'कुछ मनुष्यों को सदा के लिए और सब मनुष्यो को कुछ समय के लिए मूर्ख बनाया जा सकता है, किंतु सभी लोगो को सदा के लिए बेवकूफ नही बनाया जा सकता'।

समाचार पत्र आदि प्रकाशन—लोकमत के निर्माण और प्रचार मे समाचार-पत्र आदि प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इनके अतर्गत सामयिक पुस्तिकाएँ आदि आ जाती हैं। वाल्टर लिपमैन के अनुसार, समाचार पत्र लोकतत्र की बाइबिल के समान हैं। इन्ही के द्वारा नागरिको को समाचार और अन्य तथ्य ज्ञात होते हैं। इन समाचारो के प्रकाशन के ढग और सामयिक घटनाओ और नीतियो पर सम्पादकीय टिप्पणियो का पाठकों पर यथेष्ट प्रभाव पडता है। साधारण पाठक को इतना ज्ञान नही होता और न इतना समय होता है कि वह प्रत्येक समस्या अथवा घटना पर अच्छी तरह सोच विचार कर सके। अत वह अपने प्रिय समाचार पत्र के विचारों से प्रभावित हो जाता है। इस प्रकार, लोकमत को बनाने और उसके प्रचार मे समाचार-पत्र महत्वपूर्ण योग देते हैं।

वैसे भी आधुनिक लोकतत्र मे समाचार-पत्रो का बहुत प्रभाव होता है।

1 *Public Opinion*, 1922, पृष्ठ 248

2 *America Comes of Age*, 1927, पृष्ठ 245.

3 उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 511.

उनके माध्यम से सरकार जनता से सम्पर्क कायम रखती है और उन्हें समझाने का प्रयत्न करती है कि वह क्यों प्रस्तुत नीतियों को अपना रही है। यही नहीं, समाचार-पत्रों में शासन की आलोचना भी होती है और कभी-कभी नए सुझाव भी प्रस्तुत किए जाते हैं। इस प्रकार समाचार-पत्र जनता की भावनाओं, उनकी आकांक्षाओं और उनके कष्टों का प्रकाशन करते हैं। अत यह आवश्यक है कि समाचार-पत्र कुछ धनिक व्यक्तियों अथवा निहित स्वार्थों के हाथों में न पड़ जाएँ। हमारे कहने का आशय यह है कि प्रेस को स्वतत्र और निष्पक्ष होना चाहिए। यह अत्यंत आवश्यक है कि नागरिकों के सम्मुख समाचारों को ठीक से रखा जाए जिससे वे विवेकपूर्ण निर्णय कर सकें। तथापि व्यवहार में प्राय ऐसा पूरी तरह नहीं हो पाता। प्राय विज्ञापन देने वाले व्यक्ति और व्यक्ति-समूह प्रेस पर बहुत प्रभाव डालते हैं। साधारणत. समाचार पत्रों के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वे इन लोगों को अप्रसन्न कर सकें। इसके अतिरिक्त, प्रेस का एक दोष यह भी है कि वह सस्ती लोकप्रियता के लोभ में समाचारों को बढ़ा-चढ़ा कर और अतिरंजित करके देते हैं जिससे उनकी ग्राहक सख्या बढ़े। किंतु सेट इस आलोचना को ठीक नहीं समझते। उनके मतानुसार, समाचार-पत्र का स्वामी चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवार की तरह होता है। जनसमूह को आकर्षित करने के लिए कला-कौशल का उपयोग करना होता है। वस्तुत पत्रकारिता और राजनीति, दोनों में जनता की रुचि के अनुरूप काम करना होता है[1]। प्रत्येक समाचार-पत्र अपने पाठकों को वही सामग्री देता है जो उनको रुचिकर होती है और जिसके वे योग्य हैं। किंतु कठिनाई यह है कि आज की समस्याएँ इतनी पेचीदा हो गई हैं कि एक सामान्य नागरिक को उन्हें भलीभाँति समझना कठिन है। अतएव, लिपमैन और नारमैन ऐंजल ने सुझाव दिया है कि जनता को केवल परिणामों के आधार पर अपना निर्णय देना चाहिए, अर्थात् उन्हें यह तय करना चाहिए कि जिस प्रकार का शासन वे चाहते हैं वह उन्हें प्राप्त है अथवा नहीं, और यदि नहीं तो क्यों[2]?

सभाएँ—सार्वजनिक समाजों के माध्यम से नेताओं को जनता से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर संदेश देने का अवसर मिल जाता है। सरल ढग से कही हुई बात श्रोताओं के हृदय पर बहुत प्रभाव डालती है। भारत जैसे देश में, जहाँ लगभग 65 प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित हैं, इस माध्यम का और भी अधिक महत्व है। वस्तुतः हमारे देश में सभाएँ उस काम को और भी अच्छी तरह करती हैं

1 वही, पृष्ठ 517

2 Lippmann, *The Phantom Public*, न्यूयार्क, 1927, पृष्ठ 61, 199 और Norman Angell, *The Public Mind*, पृष्ठ 191-192

जो प्रेस करता है। ये इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण हैं कि हमारे यहाँ शिक्षित लोगो को भी नियमित रूप से समाचार-पत्र पढने की आदत नहीं है। सभाओ द्वारा जनता की राजनीतिक शिक्षा और जागृति मे बहुत सहायता मिलती है। लेकिन इसका पूरा उपयोग तभी सम्भव है जब नागरिको को कुछ बुनियादी अधिकार प्राप्त हो अर्थात् उन्हे भाषण, प्रकाशन और समुदाय बनाने की स्वतत्रता हो।

राजनीतिक दल—राजनीतिक दल भी लोकमत के निर्माण और उसके प्रकाशन के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इसके ऊपर हम विस्तार से विचार कर चुके हैं। दलो को इसलिए सगठित किया जाता है कि वे कुछ सामान्य विचारो, नीतियो और कार्यक्रम के अनुसार कार्य करें। उनका एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वे सभी सम्भव उपायो से जनता के साथ सम्पर्क बनाए रखें और सामाजिक विषयो पर अपने विचारो से नागरिको को परिचित कराते रहे। यही एक ऐसा ढग है जिसके द्वारा वे अपने अनुयायियो और समर्थको की सख्या बढा सकते है। बिना ऐसा किए उनके सत्तारूढ होने की कोई आशा नही की जा सकती।

शिक्षण सस्थाएँ—नागरिको के दृष्टिकोण और विचारधारा को ढालने मे इनका भी एक महत्त्वपूर्ण भाग होता है। शिक्षण सस्थाएँ नागरिको को केवल स्वतत्र रूप से सोचना ही नही सिखाती। वहाँ भी सामयिक बातो पर भाषण और विवाद होते रहते है जिनका प्रभाव लोकमत के बनने मे पडता है।

धार्मिक सस्थाएँ—इस सम्बध मे धार्मिक सस्थाओ और धार्मिक पदाधिकारियो के महत्त्व को भी नही भुलाया जा सकता। भारत जैसे धर्मप्रधान देश मे धर्म का लोकमत पर अत्यधिक प्रभाव पडना स्वाभाविक है। पर यूरोपीय देशो मे भी नारियो को मताधिकार मिलने के बाद धर्म का प्रभाव बहुत बढ गया है। स्त्रियाँ स्वभाव से ही धार्मिक प्रवृत्ति वाली होती हैं। पर दुर्भाग्यवश धर्म का लोकमत पर प्रभाव प्राय प्रतिगामी रहा है। धर्माधिकारी प्राय अपरिवर्तनवादी होते हैं और वे नई बातें समझने मे असमर्थ होते है।

प्रतिनिधिक संस्थाएँ—प्रतिनिधिक सस्थाओं मे जो सामाजिक विषयो पर विचार-विमर्श होते रहते हैं, उनका वर्णन नागरिक चाव से पढते हैं और उसका भी लोकमत पर विशेष प्रभाव पडता है।

सच्चे लोकमत के निर्माण में बाधाएँ

सच्चे लोकमत के निर्माण मे वही बाधाएँ हैं जो लोकतन्त्र के रास्ते मे हैं। तथापि इनमे से कुछ की चर्चा की जा सकती है। *इसमे प्रथम सबसे बड़ी बाधा नागरिक अधिकारो* का अभाव है बिना नागरिक अधिकारो को प्राप्त किए सच्चे लोकमत का नि-

र्माण असम्भव है क्योंकि नागरिको को इस बात की स्वतन्त्रता ही नही होगी कि वे शासन-कार्य का आलोचनात्मक अध्ययन कर सकें। इसी प्रकार, दूसरी बाधा प्रकाशन पर लगे हुए प्रतिबंध हैं। यदि नागरिको को अपने विचारो के प्रकाशन की सुविधा न होगी तो वे दोनो पक्षो की बातें नही जान सकेंगे, और न विवेकपूर्ण मत बना सकेंगे। इसके मार्ग मे तीसरी बाधा अच्छे और यथातथ (exact) समाचारो और सूचनाओ का अभाव है। यदि नागरिको को विभिन्न स्थानो पर विविध सूचनाएँ मिलती हैं तो उसकी समझ मे नही आता कि इनमे से किस पर विश्वास करें। वस्तुत विश्वस्त सूचनाओ के अभाव मे सच्चे लोकमत का निर्माण दुष्कर है। इसके लिए हमे सच्ची और निष्पक्ष सूचनाएँ देने की कुछ व्यवस्था करनी चाहिए। चौथी बाधा नागरिको की सकुचित मनोवृत्ति है जिसके कारण वे ठडे दिमाग से कोई बात सोच नही पाते। इसका एक रूप अधविश्वासो और धार्मिक कट्टरता के रूप मे प्रकट होता है और दूसरा रूप जाति को महत्त्व देने और साम्प्रदायिकता का समर्थन करने मे सामने आता है। लोकमत के समुचित विकास मे पाँचवी बाधा प्रकाशन और प्रसार के साधनो पर एकाधिकार का होना है। यदि प्रेस, रेडियो, सिनेमा, टेलीविज़न, आदि पर किसी विशेष वर्ग का अधिकार अथवा प्रभाव हो, तो दूसरे पक्ष को अपने विचारो को जनता के समक्ष रखने का अवसर ही प्राप्त न होगा। अतएव, उनके निर्णय भी एकपक्षीय और दोषपूर्ण होगे। आजकल धनिक व्यक्ति धीरे धीरे इन साधनों को अपने अधिकार मे करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन पर रोक लगाने की अत्यत आवश्यकता है। छठी, शिक्षा की कमी भी लोकमत के निर्माण और प्रसार में बहुत बाधक होती है। शिक्षा का एक बडा लाभ यह होता है कि हमें तर्कपूर्ण ढग से सोचने की आदत पड जाती है। और हम विभिन्न मामलों पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपना सकते हैं। शिक्षा के अभाव में हमे दूसरो की कही हुई बातो पर निर्भर रहना पडता है। नागरिको की उदासीनता और अकर्मण्यता भी लोकमत के मार्ग म बहुत बाधक है। जब तक नागरिक स्वय प्रत्येक समस्या और घटना पर सोच विचार करेंगे और दूसरा के मत का अवलम्बन करते रहेंगे, तो सच्चे लोकमत के निर्माण और विकास मे बाधाएँ रहगी। साथ ही उन्हे अपने विचारो के अनुरूप कार्य करने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

लोकमत का पता कैसे लगाया जाए ?

लोकमत का पता लगाने का उपाय प्रकाशनो का अध्ययन नही है, क्योकि समाचार-पत्र और सामयिक साहित्य बहुधा एकपक्षीय होते हैं। ग्राहक सख्या से भी ठीक अनुमान नही लगाया जा सकता और न सार्वजनिक सभाएँ भी हम को किसी निर्णय पर पहुँचने मे सहायता देती है। घनी बस्तियों मे उत्साही कार्य-

कर्ता प्रत्येक सभा के लिए एक अच्छी भीड इकट्ठी कर सकते हैं। ब्राइस के अनुसार, लोकमत को जानने का उपाय यह है कि निष्पक्ष और विवेकशील नागरिकों म घुलमिल कर उनके विचारो का पता लगाया जाए। तथापि बहुसख्यक मत सर्वदा लोकमत नही होता। लोकमत ज्ञान और विवेक पर आधारित होता है और हमेशा सार्वजनिक हित को ध्यान मे रखता है। पिछले दिनो मतगणना की जो पद्धति अपनाई गई है उसने लोकमत जानने के कार्य को अपेक्षाकृत सुगम बना दिया है। अब हम लोकमत को जानने के लिए सर्वेक्षण कर सकते हैं और उसके आधार पर जनता के विचारो को प्रकट कर सकते हैं। पर, इस प्रकार की मतगणना का महत्त्व इस बात पर निर्भर है कि जो नमूने लिए जाते है वे किसी वैज्ञानिक आधार पर चुने गए है अथवा नही। यही नही, प्रश्न बनाना भी एक तकनीक है। जिस तरह लोगो से साक्षात्कार किया जाता है उसे भी सर्वेक्षण के सम्बध म नही भुलाया जा सकता। यह सत्य है कि सर्वेक्षण करने वाली कई सस्थाओ के पूर्वकथन गलत प्रमाणित हो चुके हैं। साथ ही, अब यह भी स्पष्ट हो गया है कि सभी सार्वजनिक प्रश्नो पर लोगो के विभिन्न विचार होते हैं। तथापि विचारो के आदान-प्रदान से लोगो को प्रभावित किया जा सकता है और यह पता लग सकता है कि लोग किन बातो म सहमत हैं। किंतु कठिनाई यह है कि हमारे पास अभी तक कोई ऐसा यन्त्र नही बना जिससे हम लोगो के प्रभाव को माप सकें। सत्ता प्राप्त ऐजसियो को सदैव अनेक प्रभावो और लोभ का सामना करना पडता है। सुगठित समुदायो के विचारो का शासन-नीति और कार्यों पर बहुत प्रभाव पडता है। इस प्रकार विभिन्न हितो मे सामजस्य स्थापित करके सरकार अपनी नीति निर्धारित करती है। प्राय यह नीति विभिन्न व्यक्तियो और दलो के विचारो के सम्मिश्रण और समन्वय से बनती है[1]।

1 T. J. Anderson, in *Principles of Political Science*, पृष्ठ 391.

खण्ड चार

आधुनिक विचारधाराएँ

भारत मे हम कल्याणकारी राज्य तथा समाजवाद की बातें करते हैं। एक अर्थ मे, प्रत्येक देश, फिर चाहे वह पूंजीवादी हो, समाजवादी हो अथवा साम्यवादी, कल्याणकारी राज्य के आदर्श को मान्यता देता है ... अन्तत समाजवाद केवल एक जीवन-मार्ग ही नही है, बल्कि सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ को सुलझाने का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है।

—जवाहरलाल नेहरू

22
राज्य के उदारवादी सिद्धांत

इतिहास की दृष्टि से, उदारवादी परम्परा एक ऐसी बौद्धिक क्रांति थी जो प्रधानत औद्योगिक क्षेत्र में (और नई महत्ता-प्राप्त) धनिकों के हित में की गई थी।

—हैरोल्ड जे० लास्की

हम देख चुके हैं कि राज्य के स्वरूप, उद्देश्यो और कार्यों के सम्बध मे विभिन्न धारणाएँ प्रचलित हैं और उनके अनुरूप अनेक मत और सिद्धात प्रतिपादित हुए हैं। इन सिद्धातो में कुछ ऐसे हैं जिनको हम व्यापक रूप में 'उदार सिद्धात' कह सकते हैं। उदारवाद (Liberalism) की प्रमुख समस्या व्यक्ति और प्रभुसत्ता के सतोषजनक सबध निर्धारित करना है। उदारवाद व्यक्ति की स्वतत्रता का समर्थक है और वह उसे उन सामाजिक बंधनो से स्वतंत्र रखना चाहता है जो कानूनी दृष्टि से मान्य नही हैं। उदारवाद की बुनियादी मान्यताएँ हैं: व्यक्ति का महत्त्व और अन्य व्यक्तियो के साथ उसकी समानता। उदारवाद व्यक्ति की इच्छा और सकल्प पर उसके अत करण के अतिरिक्त और किसी बधन की नैतिकता को स्वीकार नही करता[1]। उदारवाद के अतर्गत हम तीन प्रमुख राजनीतिक सिद्धातो की व्याख्या करेंगे व्यक्तिवाद (Individualism), उपयोगितावाद (Utilitarianism) और आदर्शवाद (Idealism)।

1. व्यक्तिवाद (Individualism)

जैसाकि इसके नाम से स्पष्ट है यह व्यक्ति की प्रधानता को स्वीकार करता है और व्यक्ति को अधिकतम स्वतत्रता देने के पक्ष मे है। इस सिद्धान्त को 'हस्तक्षेप

1 John H Hallowell, *Main Currents in Modern Political Thought*, न्यूयार्क, 1960, पृष्ठ 89-90.

न करने की नीति' (non-interference) भी कहा गया है। आधुनिक व्यक्तिवाद का उदय अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरकाल में हुआ। यह राज्य की उस व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी जिसमे उत्पादन और व्यापार पर राज्य का अत्यधिक नियत्रण होता था। व्यक्तिवाद नए व्यापारी-वर्ग के विचारो और आकाक्षाओ का समर्थक था। इस रूप मे इसके दो पहलू थे : एक सैद्धातिक और दूसरा क्रियात्मक। क्रियात्मक रूप मे यह उन नियत्रणो और रोकथाम का विरोधी था जिन्हें राज्य ने लगा रखा था। ऐडम स्मिथ (1723–1790 ई०) इस सिद्धात के सस्थापक माने जाते हैं और उनकी पुस्तक 'द वेल्थ ऑफ नेशन्स' सन् 1776 ई० मे प्रकाशित हुई। इस सामाजिक और राजनीतिक सिद्धात के प्रमुख प्रतिपादको मे जॉन स्टुअर्ट मिल (1806–1873 ई०) और हरबर्ट स्पेंसर (1820–1903 ई०) माने जाते हैं। मिल के कथनानुसार, मानव समाज व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से वैयक्तिक स्वतत्रता मे केवल आत्मरक्षा के हेतु हस्तक्षेप कर सकता है। व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध राज्य उसी दशा मे हस्तक्षेप कर सकता है जब एक व्यक्ति के कार्यो से दूसरो को हानि पहुँचती हो। ऐसा न होने पर, व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की पूर्ण स्वतत्रता होनी चाहिए। इस प्रकार मिल व्यक्तिगत हित को प्रधानता देता है, किंतु स्पेंसर के विचार इससे भिन्न हैं। स्पेंसर ने अपने सिद्धात मे 'सामाजिक विकास' (Social evolution) की धारणा का भी समावेश किया। उसके कथनानुसार समाज के विकास मे सशक्त व्यक्ति अधिक सफल और महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। अत. व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए स्वतत्रता अपेक्षित है। उसे इच्छानुसार कार्य करने की वहाँ तक पूरी स्वतत्रता होनी चाहिए जहाँ तक वह अन्य व्यक्तियो की समान स्वतत्रता के मार्ग म बाधक नही होता। उसके कथनानुसार, सरकार मूलत. अनैतिक है। वह एक आवश्यक बुराई है, और जब तक समाज म बुराइयाँ और अपराध समाप्त नहीं होंगे, तब तक राज्य की भी आवश्यकता बनी रहेगी। अत. यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिवाद राज्य के हस्तक्षेप के विरुद्ध है और नागरिको की अधिकतम स्वतत्रता का समर्थक है। उनके अनुसार, राज्य एक साधन मात्र है और उसे व्यक्ति को यथासम्भव स्वतत्र छोड देना चाहिए। राज्य का काम बुराई की रोकथाम करना और स्वतत्रता को सरक्षण देना है, व्यक्तियो का पालन करना नही। अतएव, व्यक्तियो की निजी बातो म राज्य का हस्तक्षेप नही होना चाहिए। व्यक्तिवाद के समर्थको न इसके समर्थन मे अनेक नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक और वैज्ञानिक युक्तियाँ दी हैं जिन पर हम सक्षेप में विचार करेंगे।

नैतिक युक्तियाँ—व्यक्तिवादियो के अनुसार, व्यक्ति का पूर्ण नैतिक विकास उसी दशा मे सम्भव है जब उसके कार्यों और इच्छाओ पर अनावश्यक बाह्य रोक न हो। व्यक्ति को अपनी योग्यताओ और क्षमता को बढ़ाने के उपयुक्त

अवसर मिलने चाहिए। यदि उसके कार्यों मे हस्तक्षेप होगा तो उसकी पहल करने की क्षमता कुंठित हो जाएगी और उसके आत्मविश्वास मे कमी आ जाएगी। इससे स्पष्ट है कि बाधाओ के कारण वैयक्तिक स्वतत्रता और व्यक्ति की उत्तर-दायित्व की भावना का ह्रास हो जाता है। मिल व्यक्ति की स्वतत्रता का प्रबल समर्थक था। उसका कहना था कि व्यक्ति के कार्यों मे राज्य अथवा समाज की ओर से कोई हस्तक्षेप नही होना चाहिए। इन हस्तक्षेपो के कारण व्यक्ति पूर्ण विकास नही कर पाता। वह इस बात का कट्टर विरोधी था कि राज्य अथवा समाज यह निर्णय करे कि व्यक्ति क्या कार्य करेगा। साथ ही, वह उन लोगो का भी विरोध करता था जो समाज मे एकरूपता लाना चाहते हैं। उसका कहना था कि समाज मे विभिन्नताएँ होनी चाहिए। वस्तुत विविधताओ से जीवन मे रस आता है। इसके विपरीत, एकरूपता लाने से जीवन नीरस हो जाएगा। अत उनके मतानुसार, राज्य के कार्य न्यूनतम होने चाहिए और लोगो मे राज्य पर आश्रित रहने की आदत नही पडनी चाहिए। जो व्यक्ति हमेशा दूसरो के आश्रित रहते हैं वे अपनी योग्यताओ और गुणो का समुचित विकास नही कर पाते।

राजनीतिक युक्तियाँ—व्यक्तिवादी राजाओ की निरकुश सत्ता का विरोध करते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं लॉक ने सत्ता को सीमित करने का सुझाव दिया। वस्तुत वह सीमित और सविधानी शासन का समर्थक था। अन्य लेखको ने राज्य की आलोचना दो दृष्टियो से की है प्रथम, राज्य को यदि बहुत अधिक काम दे दिए जाएँगे तो वह उनके बोझे से दब जाएगा और सभी काम बेढगे होने लगेंगे। अतएव, यह अच्छा होगा कि राज्य के कामो को सीमित रखा जाए; नही तो नौकरशाही का बोलबाला हो जाएगा और उससे सम्बधित सभी दोष राज्य मे आ जाएँगे। अन्य आलोचक कहते हैं कि राज्य के द्वारा किए जाने वाले कामों मे कुशलता की कमी होती है। साथ ही, ये कार्य खर्चीले भी बहुत होते हैं। और यह खर्च बढता ही जाता है। लार्ड ह्यूअर्ट और रैमजे म्योर ने अपना विचार प्रकट करते हुए कहा है कि लोकतत्र की आड मे एक 'नवीन निरकुशता' (New Despotism) का जन्म हो रहा है जिसके अतर्गत व्यक्तियों की स्वतत्रता का हनन और नौकरशाही के अधिकारो मे बढोत्तरी हो रही है। उनके मता-नुसार, यदि हम तुरत इस निरकुशता को रोकने का प्रयत्न नही करेंगे तो निकट भविष्य मे हम अपनी स्वतंत्रता खो बैठेंगे। उनके अनुसार, इस दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम राज्य के कार्य-क्षेत्र में कमी करना होगा। प्राय सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र मे राज्य के हस्तक्षेप और कानूनो से कोई लाभ नही होता, अपितु सामाजिक प्रगति मे बाधा पडती है।

आर्थिक युक्तियाँ—इन युक्तियों को ऐडम स्मिथ आदि विद्वानों ने उपस्थित

किया । उनके मतानुसार, यदि आर्थिक क्षेत्र में राज्य अहस्तक्षेप की नीति अपनाए तो समाज और व्यक्तियों का बहुत भला होगा । उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित को अच्छी प्रकार समझता है और यदि उसे पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाए तो वह अपने अधिकतम हित की दृष्टि से कार्य करेगा । इन विद्वानों का कहना था कि खुले बाजार में बिना रोकटोक के आर्थिक स्पर्धा होने से सबको अपना न्यायोचित भाग प्राप्त हो जाएगा । इसके परिणामस्वरूप कुशलता बढ़ेगी, वस्तुएँ अच्छी बनेंगी और वे सस्ती होंगी । इससे सभी व्यक्तियों का लाभ होगा और वे सन्तुष्ट रहेंगे । साथ ही, अनुभव भी यही बताता है कि जहाँ सरकार आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करती है, वहाँ सारे काम बिगड़ जाते हैं । इन लोगों का मत था कि आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में कोई विरोध नहीं है । अतएव, यदि व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाए तो समाज को स्वतः ही इससे बहुत लाभ होगा । यही नहीं, इनका कहना था कि स्वभाव से ही आर्थिक कार्यों को चलाने की राज्य में क्षमता नहीं है । उसका प्रमुख उद्देश्य शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना है, न कि आर्थिक क्षेत्र में नियन्त्रण करना ।

वैज्ञानिक तर्क—स्पेंसर आदि विद्वानों ने जीव-विज्ञान आदि विज्ञानों से नई युक्तियाँ लेकर व्यक्तिवाद का समर्थन किया है । जैविक विकास के सिद्धांत की चर्चा करते हुए उसने कहा कि जीवन में निरंतर संघर्ष में जो व्यक्ति योग्य होते हैं वे आगे बढ़ जाते हैं और अयोग्य तथा निर्बल व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं । यह एक ऐसा नैसर्गिक नियम है जो सभी स्थानों पर समान रूप से लागू होता है और समाज में भी लागू होना चाहिए । यह तभी सम्भव होगा जब हम व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ दें । इस तर्क के आधार पर व्यक्तिवादियों का कहना है कि राज्यों को *निर्धन, असमर्थ आदि व्यक्तियों की सहायता नहीं करनी चाहिए* । इससे दोहरा नुकसान होता है एक तो निर्बल और अयोग्य लोगों को अधिक सुविधाएँ मिल जाती हैं और दूसरे इन अयोग्य व्यक्तियों की सहायता करने का भार योग्य व्यक्तियों को वहन करना पड़ता है । यही नहीं, समाज को ऐसे लोगों का बोझ उठाना पड़ता है जो समाज को कोई लाभ नहीं पहुँचाते । व्यक्तिवादियों के अनुसार, ऐसे असहाय व्यक्ति समाज में जोंक से रूप में बने रहते हैं । यदि इन लोगों को राज्य सहायता न दे तो वे स्वयं संघर्ष करेंगे जिससे या तो उनकी योग्यता का पूर्ण विकास होगा अथवा संघर्ष में हार कर वे नष्ट हो जाएँगे । दोनों ही दशाओं में समाज को कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि समाज की उन्नति योग्य व्यक्तियों पर निर्भर है ।

व्यक्तिवाद पर अनास्था—अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में व्यक्ति-वाद का बोलबाला रहा, किन्तु द्वितीय चरण में आकर विचारकों के मन में इस सिद्धांत के प्रति शंका होने लगी । इसका कारण यह था कि औद्योगीकरण के

कारण जो नई स्थितियाँ उत्पन्न हुई उसमे उन्होने पाया कि श्रमिक वर्ग मिल-मालिक के सामने एकदम असहाय और निरुपाय हैं। इसका आशय यह हुआ कि व्यक्तिवादियो की यह धारणा कि यदि आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तियो को स्वतन्त्रता मिल जाएगी तो वे अपने हितो का यथोचित ध्यान रख सकेंगे, भ्रमपूर्ण प्रमाणित हुआ[1]। जोड के कथनानुसार, 1880 ई० के आस पास लोगो की व्यक्तिवाद से आस्था हटने लगी और उन्नीसवी शताब्दी के अत तक उस पर विश्वास करने वाले केवल इने गिने व्यक्ति रह गए। उसके कथनानुसार, व्यक्तिवाद की तीन प्रमुख भ्रांतियाँ थी (क) प्रत्येक व्यक्ति दूरदर्शी है और वह यह भलीभाँति समझता है कि उसका हित किस बात में है, (ख) प्रत्येक व्यक्ति के अदर अपने हित साधन की समान क्षमता है, और (ग) व्यक्ति के हित और समाज की भलाई मे कोई विरोध नही है[2]। इनके अतिरिक्त लास्की ने व्यक्तिवाद की एक और कमी की ओर इशारा किया है। उसका कहना है कि खुले बाजार के मोल-भाव में धनवान हो जाना किसी व्यक्ति की योग्यता का यथार्थ परिचायक नही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उद्योगो मे लगे हुए लगभग एक तिहाई लोग भुखमरी के शिकार हैं। सच तो यह है कि बाजार के मोलभाव के कारण असमानता फैली है। इससे मिल-मालिको को लाभ हुआ है और मजदूरो को बहुत हानि हुई है, क्योकि मजदूरो में इतनी सामर्थ्य नही होती कि वे प्रतीक्षा करें कि ठीक भाव लगने पर ही वे अपनी श्रम शक्ति का विक्रय करेंगे। खुले बाजार म जो स्पर्धा होती है उसम सभी व्यक्तियों को समान रूप से न्याय नही मिलता, क्योकि व्यक्तियो की स्पर्धा शक्ति एकसमान नही है। लास्की के कथनानुसार खुले बाजार के मोलभाव का लाभ तभी उठाया जा सकता है जब सभी व्यक्तियो की स्पर्धा शक्ति समान हो[3]। कहने का अभिप्राय यह है कि आर्थिक क्षेत्र म व्यक्तिवाद के दोष और उसके भयकर परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे जिनके कारण सामाजिक विचारको की आस्था इस सिद्धात से हट गई। इसके विपरीत वे इस बात का आग्रह करने लगे कि राज्य को औद्योगिक और अन्य आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर असहाय व्यक्तियो की सहायता करनी चाहिए। इसके फलस्वरूप 'नवीन व्यक्तिवाद' (New Individualism)[4] का जन्म

1 *Introduction to Modern Political Theory*, पृष्ठ 29
2 वही, पृष्ठ 31.
3 *A Grammar of Politics*, पृष्ठ 131
4 इस शब्द का अधिक प्रचलन नहीं हुआ। देखिए C M Joad, *An Introduction to Modern Political Theory*. जोड ने इसे एक भिन्न अर्थ म प्रयुक्त किया है।

हुआ।

नवीन व्यक्तिवाद—'नवीन व्यक्तिवाद' प्राचीन व्यक्तिवादियों के समान ही राज्य ही अहस्तक्षेप की नीति का कट्टर समर्थक नहीं है। इसके अनुयायी कभी कभी सरकार द्वारा हस्तक्षेप का भी समर्थन करते हैं। सच तो यह है कि ऐडम स्मिथ और जॉन स्टुअर्ट मिल के विचारों का समर्थक शायद ही आज के जमाने मे कोई मिले। अब लोग दूसरों की बात मानने को अधिक तत्पर रहते हैं और प्रत्येक बात मे अपने मत मनवाने को हठ नही करते। ये बातें पुराने व्यक्तिवादियो की धारणाओं के प्रतिकूल है। सच तो यह है कि आज व्यक्तिवाद और अहस्तक्षेप नीति की लोग केवल चर्चा करते हैं। हरबर्ट हूवर जैसे 'नए व्यक्तिवादी' सरकार द्वारा दी गई सहायता और उसके द्वारा लगाए गए प्रतिबंधो का समर्थन करते हैं, वे केवल उद्योगो और व्यापार पर नए राजकीय नियत्रण नही चाहते[1]।

आलोचना—इस सिद्धात की कटु आलोचना की जाती है। पहले, आज यह स्वीकार नही किया जाता कि प्रत्येक व्यक्ति अपना हित भलीभाँति समझता है और उसे अपने हित-साधन की पूरी क्षमता है। *अब यह माना जाता है कि* समाज मे कई ऐसे अग होते हैं जो अपेक्षाकृत निर्बल और असहाय हैं और समाज को उनकी भलाई की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। दूसरे, अब यह स्वीकार नही किया जाता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित पर ध्यान दे तो इससे स्वत ही *समाज की उन्नति होगी।* इसके *विपरीत यह स्पष्ट दिखाई देता* है कि यदि व्यक्ति अपने स्वार्थ मे लगा रहेगा और समाज की चिंता नही करेगा तो इससे समाज मे सघर्ष बढ़ेंगे और समाज की भलाई नही होगी। तीसरे, आज यह सैद्धांतिक रूप से स्वीकार किया जाने लगा है कि राज्य का उद्देश्य विभिन्न व्यक्तियो और वर्गों के हितों में सामजस्य स्थापित करना है जिससे समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो सके। आज इस विचार को नहीं माना जाता कि राज्य स्वतत्रता मे बाधक है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि सच्ची स्वतत्रता मनमाने ढग से काम करने मे नहीं है, अपितु सामाजिक नियमों के अनुसार काम करने और अनुशासन को मानने में है। चौथे, यद्यपि राज्य मे अनेक दोष हैं और राज्य ने अनेक भूलें की हैं, तथापि इससे यह निष्कर्ष निकालना कि राज्य एक आवश्यक बुराई है, उचित नहीं लगता। आवश्यकता इस बात की है कि राज्य की मशीनरी मे आवश्यक सुधार किए जाएँ। पाँचवें, जहाँ तक बिना रोक-टोक की स्पर्धा का प्रश्न है, अमेरिका आदि पूँजीवादी देशो के उदाहरण यह स्पष्ट कर देते हैं कि इसका परिणाम एकाधिकार (monopoly) होता

1 कोकर, उपर्युक्त ग्रथ, पृष्ठ 349-51.

है जो खुले बाजार का विरोधी है। छठे, यह कहना कि आर्थिक क्षेत्र मे हस्त-क्षेप की नीति से सबका समान हित होगा, एक बेबुनियाद बात है। अनुभव हमे बताता है कि आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तियो को यदि खुली छूट दे दी जाए तो निर्धन व्यक्तियो को बहुत कष्ट उठाना पडता है और प्राय इसका परिणाम उनके लिए बेकारी और भुखमरी होता है। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् कई देशो मे जो स्थिति उत्पन्न हुई उससे इस बात की पुष्टि हो जाती है। सातवें, यह कि जीवन-सग्राम मे अयोग्य व्यक्ति पिछड कर नष्ट हो जाते हैं, तथ्यो का उप-हास करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि गरीब किसानो और कारीगरो की अपेक्षा चोर और डाकू अधिक प्रशसनीय है क्योकि वे लूट-खसोट करके अपना काम चला लेते हैं। सच तो यह है कि जीव-विज्ञान का यह सिद्धात मनुष्यो पर लागू नही किया जा सकता। मनुष्य एक नैतिक प्राणी है और उसे यथासम्भव अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का सुयोग मिलना चाहिए। हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी होनी चाहिए जिनमे उसके विकास मे कोई बाधाएँ न आएँ। आठवें, जैसाकि क्रोपाटकिन ने कहा है, जीवन मे केवल सघर्ष ही तो नही होता, सहयोग का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने पशु जीवन के अनेकानेक ऐसे उदाहरण दिए हैं जिसमे वे सहयोगपूर्ण जीवन विताते है। अपनी बात का समर्थन करते हुए वह कहता है कि युद्ध और सघर्ष के लिए भी आतरिक सह-योग आवश्यक है। यदि किसी जनसमुदाय मे अनुशासन और सहयोग नही होगा तो वह सघर्ष मे कभी विजयी नही हो सकता। नवें, राज्य मे जो बुराइयाँ आ गई हैं उनकी रोकथाम की जा सकती है और आवश्यक सुधार किए जा सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि राज्य सभी कार्य इस उद्देश्य को सम्मुख रखकर करें कि उसे जन साधारण की उन्नति करना है। दसवें, हो सकता है कि निरकुश राज्यो के युग मे व्यक्तिवाद जैसे सिद्धात की आवश्यकता रही हो, किंतु लोकतत्रीय राज्यो पर इतना अविश्वास करना तर्कसगत नही लगता। कोई भी राज्य लोकमत की सर्वथा उपेक्षा नही कर सकता। अतएव, यदि जनता जाग-रूक हो तो वह राज्य को लोकहित का साधन बना सकती है।

सत्य का अश—व्यक्तिवाद की सचाई से इकार नही किया जा सकता। निजी बातो मे हमे व्यक्ति को स्वतत्र छोड देना चाहिए। राज्य की ओर से अनावश्यक रूप से व्यक्तिगत जीवन मे हस्तक्षेप नही होना चाहिए। लेकिन जहाँ हस्तक्षेप करना 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की दृष्टि से आवश्यक हो, इसमें सकोच करने की भी कोई आवश्यकता नही है। व्यक्तिवादियो की एक बात सभी आधुनिक विचारक स्वीकार करते हैं कि नागरिकों के कुछ बुनियादी अधिकार होने चाहिए जिनको सविधान द्वारा सरक्षण प्राप्त हो और जिनका सरकार भी

अतिक्रमण न कर सके।

2. उपयोगितावाद (Utilitarianism)

उपयोगितावादियों ने वैज्ञानिक अनुभववाद (empiricism) के आधार पर नैतिक और राजनीतिक सिद्धांत बनाने का प्रयास किया है। किंतु जैसाकि श्लोसमैन कहते हैं कि यह न तो एक मौलिक सिद्धांत है और न युक्तिसंगत ही। उनके अनुसार, इसमें मध्यम वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति और समर्थन के लिए विभिन्न विचारों को एक स्थान पर एकत्रित कर दिया गया है[1]। इस सिद्धांत ने जहाँ पुरानी सामंतवादी व्यवस्था के खोखलेपन को स्पष्ट कर दिया, वहाँ यह एक नए समाज की रचना नहीं कर सका। इसके संस्थापक जैरमी बैंथम (1748-1832 ई०) थे किंतु उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि उन्हें हैल्वीटियस (Helvetuis) (1715-1771 ई०) से प्रेरणा मिली। इसका यह विचार था कि शासन का उद्देश्य 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित साधन' होना चाहिए और यह विचार भी उसी का था कि 'मनुष्यों तथा और राज्यों के कार्यों के स्रोत दुख और सुख हैं'।

उपयोगिता का सिद्धांत—बैंथम का प्रमुख ग्रंथ[2] जिसमें उसके लगभग सभी सिद्धांत प्रतिपादित हैं, 1789 ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें वह कहता है कि 'प्रकृति ने मनुष्यों को दो सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न मालिकों के शासन में रख दिया है, दुख और सुख। केवल वे ही यह बताते हैं कि हमें क्या करना चाहिए और वे ही यह निर्धारित करते हैं कि हम क्या करेंगे। बैंथम के अनुसार, इस सिद्धांत को सिद्ध करने की न कोई आवश्यकता है और न ऐसा करना सम्भव है। तथापि यह एक स्वंमान्य सत्य है। उसका मत है कि हमको जीवन के चरम लक्ष्य के बारे में अधिक विचार-विनिमय करने की क्या आवश्यकता है, जब हम यह जानते और मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति 'आनन्द' चाहता है। अतएव, वह अन्य प्रचलित सिद्धांतों जैसे प्राकृतिक नियम, प्राकृतिक अधिकार, न्याय, अंतःकरण, विवेक आदि को अस्पष्ट बताते हुए अमान्य ठहरा देता है और केवल 'उपयोगिता' के सिद्धांत को स्वीकार करता है। उपयोगिता की व्याख्या करते हुए वह कहता है कि यह एक वस्तु के उस गुण को कहते हैं जिसके कारण उससे हित, लाभ, सुख, भलाई अथवा आनंद प्राप्त होता है या शरारत, दुख, बुराई, क्लेश की रोकथाम हो जाती है।

बैंथम के अनुसार, शासन और कानून की उत्पत्ति और अस्तित्व उनकी

---

1 *Government and the Governed*, लन्दन, 1945, पृष्ठ 142.

2 *Introduction to the Principles of Morals and Legislation*

सामान्य उपयोगिता पर निर्भर है और उनका पालन भी लोग इसलिए करते हैं कि वे उपयोगी हैं। अतः वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि विधि निर्माण भी उपयोगिता के सिद्धांत के अनुकूल होना चाहिए। वह इस सिद्धांत को संविधानी विधि सम्बंधी और दण्ड सम्बंधी क्षेत्रों में समान रूप से लागू करता है। उसका उद्देश्य प्रस्तुत कानून में सुधार कर संहिता (code) बनाना था। संभवतः इसी कारण उसने उपयोगिता के सिद्धांत का वर्णन करते हुए 'अधिकतम व्यक्तियों की अधिकतम भलाई' के रूप में उसकी व्याख्या की।

सुख की गणना—यदि सुख और दुख की अनुभूति सर्वोपरि है तो यह आवश्यक हो जाता है कि हम उनके स्रोतों का पता लगाएँ। बैंथम के अनुसार, ये चार प्रकार के होते हैं (1) भौतिक, जिनसे हमारे शरीर अथवा इंद्रियों का सम्बंध है, (2) राजनीतिक, जो राजनीतिक सत्ता के माध्यम से प्राप्त होते हैं, (3) नैतिक, जो अंतरात्मा अथवा लोकमत से प्रभावित होते हैं, और (4) धार्मिक, जिनका सम्बंध हमारे भगवान में विश्वास तथा वर्तमान और भविष्य जीवन सम्बंधी हमारी मान्यताओं से है। बैंथम के अनुसार, सुखों के महत्त्व में कोई भेदभाव करने की आवश्यकता नहीं है। वैसे भी, सुखों का मूल्यांकन करना लगभग असम्भव है। इसलिए उसने कहा कि गुण की दृष्टि से सभी सुख एक-समान हैं। हाँ, मात्रा में वे कम या अधिक हो सकते हैं। जहाँ तक व्यक्ति का सम्बंध है, सुख की मात्रा चार बातों पर निर्भर है उसकी तीव्रता, उसकी अवधि, उसकी निश्चयात्मकता, और उसकी निकटता (अथवा दूरी)। किसी कार्य के महत्त्व को समझने के लिए दो अन्य बातों पर भी ध्यान देना होगा : अर्थात् उर्वरता (उसी प्रकार के अन्य सम्वेदनों की सम्भावना) और उसकी विशुद्धता (उसके साथ प्रतिकूल सम्वेदन तो नहीं होंगे ?)। यदि व्यक्ति के स्थान पर किसी व्यक्ति समूह के सुख की गणना करनी हो तो हमें विस्तार क्षेत्र पर भी ध्यान देना होगा अर्थात् हमें यह भी देखना होगा कि किसी कार्य से कितने व्यक्तियों को कितने सुख की प्राप्ति होगी (ध्यान रहे कि बैंथम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को 'एक' गिनना चाहिए)। बैंथम ने अपनी गणना में 14 प्रकार के साधारण सुख और 12 प्रकार के साधारण दुखों की गिनती की। तथापि, उसने स्वीकार किया कि उसकी सूची सम्पूर्ण नहीं है। उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त उसका कहना यह था कि गणना करते समय हमें परिस्थितियों पर भी ध्यान रखना चाहिए, जैसे कि स्वार्थ, सामाजिक पद, शिक्षा, नीतिबोध आदि। उसने 30 परिस्थितियाँ गिनाई हैं जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

बैंथम का विश्वास था कि उपर्युक्त ज्ञान के आधार पर विधि-निर्माण वैज्ञानिक हो जाएगा। आवश्यकता केवल इस बात की होगी कि कानून बनाते

समय हम सुख और दुख का ऐसा मिश्रण तैयार करें जिसमें दुखों की अपेक्षा सुख कुछ अधिक मात्रा मे हो। इस प्रकार कार्यों का औचित्य गणित का एक सरल प्रश्न बन जाएगा। उसके मतानुसार कार्यों का औचित्य देखने अथवा विधि निर्माण में हमें सम्बधित व्यक्तियो की भावना (motive), कार्यों के परिणामो के बारे में आभास और उनके उद्देश्य (intention) पर भी ध्यान देना होगा। उद्देश्य मनुष्य को काम की प्रेरणा देता है और उसका दृढ विश्वास था कि जीवन मे काम की प्रेरणा देने वाली केवल दुख और सुख की अनुभूतियाँ हैं। उसके मतानुसार, किसी कार्य का उद्देश्य अच्छा माना जायगा यदि उसकी भावना भी अच्छी हो; वह बुरा है यदि उसकी भावना बुरी हो, और भावना का भला या बुरा होना इस बात पर निर्भर है कि उसके भौतिक परिणाम क्या होते हैं। अतएव, वह 'सदाशय' अथवा उदारता के भाव को 'उद्देश्यो में प्रमुख स्थान देता है। इसके बाद 'यश की इच्छा' आती है। बैंथम के अनुसार इन दोनों को प्रोत्साहन देना चाहिए। डेविडसन के अनुसार, उद्देश्यो का यह मूल्यांकन बैंथम की विचारधारा मे एक महत्वपूर्ण स्थान रहता है, क्योकि इससे यह सिद्ध होता है कि उपयोगितावाद स्वार्थ पर आधारित व्यवस्था नही है[1]।

शासन-सम्बधी विचार—विलियम ऐबेन्स्टीन के अनुसार, बैंथम की सबसे बडी देन यह विचार है कि सुशासन प्रारम्भिक अनुसधान की दृढ नीव पर ही स्थापित हो सकता है। उसका मत था कि जब तक शासक और शासितो के हितों मे समानता नही होगी तब तक सुशासन नही हो सकता[2]। उसका मत था कि लोकतत्रीय प्रणाली मे सुशासन की सम्भावना अधिक है। बैंथम के अनुसार, सरकार मे तीन प्रमुख गुण होने चाहिए (1) प्रज्ञान, जिससे वह जनता के यथार्थ हित की बात समझ सके, (2) सद्विचार, जिससे वह सदैव इन हितों के अनुकूल आचरण करे, और (3) यथेष्ट शक्ति का होना, जिससे वह अपने ज्ञान और उद्देश्यो के अनुसार कार्य कर सके।

जो विधायक जनता को सुखी देखना चाहते हैं, उन्हें चार लक्षणों का ध्यान रखना चाहिए: जीवन-निर्वाह, पूर्ण तुष्टि, सुरक्षा और समानता। यदि किसी समय सुरक्षा और समानता के तत्त्वो मे विरोध हो, तो सुरक्षा को ही प्रधानता दी जानी चाहिए। सुरक्षा के अभाव मे व्यक्ति कुछ नहीं कर सकेगा। अतएव, समानता को उसी सीमा तक लक्ष्य बनाना चाहिए जहाँ तक वह सुरक्षा के मार्ग में बाधक न बने। विधायकों की गणना मे प्रत्येक नागरिक को बराबर मानना

1 *Political Thought in England The Utilitareans from Bentham to J. S Mill*, लदन, 1935, पृष्ठ 60

2 *Great Political Thinkers*, न्यूयार्क, 1951, पृष्ठ 483.

चाहिए अर्थात् उसे एक गिनना चाहिए। कहने का आशय यह है कि बैंथम सभी नागरिको को समानता का सुयोग देने के पक्ष मे था। आगे चलकर वह पूर्ण राजनीतिक समानता का प्रबल समर्थक हो गया।

आर्थिक क्षेत्र में बैंथम व्यक्तिवादी था, तथापि उसमे कट्टरता नही थी। आवश्यकतानुसार, उपयोगिता के आधार पर आर्थिक क्षेत्र मे सरकार के हस्तक्षेप का वह विरोधी न था। वह स्वीकार करता था कि राज्य को सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा का उत्तरदायित्व सम्हालना चाहिए। साथ ही, उसे लोगो की जीविकोपार्जन और सुरक्षा की ओर भी ध्यान देना चाहिए। एक अर्थ मे वह अपने समय की विचारधारा से कुछ आगे बढ कर सामाजिक कल्याण के लिए सरकारी कार्यों का समर्थक बन गया। उसके अनुसार, नागरिको की आर्थिक स्वतन्त्रता एक ऐसी समस्या है, जिसका समाधान काल और परिस्थितियो के अनुकूल होना चाहिए। बैंथम के इस रुख का परिणाम यह हुआ कि आगे चलकर उपयोगितावाद समाजवाद की धारा से जा मिला।

आलोचना

उपयोगितावादी सिद्धात की कडी आलोचना की गई है। सर्वप्रथम, यह कहा गया है कि सुख-दुख का यह सिद्धात गम्भीर नही है। देखने मे यह सरल और स्पष्ट लगता है, किंतु वास्तव मे यह विचारो की दृष्टि से उथला और सकीर्ण है। इसकी सरलता और सुस्पष्टता दार्शनिक गम्भीरता की परिचायक नही है। सच बात यह है कि मनुष्य मे केवल सुख-दुख की भावना ही नही है, उसमे कुछ नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ और विवेक भी होता है जिन पर बैंथम पूरा ध्यान नही देता। इसी का परिणाम है कि बैंथम नैसर्गिक आचरण को निःस्वार्थ भाव से किया गया काम नही मानता। उदाहरण के लिए, एक माँ का अपने बच्चे को दूध पिलाना अथवा महात्मा गाधी जैसे व्यक्ति का आमरण अनशन करना — ऐसी बातो की व्याख्या भी वह सुख-दुख के अनुरूप करता है। उपयोगितावादी यह भूल जाते हैं कि मनुष्य के अदर अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती है जो उसके आचरण को प्रभावित करती है और सुख दुख की अनुभूतियाँ इनमे से कुछ हैं। माटग्यु ने उसकी आलोचना करते हुए कहा है कि बैंथम के विचारो मे सद्गुणों और नैसर्गिक प्रवृत्तियो को कोई स्थान नही दिया गया[1]। दूसरे, बैंथम का यह विचार कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित को समझता है, तथ्यो के प्रतिकूल है वस्तुत बहुत कम व्यक्ति अपने दीर्घकालीन हित की बात सोचते

1 देखिए बैंथम की *A Fragment of Government*, लंदन, 1921, में उनकी प्रस्तावना.

हैं। तीसरे, बैंथम 'अच्छाई', 'लाभ', 'सुख' और 'आनंद' को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करता है। वह यह स्वीकार नहीं करता कि 'आनन्द' एक गम्भीर आत्मिक भावना है जबकि 'सुख' इंद्रियजनित है। उदाहरण के लिए एक संत का जीवन अच्छा होता है, किंतु क्या वह सुखी होता है ? यही नहीं आनंद के अतिरेक से व्यक्ति को कोई हानि नहीं होती, किंतु अत्यधिक सुख हानिकारक हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि सुख और आनंद एक ही बात नहीं है। चौथे, विभिन्न सुखों में गुणात्मक भेद होते हैं जिन्हें उसके अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल ने स्वीकार किया है। बैंथम का यह विचार था कि यदि मनुष्य सुखी है और यदि व्यक्तिगत सुख उपयोगिता के सिद्धांत का विरोधी नहीं है, तो हमें यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि यह सुख किस प्रकार का है। इसके विपरीत मिल का आग्रह था कि सुकरात जैसे महान् व्यक्ति का असंतोष किसी निकम्मे व्यक्ति के संतोष से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ऐसे असंतोष के पीछे जीवन को उत्तम बनाने का आग्रह है[1]। पाँचवें, सुख और दुख की अनुभूति का सम्बंध वस्तु-विशेष अथवा परिस्थिति से होता है और उसे पृथक् करके नहीं देखा जा सकता अतएव, उसकी गणना करना बहुत कठिन है। यही नहीं, सुख और दुख की भावनाएँ व्यक्तिगत होती हैं और उनकी संख्यात्मक गणना यदि असम्भव नहीं हो दुष्कर अवश्य होगी। छठे, बैंथम का यह विचार कि सभी व्यक्तियों को समान मान कर गणना करनी चाहिए इस बात का द्योतक है कि वह समाज को व्यक्तियों का समूह-मात्र मानता था। सम्भवतः इसी कारण वह 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित' की चर्चा करता था, सामान्य हित की नहीं। यही नहीं, राज्य में न केवल वर्तमान पीढ़ी की ओर ध्यान देना होता है, बल्कि आने वाली पीढ़ियों की भलाई को भी सोचना होता है। कई बार ऐसा होता है कि हम अपने वर्तमान सुखों का इसलिए परित्याग कर देते हैं कि आने वाली पीढ़ियाँ सुखी रहें। बैंथम इस सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता अथवा इसे भी वह सुख दुख की मापजोख में ले आता है। सातवें, बैंथम की गणना-प्रणाली से ऐसा लगता है कि जैसे व्यक्ति एक अत्यंत स्वार्थी प्राणी हो जो हर समय इसी बात की गणना किया करता हो कि उसे अधिकतम सुख किस प्रकार प्राप्त होगा। यद्यपि बैंथम यह स्वीकार करता है कि किसी संगठित जनसमुदाय में प्रथाओं, कानूनों, नियमों और संस्थाओं से हमें निर्देश मिल जाते हैं जो उपयोगिता के सिद्धांत के अनुरूप होते हैं, तथापि इस बात का निश्चय कैसे हो कि वास्तव में वे उपयोगिता के सिद्धांत के अनुकूल हैं। बैंथम स्वयं यह स्वीकार करता है कि सभी प्रथाएँ और संस्थाएँ उपयोगी नहीं होतीं। आठवें, यदि

1 Ivor Brown, *English Political Theory*, पृ० 99.

व्यक्ति केवल सुख-दुख की भावना से प्रेरित होकर काम करता है तो क्या यह मान लिया जाए कि गणना कार्य मे भी उसे सुख मिलता है ? नवें, व्यक्ति का कोई भी कार्य पूरी तरह से निजी नही होता ; प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ प्रभाव दूसरो पर भी होता है , लेकिन बैंथम इन सामाजिक प्रभावो की ओर कोई ध्यान नही देता । दसवें, जैसाकि माटेग्यु ने कहा है, उपयोगिता का सिद्धात आलोचनात्मक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है, तथापि वह सृजनात्मक नही है[1] । अतिम रूप से यह कहा जा सकता है कि बैंथम का मनोविज्ञान यथेष्ट नही है । उसने मानव प्रवृत्तियो को समझने मे भूल की है और इतिहास से कुछ शिक्षा ग्रहण नहीं की । सुधरी हुई कानून-सहिता बनाने के जोश म वह यह भूल गया कि पूर्व धारणाओ पर आधारित कानून प्राय अव्यावहारिक प्रमाणित होते हैं ।

3 आदर्शवाद

राज्य का आदर्शवादी सिद्धात बहुत पुराना है । प्राचीन यूनान के प्रमुख आदर्शवादी विचारक प्लेटो और अरस्तू के अनुसार, व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य अपरिहार्य है । राज्य के बिना व्यक्तियो को 'सद्जीवन' प्राप्त नही हो सकता । आधुनिक काल मे रूसो, इमानुऐल कान्ट (1724-1804 ई०), हेगल (1770–1831 ई०), ग्रीन (1836–1882 ई०), ब्रैडले (1896–1924 ई०), और बर्नार्ड बोसाके (1848-1923 ई०) इस सिद्धात के प्रतिपादक हुए । इनम से पिछले तीन विद्वान अग्रेज है। उन्नीसवी शताब्दी के अत मे इगलैंड म आदर्शवाद का बहुत प्रचार हुआ । इसके कारणो पर प्रकाश डालते हुए बार्कर ने कहा है कि इस समय तक व्यक्तिवाद की कमियाँ स्पष्ट हो गई थी और राज्य के कार्यों मे धीरे-धीरे वृद्धि होने लगी थी[2] । कुछ विद्वान यह मानने लगे थे कि व्यक्ति की भलाई समुदाय के माध्यम से हो सकती है । अतएव, एक ऐसे नए सिद्धात के प्रतिपादन करने की आवश्यकता थी जो इगलैंड की समकालीन परिस्थितियो के अनुकूल हो । आदर्शवादी सिद्धात ने इस आवश्यकता को पूरा किया ।

आदर्शवादी सिद्धात राज्य को एक एसी नैतिक सस्था मानता है जो व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है । वह केवल मनुष्यो के स्वभाव और उनकी परिस्थितियो के ही अनुकूल ही नही है, अपितु राज्य म रहकर ही मनुष्य का पूर्ण नैतिक विकास सम्भव है । राज्य के बाहर व्यक्तित्व का पूर्ण विकास

1 वही, पृष्ठ 43.

2 *Political Thought in England*, पृष्ठ 19-23

नहीं हो सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्य ही ऐसी संस्था है जिसमें रहकर व्यक्ति अपनी बहुमुखी उन्नति कर सकता है। कुछ आदर्शवादियों के अनुसार, राज्य और समाज में कोई भेद नहीं है। उनका मत है कि राज्य मनुष्यों की भावनाओं और आकांक्षाओं को समाहित करता है। अतएव, व्यक्ति को प्रसन्नतापूर्वक राजाज्ञा का पालन करना चाहिए। इसी में उसकी यथार्थ स्वतन्त्रता निहित है। इस प्रकार आदर्शवादी राज्य को केवल स्वाभाविक ही नहीं बताते, बल्कि व उसे व्यक्ति के आत्मिक उत्थान के लिए भी आवश्यक मानते हैं। हेगल का विचार है कि राज्य व्यक्ति के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने वाली एक संस्था है और राज्य में रहकर ही मनुष्य को 'सच्ची स्वतन्त्रता' प्राप्त हो सकती है। यद्यपि मनुष्य एक विवेकपूर्ण और नैतिक प्राणी है, तथापि उसके अंदर अनेक इच्छाएँ, कामनाएँ और आकांक्षाएँ होती हैं जिनके वशीभूत होकर वह अपने स्वार्थ की बातें सोचने लगता है और संकीर्ण मनोवृत्ति अपना लेता है। ऐसी दशा में उसका व्यक्तित्व भी पूरी तरह उभर नहीं पाता। व्यक्ति भले ही अपने को स्वतन्त्र समझे, वस्तुतः वह अपनी इच्छाओं और अभिलाषाओं का दास होता है। इस दासता से मुक्त होने का केवल एक ही उपाय है, अर्थात् राज्य के आदेशों का पालन करना। राज्य के कानून और आदेश व्यक्तियों के सामान्य हित में होते हैं और वे व्यक्तियों की सामान्य भलाई के अनुकूल होते हैं। अतः राज्य के कानून व आदेशों का पालन करने से नागरिकों की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं होता, अपितु उन्हें वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इस प्रकार, आदर्शवादी प्रायः राज्य को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं और व्यक्ति को राज्य के अधीन करने में उन्हें कोई आपत्ति अथवा हिचक नहीं है।

आदर्शवादियों के अनुसार राज्य एक साधन नहीं बल्कि साध्य है। उसकी सत्ता और अधिकार सर्वोपरि हैं। राज्य का अपना व्यक्तित्व और इच्छा होती है। राज्य की इच्छा सामूहिक भलाई को ध्यान में रखती है। अतएव राज्य के आदेशानुसार काम करने में व्यक्ति को हानि नहीं हो सकती, अपितु उसका कल्याण ही होगा। हेगल जैसे आदर्शवादी कहते हैं कि राज्य की आज्ञा के अनुसार काम करने में ही व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इस प्रकार के विचारों से राज्य को निरंकुशता को प्रोत्साहन मिलता है और व्यक्ति के अधिकारों को खतरा हो जाता है। राज्य व्यक्तियों के कल्याण का साधन न रह कर स्वयं साध्य बन जाता है। ऐसे विचारों से प्रभावित होकर कुछ लोग नागरिकों से राज्य के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने की मांग करने लगे हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि उनके विचारों के अनुसार राज्य प्रमुख हो जाता है और व्यक्ति गौण। उदाहरण के लिए, क्यों न कहा कि यदि व्यक्ति

स्वेच्छापूर्वक 'सामान्य इच्छा' का पालन नही करता तो राज्य को उसे बलपूर्वक स्वतत्र करना चाहिए अर्थात् उस 'सामान्य इच्छा' मानने के लिए बाध्य करना चाहिए।

यह सच है कि आदर्शवादी जिस राज्य की चर्चा करते हैं वह काल्पनिक है। कई आदर्शवादी इसे स्वीकार करते हैं कि वस्तु-जगत् मे इस प्रकार के आदर्श राज्य नही होते। तथापि यह देखा गया है कि व्यावहारिक राजनीति मे प्राय काल्पनिक आदर्श राज्य और यथार्थ राज्यो के भेद को भुला दिया जाता है। इस प्रकार की गडबडी करने मे हेगल प्रमुख था। एक ओर वह राज्य को इस ससार मे भगवान का रूप बताता है किंतु दूसरी ओर वह अपने समकालीन सामतवादी जर्मन राज्य के यश के गीत गाने लगता है। वह ऐसी बात कहता है जिससे इस धारणा की पुष्टि हो जाती है कि वह तत्कालीन जर्मन राज्य को ही आदर्श मानने लगा था। ग्रीन ने इस प्रकार की कठिनाइयो से बचने का प्रयत्न किया। ग्रीन एक उदार और गम्भीर आदर्शवादी थे जिसने समाज और राज्य के प्रभेद पर बल दिया है। उसके मतानुसार, यद्यपि राज्य एक सर्वोपरि और अत्यत महत्त्वपूर्ण सस्था है तथापि वह हमेशा जनसमुदाय की मान्यताओ के अनुकूल आचरण नही करता। वह स्वीकार करता है कि कभी-कभी समाज नई मान्यताओ को मान लेता है, किंतु राज्य द्वारा इनके माने जाने मे समय का व्यवधान हो जाता है। यदि राज्य का सगठन लोकतत्रीय हुआ और नागरिक राजनीतिक दृष्टि से जागरूक हुए तो सरलता और शीघ्रता से राज्य प्रचलित सामाजिक मान्यताओ को मान लेता है। किंतु यदि राज्य का स्वरूप अलोकतत्रीय हो अथवा राज्य जनता की इच्छाओ और भावनाओ का आदर न करे तो सम्भव है कि राज्य के आदेश और कानून लोकमत के अनुकूल न हो और वे लोकहित की अपेक्षा करें। इस प्रकार ग्रीन, हेगल के उग्र विचारो से सहमत नही है और वह इसके लिए उत्सुक है कि नागरिको के बुनियादी अधिकारो को सरक्षण प्राप्त हो। उसका दृढ विश्वास था कि 'राज्य का आधार शक्ति नहीं, अपितु इच्छा है'। उसके अनुसार अलोकतत्रीय राज्यो मे भी सरकार को उसी सीमा तक सफलता प्राप्त होती है जहाँ तक उसके कार्य और आदेश जनता की सम्मति के अनुकूल और लोकहित से प्रेरित होते हैं। वस्तुत, इस युग मे सभी सरकारें इसका प्रचार करती हैं कि व लोकहित म काम कर रही हैं और लोकमत के अनुसार ही अपनी नीति निर्धारित करती है। ग्रीन की उदार विचारधारा का परिचय इसी म मिल जाता है कि जहाँ हेगल अतर्राष्ट्रीय कानून को स्वीकार नही करता और राज्य पर कोई बाह्य अनुशासन या नियत्रण नही मानता, वहाँ वह इन कानूनो की सीमा को मान्यता देता है। काट की भाँति उसको विश्व बधुत्व म

भी आस्था है। उसका दृढ़ विचार है कि राज्य को केवल ऐसे युद्धों में भाग लेना चाहिए जो रक्षात्मक हों ; राज्य की नीति आक्रामक नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने पर वह व्यक्ति को ऐसे राज्य का समर्थन न करने की छूट देता है। स्पष्टतः ग्रीन युद्धविरोधी और विश्वबन्धुत्व का प्रबल समर्थक था।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में आदर्शवादियों के विचार समरूप नहीं हैं। हेगल राज्य को नियन्त्रण के लिए यथेष्ट शक्ति देने को उद्यत था। किंतु जहाँ तक ग्रीन का मत है, वह राज्य के कार्यों के प्रति एक नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। उसका विचार है कि राज्य प्रत्यक्ष रूप से सद्जीवन की प्राप्ति अथवा नैतिक उन्नति के लिए कुछ नहीं कर सकता। हाँ, परोक्ष रूप में वह व्यक्तियों की सहायता अवश्य कर सकता है। इस सहायता का रूप यह हो सकता है कि वह मनुष्यों के मार्ग से वे सभी बाधाएँ हटा दे जो उसके नैतिक विकास में रुकावटें लाती हैं। उसका कहना है कि राज्य दबाव डालकर न तो व्यक्तियों को नैतिक बना सकता है और न उनसे नैतिक काम करा सकता है। किंतु अपने विचारों के अनुरूप वह इस बात का समर्थन करता है कि राज्य निरक्षरता, अज्ञान, नशाखोरी, दरिद्रता आदि पर विजय प्राप्त करने में नागरिकों को अप्रत्यक्ष सहायता दे। इस प्रकार, ग्रीन ने राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में नए विचार प्रस्तुत किए और इस बात को सम्भव बना दिया कि राज्य 'सामूहिक कल्याण' के कार्य कर सके।

ग्रीन का मत था कि दंड का अभिप्राय व्यक्ति का नैतिक सुधार नहीं हो सकता, क्योंकि सच्चा सुधार मनुष्य की अन्तरात्मा से होता है। अतः भारी से भारी दंड देने पर भी एक अपराधी को उसकी इच्छा के विरुद्ध सुधारा नहीं जा सकता। राज्य केवल अपराधी के मन में सुधार की इच्छा फिर से जागृत कर सकता है। *उसके अनुसार दंड का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों की नैतिक इच्छा को* स्वतन्त्र बनाए रखना है। अतः अपराधी ने जिस अधिकार का उल्लंघन किया है उसके महत्त्व के अनुसार उसे दंड मिलना चाहिए। दंड का उद्देश्य अपराधी को क्लेश पहुँचाना नहीं है और न उसे पुनः अपराध करने से रोकना है। उसका उद्देश्य अपराध के प्रति लोगों के मन में ऐसा भय उत्पन्न कर देना है जिससे अपराध में उनकी प्रवृत्ति न हो।

सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी ग्रीन का दल उदारवादी है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक समझा कर वह उसका समर्थन करता है। सम्पत्ति स्वतन्त्र जीवन बिताने के अधिकार का सहज परिणाम है। अतः ग्रीन कहता है कि प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति एकत्र करने की सुविधा मिलनी चाहिए। किन्तु व्यक्तियों की सम्पत्ति पैदा करने की क्षमता समान नहीं होती, अतः व्यक्तिगत

सम्पत्ति भी असमान होगी और सामाजिक तथा व्यक्तिगत दृष्टि से इसमे कोई हानि भी नही है। तथापि राज्य को सचेत रहना चाहिए कि कही कुछ लोग सम्पत्ति का सग्रह इस प्रकार न करने लगें कि दूसरे नागरिको की इच्छाओ की पूर्ति मे गम्भीर बाधाएँ उपस्थित हो जाएँ। इन्हीं विचारो के अनुरूप, ग्रीन भू-सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को सीमित करने के पक्ष मे था। वह उत्तराधिकार और व्यापारिक स्वाधीनता का समर्थन करता था।

हेगल के विपरीत, ग्रीन लोकतत्रीय प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रबल समर्थक था और साथ ही वह व्यापक मताधिकार के पक्ष म भी था। इससे अधिक प्रशसनीय बात यह है कि उसने अपनी उदारवादी विचारधारा के अनुरूप व्यावहारिक राजनीति म काम करके दिखाया और ऑक्सफोर्ड म अपने राजनीतिक कार्यों के लिए प्रसिद्धि पाई।

मूल्याकन

हम देख चुके हैं कि आदर्शवादी विचारधारा मे कुछ विद्वान उग्र हैं। वे राज्य को अत्यधिक गौरव प्रदान करत है और उसकी निरकुशता का खुला समर्थन करते हैं, यहाँ तक कि वे व्यक्ति को साधन मात्र मानकर राज्य के लिए उसे जीवन उत्सर्ग करने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे विद्वानो के अनुसार राज्य न केवल सर्वोपरि है, अपितु सब कुछ है और राज्य के बाहर अथवा परे कुछ भी नही है। इसके विपरीत ग्रीन जैसे उदार दृष्टिकोण वाले आदर्शवादी है जिनकी व्यक्ति के अधिकारो के प्रति गहरी आस्था है और जो राज्य को एक उत्तम नैतिक सस्था मानत हुए भी यह नही भूलते कि यथार्थ राज्यो में अनेक दोष और कमियाँ हो सकती हैं। ग्रीन जैसे लेखकों के कारण ही समकालीन जगत् मे आदर्शवाद को समर्थन मिला, क्योकि उन्होंने इस पुरानी विचारधारा को लोकतन्त्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने का सफल प्रयास किया।

आदर्शवादी विचारधारा की होब्हाउस, लास्की, मैकीवर आदि विद्वानों ने कडी आलोचना की है। होब्हाउस के कथनानुसार, इससे अधिक खतरनाक अन्य कोई सिद्धात नही बना जिसने व्यक्ति के अधिकारो की इतनी उपेक्षा की हो और निरकुशता का इतना खुला समर्थन किया हो। स्पष्ट है कि होब्हाउस का यह विचार ग्रीन जैसे उदारवादियो पर लागू नही होता। इसकी आलोचना करत हुए विचारको ने कहा है कि आदर्शवाद जीवन की वास्तविकताओ से बहुत दूर है। विलियम जम्स इसे 'एक विशुद्ध बौद्धिक सिद्धात' बताते हैं। वस्तुत आदर्शवाद मनुष्य को केवल एक विवेकशील प्राणी मानता है और उसके दूसरे पहलुओ पर कोई ध्यान नही देता। पिछले दिनो मनोवैज्ञानिको के अनुसधान म यह स्पष्ट हो गया है कि 'चेतन मन' मनुष्य के जीवन पर बहुत कम प्रभाव

डालता है। ग्रेह्म वैलास के अनुसार, यह सत्य है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, तथापि हमें यह नहीं भुलाना चाहिए कि वह प्राय. बिना विवेक का सहारा लिए आचरण करता है। इसके विपरीत, आदर्शवादी विचारों को बहुत महत्त्व देते हैं। उनकी धारणा है कि मनुष्य की भौतिक और लौकिक इच्छाएँ और आकांक्षाओं का इतना अधिक महत्त्व नहीं है जितना सद्विचारों का। उनके अनुसार, मनुष्यों को भावनाओं और आवेगों के अधीन नहीं होना चाहिए बल्कि विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिए। आदर्शवादियों का कहना है कि व्यक्ति को अपने संकुचित स्वार्थ अथवा हित की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, अपितु सामान्य हित के अनुकूल आचरण करने चाहिए। यही नहीं, उनका कहना है कि यदि व्यक्ति किसी संकुचित हित की दृष्टि से कार्य करता है तो वह कहने भर को स्वतंत्र होता है वास्तव में वह हम कह सकते हैं कि अपनी वासनाओं और इच्छाओं का दास है। सच्ची स्वतंत्रता उसे तभी प्राप्त होती है जब वह अपनी भौतिक इच्छाओं, और वासनाओं से ऊपर उठकर सामान्य हित की दृष्टि से विचार करे और उसी के अनुरूप आचरण करे। स्पष्ट है कि आदर्शवादी यह भूल जाते हैं कि मनुष्य के अंदर भली-बुरी सभी प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। मनुष्य अपने व्यक्तिगत हित की बात भी सोचता है और सामाजिक हित के कार्य भी करता है। इन प्रवृत्तियों में से कुछ को 'उच्च' कहना और कुछ को 'निम्न' बताना एक ऐसा मूल्यांकन है जिससे सम्भवत· सभी विचारक सहमत न हों। यह कहना कि 'सच्ची स्वतंत्रता' केवल सामान्य हित के कार्य करने में है, स्वतंत्रता की एक ऐसी व्याख्या देना है जिसको आधार मानकर व्यक्तिगत हित और व्यक्तिगत अधिकारों पर कुठाराघात किया जा सकता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राज्य चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण हो, अतत. वह व्यक्तिगत भलाई का एक साधन मात्र है[1]। अत. हमे व्यक्तिगत भलाई को ही प्रमुख स्थान देना होगा, राज्य को नहीं। फिर, आदर्शवादी कल्पना जगत् में वह एक आदर्श-राज्य चित्रित करते हैं, और उसमें व्यक्ति का क्या स्थान हो, उसका राज्य के प्रति क्या रुख हो, आदि का वर्णन करते हैं। यद्यपि कुछ आदर्शवादी यह स्वीकार करते हैं कि यथार्थ में आदर्श राज्य देखने को नहीं मिलते, फिर भी जहाँ व्यावहारिक राजनीति का प्रश्न आता है, प्राय ये लोग राज्य और यथार्थ राज्यों के प्रभेद को भूल जाते हैं। फल यह होता है कि सैद्धांतिक रूप से हम नागरिकों को एक आदर्श राज्य के प्रति जैसा रुख अपनाने की प्रेरणा देते हैं, व्यवहार में हम यह आशा करने लगते हैं कि वैसा ही रुख वह प्रस्तुत राज्यों के सम्बंध में भी अपनाएँ। यह आदर्श और यथार्थ की गोलमाल नागरिकों को बहुत महँगी

1 कोट का उपर्युक्त ग्रंथ, पृष्ठ 18.

पड़ती है।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सम्बध में आदर्शवादियों की धारणा तर्कसगत नहीं लगती। उदाहरण के लिए रूसो का यह विचार है कि 'यदि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक सामान्य इच्छा के अनुसार आचरण नही करता तो उसे बलपूर्वक स्वतन्त्र बनाना चाहिए', व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपहास करता है। प्रसन्नता की बात है कि ग्रीन जैसे उदार आदर्शवादियो ने यह स्वीकार किया है कि राज्य दड की व्यवस्था द्वारा अथवा बाहरी दबाव डालकर किसी व्यक्ति को नैतिक नही बना सकता। साथ ही, आदर्शवादियो का ये विचार भी कि राज्य व्यक्तियो की 'यथार्थ इच्छा' की प्रतिमूर्ति होता है, अत, राज्य के कानूनो और आदेशों के पालन करने मे ही 'सच्ची स्वतन्त्रता' निहित है, तर्कसगत नही है। अनुभव से कौन व्यक्ति यह नही जानता कि अच्छे से अच्छे राज्य मे अनेक दोष और कमियाँ हो सकती हैं। साथ ही, हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि व्यावहारिक राजनीति में सरकार ही राज्य के नाम पर शासन चलाती है। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि जब हम राज्य को अत्यधिक गौरव प्रदान करते हैं तो वास्तव मे हम सरकार को अनियन्त्रित सत्ता सौंप रहे हैं। आज के युग मे ऐसे विचार मानने वाले बहुत कम मिलेंगे। लोगों का आम विश्वास है कि नागरिकों के कुछ बुनियादी अधिकार होने चाहिए जिन्हे यथासम्भव सविधानी सरक्षण प्राप्त हों। यही नही, देश मे 'विधि शासन' होना चाहिए और सरकार को मनमानी करने की छूट नही होनी चाहिए। आज बहुत कम लोग यह स्वीकार करेंगे कि सरकार को सत्ता असीमित अथवा अनियन्त्रित हो। ऐसी दशा मे राज्य के सम्बध मे ऐसी बातें कहना मानो 'वह भगवान की प्रतिमूर्ति हो' अनुचित प्रतीत होता है।

राज्य के कार्यों के सम्बध मे आदर्शवादियो की व्याख्या भी अधिक सतोषजनक नहीं है। यह ठीक है कि ग्रीन ने एक नई व्याख्या देकर राज्य के कार्यों मे बढ़ोतरी की। तथापि यह कहना कि राज्य के कार्य नकारात्मक होने चाहिए, अब स्वीकार नही किया जाता। कम से कम सम्पन्न देशों मे तो अब यह नई विचारधारा चल पड़ी है कि राज्य लोक-कल्याणकारी होने चाहिए और उसे एक ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिए, और ऐसी परिस्थितियाँ तथा वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए जिसमें सभी नागरिक बिना किसी भेदभाव के सुचारु रूप से जीवन व्यतीत कर सकें और उनकी बहुमुखी उन्नति सम्भव हो।

हम देख चुके हैं कि कुछ उग्र आदर्शवादी समाज और राज्य के भेद को ही भुला देते हैं। इसका फल यह होता है कि वे राज्य के कार्यक्षेत्र पर कोई बधन अथवा अकुश स्वीकार नही करते। इस सम्बध में हमें ग्रीन के विचार अधिक

युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं। वह न केवल इस प्रभेद को ही स्वीकार करता है, अपितु स्पष्ट रूप से यह मानता है कि राज्य दोषपूर्ण हो सकता है। यही नहीं, वह यह स्वीकार करता है कि एक लोकतन्त्रीय शासन मे भी व्यक्ति को राज्य के विरोध करने की आवश्यकता पड सकती है। उसके मतानुसार, साधारणत यह विरोध शातिपूर्ण और सविधानी ढग से होना चाहिए। किंतु जहाँ तक व्यक्ति की अतरात्मा का प्रश्न है, अकेले होने पर भी ग्रीन व्यक्ति को विरोध प्रकट करने का पूर्ण अधिकार देता है।

यही नहीं, उग्र आदर्शवादियो के कारण, अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राज्यों को अनियन्त्रित और उत्तरदायित्वहीन बनने का प्रोत्साहन मिला है। अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उग्र आदर्शवादी कोई नियत्रण स्वीकार नही करते। इनमें से कुछ तो यहाँ तक बढ जाते हैं कि वे युद्ध की प्रशसा करने लगते हैं और कहते हैं कि शक्तिशाली राज्य ही सर्वश्रेष्ठ होता है। आदर्शवादियो के मुख से शक्ति का यह समर्थन असगत प्रतीत होता है। जोड (Joad) के मतानुसार, इस विचारधारा के कारण राज्यों को वैदेशिक मामलों मे और अधिक अनैतिक और अविचारपूर्ण कार्य करने का अधिकार मिल जाएगा।

यदि यह मान भी लिया जाए कि राज्य से पृथक् रहकर व्यक्ति का पूर्ण विकास नही हो सकता, तो भी क्या यह आवश्यक है कि हम राज्य को अनियन्त्रित और सर्वशक्तिमान मान लें ? जोड के कथनानुसार, राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए है, व्यक्तियों का अस्तित्व राज्य के लिए नही।

जोड और मैकीवर जैसे विद्वान यथार्थ और वास्तविक इच्छा के विभेद को सैद्धातिक रूप से विकृत और व्यावहारिक रूप म अर्थहीन मानते हैं। होब्हाउस का विचार भी इसी प्रकार का है। मनोवैज्ञानिको का मत है कि राज्य को एक व्यक्ति मानना अथवा यह कहना कि राज्य की अपनी इच्छा होती है, विचारो मे उलझन पैदा कर देता है और इस आधार पर एक मान्य विचारधारा नही बनाई जा सकती।

सत्य का अश—इन आलोचनाओ के होते हुए भी हमे यह मानना पडेगा कि आदर्शवाद हमारे सम्मुख कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए उसका यह कहना कि व्यक्तियों का दृष्टिकोण अपने व्यक्तिगत हित अथवा छोटे समुदाय तक सीमित नहीं रहना चाहिए और उन्हें पूरे समाज की भलाई की दृष्टि से सोचना चाहिए, एक ऐसा सत्य है जिसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। उनका यह विचार भी ठीक है कि मनुष्य न तो अकेला रह सकता है और न अकेला रहकर वह अपना पूर्ण विकास कर सकता है। उनके इस विचार मे भी असहमति प्रकट नहीं की जा सकती कि हमारे जीवन

में विवेक को प्रमुख स्थान मिलना चाहिए और हमें यथासम्भव विवेकानुसार आचरण करने चाहिएं। उनका यह विचार कि व्यक्तियो की सच्ची स्वतन्त्रता ऐसे कार्य करने मे है जो मनुष्योचित हैं और जो हमारे नैतिक विकास मे सहायक होते हैं, उचित प्रतीत होता है। इसमे कोई सदेह नही कि आदर्शवाद ने बैंथम के उपयोगितावादी सिद्धात की कमियो की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। इस दृष्टि से कुछ आलोचको ने इसे उपयोगितावाद के विरुद्ध एक अभिनन्दनीय प्रतिक्रिया कहा है। तथापि बहुधा समकालीन राजनीति-शास्त्री आदर्शवाद का समर्थन नही करते।

4. नवीन व्यक्तिवाद

हम देख चुके हैं कि उन्नीसवी शताब्दी के अत तक व्यक्तिवाद से लोगों की आस्था उठ गई। बहुत से विचारक यह स्वीकार करने लगे कि अहस्तक्षेप की नीति सामाजिक हित की दृष्टि से अनुचित है। अत एक समष्टिवादी (Collectivist) विचारधारा का जन्म हुआ जो दूसरी 'अति' पर पहुँच गई, अर्थात् जिसने राज्य को एक आदर्श सस्था के रूप मे मान्यता दी और यह मत प्रकट किया कि व्यक्ति को राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए और ऐसा करने मे ही उसे 'सच्ची स्वतन्त्रता' प्राप्त हो सकती है। आदर्शवाद, जिस पर हम विचार कर चुके हैं, इसी प्रकार की धारणाओ मे आस्था रखता है। इस विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे 'नवीन व्यक्तिवाद' का जन्म हुआ। नवीन व्यक्तिवाद राज्य की निरकुशता का विरोधी है, तथापि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उतना बडा समर्थक और पोषक नही है जितना कि समूह और समुदायो के अधिकारो का। अत बार्कर ने इसे 'सामूहिक व्यक्तिवाद' का नाम दिया है। जोड के कथनानुसार, नए व्यक्तिवाद के जन्म मे तीन प्रमुख बातो ने योग दिया: प्रथम, यह स्वीकार किया जाने लगा कि आधुनिक समाज की बनावट जटिल है और उसमे केवल व्यक्ति ही नहीं होते, बल्कि अनेक समुदाय और समूह भी होते हैं जिनके अपने अधिकार होते हैं, दूसरे, राज्य को निरकुश बनाने की नई प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और राज्य को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाने लगा और तीसरे, धीरे धीरे विचारकों मे इस भावना ने जोर पकडा कि बहुमत का शासन सभी दशाओ मे न्यायपूर्ण और उचित नही होता। इस प्रकार 'नवीन व्यक्तिवाद' के अनुयायियों मे हम उन बहुलवादियों को भी सम्मिलित कर सकते हैं जो समुदायों के पक्ष का समर्थन करते हैं और यह माँग करते हैं कि राज्य को इनके अधिकारों और महत्व को खुले रूप मे स्वीकार कर लेना चाहिए। दूसरे, इसके समर्थको म उन लोगों की गिनती भी की जा सकती है

जो मानव मूलाधिकारों के समर्थक और पोषक हैं। इन लोगों की धारणा है कि मनुष्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को कुछ बुनियादी अधिकार प्राप्त होने चाहिए और इन अधिकारों को पूरा संरक्षण मिलना चाहिए। ये संरक्षण तभी मिल सकते हैं जब 'विधि शासन' को मान्यता प्राप्त हो। तीसरे, इसके अनुयायियों में उन विचारों को भी सम्मिलित किया जा सकता है जिन्होंने प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षण का प्रश्न उठाया और इस बात पर जोर दिया कि अन्य नागरिकों के समान उनके अधिकार भी उपलब्ध होने चाहिए। चौथे, इस सिद्धांत के समर्थकों में हम उन विचारकों को गिन सकते हैं जो राजनीतिक दलों के बढ़ते हुए संघर्ष और प्रभाव को भय की दृष्टि से देखते हैं और जिनको यह आशंका है कि यदि दलों की संगठित शक्ति की यथोचित रोकथाम नहीं की गई तो व्यक्ति की राजनीतिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ सकती है। पाँचवें, इसमें हम उन विचारकों को भी ले सकते हैं जो प्रचलित लोकतन्त्रीय प्रतिनिधि प्रणाली के विरुद्ध आपत्ति उठाते हैं और जिनका कहना है कि प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के द्वारा नागरिकों के विचारों का यथार्थ प्रकाशन नहीं होता। छठे, इसके अंतर्गत वे अंतर्राष्ट्रीयवादी भी आ जाते हैं जिनका विश्वास है कि अब समय आ गया है कि हम संकुचित मनोवृत्ति छोड़कर अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समस्याओं पर विचार करें और विश्व शांति और व्यवस्था के प्रश्न को प्रथम स्थान दें[1]। तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जोड द्वारा प्रचलित 'नवीन व्यक्तिवाद' अधिक लोकप्रिय नहीं हुआ। इसका प्रमुख कारण यह है कि जोड ने इसके अंतर्गत जिन विचारकों और व्यक्तियों को सम्मिलित किया है उनके विशेष दृष्टिकोण और मान्यताएँ हैं। उदाहरण के लिए समुदायों के समर्थक बहुलवादियों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इसी प्रकार, प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के विरोधी विचारकों का अपना 'गिल्ड समाजवादी' सिद्धांत है और आधुनिक विचारधाराओं में उसे प्रमुख स्थान प्राप्त है। इन्हीं कारणों से 'नवीन व्यक्तिवाद' की सत्ता को अधिक मान्यता नहीं मिली।

●

---

1 वही, पृष्ठ 33 38

23

राज्य के समाजवादी सिद्धांत

> समाजवाद एक ऐसा सिद्धांत है जो इसके अनुयायियों के हाथों में पड़कर विभिन्न रूप धारण कर लेता है। इसके समर्थकों के अपने स्वभाव और जिन दोषों तथा विषमताओं के वे विरोधी हैं, उसके अनुरूप इस सिद्धांत का रूप भी बदल जाता है संक्षेप में समाजवाद एक टोप के सदृश है जिसका रूप इसलिए बिगड़ गया है कि प्रत्येक व्यक्ति उसे धारण कर लेता है।
>
> —सी० ई० एम० जोड

1. समाजवाद का अभ्युदय

समाजवाद व्यक्तिवाद का विरोधी है। उसका विश्वास है कि उत्पादन के साधन और उपकरणों पर सामाजिक नियंत्रण होना चाहिए। औद्योगिक क्रांति के परिणामों को देख कर विचारकों ने यह अनुभव किया कि आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति से निर्धन लोगों को बहुत कष्ट और हानि उठानी पड़ती है। वस्तुतः औद्योगिक क्षेत्र में खुले बाजार में स्पर्धा का परिणाम एकाधिकार के रूप में प्रकट होता है, जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी है। जैसा कि हम देख चुके हैं व्यक्तिवादी सिद्धांत के इन कमियों को देखकर विचारक इस परिणाम पर पहुँचे कि समाज को निर्धन और निर्बल व्यक्तियों के हित में कुछ नियंत्रण लगाने पड़ेंगे। इसी भावना को लेकर समाजवाद का जन्म हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर काल तक आते-आते इसका काफी प्रचार हो गया और उसमें कई मत मतांतर बन गए जिनमें प्रमुख हैं मार्क्सवाद (अथवा साम्यवाद), सिंडीकेलिज्म, गिल्ड समाजवाद और लोकतंत्रीय समाजवाद।

समाजवाद की परिभाषा—समाजवाद की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि इसके अनुयायियों के विचार

एकसमान नही हैं। ला फिगारो ने, सन् 1892 ई० मे प्रकाशित अपने ग्रंथ में, समाजवाद की 600 परिभाषाएँ दीं। डॉन ग्रिफिथ्स ने भी सन् 1924 ई० मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'समाजवाद क्या है' मे इसकी 263 परिभाषाएँ दी हैं। वाइन्डहम अल्वरी के अनुसार, समाजवाद शब्द लैटिन के 'सोशस' (Socius) शब्द से निकला है जिसके अर्थ हैं साथी, सहायक अथवा भागीदार। अतएव, समाजवाद के अर्थ हुए भ्रातृभाव अथवा मित्रता। कहने का अभिप्राय यह है कि समाजवाद के अतर्गत प्रत्येक कार्य जनसाधारण की सेवा के लिए किया जाएगा[1]। मैक्स बियर के अनुसार, यदि लोकतत्रवाद का आशय यह है कि जनता के राजनीतिक विषयो का शासन जनता द्वारा और जनता के हित मे हो, तो समाजवाद का उद्देश्य उत्पादन के साधनो पर जनता के हित मे जनता का आधिपत्य स्थापित करना है। जी० डी० एच० काल के अनुसार समाजवाद मे सिद्धात की अपेक्षा विश्वास की भावना अधिक है। यह एक समाज को स्थापित करने की इच्छा और योजना है जिसका आधार सहयोग और भ्रातृभाव है। लास्की के अनुसार, समाजवाद का आशय उत्पादन और वितरण पर ऐसा आधिपत्य स्थापित करना है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की उन समस्त भौतिक और अभौतिक वस्तुओं तक पहुँच हो सके जिनके द्वारा वह अपने जीवन को सुखी बना सकता है। रैमजे मैकडोनल्ड के अनुसार, समाजवाद का लक्ष्य समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियो को सगठित करना और उन पर सामाजिक अधिकार स्थापित करना है। बरट्रैन्ड रसैल के अनुसार, समाजवाद का अर्थ भूमि तथा पूँजी पर सार्वजनिक अधिकार स्थापित करना है, साथ ही लोकतत्रीय शासन भी स्थापित करना है। इन परिभाषाओं को देखते हुए एडमन्ड कैली कहते हैं कि समाजवाद इतना विस्तृत विषय है कि उसे पूर्ण रूप से किसी एक परिभाषा के अतर्गत नहीं लाया जा सकता। रैमजे म्योर के अनुसार, समाजवाद गिरगिट के अनुसार रग बदलने वाला विश्वास है। यह वातावरण के अनुसार रग बदलता है। सडक के कोने और क्लब के कमरे मे यह वर्गयुद्ध का लाल वस्त्र पहन लेता है, बुद्धजीवियो के लिए इसका रूप भूरे रग मे परिवर्तित हो जाता है, भावनात्मक पुरुषो के लिए यह कोमल गुलाबी रग धारण कर लेता है तथा बनकों के समाज मे यह कुमारियों का श्वेत वस्त्र ग्रहण करता है जिनको महत्वाकाक्षा को मद मुस्कान का नया अनुभव हुआ हो[2]। डा० अमरनारायण अग्रवाल

---

1 देखिए डा० अमरनारायण अग्रवाल द्वारा लिखित **समाजवाद की रूपरेखा**, आगरा, 1947, पृष्ठ 19-21 और *Socialism Without Prejudice*, प्रयाग, 1947, पृष्ठ 9.

2 *The Socialist Case Examined*, पृष्ठ 3.

के अनुसार, 'समाजवाद वह आदोलन है जो पूंजी और भूमि मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का अत कर और व्यक्तिगत जोखिम और स्पर्धा की इतिश्री करके, उन्नति के, अवसरो मे समानता स्थापित करना चाहता है जिससे शोषण बद हो जाय और आर्थिक विषमता का लोप हो जाय'[1]। जोड के अनुसार, समाजवाद की परिभाषा देने मे कठिनाई इसलिए होती है कि समाजवाद एक सिद्धात होने के साथ ही साथ एक आदोलन भी है। दूसरे, समाजवाद के अतर्गत केवल राजनीतिक सिद्धात ही नही आते, बल्कि आर्थिक सिद्धात भी आते है। अन परिभाषा देने की अपेक्षा समाजवाद की प्रमुख धारणाओ की चर्चा करना अपेक्षाकृत सरल होगा। इसके प्रमुख मूल सिद्धात हैं पहला, समाज को व्यक्ति के बराबर महत्व देना; दूसरा उन्नति के अवसरो मे समानता देना, तीसरे, पूंजीवाद का उन्मूलन, चौथे, जमीदारों से भूमि ले लेना और उसे कृषको को देना, पाचवें, व्यक्तिगत जोखिम का अन्त कर देना, और छठे, हानिकारक स्पर्धा को जड से उखाड फेंकना[2]।

समाजवाद और पूंजीवाद

समाजवादियो मे आपस मे चाहे कितने ही मतभेद हों, किन्तु वे पूंजीवाद के कट्टर विरोधी हैं। समाजवाद का पूंजीवाद से चार प्रकार का नाता है: पहले, पूंजीवाद के विश्लेषण के रूप मे, दूसरे, पूंजीवाद के आलोचक के रूप मे; तीसरे, पूंजीवाद के स्थानापन्न के रुप मे, और चौथे, पूंजीवाद के विरुद्ध एक आदोलन के रूप मे[3]।

पूंजीवाद का विश्लेषण एवं आलोचना—हम देख चुके हैं कि औद्योगिक क्राति और पूंजीवाद के विकास से जो परिस्थितियां उत्पन्न हुई उनसे व्यक्तिवाद का खोखलापन स्पष्ट हो गया। इस प्रकार समाजवाद का अभ्युदय पूंजीवाद के विरोध मे हुआ और समाजवादी विचारक पूंजीवाद के कटु आलोचक हैं, भले ही उनके तर्क भिन्न हो। इसके प्रमुख दोष हैं, श्रमिको का शोषण, धन के वितरण की विषमता, स्पर्धा के कारण बरबादी और सामाजिक उद्देश्य का अभाव। पूंजीवाद का विश्लेषण करते हुए समाजवादी बताते हैं कि पूंजीवाद आर्थिक विषमता को जन्म देता है और उसको कायम रखता है। समाज के एक बडे भाग की इतनी आय नही होती कि उन्हे सतुलित भोजन भी मिल सके। कठिन परिश्रम के बाद भी वह जीवन-निर्वाह के लायक धन नही कमा पाता। उनको न इस बात के लिए समय होता है और न इच्छा तथा योग्यता ही कि वे अपने

1 समाजवाद की रूपरेखा, पृष्ठ 18-19.

2 वही, पृष्ठ 20.

3 वही, पृष्ठ 28-29.

राजनीतिक अधिकारो का समुचित उपयोग करें। इन लोगो से यह आशा करना कि वे सार्वजनिक मामलो पर विवेकपूर्ण निर्णय कर सकेंगे, अनुचित है। ये लोग केवल उन सार्वजनिक प्रश्नो पर विचार करते हैं जिनका उनके जीवन से सीधा सम्बन्ध होता है। अन्यथा इन्हे राजनीतिक अधिकार मिलने या न मिलने से विशेष अतर नही आता। यही नहीं, पूंजीवाद की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि यद्यपि उत्पादन की शक्ति अब इतनी अधिक बढ़ गई है कि दुनिया की समस्त जनसख्या बडे आराम से जीवन व्यतीत कर सकती है, तथापि उनमे से अधिकतर लोग बडे कष्ट से रहते हैं। अर्थात् इसमे सम्पन्नता के होते हुए भी व्यक्ति कगाल हैं। इसका कारण केवल यह है कि उत्पादन के साधनो का सामाजिक हित की दृष्टि से उपयोग नहीं होता। अत पूंजीवादी व्यवस्था का एक दुष्परिणाम जो हमारे सामने आता है वह यह है कि उत्पादन की शक्तियो के बढ़ जाने पर भी लोक भूखे, नगे, *अस्वस्थ तथा अशिक्षित हैं। कमी वस्तुओ की नही है, बल्कि* क्रय शक्ति की है। उनके पास यथेष्ट धन नही है कि वे जीवन की आवश्यक वस्तुओ तथा सुविधाओ को ले सकें। धन के वितरण मे विषमता के कारण लोगो का जीवन कष्टमय हो गया है जिसके लिए पूंजीवादी व्यवस्था उत्तरदायी है। एक समय था कि जब पूंजीवादी उत्पादन का ढग अच्छा समझा जाता था, आज स्थिति इसके विपरीत हो गई है। पूंजीवाद कही-कही उत्पादन को बढाने के पक्ष मे नही है, क्योकि इससे लाभ के कम हो जाने की आशका है। एक समय पूंजीवादी व्यवस्था का मुख्य रूप यह माना जाता था कि इसमे खुले बाजार मे सबको लेन-देन और मोलभाव की पूरी छूट होती है जिससे सब लोग कम दाम पर अच्छी चीजें ले सकें। *इस सम्बध मे भी अब स्थिति बदल गई है। खुले बाजार का स्थान* अब एकाधिकारो ने ले लिया है और मूल्यो का निर्धारण अब उत्पादन तथा माग के आधार पर न होकर बडे बडे उत्पादकों की इच्छानुसार होता है। यही नहीं केवल वे ही चीजें उत्पन्न की जाती हैं जिनके उत्पादन से अधिकतम लाभ हो। चीजें चाहे जितनी आवश्यक हों किन्तु यदि उनके उत्पादन मे अच्छा लाभ नहीं, है तो पूंजीवादी व्यवस्था में किसी को इसके उत्पादन में दिलचस्पी नही होती। इसके अतिरिक्त, पूंजीवादी व्यवस्था मे ऐसे बहुत से व्यक्ति होते हैं जो बेकार कामों मे लगे हुए हैं। उदाहरण के लिए उत्पादकों और उपभोक्ताओ के बीच मे ऐसे अनेक लोग आते हैं, उत्पादन की दृष्टि से जिनकी कोई आवश्यकता नहीं है। जैसे दलाल, एजेन्ट, थोक व्यापारी, परचून व्यापारी आदि। ये सभी लोग बीच मे लाभ लेते हैं जिसके कारण उपभोक्ताओं को महँगी वस्तुएँ खरीदनी पड़ती हैं। यही नही, समाजवादियो का कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था मे मजदूरो और कर्मचारियों की दशा बहुत सोचनीय है। वे बुरा खाना खाते हैं, सस्ते कपड़े पहनते

हैं और गंदे घरों में रहते हैं। उनके बच्चों की शिक्षा, बीमारी के इलाज, और मनोरंजन का कोई प्रबंध नहीं होता। कहने को तो वे स्वतंत्र हैं पर उनकी दशा गुलामों से बहुत अच्छी नहीं है, बल्कि एक अर्थ में तो वे गुलामों से भी गए बीते हैं, क्योंकि गुलामों को उनका मालिक भरपेट भोजन तो देता था जबकि मजदूरों को भोजन आदि देने की जिम्मेदारी भी मिल-मालिक नहीं लेता। साथ ही, जो काम उसे करना पड़ता है वह बहुत ही अरुचिकर होता है। उसे बार-बार करते रहने से उसके शरीर और मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों को देखते हुए समाजवादी कहते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में सामाजिक न्याय नहीं है और वह मानव सुख और आनन्द की कतई चिंता नहीं करता।

पूँजीवाद के विरुद्ध आंदोलन—समाजवादियों ने पूँजीवाद का उन्मूलन करके, समाजवाद को स्थापित करने पर बहुत ध्यान दिया है। रैमजे मैकडोनल्ड के अनुसार, उन्नीसवीं सदी के मध्य से समाजवाद ने एक सक्रिय आंदोलन का रूप ले लिया और इसकी प्रगति इसी रूप के कारण हो सकी[1]। मोटे रूप में इसकी दो विधियाँ हैं एक शांतिपूर्ण, सविधानी और विकासवादी विधि जो प्रचार द्वारा लोकमत को प्रभावित करने में विश्वास करती है, और दूसरी है शक्ति और क्रांति पर आश्रित जो पूँजीवादी व्यवस्था का समूल उन्मूलन करना चाहती है। आगे इस भाग में 'समाजवाद' का उपयोग हम विकासवादी समाजवाद' के लिए करेंगे।

पूँजीवाद के स्थानापन्न—समाजवाद पूँजीवाद का उन्मूलन कर एक नए समाज का निर्माण करना चाहता है। अतएव, इसके अनुयायी अपने मतानुसार एक आदर्श समाज का चित्र उपस्थित करते हैं। इस समाजवादी व्यवस्था का मुख्य लक्षण है उत्पादन के महत्त्वपूर्ण साधनों और उपकरणों का समाजीकरण। उनके मतानुसार वितरण का आधार ऐसा होना चाहिए जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करे और प्रत्यक को अपने कार्य के अनुसार भाग मिले। इसमें सामाजिक हित मे उत्पादन होगा और सभी लोग समाज-सेवा की भावना से प्रेरित होंगे। समाजवाद श्रमिकों को उनके कार्यों की दशाओं पर नियंत्रण करने का अधिकार देता है। यह व्यापक राष्ट्रीय योजनाएँ बना कर उत्पादन मे बढ़ोत्तरी करना चाहता है जिससे मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों के नियंत्रण से छुटकारा पा सकें, अपितु स्वयं उन पर विजय प्राप्त करें। समाजवाद का उद्देश्य व्यक्ति को यथार्थ रूप में स्वतंत्र बनाना है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब उसे अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपना आत्मसम्मान खोकर दूसरों की चापलूसी न करनी पड़े।

समाजवाद के आवश्यक तत्त्व—समाजवाद के निम्नलिखित आवश्यक तत्त्व

1 *The Socialist Movement*, लंदन, 1931, पृ॰ 103.

हैं। पहला, वह व्यक्तियों के जीवन में सामाजिक पहलुओं पर बल देता है। उदाहरण के लिए समाजवादी व्यवस्था में उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन होगा जिनकी समाज को आवश्यकता है। उत्पादन का आधार सामाजिक हित होगा; किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का लाभ नहीं। जोड के शब्दों में, समाजवाद व्यक्तियों को भौतिक आवश्यकताओं की चिंता से मुक्त कर देना चाहता है जिससे वे स्वतंत्रतापूर्वक रह सकें और अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकें[1]। समाजवादियों का विश्वास है कि इस प्रकार की स्वतंत्रता का उपभोग तभी हो सकती है, जब समाज का एक उचित सामाजिक संगठन बन जाय। समाजवादी व्यवस्था में ही व्यक्ति आत्मविकास कर सकता है। पूंजीवाद की समाप्ति के पश्चात् व्यक्ति यह अनुभव करेगा कि वह समाज के लिए कार्य कर रहा है। ऐसी दशा में वह प्रसन्नतापूर्वक और भी अधिक कुशलता से कार्य करेगा। दूसरे, समाजवाद पूंजीवाद को समूल नष्ट कर देना चाहता है, अर्थात् वह उत्पादन की उस व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहता है जिसका मुख्य उद्देश्य शोषण करके व्यक्तिगत लाभ उठाना है। उसका कहना है कि उत्पादन का प्रस्तुत ढंग न केवल अन्यायपूर्ण है बल्कि उसमें बरबादी भी बहुत होती है। समाजवाद उत्पादन और वितरण को सामाजिक न्याय के आधार पर संगठित करना चाहता है। तीसरे, समाजवाद असामाजिक स्पर्धा का भी अंत कर देना चाहता है। वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में एक दूसरे की होड़ में प्रचार और विज्ञापन में धन का अपव्यय होता है। इस धन से उत्पादन में कोई लाभ नहीं होता; केवल अधिक माल बेचने की होड़ में यह खर्च किया जाता है और इसका मूल्य ग्राहकों को चुकाना पड़ता है। समाजवादी यह स्वीकार नहीं करते कि धनिक व्यक्तियों और गरीबों के बीच बराबर की स्थिति है और उसमें समानता के आधार पर मोल-भाव हो सकता है। उनका विचार है कि व्यक्तिगत रूप में एक निर्धन व्यक्ति में इतनी क्षमता नहीं होती कि वह अपने श्रम का मोलभाव करने से इंकार कर दे। अतः समाजवादी इस बात पर बल देते हैं कि मजदूरों को संगठित करना चाहिए, क्योंकि संगठन में ही बल है। समाजवादियों के अनुसार अनावश्यक स्पर्धा को समाप्त कर हमें उत्पादन को सहयोग के आधार पर संगठित करना चाहिए। चौथे, समाजवाद सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक समता की माँग करता है। इसके अनुसार, पूंजीवाद का एक बड़ा दुर्गुण इसमें स्थित आर्थिक विषमता है। समाजवाद इस विषमता का अंत कर सभी व्यक्तियों की जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहता है। उसका विश्वास है कि जब तक सभी व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सके, किसी को भी ऐश आराम की वस्तुओं का उपभोग करने का अधिकार

[1] *Introduction to Modern Political Theory*, पृ॰ 57.

नही होना चाहिए। पाँचवें, *समाजवाद उत्पादन की व्यवस्था का समाजीकरण* करना चाहता है, कम से कम उत्पादन के उन साधनो का जो शोषण को प्रश्रय देते है। इन्हें व्यक्तिगत अधिकार मे रहने नही दिया जा सकता। अधिकतर उत्पादन के साधन सहकारी सस्थाओ के अधिकार मे होने चाहिए। इनमे से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण उत्पादन के साधन और उपकरण राज्य की आधीनता मे रखे जा सकते हैं। इसका आशय यह नही है कि किसी व्यक्ति को स्वय उत्पादन करने का अधिकार नही होगा। समाजवादी यह स्वीकार करते हैं कि यदि उत्पादन मे किसी श्रमिक को नही लगाया जाता अथवा यदि दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर साझेदारी मे काम करते हैं तो समाजवाद को उस पर कोई आपत्ति नही है। अर्थात् चित्रकार, कलाकार, लेखक, गायक आदि व्यक्तियो को अपने ढग से काम करने की स्वतन्त्रता होगी। छठे, समाजवादियो का कहना है कि राज्य एक अत्यत शक्तिशाली सस्था है जिसका प्रयोग बुराई और भलाई दोनो के लिए हो सकता है। उसकी अच्छाई और बुराई इस बात पर निर्भर है कि सत्ताधारी व्यक्तियो का दृष्टिकोण क्या है और वे किस उद्देश्य से शासन-कार्य कर रहे हैं। इसके अर्थ यह हुए कि यदि राजनीतिक सत्ता ऐसे व्यक्तियो के हाथ मे हो जो समाजवादी भावनाओ से प्रभावित है, तो राजनीतिक सत्ता का उपयोग सार्वजनिक हित के लिए हो सकता है और उसके माध्यम से सामाजिक हित के काम किए जा सकते हैं। यही नही, समाजवादियो की यह धारणा है कि यदि राज्य समाजवादी भावनाओं से प्रभावित हो तो उसके कार्यों पर कोई अकुश लगाने की आवश्यकता नही है। उनका विश्वास है कि समाजवादी राज्य की सत्ता का उपयोग कर सामाजिक न्याय स्थापित करने के लिए किया जा सकता है। सातवें, हम कह चुके हैं कि समाजवादी विचारक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विरोधी नही हैं। हाँ, वे ऐसी स्वतन्त्रता के अवश्य विरोधी हैं जिस *का परिणाम असमानता और अन्याय होते है। समाजवादियो के अनुसार,* सच्ची स्वतंत्रता तभी सम्भव है जब नागरिको को राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ आर्थिक क्षेत्र मे भी स्वतन्त्रता प्राप्त हो। आठवें, समाजवादी केवल आर्थिक समानता की ही बात नही करते। उनका विश्वास है कि आर्थिक क्षेत्र मे स्वशासन की सुविधाएँ भी होनी चाहिएँ। उनका कहना है कि जिस मजदूर के जीवन का एक बड़ा भाग मिल अथवा कारखाने मे बीतता है उसे यदि मिल अथवा कारखाने में प्रश्न करने, सूचना प्राप्त करने, और प्रबध मे अपनी राय देने का यदि अधिकार न हो तो उसके अन्य अधिकार निरर्थक हो जाते हैं। अतएव, वे माँग करते हैं कि स्वशासन केवल राजनीतिक स्तर पर ही नही होना चाहिए, बल्कि आर्थिक स्तर पर भी होना चाहिए। नवें, समाजवादी यह अनुभव करते हैं कि

समाज का पुनर्गठन धीरे धीरे और शातिपूर्ण ढग से किया जा सकता है। वे सविधानी उपायो के द्वारा परिवर्तन लाना चाहते हैं, क्राति से नहीं। इसके लिए हिंसा का मार्ग अपनाने की आवश्यकता नही है। आवश्यकता इस बात की है कि हम प्रचार कार्य द्वारा जनसाधारण को समझा दें कि समाजवादी व्यवस्था क्यो श्रेयकर है। एक लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली मे यदि बहुमत समाजवाद के पक्ष म हो जाएगा तो पूँजीवादी व्यवस्था का अत कर समाजवाद कायम करने मे कठिनाई नही होगी। कहने का अभिप्राय यह है कि ये लोग, लोगो का हृदय-परिवर्तन करके तथा लोकमत को अपने अनुकूल बनाकर समाजवादी समाज की रचना करने के पक्ष म हैं।

समाजवाद के जिस रूप का हम अभी वणन कर रहे थे, उसे लोकतन्त्रीय समाजवाद, विकासवादी समाजवाद अथवा फेबियनिज्म का नाम दिया जाता है। इसका विश्वास है कि प्रचार काय द्वारा लोकमत को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। धीरे धीरे वह दिन आ जाएगा जबकि जनसाधारण समाजवाद के पक्ष म हो जाएगा और सविधानी ढग स समाजवाद स्थापित किया जा सकेगा। इस प्रकार वे समाजवादी वग युद्ध मे आस्था नही रखते। उनका विश्वास है कि मजदूरो और किसानो क अतिरिक्त बुद्धजीवियों का सम थन प्राप्त किए बिना समाजवाद नहा लाया जा सकता। अत वे यह प्रयत्न करत हैं कि जैसे भी हो सके बुद्धिजीवियो और निम्न मध्य वग को अपने पक्ष म कर लिया जाए।

मूल्यांकन—यद्यपि समाजवाद के प्रति लोगो की आस्था बढ़ती जा रही है, तथापि कुछ विद्वान इसकी आलोचना करत हैं। उनका कहना है कि समाजवाद म तानाशाही कायम होने का भय रहता है। इसक अतगत उत्पादन की धीरे-धीरे सभी शक्तियाँ राज्य म केंद्रित हो जाती हैं जिसके अर्थ यह होते हैं कि नौकरशाही के हाथ म वस्तुत सत्ता आ जाती है जिसके कारण भ्रष्टाचार बढ जाता है। यह भी कहा गया है कि समाजवाद मे उत्पादन स कुशलता जाती रहती है और व्यक्तिगत लाभ के अभाव मे बहुत स अधिकारी लापरवाह हो जाते हैं। कर्त्तव्यपरायणता समाप्त हो जाती है जिसक कारण उत्पादन बढ़न के बजाय घटने लगता है। इन आलोचनाओं से समाजवाद का महत्व कम नहीं होता। वस्तुत सारे ससार म समाजवाद का जोर बढ़ता जा रहा है। इसम कमियाँ हैं। लेकिन उनको दूर किया जा सकता है। य कमियाँ ऐसी नही जिनके कारण हम समाजवादी व्यवस्था का विरोध करें।

2 साम्यवाद अथवा मार्क्सवाद

कार्ल मार्क्स (1848–1883 ई०) द्वारा प्रचारित विचारधारा को साम्यवाद

अथवा मार्क्सवाद के नाम से पुकारा जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा है जिसका प्रचार दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। दुनिया के एक बहुत बड़े भाग में साम्यवादी विचारों से प्रभावित लोगों के हाथ में सत्ता है और शेष दुनिया भी इसके प्रभाव से अछूती नहीं है। अतएव यह आवश्यक है कि इस विचारधारा को समझने का प्रयत्न किया जाए।

एक अर्थ में वैज्ञानिक समाजवाद अथवा साम्यवाद का जन्म सन् 1848 ई० में हुआ जब मार्क्स और ऐंजिल्स ने साम्यवादी घोषणा पत्र प्रकाशित किया[1]। उसके बाद इन दोनों ने और भी अनेक ग्रंथ लिखे जिनमें 'कैपीटल' (पूँजी) सब से अधिक प्रसिद्ध हुआ। साम्यवादी अब उन समाजवादियों को कहा जाता है, जो साम्यवादी घोषणा पत्र और कैपीटल को प्रमुख ग्रंथ के रूप में स्वीकार करते हैं, जो क्रांतिकारी विचारधारा को अपनाते हैं और जो समाज में आमूल परिवर्तन करना चाहते हैं। मार्क्स की मुख्य मान्यताएँ निम्नलिखित हैं

1 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ,

2. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या ,

3. वर्ग संघर्ष ;

4 अर्थ सिद्धांत ;

5. अतिरिक्तार्थ ;

6 मार्क्स की भविष्यवाणी ;

इन सिद्धातों का हम क्रमश नीचे वर्णन करेंगे।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद—मार्क्स की विचार-रीति को 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' (Dialectical Materialism) के नाम से पुकारा जाता है। इसमें हेगल के तर्क की छाप स्पष्ट है। हेगल का मार्क्स पर बहुत प्रभाव पड़ा था, लेकिन मार्क्स का विचार था कि हेगल ने अपने दर्शन के अर्थ का अनर्थ कर दिया है, और उसने उसे ठीक कर दिया है। मार्क्स ने हेगल के द्वंद्वात्मक सिद्धांतों को अपनाया, किंतु भौतिकवादी रूप में। द्वंद्वात्मक शब्द का समानार्थी अंग्रेजी शब्द 'डाइलैक्टीकल' है। यह शब्द ग्रीक भाषा से निकला है जिसका अर्थ है 'बातचीत या वादविवाद'। यूनानी विचारकों का विश्वास था कि सत्य की खोज का सर्वोत्तम ढंग विरोधी विचारों में संघर्ष है बशर्ते कि वादविवाद करने वाले सत्य की लालसा से प्रेरित हों। कहने का अर्थ यह है कि मार्क्स ने हेगल से यह विचार अपनाया कि संघर्ष के द्वारा ऐतिहासिक उन्नति हुई है। किंतु हेगल का विश्वास था कि वस्तुएँ विचार का प्रतिबिम्ब मात्र हैं, इसलिए विचारों का संसार ही सच्चा संसार है। इसके विपरीत मार्क्स का कहना है कि प्रति-

1 *Manifesto of the Communist Party*, मास्को, 1948.

दिन के अनुभव का संसार वास्तविक है जो वस्तुएँ हम देखते हैं अर्थात् वस्तु-जगत् प्रमुख है मन अथवा विचार बाद में आता है। वस्तुतः विचार मस्तिष्क में उपजते हैं और मस्तिष्क स्वतः वस्तु की सर्वोत्कृष्ट दशा है। मार्क्स के शब्दों में वस्तुएँ मन की उपज नहीं हैं, विचारों को उन वस्तुओं से पृथक् करके देखना जो विचारों को जन्म देता है असम्भव है। संसार में जो घटनाएँ अथवा गति-विधियाँ होती हैं वे वस्तुजगत् में होती हैं। वस्तुएँ गतिशील होती हैं। उनकी गति किसी बाह्य शक्ति पर आधारित नहीं है। इसके नियमों को जाना जा सकता है। मार्क्स के अनुसार, यह गति द्वंद्वात्मक है। यह गति या विकास आवश्यक रूप से एक सीधी रेखा में (अर्थात् सीधा) नहीं होता, अपितु वाता-वरण में उपस्थित प्रभावों के अनुरूप होता है। वस्तुतः संसार में किसी वस्तु का अकेला करके अध्ययन नहीं किया जा सकता, क्योंकि संसार की सभी वस्तुएँ विशेष स्थिति में होती हैं और उस स्थिति में होने वाली अन्य वस्तुओं का उस पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए किसी वस्तु के अध्ययन के लिए हम उन सब परिस्थितियों के मध्य उसका अध्ययन करना चाहिए जिसमें वह स्थित है। साथ ही, क्योंकि वस्तुएँ गतिशील होती है अर्थात् उनका रूप बदलता रहता है, अतः किसी वस्तु के सांगोपांग अध्ययन के लिए हमको केवल परिस्थितियों का ही अध्ययन नहीं करना होगा अपितु उसके बदलते हुए रूपों को भी देखना होगा। यह गति या विकास कभी धीरे, कभी तीव्र गति, कभी केवल मात्रात्मक (quantitative) और कभी प्रकारात्मक (qualitative) होता है। यह विकास या परिवर्तन अकारण नहीं होते, ये उन वस्तुओं की क्रिया और प्रक्रियाओं के परि-णाम हैं जिनके बीच वह स्थित है। मार्क्स के अनुसार, हमें परिस्थितियों, वस्तुओं और उनकी क्रियाओं और प्रक्रियाओं का समुचित अध्ययन करना चाहिए। तभी हमें किसी वस्तु से सम्बन्धित गतिविधि अथवा विकास की जानकारी हो सकेगी।

मार्क्स का विचार है कि वस्तुओं और प्राकृतिक घटनाओं में आंतरिक विरोध होते हैं जिनके कारण स्वाभाविक रूप से गति होती रहती है। इसके अर्थ यह हुए कि किसी वस्तु के विकास की रूपरेखा सामंजस्यपूर्ण नहीं होती, अपितु आंत-रिक विरोधों को पार करते हुई होती है। लेनिन की भाषा में 'परिवर्तन विरोधी वस्तुओं के संघर्ष के कारण होते हैं'। एक अन्य स्थान पर लेनिन कहता है कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का अर्थ ही यह है कि वस्तुओं के मूल में जो अंतर्विरोध हैं उनका अध्ययन किया जाए। एंगिल्स के अनुसार, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद हमें यह शिक्षा देता है कि संसार में कोई वस्तु अंतिम, पूर्ण अथवा अपरिवर्तनशील नहीं है। उदाहरण के लिए, जल को गर्म करने से वह वाष्प की अवस्था धारण कर

लेता है, ठंडा करने से बर्फ बन जाता है और विशेष प्रक्रिया से अपने मूल तत्त्वों आक्सीजन और हाइड्रोजन में विभक्त हो जाता है। सभी वस्तुएँ क्षण-भंगुर होती हैं। प्रकृति बदलती है; समाज बदलता है; आदतें और प्रथाएँ बदलती हैं; विचार और भावनाएँ बदलते हैं, यहां तक कि सत्य की धारणाएँ भी बदलती रहती हैं। न बदलने वाली बात केवल एक है अर्थात् परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया। और प्रकृति का अध्ययन करने के बाद मार्क्स, ऐंगिल्स इस परिणाम पर पहुँचे कि गति अथवा विकास की यह प्रक्रिया द्वंद्वात्मक है।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या—अध्ययन की इस विधि को मानव समाज के इतिहास पर भी लागू किया जा सकता है। यदि संसार की सभी वस्तुएँ एक दूसरे से सम्बंधित और एक दूसरे पर आश्रित है तो इसका अर्थ यह हुआ कि किसी सामाजिक व्यवस्था अथवा आंदोलन को समझने के लिए हमें किसी पूर्व-धारणा को लेकर नहीं चलना चाहिए, बल्कि उन दशाओं के आधार पर अध्ययन करना चाहिए जिनके बीच उसका उद्भव हुआ है। उदाहरण के लिए, आज हमको दास प्रथा अन्यायपूर्ण लगती है। लेकिन मार्क्स के अनुसार, उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व काल में उत्तरी अमेरिका में प्रचलित दास प्रथा ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील थी। उसके मतानुसार यदि दास प्रथा लुप्त हो जाती तो अमेरिका का विकास भी रुक जाता, जिसका परिणाम आधुनिक उद्योगों के विकास पर भी पड़ता। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी प्रथा, दशा अथवा आंदोलन का मूल्यांकन करने के लिए हमें उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए जिनके मध्य उसका जन्म और विकास हुआ। इसी विचार को मार्क्सवादी 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' (Historical Materialism) कहते हैं।

यह दृष्टिकोण उस आदर्शवादी दृष्टिकोण का विरोधी है जिसका हेगल समर्थन करता था। मार्क्स के अनुसार किसी कार्यकलाप का अध्ययन करने के लिए हमें वस्तु-स्थिति का अध्ययन करना चाहिए, हेगल की तरह विचार-जगत् में उसकी व्याख्या ढूंढने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उसका मत था कि कोई ऐसा कार्यकलाप नहीं है जिसके समझने के लिए प्रयत्न करने पर हमें यथेष्ट तथ्य न मिल जाएँ। इस प्रकार प्राप्त किया हुआ ज्ञान वस्तुनिष्ठ (objective) होता है। यह ज्ञान हमको भौतिक वस्तुजगत् के अध्ययन से मिलता है। इसका आशय यह नहीं है कि मार्क्सवाद विचारों का महत्त्व स्वीकार नहीं करता। वह यह मानता है कि विचार भी विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न होते हैं, और जब वे किसी जनसमूह को प्रभावित अथवा प्रेरित करते हैं तो वे स्वतः भौतिक शक्ति (material force) बन जाते हैं और उनका अध्ययन अन्य भौतिक तत्त्वों के साथ होना चाहिए। लेकिन ऐसा तभी होता है जबकि तात्कालिक परिस्थितियां उन विचारों के प्रसार के अनुकूल हों। प्रतिकूल परिस्थितियों के होने पर वही

विचार शक्तिहीन बनकर रह जाते हैं।

भौतिक तत्वों मे वह भौगोलिक वातावरण, जनसंख्या, आर्थिक परिस्थितियाँ, उत्पादन व्यवस्था पर आधारित सामाजिक सम्बंध आदि को सम्मिलित करता है। मार्क्स का विचार था कि उत्पादन का ढंग पूरे समाज के रूप को प्रभावित करता है और जब उत्पादन का ढंग बदलने लगता है तो धीरे-धीरे सारे समाज की रूपरेखा ही बदल जाती है। परिवर्तन प्राय उत्पादन के साधनों और उपकरणों से शुरू होते हैं जिसका परिणाम उत्पादन पर आधारित सम्बंधों से होता है। इन सम्बंधों से हमें इस बात का ज्ञान होता है कि उत्पादन के साधनों और उपकरणों पर किसका स्वामित्व है, और जिस वर्ग का स्वामित्व होता है उसी का वस्तुत समाज में आधिपत्य होता है। इस प्रकार मार्क्स ने भौतिकवादी तत्वों में आर्थिक तत्वों को प्राथमिकता दी। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि वह आर्थिक तत्वों के अतिरिक्त अन्य भौतिकवादी तत्वों को भुला देता है। जैसाकि हम कह आए हैं वह भी मानता है जब किसी जनसमुदाय को कोई सिद्धांत, मत या विचार प्रेरित करने लगता है तो इस प्रकार, की धारणा अथवा विचार को भी एक भौतिकवादी तत्व मानकर इसका अध्ययन करना चाहिए।

इस भौतिकवादी दृष्टिकोण से जब मार्क्स मानव इतिहास का अध्ययन करता है तो वह इस परिणाम पर पहुँचता है कि वस्तुत. मानव इतिहास ने विकास की कुछ अवस्थाएँ को पार किया है। सर्वप्रथम अवस्था को वह आदिकालीन साम्यवाद (Primitive Communism) की सज्ञा देता है। मानव समाज की इस अवस्था मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव था, लोग मिलकर काम करते थे और जो पैदा करते थे उसका मिलकर उपभोग कर लेते थे। उत्पादन के साधन और ढग इतने पिछड़े हुए थे कि वे केवल अपनी तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाते थे और बचत की कोई गुजाइश न थी। स्पष्टतः ऐसे समाज मे न वर्ग हो सकते हैं और न शोषण। मार्क्स के अनुसार आदिकालीन साम्यवाद के पश्चात् वह अवस्था आई जब व्यक्तिगत सम्पत्ति का उद्भव हो गया। यही नहीं, दास प्रथा भी प्रचलित हो गई और इस प्रकार समाज शोषक और शोषित वर्गों मे बँट गया। विकास की अगली सीढ़ी सामन्तवादी अवस्था की थी जिसमे व्यक्ति गुलाम नहीं रहता, बल्कि वह अर्ध दास बन जाता है अर्थात्, अब उसका क्रय विक्रय प्राय भूमि के साथ होता है। इसमें कुछ भूस्वामी होते हैं और अधिकतर वे व्यक्ति जो अपने भूस्वामियों के लिए उत्पादन करते हैं और स्वय केवल खाने भर के लिए बचा पाते हैं। सामन्तवादी समाज का अंत होने पर नया पूंजीवादी समाज जन्म लेता है जिसमें यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से व्यक्ति स्वतंत्र हो जाता है किंतु आर्थिक दृष्टि से उसकी दशा अत्यंत शोचनीय हो जाती है

क्योकि उत्पादन के साधनों और उपकरणो से उसका अधिकार जाता रहता है और उसके पास अपनी श्रम शक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी विक्रय करने के लिए नही रहता। इस समाज मे पूंजीवाद वर्ग श्रमिको का शोषण करता है। मार्क्स ने वह विचार प्रस्तुत किया कि पूंजीवाद के दिन भी अब समाप्त होने आ गए हैं और शीघ्र ही एक ऐसे समाज का जन्म होगा जिसमे वर्गभेद मिट जाएँगे, शोषण समाप्त हो जाएगा, उत्पादन के साधनो और उपकरणो का समाजीकरण हो जाएगा। इस अवस्था को उसने समाजवाद का नाम दिया। उनके अनुसार, मानव समाज ने आदिकालीन साम्यवाद से शुरुआत की और अत में वह उन्नत साम्यवादी अवस्था म पहुँच जाएगा। मार्क्स के अनुसार, मानव इतिहास मे केवल ये पांच क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन हुए हैं या होगे।

वर्ग सघर्ष—मार्क्स के अनुसार, आदिकालीन साम्यवादी अवस्था के बाद मानव समाज वर्गों में बँट गया। इससे उसका अभिप्राय यह है कि मोटे रूप मे वह इसमें एक वह वर्ग है जिसके अधिकार में उत्पादन के साधन और उपकरण होते हैं और दूसरा वह वर्ग है जिसके पास इनका अभाव है और उन्हें दूसरों के लिए काम करना पडता है। इसमे प्रथम वर्ग शोषक और दूसरा शोषितों का है। ये वर्ग किसी व्यक्ति के दोष से नही बने, अपितु सामाजिक व्यवस्था के स्वाभाविक प्रतिरूप हैं, और जब तक वर्ग व्यवस्था कायम रहेगी ये भी बने रहगे। किसी एक या अधिक व्यक्ति के त्याग से इस व्यवस्था मे कोई अतर नही आएगा। मार्क्स के अनुसार, इन वर्गों के हितो मे ऐसा विरोध है जिसे न मिटाया जा सकता है और न कम किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि वर्ग समाज की नीव ही शोषण कर आधारित है। अत जब तक वर्ग समाज रहेगा, शोषक भी रहग और शोषित भी। अतएव इनके हितो मे विरोध भी रहेगा। इस प्रकार, वग सघर्ष वर्ग व्यवस्था मे निहित है, अत इतिहास के इन अध्यायो के ज्ञान के लिए हमे इन वर्गों के अतर्विरोध और उससे उत्पन्न सघर्ष को समझना होगा। मार्क्स का कहने का आशय यह नही था कि यह सघर्ष व्यक्तिगत है। वस्तुत इसका मूल कारण व्यवस्था मे अतर्निहित है। यही नहीं, इतिहास का हवाला देते हुए मार्क्स ने बताया कि बार-बार शोषित वर्ग शोषक वर्ग के विरुद्ध विद्रोह करता है, किंतु प्राय उसे सफलता नही मिलती और थोडी-सी सुविधाएँ और रियायतें प्राप्त कर उसे फिर एक नए सघर्ष की तैयारी मे जुट जाना पडता है। पूंजीवाद का उन्मूलन भी इसी प्रकार के सघर्ष के कारण होगा। इसम मजदूर और उनका सगठन सक्रिय भाग लेंगे। मार्क्स ने स्वय जीवन भर क्रियात्मक रूप मे मजदूरों को सगठित करने में और इस आदोलन को आगे बढ़ाने मे भाग लिया।

अर्घ सिद्धांत—मार्क्स के अनुसार पण्यों (commodity) का अर्घ (Value) उनके उत्पन्न करने में खर्च हुए श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है। इस श्रम से उनका तात्पर्य किसी व्यक्ति-विशेष या व्यक्ति-समूह के श्रम से नहीं था, प्रत्युत सामाजिक श्रम से था। मार्क्स ने अनुभव किया कि आधुनिक युग में उत्पत्ति में व्यय हुए किसी व्यक्ति-विशेष के श्रम का अनुमान लगाना असम्भव है। किंतु इसका क्रय मूल्य सामान्य रूप से बाजार के भाव-ताव करने से निश्चित होता है। इसके विक्रय में जो बचत होती है वही पूंजीवादी उत्पादन-क्रिया का उद्देश्य है। उसके अनुसार श्रम शक्ति को पूंजीपति उसी प्रकार खरीदते हैं जिस प्रकार अन्य किसी वस्तु को। लेकिन श्रम-शक्ति में एक ऐसा विचित्र गुण है जो अन्य वस्तुओं में नहीं होता अर्थात् प्रयोग में लाए जाने पर यह एक नवीन अर्घ उत्पन्न करता है। श्रम-शक्ति बेचने वाले मजदूर को उसके दल में मजदूरी मिल जाती है। खरीदने के बाद श्रम-शक्ति पर खरीदने वाले पूंजीपति का अधिकार हो जाता है। अब वह इस श्रम-शक्ति को उत्पादन-क्रिया में लगाकर अपने अर्घ से अधिक अर्घ पैदा करता है। यही मार्क्स के अतिरिक्तार्घ (surplus value) का सिद्धांत है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। मान लीजिए कि एक पूंजीपति कुछ मजदूरों की श्रम-शक्ति 10 घंटे प्रतिदिन के हिसाब से खरीदता है। वह बाजार की दर से उनको मजदूरी दे देता है और वह उस श्रम-शक्ति को उत्पादन-क्रिया में लगा देता है। जब वे पाँच घंटे काम कर चुकते हैं तब वे अपने वेतन के बराबर अर्घ उत्पन्न कर लेते हैं। यदि उस समय उन्हें छुट्टी दे दी जाए तो वे कच्चे माल का अर्घ अपने वेतन के बराबर बढ़ा देंगे। इससे पूंजीपति को कुछ भी लाभ-हानि नहीं होगी। किंतु मजदूर यहाँ पर रुक नहीं जाते, पाँच घंटे बाद वे तीन-चार घंटे और काम करते हैं और अधिक अर्घ उत्पन्न करते हैं। वेतन के बराबर अर्घ की उत्पत्ति के बाद जो अर्घ उत्पन्न किया जाता है उसे अतिरिक्तार्घ कहते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि मूल्य की वृद्धि अपने आप नहीं हो जाती। इसके मूल में श्रम की जीवित शक्ति है।

मार्क्स के कहने का अभिप्राय यह नहीं था कि पूंजीपति कुल अतिरिक्तार्घ को स्वयं हजम कर जाते हैं। अतिरिक्तार्घ वह भंडार है जिसमें से लगान, किराया, ब्याज, लाभ आदि दिए जाते हैं। इसी भंडार में से पूंजी पूरी की जाती है और उसे बढ़ाया जाता है। इसी भंडार के विभाजन के लिए लोग लड़ते-झगड़ते हैं, क्योंकि प्रत्येक हिस्सेदार बड़े से बड़े भाग स्वयं प्राप्त कर लेना चाहता है। पर मजदूरों को इस लड़ाई से कोई सम्बन्ध नहीं। उसका हित इसमें है कि उसका कम से कम शोषण हो। इसके विरुद्ध अतिरिक्तार्घ के विभिन्न हिस्सेदार यह यत्न करते हैं कि वे मजदूरों का अधिक से अधिक शोषण करें। वर्ग-

संघर्ष का मूल यही है। कहने का अर्थ यह है कि वर्ग-संघर्ष का कारण अति-रिक्तार्घ है, विरोधियो के व्याख्यान, लेख अथवा आंदोलन नही। मजदूर सभाएं और समाजवादी आंदोलन तो इसके परिणाम हैं, कारण नही।

मार्क्स की भविष्यवाणी—मानव-इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के बाद मार्क्स यह अनुमान लगा सके कि भविष्य मे समाज का विकास किस दिशा मे होगा और पूंजीवाद का पतन और समाजवाद की स्थापना कैसे होगी। वह इस परिणाम पर पहुँचे कि पूंजीवाद का पतन अवश्यम्भावी है। पूंजीवाद के विकास को बताते हुए उन्होने भविष्यवाणी की कि (1) जैसे जसे समय बीतता जायगा, स्पर्धा की शक्ति कम होती जाएगी और एकाधिकार स्थापित होने लगेगें। इस प्रकार उत्पत्ति के साधनो का केंद्रीकरण और श्रम का समाजी-करण बढने लगेगा जिसके कारण पूंजी न्यूनतम पूंजीपतियो के हाथ में केंद्रित हो जाएगी। (2) सम्पत्ति के केंद्रीयकरण के कारण समाज धनिक और सर्वहारावर्ग मे बँट जाएगा और उत्पादन की प्रक्रिया मे मध्य-वर्ग महत्त्वहीन हो जाएगा। मार्क्स के अनुसार, नीची श्रेणी के व्यक्ति, छोटे-मोटे दुकानदार, कारीगर, किसान आदि सब सर्वहारावर्ग मे मिल जाएंगे। यह विनाश मध्यवर्ग की निम्न श्रेणी तक ही सीमित नही रहेगा, बल्कि ऊपरी श्रेणी मे भी कमी हो जाएगी। पूंजीपति, पूंजीपतियो को हड़पने लगेंगे। इस प्रकार समाज मे एक छोटा-सा पंजीपति वर्ग और एक बडा सा सर्वहारावर्ग आमने-सामने दीखने लगेगा। सामा-जिक क्राति के द्वारा बडा वर्ग छोटे वर्ग पर विजय प्राप्त कर लेगा और समाज-वाद की स्थापना कर लेगा। (3) किंतु इसके पूर्व सर्वहारावर्ग की आर्थिक अवस्था गिरती जाएगी। वह निर्धनता और अवनति के गर्त मे गिरता जाएगा। उत्पत्ति के तरीके मजदूरो को एक मशीन के रूप मे बदल देंगे जिसके कार्य के प्रति उन की रुचि नष्ट हो जाएगी और वह उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे। जैसे-जैसे पूंजी का एकत्रीकरण होगा, मजदूरो की आपेक्षिक अवस्था गिरती जाएगी, चाहे उनका वेतन कम हो या अधिक। (4) आर्थिक और औद्योगिक उन्नति के कारण तीव्र आर्थिक सकट होंगे जिनके कारण औद्योगिक और व्यापारिक ससार गहरी कठिनाई मे फँस जाएगा। व्यापार बद हो जाएँगे; सामान से बाजार भर जाएँगा, नकद रुपया गायब हो जाएगा; उधार बद हो जाएगा; कार-खाने भी बन्द हो जाएँगे, दिवाले पर दिवाले निकलेंगे और यह शिथिलता सालों तक जारी रहेगी। कुछ समय के बाद औद्योगिक और व्यापारिक उन्नति होगी पर उसका परिणाम भी अतत. आर्थिक सकट के रूप मे प्रकट होगा। (5) एक ओर तो आर्थिक सकट पूंजीवाद की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देगा और दूसरी ओर सर्वहारावर्ग की बढती हुई निर्धनता उन्हे क्राति के लिए प्रेरित करेगी।

(6) अन्तत सामाजिक क्रांति के पूँजीवाद का विनाश हो जाएगा और सर्वहारा वर्ग की अधिनायकशाही स्थापित हो जाएगी। इसका कार्य यह होगा कि पुरानी व्यवस्था को समूल नष्ट कर समाजवादी आधार पर यह एक नवसमाज का निर्माण करे। अधिनायकशाही से मार्क्स का अभिप्राय यह है कि पूँजीपतियों को कानून का आश्रय प्राप्त नहीं होगा और नवस्थापित सत्ता को यदि कोई चुनौती देगा तो उसका डट कर मुकाबला किया जाएगा। मार्क्स और ऐंगिल्स का विश्वास था कि सर्वहारावर्ग की यह अधिनायकशाही अल्पकालीन होगी। तथापि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण का कार्य समय लेगा। मार्क्स ने इस सम्बन्ध मे विशेष कुछ नहीं कहा कि यह सब कैसे होगा और इसमे कितना समय लगेगा। हाँ, उसने यह अवश्य कहा कि नवस्थापित सत्ता को राज्य के पुराने उपकरणों को समूल नष्ट करके नए सिरे से निर्माण करना होगा। उसके अनुसार पुराने सरकारी दफ्तर, सेना और पुलिस कर्मचारी श्रमिकों के काम नही आ सकेंगे। अत इस समूची व्यवस्था को नष्ट करना होगा। नए समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य के अनुसार पारिश्रमिक मिलेगा और उससे यह आशा की जाएगी कि वह उत्पादन मे अपना पूरा योग दान दे। (7) मार्क्स की भावी समाज की कल्पना ऐसी है जिसमे न विरोधी वर्ग होंगे और न राज्य। मार्क्स के मतानुसार, समाज से पृथक् राज्य का उदय उस समय होता है जब व्यक्तिगत सम्पत्ति आ जाती है और उसके कारण समाज मे भेदभाव हो जाते हैं। वर्ग-समाज मे शोषित वर्ग की रक्षा करने के लिए राज्य के उपकरण बनाने पडते हैं। अत जब विरोधी वर्ग समाप्त हो जाएँगे, शोषण का अत हो जाएगा, उत्पादन के साधनों मे व्यक्तिगत स्वामित्व नही रहेगा पूँजीपतियों तथा क्रांति विरोधी कार्यों की आशका समाप्त हो जाएगी, तो फिर इस बात की भी कोई आवश्यकता नहीं होगी कि राज्य बना रहे। ऐंगिल्स के शब्दों मे वह धीरे धीरे मुरझा जाएगा। तथापि ऐंगिल्स यह स्पष्ट कर देता है कि राज्य की समाप्ति के साथ सत्ता का लोप नहीं होगा। लेकिन नई सत्ता सामाजिक होगी राष्ट्रीय नही।

राज्य के सम्बन्ध में विचार—मार्क्स, ऐंगिल्स और लेनिन के अनुसार, राज्य शोषक वर्ग के हितों की रक्षा के लिए स्थापित होता है। जब तक समाज मे वर्ग नहीं होते, शोषण नही होता, व्यक्तिगत सम्पत्ति नही होती, आर्थिक और सामाजिक भेदभाव नहीं होते राज्य की भी कोई आवश्यकता नहीं होती ऐसी दशा म पूरा समाज ही सत्ता का उपभोग करता है। अत स्वभाव और जन्म से ही राज्य शासक वर्ग के हितों का एक साधन है। राज्य के पूरे उपकरण उस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की रक्षा के लिए हैं जो देश मे प्रचलित है। इनके अनुसार, राज्य चाहे लोकतन्त्रीय है अथवा लोकतन्त्र विरोधी, मूल बात

मे कोई अतर नही पडता। इसका आशय यह नही है कि साम्यवादी व्यक्तिगत स्वतत्रता और लोकतत्रीय व्यवस्था के लाभो को अमान्य करते हैं। उनका केवल यह कहना है कि साधारणत कोई भी राजनीतिक शासन-व्यवस्था उत्पादन की व्यवस्था और उत्पादन के सम्बधो को बदल नही सकती। अधिक से अधिक यह शोषित वर्ग को कुछ रियायतें या सुविधाएँ दे सकती है। अतएव, शोषित वर्ग को सामाजिक क्राति के लिए राज्यसत्ता को विरोध करना पडेगा। आवश्यकतानुसार शासक-वर्ग उन्हे कुचलने के लिए पूरी शक्ति के साथ राज्यसत्ता का प्रयोग करेगा। अतएव, साम्यवादी इस बात को स्वीकार नही करते कि साधारणत वर्ग-समाज मे राज्य लोकहित का साधन कर सकता है। सामाजिक व्यवस्था मे अतर्निहित जो वर्ग-विरोध और वर्ग सघर्ष है, राज्य उसे बदल नही सकता। हाँ, यह बात दूसरी है कि अगर किसी समय किसी कारणवश शोषित वर्गों के हाथ मे राज्यसत्ता आ जाए तो वे उसका उपयोग सामाजिक क्राति के लिए करें। लेकिन इसकी सम्भावना बहुत कम है। साम्यवादियो का मत है कि राज्य शक्ति पर आधारित है, वह पूरे जनसमुदाय के हितो का प्रतिनिधित्व नही कर सकता। उनके अनुसार राज्य एक स्थायी सामाजिक सगठन नही है। जिस प्रकार विशेष परिस्थितियो मे उसका जन्म हुआ, उसी प्रकार परिस्थितयो के बदलने पर राज्य का अत हो जाएगा।

साम्यवादियो का दृष्टिकोण अतर्राष्ट्रीय है। वे चाहते हैं कि श्रमिको का अतर्राष्ट्रीय सगठन बने। उनके मतानुसार दुनिया के मजदूरो के हित एक जैसे हैं और उनका मुकाबला उन पूँजीपतियो से है जो दुनिया पर छाए हुए हैं। अतएव उनका विश्वास है कि अपनी नीति निर्धारित करते समय साम्यवादियों को अतर्राष्ट्रीय दृष्टि से मजदूरो के हित मे काम करना चाहिए। राष्ट्रीय भावना से उन्हे इतना अधिक प्रभावित नही हो जाना चाहिए कि वे अतर्राष्ट्रीय समाजवादी शक्तियो के हित को भुला दें[1]।

मूल्यांकन—कुछ विचारको ने साम्यवादी विचारधारा की कडी आलोचना की है। उनका यह आरोप है कि साम्यवादी वर्ग-विद्वेष को फैलाते हैं और इस प्रकार समाज में गडबडी पैदा करते हैं। उनका यह भी आरोप है कि ये हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं और इनका शातिपूर्ण तथा सविधानी तरीको मे विश्वास नही है। साम्यवादियो पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि वे समाज में

---

1 देखिए लेखक का शोध-लेख, *Marx and Engels on the National Question* in Indian Journal of Political Science, खड 16, सख्या 3, (जुलाई-सितम्बर, 1955), और *The Critique of Gotha Programme*, मास्को, पृष्ठ 30, 51.

सामजस्य स्थापित करने के स्थान पर वैमनस्य फैलाते हैं। यह भी कहा गया है कि साम्यवादियो की राज्य-सम्बधी धारणा भ्रमपूर्ण है। वस्तुत राज्य 'शोषक वर्ग की कार्यकारिणी' नहीं है। आलोचको ने यह भी कहा है कि मार्क्स के मूल सिद्धात भ्रमोत्पादक हैं। साम्यवादी इन सब आलोचनाओ का उत्तर यह देते हैं कि वर्ग विरोध वर्ग-सघर्ष और वर्ग-व्यवस्था मे अतर्निहित हैं; उन्होंने इसका निर्माण नही किया। वह तथ्यों तथा अनुभव पर आधारित है, कल्पना पर नही। वह अपने पक्ष मे इतिहास की दुहाई देते हैं। पिछले दिनो साम्यवादियो ने नागरिक स्वतत्रता विधि शासन, और लोकतत्रीय शासन प्रणाली के महत्त्व को स्वीकार किया है। यही नहीं, उन्होने यह भी माना है कि ससार की वर्तमान स्थिति मे अब यह सम्भव हो गया है कि समाजवादी व्यवस्था शातिपूर्ण और सविधानी उपायों से स्थापित की जा सकती है।

साम्यवाद एक ऐसा सिद्धात है जिसके पक्ष और विपक्ष मे बहुत कुछ कहा और सुना गया है। लोग इसे या तो बहुत अधिक पसद करते हैं या बहुत अधिक नापसन्द, और बहुधा तर्कों से इस समस्या का हल नही हो पाता। हमारे विचार चाहे जो भी हों, आज ससार का एक बहुत बडा भाग साम्यवाद मे आस्था रखता है और उससे भी अधिक लोगो की इससे सहानुभूति है। ऐसी दशा मे हम केवल यही सुझाव दे सकते हैं कि हमे चाहे यह विचारधारा पसद हो या न हो, इसकी जानकारी हमारे लिए आवश्यक है और यह जानकारी हमे प्रामाणिक ग्रथो से प्राप्त करनी चाहिए। बहुधा यह देखा गया है कि पहले विद्वान लेखक साम्यवाद की गलत व्याख्या करते हैं और फिर अपनी की हुई गलत व्याख्या की स्वय आलोचना करते हैं।

3. लेनिनवाद

लेनिनवाद मार्क्सवादी परम्परा को लेकर आगे बढता है। लेनिन (1870-1924 ई०) ने मार्क्स के क्रातिकारी सिद्धातो को प्रधानता दी और बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे जो स्थिति थी उसके अनुरूप साम्यवाद की एक नई व्याख्या दी। स्तालिन के शब्दों मे 'लेनिनवाद साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्राति के युग का मार्क्सवाद है'।

लेनिन के अनुसार, 1789-1870 ई० के काल मे पूँजीवाद उत्थान पर था। 1871 से 1914 ई० के काल मे इसका आगे विकास नहीं हुआ; तथापि यह काल पूँजीवादी आधिपत्य का था[1]। इस काल मे मजदूरों का एक भाग जिस

---

[1] *Collected Works*, खड 18, न्यूयार्क, 1930, पृष्ठ 367, खड 19, न्यूयार्क, 1942, पृष्ठ 98-231,

को पूँजीवाद के विकास से लाभ होता है, अपने वर्ग को छोडकर पूँजीपतियो से मिल जाता है और ये लोग इस प्रकार की एक भ्राति उत्पन्न करने मे सहायता देते हैं कि वर्ग सघर्ष की आवश्यकता समाप्त हो गई है और शातिपूर्ण ढग से समाजवाद को प्राप्त किया जा सकता है। लेनिन के अनुसार, पूँजीवाद के विनाश का समय समीप आ गया है। पूँजीवाद के अतविरोध बढ गए हैं और पूँजीवादी देश आपस मे लडने पर उतारू हो गए हैं। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होगा कि आर्थिक सकट बढ़ेंगे। साथ मे क्रातिकारी आदोलन भी बढते जाएँगे[1]। लेनिन ने भविष्यवाणी की कि एकाधिकार दिन पर-दिन बढते जाएँगे, छोटे-छोटे राज्य या तो समाप्त हो जाएँगे अथवा आर्थिक दृष्टि से वे बडे राज्यो के नियन्त्रण मे आ जाएँगे और वह दिन समीप आता जाएगा जबकि पूँजीवाद निर्बल होकर नष्ट हो जाएगा।

प्रथम महायुद्ध के सम्बध मे लेनिन का मत था कि मूल रूप मे यह महायुद्ध जर्मन पूँजीवादियो और फ्रासिसी तथा अग्रेजी पूँजीवादियो का आपसी सघर्ष है जिसका प्रमुख उद्देश्य अफ्रीकी देशो के ऊपर आर्थिक आधिपत्य कायम करना है। इसके अतिरिक्त और भी सहायक तत्त्व हैं, जैसेकि रूसी पूँजीवादियो की कुस्तुन्तुनियाँ प्राप्त करने की इच्छा, जापानी पूँजीवादियो की चीन को शोषण करने की इच्छा, विभिन्न राष्ट्रीय आदोलन आदि। तथापि भूल रूप मे इस महायुद्ध का कारण पूँजीपतियो का आतरिक सघर्ष है जिसका उद्देश्य विश्व पर आर्थिक आधिपत्य कायम करना है।

सेबाइन के अनुसार, लेनिनवाद का मार्क्सवाद अत्यधिक रूढिवादी भी था और व्यावहारिक भी। जहाँ लेनिन एक ओर मार्क्स के सिद्धातो पर दृढ है, वहाँ दूसरी ओर उसकी इतनी स्वतत्र व्याख्या देता है कि हम कह सकते हैं कि उसने मार्क्सवादी विचारधारा में कई परिवर्तन कर दिए हैं। लेनिन के अनुसार, मार्क्सवाद एक ऐसी क्रातिकारी विचारधारा है जो समय की आवश्यकताओ के अनुसार मजदूरो के हितों पर ध्यान रखते हुए उन्हे कार्य करने की प्रेरणा देती है। लेनिन ने जो नई बातें कही, उनमे प्रमुख थी . (1) साम्यवादी दल के महत्त्व को स्वीकार करना, (2) दल मे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियो के महत्त्व को मान्यता देना, (3) इस विचार को त्याग देना कि पूँजीवादी विकास के लिए किन्ही विशेष अवस्थाओ को पार करना आवश्यक है, (4) यह धारणा कि

1 देखिए लेखक का शोध लेख, *Lenin on National and Colonial Question*, Indian Journal of Political Science, खड 17, संख्या 3, (जुलाई-सितम्बर, 1956).

पूँजीवादी व्यवस्था के अंत की शुरुआत ऐसे देश से होगी जहाँ वह सबसे अधिक अशक्त होगा[1]। नीचे हम संक्षेप में लेनिन की प्रमुख धारणाओं पर विचार करेंगे।

उसके अनुसार कोई क्रांति स्वतः नहीं होती। उसके लिए यथोचित आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। इसके अर्थ यह नहीं कि बिना पूँजीवादी क्रांति के पूरा हुए सर्वहारा क्रांति नहीं हो सकती। उसके कथनानुसार, रूस में ऐसी नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिनके कारण वहाँ क्रांति की सम्भावना बढ़ गई है। सन् 1917 ई० के प्रारम्भ तक उसका मत था कि रूस की क्रांति एक विश्व समाजवादी क्रांति का सूत्रपात करेगी। लेकिन जब रूस में क्रांति का विकास हुआ और यूरोप के अन्दर समाजवादी क्रांति नहीं हुई तो उसने अपने विचार बदल दिए और कहा कि रूस के मजदूर इस बात की प्रतीक्षा नहीं कर सकते कि जब विश्व में समाजवादी क्रांति हो तभी वे समाजवादी विकास का प्रयत्न करें। साथ ही उसने यह भी घोषणा की कि पूँजीवादी क्रांति और सर्वहारा क्रांति के बीच कोई अभेद्य दीवार नहीं है, विशेष दशाओं में दोनों एक साथ हो सकती हैं। अतएव, जहाँ भी समाजवादी क्रांति की दशाएँ उपस्थित हों वहाँ इसके सूत्रपात में हिचक नहीं करनी चाहिए। लेनिन के आलोचक यह कहते हैं कि इस सम्बन्ध में उसने मार्क्स के विचारों का परित्याग कर दिया। वे मार्क्स के इस विचार को उद्धृत करते हैं कि कोई राष्ट्र विकास के नैसर्गिक सोपानों को छलांग नहीं सकता। वे ऐंगिल्स के इस विचार का भी हवाला देते हैं कि क्रांतिकारी परिस्थितियों को पैदा करने के मूल में आर्थिक दशाएँ होती हैं। बलप्रयोग द्वारा क्रांतिकारी परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं की जा सकतीं। लेकिन लेनिनवाद में विश्वास करने वाले विचारकों का मत है कि लेनिन की धारणाएँ उनके पूँजीवाद के साम्राज्यवादी रूप के सिद्धांत के अनुकूल हैं। क्योंकि अब पूँजीवादी व्यवस्था विश्वव्यापी हो गई है अतः लेनिन का कहना था कि पूँजीवादी कड़ी जहाँ भी सबसे अधिक निर्बल होगी वहीं वह टूट जाएगी, और क्योंकि यह निर्बलता रूस में थी, इस कारण क्रांति का सूत्रपात वहीं हुआ। लेनिन के अनुसार, क्रांति के अवसर अंतर्राष्ट्रीय स्थिति और आंतरिक दशाओं पर निर्भर होते हैं और उसके मतानुसार रूस की आंतरिक दशाएँ क्रांति के सर्वथा अनुकूल थीं।

लेनिन का विश्वास था कि मजदूर स्वतः ही समाजवादी विचारों को जन्म नहीं देते, उनके विचार श्रम संघवाद (Trade Unionism) तक आकर रुक जाते हैं। वास्तव में समाजवाद को मजदूरों तक ले जाना होगा और यह काम उन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का है जो सर्वहारा वर्ग के हित की भावना से प्रेरित

1 राजनीति का दर्शन, अनु० विश्वप्रकाश गुप्त, खंड 2, दिल्ली, 1964, पृष्ठ 752

होकर काम कर रहे हैं। इस प्रकार, लेनिन ने बुद्धिजीवियो के महत्त्व को स्वीकार किया। तथापि वे मार्क्स के इस विचार से सहमत थे कि बुद्धिजीवियो के फिसलने की बहुत आशका रहती है, अतएव इनसे सावधान रहने की आवश्यकता है। इसी के अनुरूप लेनिन का यह विचार था कि रूस की दशाओ म एक व्यापक साम्यवादी दल को सगठित करना न सम्भव है और न आवश्यक ही। इसी परिस्थितियो मे साम्यवादी दल एक गुप्त षडयन्त्रकारी दल के समान ही सगठित हो सकता है। अतएव उसे छोटा होना चाहिए और उसमें केवल अनुभवी और विश्वस्त व्यक्ति होने चाहिए जो देश के विभिन्न भागो मे कार्य करने का उत्तरदायित्व सम्भाल सकें और साथ ही जिसमे अपनी बातो को गोपनीय रखने की क्षमता हो। तथापि इस छोटे दल को जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार लेनिन साम्यवादी दल को एक छोटा किंतु अत्यत सुसगठित दल बनाना चाहते थे जो साम्यवादी सिद्धातो के अनुरूप योजनाएँ बनाकर समय की आवश्यकताओ के अनुसार उस कार्यरूप दे सके। इसलिए वे अनुशासन के कट्टर समर्थक थे। उनका मत था कि साम्यवादी दल के अदर जब तक किसी बात पर निर्णय न हो जाए प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने मत प्रकट करने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए जिससे प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भलीभाँति विचार हो सके। लेकिन एक बार नीति निर्धारित हो जाने और निर्णय करने के बाद दल के सभी सदस्यो को उस नीति के अनुसार काम करना चाहिए और उस निर्णय को मान्यता देनी चाहिए। जो सदस्य ऐसा अनुशासन मानने के लिए तैयार नही हैं, उनका दल म कोई स्थान नही हो सकता।

लनिन को ससदीय व्यवस्था मे विश्वास नही था और न वह यह समझते थे कि लोकतन्त्रीय प्रणाली के द्वारा समाजवादी क्राति की जा सकती है। उनके मतानुसार बहुमत शासन एक सविधानी ढोग है और यह आशा करना कि पूंजीवादी व्यवस्था के अतर्गत, शातिपूर्ण ढग से, समाजवाद की स्थापना हो सकेगी, कोरी कल्पना है। इसका अर्थ यह नही है कि वह ससदीय प्रणाली को कोई महत्त्व नही देते थे। उसके अनुसार ससदीय प्रणाली का समाजवादियो के लिए सबसे बडा महत्त्व यही है कि वह मजदूरो को ससद् के बाहर अपना सगठन करने और सघर्ष करने की सुविधा देता है। उसका कहना था कि पूंजीवादी व्यवस्था मे श्रम आंदोलन की बुनियादी समस्याएँ केवल क्रान्ति प्रयोग द्वारा हल की जा सकती हैं और इसके लिए सर्वहारा वर्ग को सीधा सघर्ष करना होगा। इस प्रकार के सघर्ष म वह आम हडताल, बगावत और क्राति को सम्मिलित करता है। लेनिन का विचार था कि मजदूरो को किसानो का समर्थन प्राप्त करना चाहिए। समाजवादी क्रांति तब तक नही लाई जा सकती जब तक उन्हे किसानो का व्यापक

समर्थन प्राप्त न हो। कम से कम ऐसी दशा अवश्य बन जानी चाहिए कि किसान समाजवादी क्रांति का विरोध न करें। जहाँ तक मजदूरों का प्रश्न है उनमे एक बहुत बड़ी सख्या मे जागृत वर्ग-चेतना होनी चाहिए। कहने का आशय यह है कि मजदूर क्रांति के लिए तैयार होने चाहिए और उसके लिए उन्हें आत्म-बलिदान के लिए तत्पर होना चाहिए। उनका कहना था कि किसी देश मे क्रांतिकारी दशाएँ उसी समय उपस्थित होती हैं जब मजदूरो का बहुमत क्रांति के लिए तैयार होता है और उन्हे किसानो का समर्थन प्राप्त हो जाता है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर ऐसी अवस्था आती है जब उच्च वर्ग पुराने ढग से शासन नहीं कर पाता और निम्न वर्ग पुराने ढग के शासन को पसन्द नही करता। यदि इस समय शासक वर्ग एक प्रशासनिक सकट से गुजर रहा हो तो यह और भी अच्छी बात होगी। उसके मतानुसार, यदि अतर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ अनुकूल हो और आनरिक स्थिति क्रांतिकारी बन चुकी हो तो मजदूरों को सत्ता हस्तगत करने मे सकोच नही करना चाहिए। ऐसी स्थिति मे यदि वे यह सोचें कि सत्ता को वे तभी हस्तगत करेंगे जब उन्हें जनता का बहुमत प्राप्त हो जाए तो इससे बड़ी मूर्खता कोई नहीं हो सकती। हमें यह नही भूलना चाहिए कि वर्ग-समाज मे मूलतः शोषक वर्ग का आधिपत्य होता है, और शासक-वर्ग जब बहुमत को अपने विरुद्ध पाता है तब वह उसकी कभी परवाह नहीं करता।

लेनिन के मतानुसार, पूंजीवादी राज्य का विनाश क्रांतिकारी ढग से होना चाहिए। पुरानी व्यवस्था को चकनाचूर करना होगा, क्योंकि मजदूर वर्ग उस पुरानी व्यवस्था को अपने काम मे नहीं ला सकता जो अब तक उनके विरुद्ध प्रयोग मे लाई जाती रही है। उन्हें यह नही भूलना चाहिए कि निहित-स्वार्थ अपने हितो को आसानी से नहीं छोड़ते। क्रांति के बाद भी वे नई व्यवस्था को उलटने का प्रयत्न करते रहते हैं। अत पूंजीवादी व्यवस्था को बदलकर समाजवाद स्थापित करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना होता है। यह अन्तरिम काल काफ़ी लम्बा हो सकता है। जैसा कि मार्क्स ने कहा है, इस अतरिम काल में 'सर्वहारा वर्ग की अधिनायकशाही' कायम रहेगी। इसके अर्थ यह हुए कि श्रमिक वर्ग इस प्राप्त सत्ता का उपयोग पूंजीवादी व्यवस्था की जड़ें खोदने मे करेगा। अर्थात् राजसत्ता का उपयोग शोषक वर्ग की सम्पत्ति का अपहरण करने और उनका दमन करने के लिए प्रयुक्त की जाएगी। लेनिन के अनुसार जब मार्क्स और एंगिल्स यह कहते थे कि राज्य मुरझा जाएगा तो उनका अभिप्राय पूंजीवादी राज्य से नहीं था। पूंजीवादी राज्य को तो भस्मसात करना होगा और राजनीतिक सत्ता का प्रयोग पूंजीवादी व्यवस्था के विनाश के लिए किया जाएगा। पूंजीवादी व्यवस्था के नष्ट हो जाने पर और समाजवादी व्यवस्था की

स्थापना हो जाने पर कुछ समय तक राज्यसत्ता उस वर्ग के हाथ मे रहेगी जो अभी तक शोषित था। धीरे-धीरे इस प्रकार की सत्ता की आवश्यकता समाप्त हो जाएगी और एक *वर्गहीन और राज्यहीन समाज स्थापित हो जाएगा।* इस समाज मे न वर्ग होगे और न शोषण। प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक काम करेगा; बलप्रयोग अथवा दबाव की कोई आवश्यकता न रहेगी। प्रत्येक व्यक्ति से उस की योग्यता के अनुसार काम लिया जाएगा और उसकी आवश्यकता के अनुसार उसे सभी वस्तुएँ उपलब्ध होगी।

लेनिन के अनुसार, अतरिम व्यवस्था मे राज्य कायम रहेगा। राज्य के मूल मे शक्ति और बलप्रयोग है। अतएव किसी राज्य मे व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता नही मिल सकती। तथापि इस अतरिम राज्य मे सत्ता का उपयोग शोषक वर्ग के विरुद्ध और आमजनता के हित मे किया जाएगा। इसमे केवल उन व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का हनन होगा जो समाजवादी व्यवस्था के विरुद्ध हैं। जहाँ तक आम जनता का सम्बध है, शोषण के समाप्त होने पर वस्तुत उन्हे जीवन मे पहली बार सच्ची स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त होगी। वे शोषण और शासन-वर्ग की अधीनता से मुक्त हो जाएँगे। लेनिन का विचार था कि इस अतरिम काल मे कडे अनुशासन की आवश्यकता हो सकती है।

स्तालिन के विचार—स्तालिन ने (1879-1953 ई०) जो लेनिन की मृत्यु के बाद सोवियत सघ मे सत्तारूढ हुआ, साम्यवादी विचारधारा को बढ़ाने मे अधिक योगदान नही दिया। *उसका महत्वपूर्ण कार्य रचनात्मक था अर्थात् विश्व-क्राति* के अभाव मे एक देश मे समाजवाद की स्थापना करने का कार्य। कुछ लोगों का यह मत है कि एक देश मे समाजवाद की स्थापना मार्क्सवादी विचारधारा के प्रतिकूल है, लेकिन रूस के साम्यवादी दल ने अप्रैल 1923 ई० की कांग्रेस में इस विचार की पुष्टि की कि उन्हे सोवियत सघ मे समाजवादी प्रणाली स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए और यह काम स्तालिन को सौंपा गया। इस निर्णय का एक परिणाम यह हुआ कि सोवियत सघ को बाहरी हस्तक्षेप और आतरिक गडबडी का सामना करना पडा जिसके कारण वहाँ कठोर अनुशासन से काम लिया गया। आज यह सब को ज्ञात है कि स्तालिन के जीवन काल मे ऐसे अनेक निरापराध व्यक्तियो को कष्ट उठाने पडे और उन्हे मौत के घाट उतार दिया गया जिन पर किसी कारणवश स्तालिन और अन्य सत्तारूढ साम्यवादी नेताओ को सदेह हो गया था। यही नही, स्तालिन के अतिम 15 वर्षों में उसने साम्यवादी दल के अदर लोकतत्रीय प्रणाली की बिलकुल उपेक्षा की और मनमाने ढग से काम किया। *साम्यवादी दल के लोग और सोवियत सघ की जनता* इन बातो को इसलिए सहन करती रही कि उन्हे विश्वास हो गया था कि उन-

का देश सकट की स्थिति से गुजर रहा है और पूँजीवादी तथा प्रतिक्रियावादी लोग बराबर बाहर से हस्तक्षेप और अंदर से गड़बड़ी फैलाना चाहते हैं। स्तालिन के मृत्यु के बाद जब ख्रुश्चोव सर्वोच्च सोवियत नेता बने तो स्तालिनवाद की कड़ी आलोचना हुई और सोवियत दल ने यह दृढ़ निश्चय किया कि वे उन बुराइयों को दूर करने का भरसक प्रयत्न करेंगे जो स्तालिन के नेतृत्व मे आ गई थी। इस नई उदार प्रवृत्ति से सोवियत सघ मे जागृति की एक नई लहर फैल गई है। साम्यवादी दल ने यह विचार भी प्रकट किया कि समाजवाद प्राप्त करने का केवल एक सोवियत ढग नही है, अपितु अनेक सम्भव तरीके हैं। वर्तमान विश्व-परिस्थितियो मे यह भी सम्भव है कि ससदीय प्रणाली द्वारा समाजवाद की स्थापना की जाए। अतएव, उन्होने यह घोषणा की कि साम्यवादी दल अब यह विश्वास नही करता कि पूँजीवाद का उन्मूलन केवल हिंसा द्वारा हो सकता है। उन्होंने यह विचार भी त्याग दिया है कि पूँजीवादियो तथा समाजवादी तत्त्वों में युद्ध अनिवार्य है। उन्होने यह मत प्रकट किया है कि हमे शातिपूर्ण सह अस्तित्व (Co existence) के सिद्धात को स्वीकार करना चाहिए जिसका आशय यह है कि पूँजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाएँ विभिन्न देशो मे साथ-साथ चलती रहें और उनमे एक शातिपूर्ण होड़ होती रहे कि इनमे से कौन निरपेक्ष लोगो को अपनी ओर अधिक आकर्षित कर सकता है। उन्होंने यह मत भी प्रकट किया कि समाजवाद की स्थापना प्रत्येक देश का आतरिक मामला है। अतएव एक सामान्य केंद्र से आदेश या परामर्श देना न सम्भव है और न आवश्यक। इन नव-घोषित सिद्धातो के कारण अतर्राष्ट्रीय तनाव मे कमी आ गई है और विश्व-शांति की स्थापना में बहुत सहायता मिली है।

4. अराजकतावाद

अराजकतावाद के पीछे एक लम्बा इतिहास है, तथापि हलोवेल के अनुसार उन्नीसवी शताब्दी मे यह एक विशिष्ट विचारधारा के रूप मे प्रकट हुआ[1]। इस समकालीन रूप मे अराजकतावादियों को मोटे रूप में समाजवादियो की श्रेणी म रखा जा सकता है। अराजकतावाद प्रत्येक प्रकार के शासन और बल प्रयोग पर आधारित बाह्य सत्ता का विरोधी है। यह राज्य का विरोध इसलिए करता है कि यह शक्ति पर आधारित है। अराजकतावादी केवल स्वेच्छा पर आधारित शासन को स्वीकार करते हैं। लेकिन ऐसा वे इसलिए नही करते कि इस प्रकार का शासन बहुमत पर आधारित है, अपितु इसलिए कि इसमे सभी की सहमति होती है। अराजकतावादी पुलिस विभाग, फौजदारी कानून आदि उन समस्त

1 उपर्युक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 476.

संस्थाओं का विरोध करते हैं जिनकी सहायता से जनसमुदाय का एक भाग दूसरे पर हावी हो जाता है[1]। पीटर क्रोपाटकिन (1842–1921 ई०) के अनुसार, अराजकतावाद जीवन और आचरण-सम्बधी एक ऐसा सिद्धात है जिसमे एक राज्य-विहीन समाज की कल्पना की जाती है : ऐसे समाज में कानूनो अथवा किसी सत्ता के माध्यम से सामजस्य स्थापित नही किया जाता, बल्कि स्वेच्छा पर आधारित समझौतो द्वारा किया जाता है जिन्हे विभिन्न व्यक्ति समूह स्वीकार करते हैं। ये सगठन प्रादेशिक अथवा वृत्तिमूलक हो सकते हैं जिनका सगठन स्वेच्छापूर्वक उत्पादन और उपभोग के हेतु किया गया हो अथवा अन्य आवश्यकताओ और आकाक्षाओ की पूर्ति के लिए।

अराजकतावादियो के सस्थापकों मे प्रमुख हैं : विलियम गुडविन (1756-1836 ई०), थॉमस हागस्किन (1787–1869 ई०), प्रूधो (1809 1865 ई०), बाकूनिन (1814 1876 ई०) और क्रोपाटकिन। टाल्सटाय भी शक्ति को अनावश्यक समझता था, यहां तक कि बगावत अथवा क्राति के लिए भी वह उसे आवश्यक नही मानता था। उसके मतानुसार, प्रेमपूर्ण आचरण ही मनुष्यों का दूसरो के प्रति एकमात्र विवेकपूर्ण कार्य है। उसका विचार था कि राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति सच्चे ईसाई धर्म के विपरीत है। गुडविन, हागस्किन और प्रूधों के अनुसार हमे शातिपूर्ण उपायो से क्रमश. राज्य के सगठन और प्रक्रियाओ का अन्त कर देना चाहिए। अराजकतावादी राज्य की इसलिए आलोचना करते हैं कि वह व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करता है; तथापि किसी न किसी रूप मे वे सत्ता को बनाए रखना चाहते हैं। बाकूनिन और क्रोपाटकिन की विचारधारा का साम्यवाद की ओर झुकाव है। वे भूमि और पूंजी के सामूहिक स्वामित्व का समर्थन करते हैं। ऐसे भी कुछ अराजकतावादी हैं जो किसी प्रकार के सगठित समाज को नही चाहते। उनको केवल इस बात मे दिलचस्पी है कि हिंसा पर आधारित वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को शीघ्र उखाड फेंका जाए। उनकी रचनात्मक तथा निर्माण कार्य मे कोई रुचि नहीं है। वस्तुतः ऐसे लोगो को आतकवादी (terrorist) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

अराजकतावादियो का विश्वास है कि केवल अराजकतावादी समाज मे ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव है, क्योंकि इसके लिए बाह्य बधनो का न होना अति आवश्यक है। उनके अनुसार अराजकतावादी समाज मे ही मनुष्य वस्तुत पहली बार स्वतत्र होगा। एक उत्पादक की हैसियत से वह पूंजीपतियों के बधन से स्वतत्र हो जाएगा, एक नागरिक की हैसियत से वह राज्य के बधन से मुक्त हो जाएगा, और व्यक्तिगत रूप मे वह धार्मिक क्षेत्र मे स्वतत्र

1 Bertrand Russell, *Roads to Freedom*, इलाहाबाद, 1946, पृष्ठ 49.

हो जाएगा। आर्थिक क्षेत्र मे अराजकतावाद सामूहिक स्वामित्व मे विश्वास करता है। क्रोपाटकिन के शब्दो मे, समस्त वस्तुओ पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार होना चाहिए। जो स्त्री तथा पुरुष वस्तुओ के उत्पादन मे उचित सहयोग देते हैं उनको उत्पन्न की हुई प्रत्येक वस्तु के उपयोग का अधिकार होना चाहिए प्रश्न यह है कि क्या व्यक्तियो के न्यायपूर्ण भाग को निश्चित करने के लिए राज्य का होना आवश्यक नही है ? अराजकतावादी इसका उत्तर 'नहीं' में देते हैं। उनके अनुसार वास्तव में राज्य अन्याय को प्रश्रय देता है। वह वस्तुओं का असमान विभाजन करके धनी और शक्तिशाली व्यक्तियों को बड़ा भाग दे देता है। यह बात सभी राज्यो पर लागू होती है। अत. वे राज्य को अनावश्यक ही नही, अपितु नितात हानिकारक मानते हैं। प्रथम, उनके मतानुसार, *राज्य के माध्यम से कुछ व्यक्ति सार्वजनिक वस्तुओ पर एकाधिकार स्थापित* कर लेते हैं। आधुनिक युग मे राज्य पूंजीवाद और व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करता है ; *और जब तक राज्य को नष्ट नही कर दिया जाएगा*, इस समस्या का हल नही हो सकता। जो समाजवादी यह समझते हैं कि वे राज्य-*सत्ता को हस्तगत कर उसके प्रयोग से समाज मे आमूल परिवर्तन कर सकते* हैं, वे भूल करते हैं। इस कारण अराजकतावादी सरकार के कार्यों को बढ़ाने के विरोधी हैं, भले ही ये कार्य जनता के हित मे हों। ये मजदूरो के राजनीतिक दल बनाने और चुनाव लड़ने के पक्ष मे भी नही हैं, क्योकि इन बातों से लोगो के मन मे यह भ्राति फैलती है कि इन उपायो के द्वारा अपने ध्येय की प्राप्ति हो सकती है। दूसरे, वे प्रतिनिधिक सरकार को भी दोषपूर्ण बताते हैं। उनके मतानुसार, एक व्यक्ति दूसरो का समुचित प्रतिनिधित्व नही कर सकता और न उसमे सब समस्याओ को सुलझाने की योग्यता होती है। वास्तव मे, हमारे प्रतिनिधि प्रत्येक विषय मे थोडा-थोडा ज्ञान रखते हैं जिसके कारण प्रत्येक कार्य बिगड जाता है। उन्हें किसी विषय मे पर्याप्त ज्ञान नही होता जिससे वह उसे भलीभाँति कर सकें। अराजकतावादी अल्पज्ञो के शासन के स्थान पर विशेषज्ञो के परामर्श पर प्रबन्ध करना पसन्द करते हैं, किंतु यह सहमति और स्वेच्छा के आधार पर होना चाहिए। उनका विचार है कि सामान्य इच्छा का पता लगाने के लिए व्यक्तियो की सभा बुलानी चाहिए और विचार-विमर्श के बाद प्रत्येक प्रश्न के सम्बध मे पृथक् प्रतिनिधि निर्वाचित करना चाहिए। कहने का आशय यह है कि ये विचारक प्रतिनिधिक सरकार की कार्यक्षमता मे विश्वास नही करते। तीसरे, इनका कहना है कि सत्ता और शक्ति ऐसी वस्तुएं है जो सत्पुरुषो को भी भ्रष्ट कर देती हैं। *अतः अधिकार पाने पर वे* घमडी, स्वार्थी और अत्याचारी हो जाते हैं। इसमे दोष व्यक्ति का नहीं है,

अपितु शक्ति का है। इसलिए किसी व्यक्ति को अपने साथियो पर शक्ति के उपयोग करने का अवसर नही देना चाहिए। कहने का आशय यह है कि प्रकृति से ही शक्ति पर आधारित होने के कारण सरकार एक असामाजिक वातावरण उत्पन्न कर देती है। वह लोगो को वर्गों मे विभक्त कर देती है और मित्रो मे द्वेषभाव पैदा कर देती है। आतरिक अशाति और बाहरी सघर्ष इसी के कारण होते हैं। सक्षेप मे जनता के लिए सरकार के अर्थ है विवशता, परेशानी, और पृथक्ता की भावना, इसके विपरीत अराजकता के अर्थ हैं स्वतत्रता, सहयोग और प्रेम। आज हमे सैनिक सगठन की आवश्यकता इसलिए पडती है कि हमने मानव समुदाय को अनेक राष्ट्रो मे बांट दिया है, हमको कानूनो के सरक्षण की आवश्यकता इसलिए होती है कि हम व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे से पृथक् हो गए। चौथे, इनके मतानुसार राज्य निरर्थक है। उदाहरण के लिए स्थायी सेनाओ ने शायद ही कभी आक्रमणकारियो को रोक पाया हो। इतिहास बताता है कि उनको बहुधा नवसगठित राष्ट्रीय सेनाओ ने ही पराजित किया है। इसी प्रकार व्यक्तियो के जीवन, धन और सम्मान की रक्षा करने में भी राज्य समर्थ नही हुआ। वास्तव में अन्यायपूर्ण आर्थिक व्यवस्था का समर्थन कर राज्य ही दरिद्रता और विषमता फैलाता है जिनके कारण अन्याय, अत्याचार, अपराध आदि होते हैं। इसी प्रकार कला, विज्ञान, व्यापार, आदि के क्षत्रो में भी राज्य के हस्तक्षेप से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। उपर्युक्त कारणो से अराजकतावादी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि राज्य केवल निरर्थक ही नही, अपितु एक भयकर बुराई है जिससे जितनी जल्दी छुटकारा पाया जाए, उतना ही मानवता के लिए अच्छा होगा।

स्वतत्र समाज का सगठन—राज्य का अत होने के पश्चात् समाज की रूपरेखा क्या होगी और सार्वजनिक कार्य किस प्रकार होगे ? अराजकतावादियो के अनुसार, विशेष कार्य स्वेच्छित सघो द्वारा किए जा सकेंगे। प्रत्येक व्यवसाय मे लगे हुए लोग अपने सघ बनाएंगे, अपने पदाधिकारियो को स्वय चुनेंगे, अपनी नीति स्वय निर्धारित करेंगे और अन्य सस्थाओ के साथ स्वतत्र रूप से सहयोग करेंगे। इस प्रकार के स्वेच्छित सघो के बन जाने से बिना किसी बलप्रयोग के शाति बनी रहेगी। वस्तुत अराजकतावाद शाति की अनुपस्थिति नहीं, अपितु बलप्रयोग की अनुपस्थिति है। इस समाज म विभिन्न आकार और प्रकार के समुदाय तथा सघ होग। स्वच्छिक सघ व्यापारिक और प्रादेशिक आधार पर स्थापित किए जाएँगे। य सघ मिलकर उन सभी कार्यों को करेंगे जिन्ह आजकल राज्य करता है। इस प्रकार, अराजकतावाद प्रादेशिक स्वायत्तता का समर्थक है। यह समाज का ढांचा छोटी से छोटी इकाई पर आधारित करना चाहता

है। इसका कहना है कि शेष सामाजिक संगठन इसी इकाई के आधार पर स्वत विकसित हो जाएगा। प्रश्न यह है कि यदि इन जनसमूहो और संघो के हितो मे विरोध हो अथवा किसी कारणवश झगडे हो, तो उनमे कौन सहयोग स्थापित करेगा ? इस प्रश्न का उत्तर अराजकतावादी यह देते है कि जब शक्ति पर आधारित राजसत्ता, व्यक्तिगत पूंजी, और संगठित चर्च नही होगी, जब मनुष्य सुशिक्षित हो जाएँगे, जब अमीरी और गरीबी के भेद नही रहेगे, तब उनमे शायद ही कोई विरोधी हित हो। अत सहयोग की भावना अपूर्व रूप मे विकसित हो जाएगी, एक वर्ग दूसरे वर्ग से प्रेमपूर्वक मिलेगा और पारस्परिक सहयोग द्वारा समाज की उन्नति होगी। इस प्रकार, अराजकतावादी समाज बहुत सामंजस्य-पूर्ण और क्रियाशील होगा। इस धारणा के पक्ष मे फोरियर महोदय कहते हैं कि यदि कुछ कंकडियो को लेकर एक डिब्बे में रखकर हिलाएँ, तो उनकी स्वत ही इतनी सामंजस्यपूर्ण स्थिति हो जाएँगी जितनी यत्न करने पर भी कोई नही कर सकता। संक्षेप मे यही अराजकतावादी सिद्धात है। अराजकता-वादी समाज मे लोगो के सम्बन्ध प्रेम, स्वेच्छा और सद्भाव पर आधारित होगे। अत. उनमे स्वत. ही सामंजस्य स्थापित हो जाएगा।

आधुनिक अराजकतावादियो का आदर्श एक वर्गहीन और राज्यविहीन समाज स्थापित करना है। किंतु अराजकतावादी यह नही बताते कि इस प्रकार का समाज कैसे स्थापित किया जाएगा और किस प्रकार वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अंत करेंगे।

मूल्यांकन—अराजकतावादियो के विचार सुंदर और बहुत आकर्षक लगते हैं, तथापि वे अव्यावहारिक हैं। वे बहुत आशावादी हैं और मनुष्यो के स्वभाव की अच्छाई पर उन्हे अत्यधिक भरोसा है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि हमारे बीच कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो बुराई करने से नही चूकेंगे और उनके कारण समाज में गडबडी तथा अव्यवस्था फैलने का डर रहेगा। यही नही, उनके आदर्श समाज म यदि ऐसे आलसी व्यक्ति हो जो काम करने से इंकार कर दें तो क्या होगा ? क्या वे समाज पर बोझा बनकर नही रहेंगे ? वस्तुतः अराजकतावादियो का यह विचार कि राज्य एक भयंकर बुराई है, युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। आज का लोकतंत्रीय राज्य धीरे-धीरे पूंजीवाद की आर्थिक विषमताओ को दूर करने का प्रयत्न कर रहा है और सामाजिक सुरक्षा पर भी बल दे रहा है। यही नही, राज्य के अनेक ऐसे कार्य और ऐसे रूप हैं जिनमे बलप्रयोग का प्रश्न नहीं उठता। इसके अतिरिक्त, अराजकतावादियो ने आदर्श समाज की जो कल्पना की है उसकी रूपरेखा बहुत धुंधली है। इसके अतिरिक्त अराजकतावादी हमें यह नही बताते कि वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का कैसे

अत करेंगे ।

अराजकतावादियो के विचार अव्यावहारिक भले ही हो, किंतु वे बडे सुहावने लगते हैं । यही नहीं, वह हमारे सम्मुख समाज की एक ऐसी रूपरेखा रखते हैं जिसमे व्यक्ति स्वार्थ से प्रभावित न होकर प्रेम और सद्भाव से काम लेगा । यह स्वीकार करना पडेगा कि उनके आदर्श समाज की रूपरेखा अस्पष्ट होने पर भी बडी मनमोहक है । कम से कम वह हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करती है कि हमारे समाज मे आमूल सुधार कर प्रेम, सद्भाव, शांति और समृद्धि के आधार पर एक नवीन समाज की रचना की जा सकती है ।

5. सिण्डीकैलिज्म

सिण्डीकैलिज्म का प्रारम्भ फ्रांस मे एक मजदूर आदोलन के रूप में हुआ । फ्रासिसी उद्योगो के छोटे पैमाने पर होने के कारण मजदूर अच्छे ढग से सगठित नही थे । यही नही, राजनीतिक भ्रष्टाचार के कई मामले जनता के सामने आए जिनमे से कुछ का सम्बध मजदूर नेताओ से था । इन कारणों से फ्रासिसी मजदूरो का राजनीति और प्रतिनिधि प्रणाली से विश्वास हट गया । इसका फल यह हुआ है वहाँ मजदूर जब सगठित हुए तो उनके मन में यह विचार जम चुका था कि 'सीधी कार्यवाही' से ही उनकी समस्या का समाधान हो सकता है ।

सिण्डीकैलिज्म मार्क्स, प्रूधो, बाकूनिन और क्रोपाटकिन के विचारो से प्रभावित हुआ । इसके सिद्धात की आधार-शिला यह विचार है कि वर्ग-सघर्ष अवश्यम्भावी है। अत, सर्वहारा वर्ग को अपने सामूहिक सगठन को दृढ बनाना चाहिए। इस मत के अनुयायी मार्क्सवाद के क्रातिकारी पहलुओ पर बल देते हैं और राजनीतिक कार्यवाही के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते । मोटे रूप मे हम कह सकते हैं कि, सिण्डीकैलिज्म के अनुसार, श्रमिको को स्वय ही यह निर्णय करने का अधिकार होना चाहिए कि उनके काम करने और जीवन निर्वाह की दशाएँ क्या हो ? यही नही, उन्हे 'सीधी कार्यवाही' से सामाजिक क्राति करनी चाहिए। सक्षेप में हम सिण्डीकैलिज्म को क्रातिकारी श्रम-सघवाद कह सकते हैं । कुछ विद्वानों ने उसे 'सगठित अराजकता' का नाम दिया है । सिण्डीकैलिज्म मे समाजवाद के आर्थिक सिद्धात और अराजकतावाद के राजनीतिक सिद्धांतों का सम्मिश्रण है ।

सिण्डीकैलिज्म नाम फ्रांसीसी शब्द 'सिन्डीकेट' से लिया गया है जो मजदूर सघ शब्द का पर्यायवाची है। साधारणत 'सिन्डीकेट' एक ही उद्योग का सगठन होना है । जब 1868 ई० में मजदूरो को सगठित होने का अधिकार मिला तो सघ तेजी से बनने लगे । सन् 1886 ई० तक आते-आते मजदूर सभाओ का

एक राष्ट्रीय संघ बन चुका था। दूसरी ओर, 'लेबर एक्सचेंज' के संगठन भी स्थापित हो रहे थे। इन्होंने शिक्षा सम्बन्धी और सामाजिक कार्य करना और हड़ताल के समय मजदूरों की सहायता देना भी प्रारम्भ कर दिया। सन् 1893 ई० तक इन एक्सचेंजों का भी एक संगठन बन गया और दो वर्ष पश्चात् 'जनरल फेडरेशन आफ लेबर' (सी० जी० टी०) स्थापित हो गई। अंततः सन् 1902 ई० में ये दोनों संगठन मिलकर एक हो गए। इस नए संगठन में प्रत्येक सिन्डीकेट की दोहरी सदस्यता होती थी, एक स्थानीय व्यापक मजदूर संगठन में और दूसरी उद्योग के संघ में। ये दोनों विभाग एक दूसरे के दृष्टिकोणों की कमियों को दूर कर मजदूरों की एक व्यापक नीति निर्धारित करते थे। जी० डी० एच० कोल के अनुसार, ऐसे संगठन का सबसे बड़ा लाभ यह है कि मजदूर एक ओर अपने स्थान के समस्त मजदूरों के साथ समैक्य (solidarity) प्रदर्शित कर सकते हैं और दूसरी ओर अपने विशिष्ट धंधे में लगे हुए समस्त मजदूरों के साथ भी एकता रख सकते हैं। इस प्रकार वे समस्त श्रमिकों के साथ अपना पूर्ण समैक्य दिखाना सीख लेते हैं।

सिण्डीकेलिज्म मजदूर संगठनों के आधार पर भावी समाज का निर्माण करना चाहता है। साथ ही, उसका विश्वास है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अंत करने और नए समाज के निर्माण में मजदूर संगठनों का महत्त्वपूर्ण योग होगा। इस सिद्धांत के संस्थापकों में कुछ मजदूर नेता थे और कुछ बुद्धिजीवी। इनमें से कुछ के नाम फर्डिनेंड पैल्यूटियर (1867–1901 ई०), पूगे, जार्ज सोरल (1847–1922 ई०) हैं। इन लोगों ने प्रूधों से सत्ता का विरोध करना और स्थानीयता को महत्त्व देना सीखा। पैल्यूटियर के अनुसार, मजदूरों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य वर्गों से पृथक् होकर कार्य करना चाहिए। सोरल का कहना था कि समाजवाद के भविष्य के लिए यह आवश्यक है कि मजदूर संगठनों का स्वतंत्र विकास हो। इनके प्रभाव में आकर सिण्डीकेलिज्म ने शांतिपूर्ण उपायों को छोड़कर 'सीधी कार्यवाही' का मार्ग अपनाया। इसमें आवश्यकतानुसार हिंसा का समावेश करने में भी उन्हें कोई आपत्ति न थी। उनका विश्वास था कि अंततः मजदूरों को पूंजीपतियों को निकाल फेंकना होगा और उद्योगों तथा सामाजिक जीवन पर अपना नियंत्रण लागू करना होगा। उनके विचारानुसार, मजदूर ही 'अर्थ' की उत्पत्ति करते हैं। अतएव, केवल आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु राजनीतिक क्षेत्र में भी उनका नियंत्रण होना चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इस सिद्धांत के प्रतिपादकों का यह मत था कि वित्तमूलक उत्पादकों के संगठनों को राज्य के सारे कार्य हथिया लेने चाहिए। पैल्यूटियर के अनुसार, क्रांति का कार्य मानव समाज को केवल सत्ता से

मुक्त करना ही नहीं है, अपितु ऐसी सस्थाओ से भी छुटकारा दिलाना है जिनका ध्येय उत्पादन का विकास नही है। कहने का अभिप्राय यह है कि उनके कल्पित समाज मे वे समुदाय जिनका उत्पादन से सीधा सम्बध नही है, समाप्त हो जाएँगे।

राज्य के विरुद्ध आपत्ति—इस मत के अनुयायियों के अनुसार, राज्य एक मध्यवर्गीय सस्था है। यह शोषण का एक साधन है। राज्य की सेवा मे लगे हुए व्यक्ति प्राय मनुष्यों की आवश्यकताओं और आकाक्षाओ के प्रति उदासीन होते हैं। वस्तुत मजदूर ही अपनी आवश्यकताओ को भलीभाँति समझ सकते हैं। अतएव, उद्योगो के क्षेत्र में भी सत्ता उन्ही के हाथो में होनी चाहिए। इन लोगो का विरोध केवल राज्य से नही अपितु मध्यवर्गीय समाजवाद से भी है। उनके मतानुसार, केवल सिण्डीकैलिज्म ही मजदूरो का एकमात्र सिद्धात है। इसमे अत्यधिक सगठन और अनुशासन नही होता। यही नही, उनका विश्वास है कि वर्ग-सघर्ष की भावना बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि मध्य-वर्गीय बुद्धिजीवियो को अपने आदोलन से पृथक् रखा जाए। उनके सम्पर्क के कारण मजदूरो की क्रातिकारी भावनाएँ ठडी पड जाती हैं। इनका विचार है कि यदि औद्योगिक व्यवस्था पर उत्पादको का नियत्रण होगा तो मजदूरों की स्वतत्रता मे कमी आने के स्थान पर बढोत्तरी हो जाएगी। साथ ही, कुशलता भी बढेगी। उद्योग मे काम करने वाले प्रत्येक मजदूर उसके प्रबध मे भाग ले सकेगा, उसे अपने कार्यक्षेत्र मे भी लोकतत्र का सार प्राप्त हो जाएगा। उनके अनुसार, चौथे पाँचवें साल मतदान देने मे मजदूरो को खोखली स्वतत्रता के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं लगता।

आदर्श-समाज—भावी समाज की रूपरेखा केवल दो भूतपूर्व अराजकतावादी लेखक पतुआद और पूगे ने अपनी पुस्तक 'हम क्राति कैसे करेंगे' मे दी है। उनकी योजना अपनी सस्थाओ (बोर्ज और सी० जी० टी०) पर आधारित है। बोर्ज स्थानीय सस्था थी और सी० जी० टी० राष्ट्रीय। इनके आदर्श समाज मे 'बोर्ज' विभिन्न स्थानीय सस्थाओं का समन्वय करेगा। वह सभी स्थानीय मामलो का सचालन करेगा। सी० जी० टी० एक राष्ट्रीय सस्था होगी जो राष्ट्रीय महत्त्व के विषयो की देखभाल करेगी। उत्पादन के साधन स्थानीय सस्था के हाथ मे होगे और उन्हें अपने कार्यों के लिए स्वायत्तता प्राप्त होगी। राष्ट्रीय सगठन इन स्थानीय सस्थाओं को आवश्यकतानुसार तकनीकी ज्ञान और विशेषज्ञो का परामर्श दिलाती रहेगी। इनके अतिरिक्त एक व्यापक राष्ट्रीय सगठन होगा जिसको उन सब विषयो पर अधिकार होगा जो राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और जिनके लिए कि व्यापक सर्वमान्य नियम आवश्यक हैं।

उदाहरण के लिए, बच्चे, वृद्ध और बीमारों की देखभाल, काम करने की न्यूनतम और अधिकतम आयु सामान्य काम के घंटे, आदि के सम्बन्ध में यह निर्णय करेगा।

इनके आदर्श समाज में सत्ता और अनुशासन का लोप नहीं होगा, अनुशासन की फिर भी आवश्यकता रहेगी। उदाहरण के लिए, मुनाफाखोरों का बायकाट, आलसियों को देशनिकाला, झगड़ा फिसाद करने वालों का बहिष्कार फिर भी करना पड़ेगा। तथापि सब मिलाकर अपराधों की संख्या बहुत कम हो जाएगी। फिर भी, शांति व्यवस्था बनाने के लिए रक्षात्मक सैन्य शक्ति की आवश्यकता होगी। लेकिन इसके लिए पृथक् सेना बनाने की आवश्यकता नहीं होगी। स्थानीय संघ ही हथियारबंद समूहों का काम करेंगे और शांति विरोधी गड़बड़ियों को रोकेंगे। बाहरी आक्रमण से रक्षा करने का काम भी इन्हीं का होगा। इस प्रकार न तो एक स्थायी सेना होगी और न आक्रामक अस्त्र शस्त्र। इनका दृढ़ विश्वास है कि जब मजदूर इस प्रकार संगठित हो जाएँगे तो इसका कोई अंदेशा नहीं रहेगा कि वे एक दूसरे पर आक्रमण कर दें, वे शांतिपूर्ण ढंग से मिलकर रहेंगे।

कार्य-पद्धति—वस्तुत इस मत के अनुयायी भावी समाज की अपेक्षा कार्य-पद्धति पर अधिक बल देते हैं। क्योंकि राज्य पर इनका विश्वास नहीं है और वे पूँजीपति तथा श्रमिकों के हितों के सामंजस्य में विश्वास नहीं करते, अत उनके विचार में राजनीतिक उपाय अपनाने के कोई लाभ नहीं हैं। अपने देश में समाजवादी मंत्रियों से भी उन्हें कटु अनुभव हुए। साथ ही, उनका विश्वास है कि संसदीय मार्ग अपनाने से क्रांतिकारी भावना कठिन हो जाती है और वर्ग चेतना में तीव्रता नहीं रहती। यदि कुछ समाजवादी प्रतिनिधि चुनाव में सफल हो भी जाएँ तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि समूचे निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं, केवल मजदूरों का नहीं। अत इनसे अधिक आशा रखना अनुचित होगा। यही नहीं, ये स्वीकार करते हैं कि यदि मजदूर अपने आर्थिक अधिकारों की रक्षा के लिए मिलकर काम करते हैं, तथापि मतदान देते समय उनमें एकता नहीं होती जिससे एक दूसरे के समीप आने के स्थान पर वे और अधिक दूर हो जाते हैं। इसलिए इनका सुझाव है कि कार्य करने के संविधानी उपायों को तिलांजलि दे देनी चाहिए। वस्तुत यह लोग 'सीधी कार्यवाही' में ही विश्वास रखते हैं। उनका विश्वास है कि केवल सीधे उपायों द्वारा मजदूरों को अंतिम वर्ग-संघर्ष के लिए तैयार किया जा सकता है। उनके अनुसार, आर्थिक सत्ता ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति होती है और आर्थिक मामलों में उनमें सबसे अधिक मतैक्य होता है। शायद वे एक साथ मतदान न करें, किंतु जब हड़ताल का प्रश्न आएगा तो

वे सब एक हो जाएँगे । अतएव, वे सीधे उपायो पर जोर देते हैं जिनमे चार मुख्य हैं . हडताल, बहिष्कार, लेबिल और तोडफोड । इनमे हडताल सबसे प्रमुख है और यथासम्भव वे उसे प्रोत्साहन देते हैं । वे हडताल को केवल साधन के रूप मे ही नही बल्कि वैसे भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यदि हडताल असफल भी हो जाए तो भी उनसे मजदूरो को सगठन, अनुशासन और आत्म निर्भरता के पाठ मिलते हैं। इसके अतिरिक्त वह मिलमालिको और मजदूरो के अतर और मनमुटाव को और भी बढा देती है । इस प्रकार सफलता का दिन और समीप आ जाता है । इनके अनुसार, हडताल मजदूरों की सामाजिक शक्ति का एक अच्छा प्रदर्शन हैं। कुछ चुने हुए उद्योगो मे एक साथ हडताल कर देने से सारी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था ठप्प हो जाती है और मिलमालिको को उनकी माँगे मानने के लिए बाध्य हो जाना पडता है । उनके मतानुसार, हडतालें चाहे जितनी व्यापक क्यो न हों, उनको अतिम 'आम हडताल' की तैयारी और शिक्षा का एक साधन मानना चाहिए जिसके द्वारा मजदूर एक साथ उठकर वर्तमान व्यवस्था को उखाड फेंकेंगे और नवीन समाज की रचना करेंगे ।

आम हडताल के विचार को प्रस्तुत करने वाले समाजवादी लेखक ब्लाकी थे। इन लोगो की आम हडताल साधारण हडतालो से भिन्न हैं जो सहानुभूति मे की जाती हैं । ये राजनीतिक हडतालो से भी भिन्न हैं । इनकी आम हडताल की भावना मे सबसे बडा अतर उस मनोवृत्ति का है जिसको लेकर यह हडताल की जाती है और उन क्रातिकारी उद्देश्यो का है जिनकी प्राप्ति के लिए हडताल एक साधन है । इनके अनुसार, प्रत्येक हडताल वर्ग-सगठन की भावना को दृढ करने का एक उपाय है । सम्भवत आम हडताल मे प्रत्येक मजदूर को भाग लेने की आवश्यकता न पडे । इनका विश्वास है कि प्रमुख उद्योगो मे यथेष्ठ सख्या में वर्ग-चेतनायुक्त मजदूर हडताल करके सामाजिक और आर्थिक क्राति ला सकते हैं। वस्तुत अब सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था इतनी जटिल हो गई है कि इस प्रकार की हडतालें अपेक्षाकृत सरल और प्रभावकारी हो गई हैं और मजदूर हडतालो द्वारा बहुत कम सख्या मे सामाजिक व्यवस्था का सचालन रोक सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की हडतालें लोकतत्रीय नही होगी। यह आरोप भी लगाया जा सकता है कि सम्भवत मजदूरों का बहुमत इनके पक्ष मे न हो। लेकिन सिन्डीकॅलिज्म में विश्वास करने वाले लोग बातो से प्रभावित नही होते । उनके अनुसार, बहुमत शासन एक मध्यवर्गीय धारणा है । वास्तव मे सक्राति काल में कुछ चुने हुए मजदूरो को ही सभा को हस्तगत करना होगा और इस प्रकार समस्त मजदूरों को उनके ध्येय तक पहुँचने मे सहायता करनी होगी । स्पष्ट है कि इस सम्बध मे इनके विचार मार्क्स के विचारो से मेल नहीं खाते ।

इनका कहना है कि मार्क्स बहुत आशावादी थे और सोचते थे कि पूंजीवाद का विनाश अवश्यम्भावी है। मार्क्स का यह विचार भी ठीक नहीं था कि अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए पूंजीपति जम कर लड़ेंगे और इसलिए उनका नाश आवश्यक हो जाएगा। इनके मतानुसार, सम्भावना इस बात की है कि वे मोलभाव कर समझौते करने का प्रयत्न करेंगे जिससे मजदूरों की क्रांतिकारी भावना कम हो जाए। इसलिए यह आवश्यक है कि मजदूर स्थायी आक्रमण की नीति अपनाए।

सोरल ने आम हड़ताल की कल्पना (myth) के महत्त्व पर बहुत बल दिया है। उन्होंने बर्गसों (Bergson) के अंतर्ज्ञान के सिद्धांत से यह विचार ग्रहण किया। बर्गसों का कहना था कि हमारे कार्यों के उद्देश्य विवेक से निर्धारित नहीं होते, बल्कि अंतर्ज्ञान द्वारा निश्चित होते हैं। हमारा विवेक हमें बताता है कि हम जो करना चाहते हैं वह कैसे करें, किंतु वह हमें यह बताने में कोई सहायता नहीं करता कि हम क्या करना चाहते हैं। इसी सिद्धांत से प्रभावित होकर सोरल ने कहा कि मजदूरों को यह विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है कि आम हड़ताल किस प्रकार पुरानी व्यवस्था को समाप्त करके नए समाज की रचना करेगी। इसकी भावना और उद्देश्य को उन्हें अंतर्ज्ञान से समझना चाहिए। उनकी कल्पना को उत्तेजित करना चाहिए और समझाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। आम हड़ताल की कल्पना और धारणा द्वारा उन्हें समाजवाद का वह अंतर्ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिसको अन्य माध्यम से देना बहुत कठिन है। सोरल के विचारों में सबसे महत्त्व की बात यह है कि आम हड़ताल के सम्बंध में पहले से कुछ नहीं सोचना है और न उसका प्रभाव उसके तात्कालिक परिणामों से आंकना चाहिए। उन्हें इस दृष्टि से देखना चाहिए कि वे मजदूरों में तीव्र वर्ग चेतना फैलाती हैं अथवा नहीं।

दूसरा सीधा उपाय लेबिल है जो मजदूरों की उपभोग शक्ति के प्रदर्शन में सहायक होता है। जिस वस्तु पर मजदूर संघ का लेबिल हो उसके अर्थ यह है कि वह वस्तु संघ द्वारा निर्धारित दशाओं, वेतन और नियमों के अनुकूल बनाई गई है। इनके अनुसार, मजदूरों को सिर्फ ऐसी वस्तुएँ खरीदनी चाहिए जिन पर इस प्रकार का लेबिल लगा हो। जहां ऐसा लेबिल न हो उन वस्तुओं का बहिष्कार कर देना चाहिए। इसका प्रभाव मिल-मालिकों के ऊपर तत्काल होगा। ये लोग तोड़फोड़ की नीति पर भी बहुत जोर देते हैं। उत्पादन की नियमित प्रक्रियाओं में बाधा डालना जिससे पूंजी को हानि का भय हो, तोड़फोड़ कहलाता है। चीजों को ठीक स्थान पर न ले जाकर और कहीं ले जाना, मशीन में जान-बूझकर खराबी कर देना, मशीन के चलते समय काम न करना, चीजें खराब कर देना, आदि बातें इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार की तोड़फोड़ हड़ताल के

समय अथवा इसके अतिरिक्त भी की जा सकती है। इसके अहिंसक रूप होगे: धीरे-धीरे काम करना, घटिया काम करना, नियमो को इस प्रकार मानना जिससे चीजें महँगी पडे, ग्राहको को वस्तु के बारे मे सच्ची-सच्ची बातें बता देना जिससे चीजो की बिक्री न हो आदि। इसके गभीर हिंसक रूप हैं—सामान, मशीनो और औजारो को नष्ट कर देना। 'सीधी कार्यवाही' के इन उपायो का प्रयोग मजदूरो मे वर्ग-चेतना फैलाने के लिए और उन्हे आम हडताल के लिए तैयार करने के लिए किया जाता है।

वास्तव मे सिण्डीकैलिज्म अराजकतावाद, समाजवाद और श्रमिक-सघवाद का सम्मिश्रण है। राज्य से घृणा करने मे, उसकी सर्वोच्चता न मानने मे, लोक-तत्रवाद को अस्वीकार करने मे यह अराजकतावाद के समान है। सर्वहारावर्ग के आन्दोलन के रूप मे वर्ग-सघर्ष और सामाजिक क्राति की अनिवार्यता को मानने मे यह समाजवादी स्वरूप का है। मजदूर सभा को राष्ट्र की इकाई बनाने मे, और उन्हे व्यवसायों का अधिकार और प्रबंध मे यह मजदूर-सगठनवाद से समानता रखता है। इसका आम हडताल का हथियार उदार समाजवाद तथा अराजकतावाद का मध्यवर्ती मार्ग है। उदार समाजवादियो ने सिण्डीकैलिज्म के उपाय और आदर्श दोनो से असहमति प्रकट की है। उनका कहना है कि मजदूरो के सविधानी आदोलन मे खतरे हो सकते हैं। पर 'सीधी कार्यवाही' भी खतरे से खाली नही है। यह ठीक है कि मजदूर पार्टी के नेता समझौता कर लेते हैं, तथापि मजदूर-सभा के नेताओ को भी अपना नेतृत्व रखने के लिए यही करना पडता है। हडताल के समय भूखे मरते हुए मजदूरो की हालत देखकर कभी-कभी समझौता करना ही उचित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त, मजदूर पार्टी के ससद् सदस्य कम से कम मजदूरो के अनुकूल कानून पास करा सकते हैं और मिल मालिकों और मजदूरो के झगडे के समय मजदूरो का पक्ष ले सकते हैं। अत. उनका कहना है कि राजनीतिक और आर्थिक दोनो ही प्रकार के कार्यों को साथ-साथ करना चाहिए।

मूल्यांकन—सिण्डीकैलिज्म केवल उत्पादको के हितो की ओर ध्यान देता है और उपभोक्ताओ के हितो की चिंता नही करता। यही नही, इसकी 'सीधी कार्यवाही' के ढगों पर आपत्ति की जाती है। आलोचकों का कहना है कि इसके बताए हुए तरीको से लोगों को बहुत कष्ट होगा। यह बहुत सदेहास्पद बात है कि इन उपायो से सामाजिक शांति हो सकेगी। उनका यह भी कहना है कि इनकी भावी समाज की रूपरेखा बहुत अस्पष्ट है। उनके मतानुसार, सिण्डी-कैलिज्म विचारधारा यथार्थवादी नही है। माना कि आधुनिक राज्य दोषपूर्ण है लेकिन उनमे सुधार हो सकते हैं, और अगर सत्ता उचित लोगो के हाथो मे हो

तो उसका प्रयोग मजदूरों और अन्य लोगों की भलाई के लिए किया जा सकता है। किंतु सिण्डीकैलिज्म इस बात को स्वीकार नहीं करता। साथ ही, अविवेकी तत्त्वों पर इसकी आस्था भी खतरे से खाली नहीं है। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार फासिस्टों और नाजियों ने इनका सहारा लेकर मानवता को एक खतरे में डाला। फिर भी, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह उत्पादकों के महत्त्व पर बल देता है और मजदूरों की सच्ची स्वतन्त्रता की माँग करता है, मुख्यत उद्योगों में लोकतन्त्रीय व्यवस्था की। इसने संसदीय प्रणाली के दोषों की ओर हमारा ध्यान दिलाया और साथ ही यह भी बताया कि नौकरशाही के कारण सत्ता का कैसे दुरुपयोग होता है। राज्य की इन आलोचनाओं से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने एक नई विचारधारा को जन्म दिया जिसे गिल्ड-समाजवाद कहते हैं।

6 गिल्ड-समाजवाद

गिल्ड समाजवाद का जन्म इंगलैंड में हुआ। यह विचारधारा उदारवादी समाजवाद और सिण्डीकैलिज्म से प्रभावित हुई। इसकी सर्वप्रथम पुस्तक ए० जे० पैंटी द्वारा 1906 ई० में लिखी गई जिसमें आधुनिक उद्योगों की आलोचना इस दृष्टि से की गई थी कि उनमें हस्तकला और सौंदर्य का अभाव होता है। उसने माँग की कि हमें उद्योगों में स्वशासन का सिद्धांत लागू करना चाहिए। प्रत्येक उद्योग अथवा दस्तकारी से सम्बंधित एक गिल्ड बननी चाहिए और प्रत्येक गिल्ड को स्वायत्तता प्राप्त होनी चाहिए। उत्पादन के उपकरणों पर गिल्ड का अधिकार होना चाहिए और गिल्ड को ही उत्पादन से सम्बंधित बातों का निर्णय करना चाहिए। जोड के कथनानुसार, पैंटी के विचार अव्यावहारिक थे, तथापि उन्होंने आगे आने वाले लेखकों को प्रभावित किया।

सन् 1909 ई० में इस सिद्धांत ने एक व्यावहारिक रूप लिया। वस्तुत 1909–1912 ई० का समय इंगलैंड में मजदूरों में बहुत अशांति का था। इस समय एस० जी० होब्सन (1864–1940 ई०), ए० आर० ओरेज (1873–1934 ई०), जी० डी० एच० कोल (1889–1959 ई०), बरट्रेंड रसल और आर० एच० टौनी आदि लेखकों ने अपने गिल्ड समाजवादी विचार प्रस्तुत किए। इनकी प्रमुख धारणा यह थी कि औद्योगिक क्षेत्र में मजदूरों को स्वशासन के अधिकार मिलने चाहिए। इसके लिए उद्योगों को गिल्डों में संगठित करना चाहिए। मजदूर-सभाएँ इन गिल्डों की इकाई का काम दे सकती हैं। ये लेखक समकालीन समाजवाद के केंद्रीयकृत समष्टिवादी विचारों के विरोधी हैं। सन् 1912 ई० तक गिल्ड-समाजवादी विचारधारा काफी प्रभावशाली हो गई।

सन् 1915 ई० में एक राष्ट्रीय गिल्ड लीग कायम हुई तथापि यह अधिक लोकप्रिय नही हुई और सन् 1925 ई० मे इसे भग कर दिया गया। कोल इन विचारको मे प्रमुख था और इसने फ्रांसीसी सिण्डीकेलिज्म और गेटलैंड के नियमो की स्वतन्त्रता सम्बधी विचारो का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया था। टौनी और रसल ने सम्पत्ति के अधिकार की वृत्तिमूलक व्याख्या की। उनके कथनानुसार, सम्पत्ति के अधिकार को उसी सीमा तक नैतिक समर्थन मिल सकता है जिस सीमा तक वह सामाजिक सेवा के कार्य मे लगी हुई हो। आगे चलकर कोल ने गिल्ड समाजवादी विचारो को छोड दिया। शेष विद्वान भी इस क्षेत्र से हटकर उदार-समाजवाद के समर्थक बन गए। तथापि इस विचारधारा का अपना महत्त्व है और इसका अध्ययन सैद्धातिक दृष्टि से होना चाहिए।

वर्तमान व्यवस्था की आलोचना—गिल्ड समाजवादी वर्तमान आर्थिक ढाचे और राजनीतिक लोकतत्र की आलोचना करते हैं। पूंजीवाद सम्बधी इनकी आलोचना लगभग वही है जो अन्य समाजवादी करते है। सम्पत्ति के सम्बध में इनकी धारणा यह है कि उसका नैतिक औचित्य इसी बात पर निर्भर है कि उसका उपयोग सामाजिक उद्देश्य से हो। यदि सम्पत्ति का सामाजिक उपयोग नही होता तो समुदाय उसकी रक्षा करने का दायित्व नही ले सकता। किंतु अभी समाज मे सम्पत्ति को इसलिए मान्यता दी जाती है कि वह एक अधिकार है, इसलिए नही कि सामाजिक दृष्टि से वह उपादेय है। इसके अतिरिक्त उनकी आलोचना यह भी थी कि वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था मे मजदूरो को अमानवीय बना दिया जाता है और उनकी सृजनात्मक हस्तकला नष्ट करदी गई है। इन गिल्ड समाजवादियो को प्रचलित राजनीतिक लोकतत्र पर भी विश्वास नही है। वे कहते हैं कि इसमे नागरिक को केवल यह अधिकार होता है कि वह चार-पाँच वर्ष बाद मतदान करके यह निर्णय करे कि अगली अवधि के लिए उसके शासक कौन होगे। साथ ही, प्रचलित लोकतत्रीय व्यवस्था व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता देती है और मजदूरो को यह तय करने का कोई अवसर नही मिलता कि उन्हे किन दशाओ मे काम करना है। उनका कहना है कि वस्तुत हमारी सामाजिक व्यवस्था बुनियादी रूप मे लोकतत्र-विरोधी है।

सिद्धांत और उद्देश्य—गिल्ड समाजवादियों का ध्येय प्रचलित वेतन-व्यवस्था का अत करना और उद्योगो मे नागरिको के लिए स्वशासन स्थापित करना है। इसके लिए एक लोकतत्रीय आधार पर निर्वाचित राष्ट्रीय गिल्ड हो जो अन्य लोकतत्रीय वृत्तिमूलक सगठनों के मिलकर काम करे। गिल्ड-समाजवाद वृत्तिमूलक लोकतत्र का प्रबल समर्थक है। इसके अनुसार कोई एक व्यक्ति दूसरे व्य-

क्तियों का उचित रूप से प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। हाँ, वह उनके समान उद्देश्यों के लिए उनका प्रतिनिधित्व कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व ही सच्चा है और वास्तविक लोकतन्त्रवादी संस्थाएँ वे हैं जो व्यक्ति द्वारा किए गए विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध हैं। इसके अर्थ यह हुए कि एक सच्चे लोकतन्त्रीय समाज में कई प्रतिनिधिक संस्थाएँ होंगी जिनमें से प्रत्येक व्यक्तियों के विशेष पहलुओं का प्रतिनिधित्व करेगी। अतः विभिन्न कार्यों के लिए पृथक् प्रतिनिधि संस्थाएँ होंगी। गिल्डवादियों के अनुसार, इन सभाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है वृत्तिमूलक और नागरिक संस्थाएँ। कुछ गिल्ड-वादी इनमें वितरण सम्बन्धी संस्थाएँ भी जोड़ देते हैं।

इस प्रतिनिधि संस्था को 'गिल्ड' कहते हैं। गिल्ड परस्पर एक दूसरे पर अवलम्बित व्यक्तियों का स्वायत्त संघ है जो समाज के किसी विशेष कार्य को पूरा करने के लिए संगठित किया गया हो। गिल्ड की तीन विशेषताएँ होती हैं। पहली तो यह है कि यह एक व्यवसाय के समस्त कार्यकर्ताओं को सम्मिलित करता है। इसमें मैनेजर, तकनीकी विशेषज्ञ और शारीरिक श्रम करने वाले मजदूर, सभी शामिल होते हैं। दूसरे, गिल्ड एक उत्तरदायी संस्था है जिसे इस शर्त पर स्वायत्त शासन दे दिया जाता है कि यह अपना कार्य सन्तोषपूर्वक करेगी। अच्छे काम के लिए यह आवश्यक है कि काम करने वालों को काम की पूरी जिम्मेदारी दे दी जाय, और उनके काम में अनावश्यक हस्तक्षेप न किया जाय। गिल्ड की तीसरी विशेषता उसके एकाधिकार का होना है, यद्यपि व्यवसाय का थोड़ा-सा भाग गिल्ड के अधिकार के बाहर रहता है।

सामान्य हितों की बातों के लिए एक राष्ट्रीय संस्था होगी जो वर्तमान संसद् से मिलती जुलती होगी। यह कानून, कर व्यवस्था, सुरक्षा, शिक्षा आदि का कार्य करेगी। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक और स्थानीय संस्थाएँ होंगी जो लगभग वर्तमान स्वायत्त संस्थाओं के समान होंगी। इनका कार्य गैस, बिजली, पानी, पुलिस, सफाई आदि होगा। जहाँ तक उत्पादन का प्रश्न है, काम की दशाएँ, वेतन आदि बातें सामान्य इच्छा के अनुसार कारखाने की निर्धारित कमेटियाँ करेंगी। जहाँ तक कि इससे बड़े प्रश्न हैं, जैसे उत्पादन कितना हो, वस्तुओं का मूल्य क्या रखा जाए आदि। इनका निर्णय करने के लिए ऐसी संस्थाएँ होंगी जिनमें उत्पादकों और उपभोक्ताओं का समान प्रतिनिधित्व होगा। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि गिल्ड-समाजवाद शक्तियों और कार्यों के समायोजन का समर्थन करता है। वृत्तिमूलक लोकतन्त्र का समर्थन गिल्ड समाजवादी दो कारणों से करते हैं। प्रथम, वे मार्क्स के इस विचार से सहमत हैं कि जिसके हाथ में आर्थिक सत्ता होती है वही वस्तुतः राजनीतिक सत्ता का भी उपभोग करता है।

अतः गिल्ड-समाजवादी कहते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र मे लोकतन्त्र उस समय तक चालू नही हो सकता जब तक कि आर्थिक क्षेत्र मे भी लोकतन्त्र लागू न हो। कहने का अर्थ यह है कि जब उद्योगो को लोकतन्त्रीय ढंग से सगठित कर दिया जाएगा तो समाज की लोकतन्त्रीय व्यवस्था भी सरलता से बन जाएगी। दूसरे, उनका कहना है कि आधुनिक उद्योगो मे ऐसी अव्यवस्था है कि उनको सुचारु रूप से सगठित किए बिना सामाजिक जीवन भी व्यवस्थित नही हो सकता। पूंजीवादी तरीके और उद्देश्य असफल सिद्ध हो रहे हैं। अत हमको शीघ्र ही पूंजीवाद के स्थान पर किसी अन्य व्यवस्था की खोज करनी पडेगी। उपर्युक्त बातो का अभिप्राय यह नही समझना चाहिए कि गिल्ड-समाजवादी सिद्धान्त सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे लागू नही होते। वस्तुत गिल्ड-समाजवादी स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि उनका सिद्धात स्थानीय और राष्ट्रीय सरकार पर ही पूर्णत लागू होता है।

उद्योग मे स्वशासन— गिल्ड-समाजवादी यह मानते हैं कि प्रमुख उद्योग और सार्वजनिक सेवाएँ राज्य के हाथ मे होनी चाहिए। किंतु उनका कहना है कि यद्यपि राष्ट्रीयकरण आवश्यक है तथापि उससे समस्या का पूरा हल नही होता। इसका कारण यह है कि राज्य मे नौकरशाही का बोलबाला है जिसके कारण राष्ट्रीयकरण से मजदूरों को विशेष लाभ नही मिलता। अतएव, यदि हम राष्ट्रीयकरण का समुचित लाभ उठाना चाहते हैं तो हमे उद्योगो मे स्वशासन का सूत्रपात करना चाहिए। उद्योगो को लोकतन्त्रीय बनाने के लिए हमे नीचे से सगठन करना होगा। मजदूरो के नेताओ और मैनेजर का मजदूरो द्वारा निर्वाचन होना चाहिए और उन्ही के प्रति वे उत्तरदायी होने चाहिए। इस प्रकार मजदूर सगठित रूप से उद्योगो के प्रशासन पर अपना नियंत्रण रख सकेंगे। यह नियंत्रण गिल्ड को सौंप देना चाहिए। गिल्ड मे शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का श्रम करने वाले व्यक्ति हों। इसका कार्य अपने सदस्यों के अधिकारो की रक्षा करना नही अपितु उद्योगो को चलाना होगा। प्रचलित मजदूर-सभाओ और गिल्ड मे सबसे बडा भेद यह होगा कि जहाँ मजदूर-सभाएँ वर्ग भेद पर आधारित समाज मे मजदूरो के अधिकारो की रक्षा करती हैं, वहाँ गिल्ड मैत्रीपूर्ण समाज मे उद्योगों को चलाएँगे। इस मत के समर्थकों का कहना है कि इस प्रकार गिल्ड न केवल उत्पादन बढ़ा सकेंगे, अपितु वह वस्तुओ को उत्तम भी बना सकेंगे। गिल्ड-पूँजीवादियो के लाभ के लिए काम नही करेंगे बल्कि समाज सेवा मे लगे होंगे। फिर भी भय रहेगा कि गिल्ड कही वस्तुओ के मूल्य को अधिक रखकर मुनाफाखोरी न करने लगें। अतएव, ये लोग कहते हैं कि यद्यपि उद्योगो को मजदूर स्वयं तकनीकी विशेषज्ञो की सहायता से चलाएँगे तथापि जहाँ तक

वस्तुओं के मूल्य आदि के प्रश्न हैं, उनका निर्णय गिल्ड उपभोक्ताओं की कौंसिलों से मिलकर करेंगे।

कोल के मतानुसार, गिल्ड तीन प्रकार के होंगे राष्ट्रीय गिल्ड, जो बड़े-बड़े उद्योगों और सेवाओं को हाथ में लेंगे जैसे रेलवे, खानें, कोयला, इस्पात आदि। इनका स्वामित्व राज्य के हाथ में होगा जो ऐसी राष्ट्रीय संस्था बनाएगा जिन में गिल्ड और उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व होगा। दूसरे, सार्वजनिक सेवा के लिए कुछ स्थानीय संस्थाएँ होंगी जो गैस, बिजली, पानी, स्थानीय परिवहन आदि की व्यवस्था करेंगी। तीसरी श्रेणी में वे संस्थाएँ होंगी जो लघु उद्योगों की देखभाल करेंगी। परचून के व्यापार का काम भी एक लघु उद्योग मान लिया जाएगा। कोल का मत है कि इस श्रेणी के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अथवा स्थानीयकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। हाँ, इनको सहकारिता के आधार पर संगठित किया जा सकता है। मुनाफाखोरी को रोकने के लिए मुनाफे पर क्रमश: बढ़ता हुआ कर लगाया जाएगा। इसका एक लाभ यह होगा कि यदि कुछ गिल्ड अधिक समृद्ध हैं तो कर के रूप में उनकी आय का कुछ भाग सार्वजनिक कार्यों के लिए प्रयुक्त हो सकेगा।

राज्य की स्थिति और कार्य—हम यह कह चुके हैं कि रक्षा, शांति व्यवस्था, कर व्यवस्था आदि ऐसे कार्य होंगे जिनको एक ऐसी राष्ट्रीय संस्था करेगी जिस में सब नागरिकों का प्रतिनिधित्व होगा। प्रश्न यह होगा कि इस संस्था का रूप क्या होगा? नेशनल गिल्ड लीग के अनुसार, इसके रूप की व्याख्या पहले से नहीं की जा सकती। उस परिस्थिति के अनुरूप बनाना होगा। लीग मार्क्स के इस मत से सहमत थी कि वर्तमान समाज में राज्य पूँजीपतियों के हित में प्रशासन करने वाली एक कार्यकारिणी समिति है। गिल्ड समाजवादियों की यह राज्य-विरोधी प्रवृत्ति एक आदर्श समाज बनने के बाद एकाएक समाप्त नहीं हो जाएगी। कोल के अनुसार, वे भावी समाज में राज्य को महत्वपूर्ण स्थान नहीं देना चाहते। फिर भी, कुछ ऐसे गिल्ड-समाजवादी हुए जिनका कहना था कि कुछ ऐसे सार्वजनिक कार्य बच रहेंगे जिन्हें वर्तमान राज्य सरलता से कर सकता है।

कार्य प्रणाली—वर्तमान समाज के स्थान पर एक आदर्श समाज का निर्माण कैसे किया जाएगा? गिल्ड समाजवादियों के अनुसार, सम्भवत संक्रांति-काल में हिंसा की आवश्यकता पड़े तथापि यह भी सम्भव है कि विशुद्ध विकास-वादी ढंग से परिवर्तन हो जाएँ। सम्भवत इसीलिए गिल्ड समाजवादी मजदूर-सभाओं व वर्तमान संगठन का उपयोग करते हैं और भावी समाज में इसे स्थान देते हैं। वस्तुतः मजदूर-सभाएँ वे साधन होंगी जिनके माध्यम से यह परिवर्तन किया जा सकेगा। अतएव, गिल्ड समाजवादी कहते हैं कि मजदूर सभाओं की

सख्या घटाकर इन्हे बडा और शक्तिशाली बनाना चाहिए। साथ ही, प्रत्येक उद्योग धधे मे लगे हुए शारीरिक और मानसिक कार्य करने वाले सभी व्यक्तियो को एक ही मजदूर-सभा का सदस्य बनाना चाहिए। यही नही, उनका कहना है कि धीरे-धीरे मजदूर सभाओ को अपना आधिपत्य बढाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो पूँजीवादियो से कार्य और अधिकार लेकर मजदूरों को सौंप दिए जाएँ। उदाहरण के लिए मजदूरो के नेताओ को निर्वाचित करने का कदम उठाने चाहिए और जिनके मजदूर विरुद्ध हो उन्हे पदच्युत कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त, गिल्ड समाजवादी सामूहिक ठेके लेने के पक्ष मे हैं। इसके अनुसार मजदूर सभा निश्चित मात्रा मे माल उत्पादन करने की गारटी देगी, मजदूरो की निरीक्षण का स्वय प्रबध करेगी, स्वय ही मजदूरो के नेताओ की नियुक्ति और पदोन्नति करेगी और मिलमालिको से मजदूरी का धन इकट्ठा करके मजदूरो मे बाँटेगी। यह अनुभव आगे चलकर उनके बडे काम आएगा और उन्हे इस योग्य बना देगा कि वे उद्योगो का प्रबध अपने हाथो मे ले सकें।

मूल्याकन—गिल्ड-समाजवाद उदार समाजवादियो के समान कुछ सीमा तक राज्य को अपने भावी समाज मे भी बनाए रखेगा किंतु उसके कार्य सीमित कर दिए जाएँगे। इस मत की प्रमुख बात उद्योगो मे स्वशासन को लागू करना और मजदूरो के हाथ मे प्रबध के अधिकार देना है। साथ ही, यह प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का विरोध करते हुए वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व की माँग करता है। एक समय था जब गिल्ड-समाजवाद का बोलबाला था, आज उसके समर्थक नही रहे। इसका कारण सम्भवत यह है कि राजनीतिक सत्ता को हस्तगत करने का प्रश्न अब प्रमुख हो गया है और भावी समाज का प्रश्न गौण। सिद्धात के रूप मे गिल्ड-समाजवाद की इस बुनियादी धारणा की आलोचना की जाती है कि हम मध्यकालीन गिल्ड मे पुन प्राण डालकर उसे उपयोगी बना सकते हैं। वास्तव मे वर्तमान उद्योग भिन्न प्रकार के हैं। जबकि मध्यकालीन कारीगरी छोटे पैमाने पर, परम्परागत और स्थानीय थी, आधुनिक उद्योग बडे पैमाने पर और अकुशल (किंतु सूक्ष्म रूप मे विभक्त) मजदूरो का उपयोग करते हैं। अत वर्तमान स्थिति मे पुराने गिल्डो से काम नही चलाया जा सकता। अन्य आलोचक कहते हैं कि गिल्ड समाजवादी उत्पादकों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं और उपभोक्ताओ की हैसियत से मजदूर के व्यक्तित्व को इतना महत्त्व नही देते। इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यह भी है कि यदि हम अनेक स्तर की गिल्डें बनाएँगे तो उनके आपसी सम्बधो मे सामजस्य रखने की समस्या भी कठिन रूप ले सकती है। वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व की कठिनाइयों की चर्चा हम पहले ही कर चुके है। सम्भवत इन्ही सब कारणो से व्यावहारिक रूप मे गिल्ड-समाजवाद अब लगभग समाप्त हो चुका है।

•

24

अन्य अभिनव विचारधाराएँ

फासिज्म और राष्ट्रीय समाजवाद का दर्शन विभिन्न और दीर्घकाल से परिचित तत्त्वों का एक संश्लेषणात्मक परिणाम था।

—जार्ज एच० सेबाइन

उदारवादी और समाजवादी विचारधाराओ के अतिरिक्त दो अन्य विचार-धाराओं की व्याख्या भी आवश्यक प्रतीत होती है। इनमे एक गाधीवाद है जिसका जन्म भारत-भूमि पर हुआ। दूसरी फासिज्म और नाजीवाद है जिसका उद्भव क्रमश इटली और जर्मनी मे हुआ। वस्तुत ये दो विरोधी विचारधाराएँ हैं जो भिन्न समस्याओ को हल करने के लिए भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न हुईं। नीचे हम इन पर सक्षेप मे विचार करेंगे।

1. फासिज्म

फासिज्म की एक ऐसी परिभाषा देना जो इसकी सभी बुनियादी बातो का समावेश कर ले, सरल काम नही है। तथापि एक विद्वान ने इसे एक ऐसा तरीका बताया है जिसे पूंजीपति उस समय प्रयोग करते हैं जबकि एकाधिकारी-पूंजीवाद (monopoly capitalism) के विरुद्ध मजदूरो का विरोध बहुत अधिक बढ़ जाता है। अत फासिज्म वह आदोलन है जो एकाधिकारी पूंजीवाद की रक्षा के लिए उठाया जाता है। ये परिभाषाएँ फासिज्म के स्वरूप पर अधिक प्रकाश नहीं डालती। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि हम इसके सिद्धात और व्यावहारिक रूप का अध्ययन करें जिससे इसके यथार्थ रूप का स्पष्टीकरण हो जाय।

फासिज्म वस्तुत एक ऐसा राजनीतिक आदोलन और विचार है जो

पूँजीवादी व्यवस्था के अतर्गत खास आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो मे कही भी प्रकट हो सकता है । जब पूँजीवाद की दशा इतनी शोचनीय हो जाती है कि समस्याओ का हल करना कठिन हो जाता है और जब विरोधी शक्तियाँ उसको शक्तिहीन बना देती हैं तब फासिज्म का उदय होता है । जब लोकतन्त्रीय प्रणाली पूँजीवाद को उसकी कठिनाइयो से मुक्त करने मे असफल हो जाती है, जब ससदें केवल वाक्पटु और क्रियाहीन व्यक्तियो से भर जाती हैं और चारो ओर सयम अनुशासन का अभाव दिखाई देने लगता है, उस समय कोई ऐसा महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति सामने आता है जो यह सोचता है कि यदि मैं कुछ वर्षों तक निर्विरोध राज्य कर सकूँ तो देश को इन दोषो से मुक्त कर दूँगा। इसी विचार से प्रेरित होकर मुसोलनी और हिटलर जैसे व्यक्तियो ने अपना आदोलन चलाया। पूँजीपति जिनकी अपनी स्थिति डाँवाडोल हो रही थी, ऐसे व्यक्तियो के मित्र बन गए और उन्होने यह सोचा कि इनकी सहायता से वे अपने हितो की रक्षा कर सकेंगे। इनकी आर्थिक और राजनीतिक सहायता से फासिस्ट नेता राज्य-सत्ता पर अधिकार करते हैं और पूँजीवाद की विरोधक शक्तियो को धोखे, असत्य और हिंसा के हथकडो द्वारा छिन्न भिन्न करके पूँजीवाद का पुनरुत्थान करते हैं। एक विचारधारा के रूप मे फासिज्म का कोई तर्कसगत सिद्धात नही है । फासिस्ट विचारधारा को बनाने के लिए विभिन्न विचारो को काट-छाँट कर एक स्थान पर एकत्रित कर दिया गया है । मुसोलनी गर्व के साथ कहता था कि वह तार्किकता और सम्बद्धता की चिंता नही करता । एक बार उसने घोषणा की कि हम कुलीन भी हैं और लोकतन्त्रीय भी , अनुदार भी हैं और प्रगतिशील भी , प्रतिक्रियावादी भी हैं और क्रातिकारी भी , कानून के अनुसार आचरण करने वाले भी है और गैरकानूनी कार्य करने वाले भी , हम यह सब कुछ समय, स्थान, वातावरण और आवश्यकता के अनुसार करते हैं। इस कथन को देखते हुए अच्छा होगा कि हम यह समझने का प्रयत्न करें कि फासिज्म किन बातो के अनुकूल है।

फासिज्म लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता, समता, समाजवाद, शातिवाद और अतर्राष्ट्रीयता का विरोधी है । वह राष्ट्र (अथवा राज्य) को बहुत गौरव प्रदान करता है और यह मानता है कि राज्य अथवा राष्ट्र के लिए हमें सब कुछ उपाय अपनाने और प्रत्यक्ष कार्य करने के लिए तैयार रहना चाहिए। वह विवेक पर नही, भावनाओं और अनुभूति पर विश्वास करता है । यह सीधी कार्यवाही पर जोर देता है। वह नीत्शे के इस विचार से सहमत है कि प्रत्येक समाज म कुछ स्वाभाविक नेता होते हैं जिनके दृढ सकल्प से सम्पूर्ण देश और उसकी जनता प्रभावित हो जाती है । कहने का अभिप्राय यह है कि फासिज्म अपने को अनुभव-आश्रित,

व्यावहारिक, विभिन्न स्थानों से सग्रहीत विचारधारा बताता है।

राज्य (अथवा राष्ट्र) के प्रति दृष्टिकोण— परिस्थितियों के अनुसार यह राष्ट्र (अथवा राज्य) को अत्यधिक गौरव प्रदान करता है। यह समाज के जैविक सिद्धात पर विश्वास करता है, अर्थात् इसकी धारणा है कि व्यक्ति अपने सद्जीवन के लिए पूर्णत राज्य अथवा राष्ट्र पर निर्भर होता है। उसके बाहर अथवा उसके पृथक् होकर उसका कोई अस्तित्व नही रहता। इसका विश्वास है कि राज्य अथवा राष्ट्र का अपना व्यक्तित्व है और अपनी इच्छा है। इसके सदस्यों को इसकी इच्छा के अनुरूप कार्य करने चाहिए। उसके अपने उद्देश्य हैं जिनकी प्राप्ति के लिए सदस्यों को त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। राज्य अथवा राष्ट्र अपने मे पूर्ण है और उन्हे सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता प्राप्त है। साथ ही, वह सर्वव्यापक भी है। राज्य मे जितने समुदाय है वे उसकी कृपा पर निर्भर हैं। मुसोलनी ने एक बार कहा था कि 'सब कुछ राज्य के लिए है, राज्य के विरुद्ध कुछ नही है, राज्य के बाहर भी कुछ नही है'। अतएव, यदि राज्य (अथवा राष्ट्र) के हितों और व्यक्तियों के हितों मे कोई विरोध हो तो राज्य के हितो को प्रधानता मिलनी चाहिए। राज्य का परम ध्येय अपने को शक्तिशाली बनाना है और इस ध्येय की प्राप्ति के लिए सदस्यों को आवश्यक नियत्रण और अनुशासन स्वीकार करना चाहिए। वस्तुत राज्य की सेवा मे ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है। मुसोलनी के अनुसार, राज्य राष्ट्र को जन्म देता है। इसके विपरीत हिटलर का कहना था कि राज्य राष्ट्र का एक साधन-मात्र है। इसका कारण सम्भवत यह है कि जब हिटलर ने अपना ग्रथ लिखा उस समय वह राष्ट्र का एक नेता था, किंतु उसके हाथ मे सत्ता नही आई थी। वैसे भी हिटलर नस्ली पवित्रता पर बहुत बल देता है। अतएव, यह स्वाभाविक था कि वह राज्य की अपेक्षा राष्ट्र को गौरव प्रदान करे।

फासिज्म का मुख्य सिद्धात राष्ट्रीय नेता मे विश्वास है जो फासिस्ट दल का प्रमुख होता है। इसका एक कारण यह है कि उसके अनुसार मनुष्य प्रवृत्तियों और अविवेक के अनुसार कार्य करता है। फासिज्म विवेक और ज्ञान पर विश्वास नही करता। अतएव, वह प्रचार साधनों द्वारा लोगों की भावनाओं को उत्तेजित करता है और उन्हे नेता तथा राजनीतिक दल मे विश्वास रखने की प्रेरणा देता है। नेता की विशेषता यह नही होती कि वह विद्वान है, अपितु यह होती है कि वह प्रभावशाली रूप मे भाषण देकर लोगों को सम्मोहित कर सकता है। वह एक अच्छा सगठनकर्त्ता और मनोवैज्ञानिक होता है। वह यह दावा करता है कि वह जनता की नाडी को पहचानता है।

फासिज्म लोकतत्र मे विश्वास नहीं करता और न वह स्वतत्रता अथवा

समानता के सिद्धात को मानता है । उसका कहना है कि लोकमत केवल सगठित समूहो का मत होना है । मुसोलिनी के अनुसार, अल्पतत्र ही लोकतत्र का सच्चा रूप है । फासिस्टो का विश्वास है कि शासन सत्ता कुछ व्यक्तियो के हाथ में होनी चाहिए जो फासिस्ट दल के नेता हैं। वे लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धात को भी स्वीकार नही करते ।

यद्यपि फासिज्म अध्यात्मिक बातें करता है और धर्म के महत्त्व को स्वीकार करता है, तथापि सगठित चच के प्रति उसका दृष्टिकोण इस पर निर्भर होता है कि चर्च उसका समर्थन करने के लिए तैयार है या नही । जब मुसोलनी का कैथोलिक चर्च के साथ झगडा था तब उसने ऐसी बातें कही जिसके अर्थ यह होते थे कि फासिस्ट विचारधारा स्वत धर्म का स्थान ले सकती है । बाद मे चर्च के साथ सुलह हो जाने पर उसने चर्च और पोप को मान्यता दे दी । वैसे भी फासिज्म भौतिकवादी सिद्धात के विरुद्ध है और उसका कहना है कि मनुष्यो को भौतिक सुखो पर ध्यान नही देना चाहिए । मुसोलिनी के अनुसार, आनन्द की अपेक्षा कर्तव्य, स्वतत्रता की अपेक्षा सत्ता और समानता की अपेक्षा गुणो पर ध्यान देना चाहिए । फासिज्म के अतर्गत शिक्षा और प्रसार के समस्त साधनो पर पूर्ण नियत्रण रखा जाता है और हर सम्भव उपायो से जनता को फासिज्म के अनुकूल बनाने का भरसक प्रयत्न किया जाता है ।

फासिज्म सीधे सादे जीवन का विरोधी है । उसके अनुसार जीवन एक सघर्ष है जिसमे मनुष्य को विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । निष्क्रियता मृत्यु के समान है । हमे जीवन के साथ मोह करने का प्रयत्न करना चाहिए, ऐसे जीवन से उसका अर्थ है कर्तव्यपालन, अनुशासन और साहसिक कार्य करना । मुसोलनी के अनुसार, आज हम युद्धों, आर्थिक झगडो और विचारो के सघर्ष मे लगे हुए हैं, किंतु यदि कभी ऐसा दिन आया जब सघर्ष न रहे तो यह बहुत दुखदायी बात होगी, वह विनाश का दिन होगा । किंतु ऐसा दिन कभी नही आएगा । अतएव फासिज्म शातिवाद का विरोधी है और इसको भीरुता का पर्यायवाची मानता है । उसके अनुसार, सघर्ष और युद्ध प्रगति के लिए आवश्यक हैं । युद्ध मे व्यक्ति के सर्वोत्तम गुणो का विकास होता है । अत युद्ध का हमे स्वागत करना चाहिए । हिटलर के अनुसार शाश्वत युद्ध के कारण मनुष्य की प्रगति हुई है, शाश्वत शाति में मनुष्य विनष्ट हो जाएगा । समीक्षको का मत है कि फासिस्ट नेता युद्ध की चर्चा इसलिए बहुत अधिक करते हैं कि वे जनता का ध्यान आर्थिक कठिनाइयो से हटाकर बाहरी बातों पर केंद्रित करना चाहते हैं जिससे उन्हें अपनी नेतागीरी चलाने और सत्ता बनाए रखने मे कठिनाई न हो । फासिज्म युद्ध का समर्थक है, और अतर्राष्ट्रीय कानून एव

अंतर्राष्ट्रीयता का विरोधी है। उसके अनुसार, राष्ट्र और राष्ट्रीयता से बढ़कर संसार में कोई वस्तु नहीं है।

फासिज्म पूंजीवाद का समर्थन और साम्यवाद तथा समाजवाद का विरोध करता है। यही नहीं, वह स्वतंत्रता, समानता और लोकतंत्र का भी दुश्मन है। वह उग्र राष्ट्रीयता का पोषक है और सैनिकवाद तथा पुनरुत्थानवाद का समर्थक है। यह समग्रवादी (totalitarian) है। आर्थिक क्षेत्र में यह वृत्तिमूलक (functional) प्रतिनिधित्व का समर्थक है लेकिन इन संस्थाओं में मिल-मालिकों और मजदूरों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है, जबकि मिल-मालिक संख्या में बहुत कम और मजदूर संख्या में बहुत अधिक होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि राज्य द्वारा स्थापित आर्थिक नियंत्रण करने वाली संस्थाओं में पूंजीपतियों को विशेष प्रतिनिधित्व और संरक्षण प्राप्त होते हैं। यद्यपि फासिज्म का उद्देश्य पूंजीवाद की रक्षा करना होता है तथापि मजदूरों और निम्न मध्यवर्ग को यह बात नहीं बताई जाती। उनसे कहा जाता है कि फासिज्म मजदूरों की भलाई के लिए काम कर रहा है। इस प्रकार फासिज्म असत्य का सहारा लेने में नहीं हिचकिचाता। वह पूंजीवाद के विरुद्ध भी नारे लगाता है; तथापि वास्तव में वह पूंजीवादी व्यवस्था का पोषक है। जर्मनी में नाजी दल ने तो अपना नाम भी 'जातीय समाजवादी दल' रख लिया था।

मूल्यांकन—फासिज्म अत्याचार और शोषण का एक साधन है। श्रीयुत हेल ने अपनी पुस्तक में प्रमाण द्वारा यह दिखाया है कि फासिज्म के अनुयायियों ने निरपराधियों के रक्त से यूरोप की भूमि रंग दी है। उनके अनुसार, फासिज्म तर्क के विरुद्ध एक आंदोलन है और हिंसा भावना और वासना के समर्थन में एक पुकार है। इसका परिणाम अनिवार्य रूप से निर्दयता और पागलपन है। जर्मनी और इटली से अनेक सम्माननीय विद्वान इसलिए निकाल दिए गए कि उन्होंने अपने ज्ञान को फासिज्म की वेदी पर चढ़ाने से इंकार कर दिया। इतिहास को तोड़-मरोड़ कर मिथ्या रूप दे दिया गया। फासिज्म ने स्त्रियों को मकान के अंदर बंद कर दिया। गोबिल्स के अनुसार स्त्रियों का काम सुन्दर बनना और बच्चे पैदा करना है। यहूदियों पर किए गए नाजी अत्याचारों को सभी लोग जानते हैं। फासिज्म ने किस प्रकार मानवता को अंधकार में डुबोने का यत्न किया उससे सब भलीभांति परिचित हैं। यद्यपि हिटलर और मुसोलिनी नष्ट हो गए, तथापि फासिस्ट भावनाओं का अभी तक समूल उन्मूलन नहीं हुआ है और अभी भी वह विभिन्न रूपों में प्रकट होती रहती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस सभ्यता-विरोधी विचारधारा को समूल नष्ट कर दें।

2. गांधीवाद

भारतीय राष्ट्रपिता मोहनदास करमचन्द गाधी के विचारों को 'गाधीवाद' कहकर पुकारा जाता है। किंतु इस नाम से गाधी जी स्वय बहुत घबराते थे। वे कहते थे कि गांधीवाद जैसी कोई चीज नही है। आप मेरे नाम से इस तरह चिपके रहेंगे तो दुनिया आप पर हँसेगी। लेकिन एक दूसरा खतरा भी है, वह बडा भयकर है .. वह यह कि आपका सघ कहीं सम्प्रदाय न बन जाए। मेरे जिन्दा रहते हुए भी जब ऐसा हो सकता है तो मेरे मरने के बाद क्या होगा? जब कोई मुश्किलाहट सामने आएँगी, तो आप कहेंगे—देखो उसने 'यग इडिया' और 'हरिजन' मे क्या-क्या कहा है। आप अपनी बहस मे कसम खा-खाकर मेरे लेखो का प्रमाण देंगे। अच्छा तो यह हो कि मेरी हड्डियो के साथ ही मेरे सारे लेख जला दिए जाएँ"[1]। अपने एक अन्य लेख मे उन्होने कहा कि 'गाधीवाद नाम की कोई चीज रही ही नही। और न मैं अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोड जाना चाहता हूँ। मैं किसी नए सिद्धात या वाद का जन्मदाता होने का दावा नही करना चाहता। मैंने तो केवल जो शाश्वत सत्य हैं, उसको अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नो पर अपने ढग से प्रयुक्त करने की कोशिश मात्र की है। जो राय मैंने कायम की है और जिन निर्णयो पर मैं पहुँचा हूँ वे भी अतिम या अकाट्य नहीं हैं। मैं कल ही इन्हें बदल सकता हूँ। मुझे ससार को कोई नई चीज नहीं सिखानी। सत्य और अहिंसा उतने ही प्राचीन हैं जितने पुराने पर्वत'। फिर भी, 'गाधीवाद' अब एक स्थायी शब्द बन गया है जो गांधी जी की विचार-धारा का प्रतीक है।

गांधी जी का उद्देश्य मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति है। इसके लिए सत्य, अहिंसा, ईश्वर-विश्वास आदि साधन हैं। इन गुणो को मनुष्य तभी प्राप्त कर सकता है जब वह 'सादा जीवन, उच्च विचार' के सिद्धात पर चले। इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति आत्मनिर्भर बनने का प्रयत्न करे। कुछ विद्वानो के अनुसार, गाधी जी आधुनिक सभ्यता की घडी की सुई को शताब्दियो पीछे हटाना चाहते थे। वे एक ऐसे समाज की कल्पना करते थे जिसमे मशीनों की आवश्यकता नहीं होगी और लघु उद्योगो से काम पूरे हो सकेंगे। गांधी जी अपना मार्ग अहिंसात्मक प्रयोगो द्वारा, सद्विचारो का प्रचार करके, मनुष्यो मे शाति और मेल-जोल बढ़ाकर प्राप्त करना चाहते थे। गाधीवाद न इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या मे विश्वास करता है और न वर्ग सघर्ष मे वह सर्वोदय मे, विश्वास करता है। नीचे हम इस विचारधारा की सक्षेप मे विवेचन करेंगे।

---

1 देखिए समाजवाद की रूपरेखा, पृष्ठ 280-490.

गांधीवाद की दार्शनिक नीति—गांधी जी का अंतिम उद्देश्य है आध्यात्मिक उन्नति, ईश्वर ज्ञान और मोक्ष प्राप्त करना। उनका कहना था कि उनके जीवन की प्रत्येक क्रिया इसी दृष्टि से होती है। यही उन्हें राजनीति मे घसीट लाया। उनके अनुसार सब जीवो का कल्याण करना ही मनुष्य का सबसे बडा धर्म है। सेवा और प्रेम ईश्वर प्राप्ति के अमोघ साधन हैं। उनके अनुसार सत्य ही ईश्वर है और ईश्वर ही सत्य है। गाधी जी का कहना था कि जो भी है सब ईश्वरकृत है। 'अत मे किसी का नाश नही चाह सकता। किसी की बुराई नहीं चाह सकता'। श्री हरिभाऊ उपाध्याय के शब्दो मे, 'सत्य और अहिंसा गाधीवाद के ध्रुव सत्य हैं'। अहिंसा से उनका आशय था कि मन, वचन और कर्म से किसी का बुरा न चाहना। गाधी जी का कहना था कि मनुष्यो को सादगी से रहना चाहिए जिससे उनकी आवश्यकताएँ कम हो और उन्हे पूरा करने के बाद काफी अवकाश मिल सके। इस खाली समय को उन्हे अध्ययन मनन मे लगाना चाहिए अथवा रचनात्मक कार्य मे। उनके अनुसार, मोटर कार, सिनेमा, रेडियो आदि सभ्यता के उपकरण मनुष्य की आधुनिक उन्नति मे बाधा डालते हैं। अत उनका उपयोग बद कर देना चाहिए।

गाधी जी के इस विचार की श्री एम० एन० राय ने आलोचना की। उनके अनुसार यदि यह मान लिया जाए कि सारा जीवन आदर्श जीवन है तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि धोती कुर्ता पहनने वाला व्यक्ति पतलून पहनने वाले व्यक्ति से श्रेष्ठ है, क्योकि फिर तो लगोंट ही के पहनने वाला व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ होगा और जगल मे नगा घूमने वाला जगली सबसे अधिक उन्नत। यदि सादगी को ही उन्नति की कसौटी मान लिया जाए तो सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति वे पूर्वज होगे जो पेडो पर रहते थे। समाजवादियों के अनुसार, भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति मे चोली दामन का साथ है और दोनो की साथ-साथ उन्नति होनी चाहिए।

आदर्श समाज—गाधीवादी समाज मे उत्पादन का केंद्रीयकरण नही होगा। समाज छोटे-छोटे गाँवों में विभक्त होगा। और प्रत्येक गांव आत्म निर्भर होने की चेष्टा करेगा, अर्थात् वहाँ के निवासी जो पैदा करेंगे उसी का वे उपभोग करेंगे। गांधीवाद श्रम विभाजन के सिद्धात में विश्वास नही करता, अथवा यह कहिए कि वह उसे जरूरी नहीं मानता। गाधीवाद आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का पक्षपाती है। गाधीवाद के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अथवा परिवार को अपनी जरूरत के सब साधन स्वय उत्पन्न करने चाहिए। गाधीवाद मशीनो द्वारा बडे पैमाने पर उत्पादन के विरुद्ध है। उनका विचार है कि मशीनों के आगमन के साथ पूँजीवादी के विकृत रूप का जन्म हुआ और शोषण तथा वर्ग सघर्ष बढ़े। मशीनो

ने गाँवो को उजाड कर शहर बसाए है जो आध्यात्मिक और आर्थिक हीनता, दरिद्रता और बदचलनी के केंद्र हैं। समाजवाद के अनुयायी गाधी जी के इन विचारो की आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि गाधी जी ने मशीनो के दोषो को देखा, उनके गुणो को नही। सम्भवत यही कारण है कि स्वतत्र होने के बाद हमारे देश मे आर्थिक क्षेत्र मे गाधीवादी विचारधारा को मान्यता नही दी गई और हमने औद्योगिक विकास का मार्ग अपनाया।

अहिंसा की नीति—गाधी जी का कहना था कि उन्हे अत्याचार का हिंसा से नही बल्कि अहिंसा से सामना करना चाहिए। अहिंसा का आध्यात्मिक मूल्य तो है ही, उसका व्यावहारिक मूल्य भी कम नही है। यदि हमारा विपक्षी हम से अधिक बलवान है तो हिंसा द्वारा उससे बदला लेना या उसके अत्याचार को रोकना कठिन है। अहिंसा और प्रेम द्वारा, विपक्षी को दड देकर नही किंतु स्वय कष्ट सहकर, उसे जीतने की रीति मे जो शक्ति है उसका अभी सम्यक् विकास नही हुआ। अहिंसा के तीन प्रमुख रूप हैं (१) निष्क्रिय प्रतिरोध (passive resistance) जो कष्ट सहन द्वारा अधिकारो को प्राप्त करने का मार्ग है। गाधी जी कहते थे कि जब मैं अपनी अतरात्मा के विरुद्ध कार्य करना नामजूर करता हूँ तो मैं आत्मबल का प्रयोग करता हूँ। किंतु यदि मैं हिंसा के प्रयोग से उस कानून को रद्द करा दूँ तो मैं पशुबल का प्रयोग कर रहा हूँ'। आत्मबल मे कष्ट उठाना पडता है। यही निष्क्रिय प्रतिरोध है। (२) सविनय अविज्ञा (civil disobedience) जिसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई कानून सत्य के विरुद्ध है और अतरात्मा उसे मानने की गवाही नही देती तब उसे सविनय, अहिंसात्मक रीति से भग करना चाहिए। (३) असहयोग (non co-operation) जिस का अर्थ यह है कि सत्य के विरुद्ध और अतरात्मा के प्रतिकूल कार्यों में सहयोग न देना। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने गाधीवाद का यह दृष्टिकोण बडे सुन्दर रूप मे रखा है। आप लिखते हैं कि 'सामाजिक समस्या का समाधान शातिमय समझौते मे है, सघर्ष मे नही, पारस्परिक मेल मे है, विनाश म नही, परिवर्तन मे है, क्रांति म नही, आत्म अभिव्यक्ति म है, इतर अभिव्यक्ति मे नही। एक शब्द मे, *अहिंसा मे है, हिंसा मे नही*।

समाजवादी गाधी जी के इस विचार से सहमत नही हैं। उनका कहना है कि आज तक जितनी क्रांतियाँ हुई हैं, उनम प्राय ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके कारण रक्तपात होकर रहता है। हिंसा से विचलित होकर लक्ष्य को नही छोडा जा सकता। समाजवाद हिंसा का स्वागत नहीं करता, किंतु वह उससे घबडाता भी नहीं है। इसके विपरीत गाधीवाद कहता है कि हम मानते हैं कि बिना शाति के शाति नही होगी, पर शत्रुओ और विरोधियो की हिंसा-

त्मक कार्यों का उत्तर हम अहिंसा से ही देंगे। प० जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, 'अहिंसा यदि सजीव और समर्थ हो तो वह हमें बहुत दूर तक ले जा सकती है, तथापि वह शायद ही हमें अंतिम ध्येय तक पहुँचा सके। प्रायः किसी न किसी प्रकार का बल प्रयोग लाजमी हो जाता है क्योंकि जिन लोगों के हाथ में ताकत और खास अधिकार होते हैं वे उन्हें उस समय तक नहीं छोड़ते जब तक उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं कर दिया जाता। अथवा जब तक ऐसी सूरत पैदा न हो जाए जिसमे उनके लिए खास अधिकारों का रखना छोड़ने से ज्यादा नुक्सानदायक न हो जाए। समाज के मौजूदा राष्ट्रीय और वर्गीय संघर्ष बगैर बल-प्रयोग के कभी नही मिट सकते'। अत यह स्पष्ट है कि इस सम्बध मे गाधी-वाद और समाजवाद में मौलिक अतर है काग्रेस ने भी अहिंसा को एक नीति के रूप मे ग्रहण किया, ध्येय के रूप मे नहीं।

सर्वोदय—गाधीवाद वर्ग सघर्ष मे विश्वास नही करता। वह पूँजीपतियों और जमीदारों को अधिकार-च्युत करने के भी विरुद्ध है। उसके अनुसार एक वर्ग को दूसरे वर्ग के साथ प्रेम और मैत्रीभाव से रहना चाहिए। गाधीवाद मानता है कि मजदूरो और किसानों का शोषण होता है और वह इस शोषण का अत भी करना चाहता है, तथापि गाधीवाद का विश्वास है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से भला होता है। अत उसका हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है, उसके मन मे दया उत्पन्न की जा सकती है, उसके मन मे शोषण के विरुद्ध भाव उत्पन्न किए जा सकते हैं। लेकिन लड भिडकर या बलप्रयोग के द्वारा यह नही किया जा सकता, प्रेम और सद्विचार द्वारा किया जा सकता है। गाधी जी कहते थे कि जमीदारो और पूँजीपतियो को किसान और मजदूरों का ट्रस्टी होना चाहिए। उन्हें सम्पत्ति का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए जिससे किसानों और मजदूरो को लाभ हो। सम्पत्ति वस्तुत व्यक्तिगत उपयोग के लिए नही बल्कि समाज के उपयोग के लिए है और धनवान लोग उसके सरक्षक मात्र हैं। गाधी जी जिस राम राज्य का स्वप्न देखते थे उसमें राजाओ और रक दोनो के अधिकार सुरक्षित रहेंगे। सभी की उन्नति की चेष्टा की जाएगी और सभी को उत्कर्ष की समान सुविधाएँ दी जाएँगी।

समाजवाद इन विचारों से सहमत नहीं है। वह व्यक्तिगत सम्पत्ति का अपहरण कर उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करना चाहता है। सम्पूर्णानन्द के अनुसार, 'गाधी जी का राम-राज्य का स्वप्न दोषयुक्त है। यही नहीं, जबकि समाजवाद सबको त्याग और अपरिग्रह की शिक्षा देना चाहता है, गाधी-वाद एक वर्ग को पूर्ण त्याग और अपरिग्रह की शिक्षा देगा और दूसरे वर्ग को सतोष का पाठ पढ़ाएगा। इसमे सघर्ष की जड बनी रहेगी'। जयप्रकाश नारा-

यण पूछते हैं कि 'वह' राम-राज्य कैसा होगा जिसमे भिखारी बने रहगे। वह गाधी जी के दर्शन को धोखेबाजी बताते थे। उसका कहना था कि गाधी जी केवल यह चाहते हैं कि ऊपर की सतह के लोग नीचे सतह के लोगो से तनिक दया का बर्ताव करें और गरीबो को सतोष का पाठ पढाएँ। उन्होने गाधी जी के ट्रस्ट सम्बधी विचारों की भी बडी आलोचना की। उनके अनुसार, ट्रस्टी शब्द अस्पष्ट है। मान लीजिए कि जमीदार ट्रस्टी है। 'अब सवाल यह उठता है कि धन के किस हिस्से को वह ट्रस्ट समझे—समूचे को या किसी हिस्से को। अगर किसी हिस्से को, तो हिस्सा क्या हो और उसे कौन निश्चय करेगा ? अगर उस का किसान उसके धन का बराबर का हिस्सेदार है, तो इस बराबर के ठीक मानी क्या हैं ? फिर कोई हिस्सेदार ट्रस्टी कैसे हो सकता है'। उनके मतानुसार ये सवाल ऐसे नही हैं जिनकी उपेक्षा की जा सके। एम० एन० राय के अनुसार, गाधी जी जिस विषमता को दूर करना चाहते हैं वे उसके मूल स्रोत को नही पहचानते। उनके उपायो से केवल शोषण की मात्रा कम होगी, शोषण का अत नही होगा।

मूल्यांकन—इसमे कोई सदेह नही कि गाधीवाद ने देश में एक अपूर्व जागृति फैला दी जिससे जनसाधारण अपने अधिकारो को पहचानने लगे और अनेक भारतवासी निर्भयतापूर्वक स्वाधीनता सग्राम मे जुट गए। हमे यह नही भूलना चाहिए कि गाधी जी अहिंसा को साहसी व्यक्तियों का अस्त्र मानते थे, कायरो का नही। उनका कहना था कि यदि हमारे मन में हिंसा समाई हुई है तो हमे अहिंसा का स्वाग नहीं रचना चाहिए। तथापि उनका कहना था कि कायर होने से यह नही अच्छा है कि व्यक्ति हिंसा का प्रयोग करे। अहिंसा मे उन का पूर्ण विश्वास था और वह समझते थे कि दुनिया की ऐसी कोई समस्या नही है जिसका अहिंसात्मक ढग से समाधान न किया जा सके। गाधी जी की एक बडी देन यह है कि उन्होने ध्येय और साधन—दोनो की पवित्रता पर बल दिया। उनके अनुसार, साधन एक बीज के समान है। जैसे साधन होंगे वैसा ही फल होगा। गांधी जी के इन विचारो की जान रस्किन, हक्सले आदि विद्वानों ने बडी प्रशसा की है। गाधी जी ने जिस प्रकार अहिंसात्मक सत्याग्रह के ढग को अपनाया यह अभूतपूर्व है। गाधी जी के अनुसार सत्याग्रही को मन, वचन और कर्म से सत्य और अहिंसा का मार्ग अपनाना चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि एक सत्याग्रही कभी किसी व्यक्ति को किसी प्रकार की हानि नही पहुँचा सकता। वह स्वय कष्ट सह सकता है और अपने आत्म त्याग द्वारा दूसरों के हृदय-परिवर्तन के यत्न कर सकता है, किंतु वह दूसरो को कष्ट नहीं पहुँचा सकता। लेकिन इसका अभिप्राय यह नही है कि असत्य और अन्याय को प्रश्रय दिया

जाए। गाधी जी के कथनानुसार, ऐसी बातो से पूर्ण असहयोग करना चाहिए।

गाधी जी न अपने आदर्श समाज की विस्तृत रूपरेखा नही दी; तथापि उन के विचारो से ऐसा प्रतीत होता है कि वह दार्शनिक अराजकतावादी विचारो से काफी प्रभावित हुए थे। वह राज्य के विरोधी थे क्योकि राज्य का आधार शक्ति या हिंसा है। उनका विचार था कि अहिंसक समाज मे राज्य की आवश्यकता नही होगी। लोग स्वेच्छापूर्वक सहकारिता के आधार पर काम करेंगे। लेकिन स्वतन्त्र भारत ने जहाँ गाधी जी को समुचित आदर, सम्मान और श्रद्धा दी वहाँ उनके विचारो का नही अपनाया। दूसरी ओर, अमरीकी नीग्रो नेता मार्टिन लूथर किंग ने नीग्रो लोगो के अधिकारो की रक्षा के लिए अहिंसक मार्ग अपनाकर काफी सफलता प्राप्त की है।

यह कहना कठिन है कि गाधीवाद का भविष्य क्या होगा? अभी तो केवल यह कहा जा सकता है कि एक अर्थ मे इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। जिस प्रकार बौद्ध धर्म का जन्म भारत मे हुआ, किंतु कालातर मे उसका विस्तार भारत के बाहर हुआ; हो सकता है कि गाधीवाद के साथ ऐसा ही कुछ हो। हमारा विचार है कि गाधीवादी मार्ग उन व्यक्तियो के विरुद्ध सफल हो सकता है जो स्वत अच्छे हो, जिनमे न्याय की भावना हो, और जिनका लोकतन्त्र में विश्वास हो। यदि सालजार, या आयन स्मिथ के साथ अहिंसावादी मार्ग अपनाया जाए तो सफलता मिलना दुष्कर है। साथ ही हमे यह नही भूलना चाहिए कि गाधी जी अपने निकटतम साथियो का भी पूरी तरह हृदय-परिवर्तन नही कर सके। उनके अधिकतर साथियो ने अहिंसा को एक नीति के रूप मे अपनाया ध्येय के रूप मे नहीं। उनका 'ट्रस्ट' का सिद्धात भी अधिक प्रभावशाली प्रमाणित नही हुआ। और वे धनिक लोग, जिनके साथ उनका निकट का सम्बध था, व्यावहारिक रूप मे अन्य पूँजीवादियों से अच्छे प्रमाणित नही हुए। जिस काम मे गाधी जी को स्वय अधिक सफलता नही मिली, उसमे गाधी जी से कम मनोबल वाले व्यक्तियों को सफलता मिल सकेगी, यह कोरी आशावादिता है[1]।

1 समाजवाद की रूपरेखा, पृ. 324 349

25
अंतर्राष्ट्रीय संगठन

अंतर्राष्ट्रीय सहकारिता को प्रभावशाली बनाने के मार्ग में जो मनोवैज्ञानिक बाधाएँ हैं, उन सबका सम्बंध इस बात से है कि सरकारों, और उनके पीछे स्थित संसदों तथा अंतत जनता में सामान्य आदर्शों के प्रति कैसे अनुरक्ति उत्पन्न की जाय। जहाँ एक ओर इस प्रकार की अनुरक्ति उत्पन्न करने का प्रमुख साधन सहकारिता के वास्तविक अनुभव हैं, वहाँ दूसरी ओर सहकारिता का विकास इस अनुरक्ति पर निर्भर है। इस प्रकार यह मनुष्य और उसकी संस्थाओं की एक शाश्वत समस्या है।

—गुनार मिर्डाल

1. अंतर्राष्ट्रीयता (Internationalism)

लोगों में देशप्रेम का होना स्वाभाविक है, किंतु हम इसकी कमियों को ध्यान में रखना चाहिए। प्राय राष्ट्रीयता हमारे दृष्टिकोण को संकुचित बना देती है और हमारे अंदर कभी-कभी वह दम्भ भर देती है। कभी-कभी वह लोगों में संकीर्णता और आक्रामकता की भावनाएँ ला देती है। इनके कारण, राष्ट्रों में प्रतिस्पर्धा और संघर्ष शुरु हो जाते हैं जो मानवता के लिए हानिकारक है। विश्वशांति और मानवता की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि हम ऐसी नीति अपनाएँ जिसमें हमको अपनी इच्छानुसार जीवन यापन की सुविधा हो और दूसरों को उनकी इच्छानुसार। मानव जाति की प्रगति इस बात पर निर्भर है कि हम संघर्ष के मार्ग को त्याग कर किसी सीमा तक सहकारिता के साथ कार्य करते हैं। युद्ध की विभीषिका हमारे सामने है और यदि हम मानव जाति का संहार नहीं चाहते तो हम युग के मार्ग को त्यागना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रों के अस्तित्व को स्वीकार करती है। उनका विचार है कि विभिन्न राष्ट्रों के आपसी हितों में अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हमारा दृष्टिकोण संकुचित न हो और हम दूसरे लोगों के अधिकारों और हितों का समान रूप से आदर करें। इस प्रकार, अंतर्राष्ट्रीयता विचार और कार्य की एक ऐसी पद्धति है जो शांतिपूर्ण सहकारिता को प्रोत्साहन देती है।

अंतर्राष्ट्रीयता और विश्व बंधुत्व (cosmopolitanism) की भावना में भेद है : विश्व बंधुत्व राज्य और राष्ट्र की दीवारों को स्वीकार नहीं करता। वह मनुष्य की एकता और समानता पर जोर देता है और यह मानता है कि सारा मानव समाज भाई चारे की भावना से बँधा हुआ है। विश्व बंधुत्व हमारा एक चरम लक्ष्य हो सकता है, लेकिन आज के युग में वह अव्यावहारिक है, और इस प्रकार के विचारों को प्रोत्साहन देने से काफी गलत फहमियों के बढ़ने की आशंका हो जाती है। हमारी परिस्थितियाँ अभी इस बात के अनुकूल नहीं हैं कि हम विश्व बंधुत्व अथवा एक विश्व व्यापी राज्य की नागरिकता के स्वप्न को साकार होते देख सकें। अतएव हमें ऐसी बातों को प्रोत्साहन देना चाहिए जो हमारे आपसी सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने में सहायक हों। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने वाली प्रत्येक बात अंतर्राष्ट्रीयता की पोषक है।

अंतर्राष्ट्रीयता के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। इस शताब्दी में जो विनाशकारी युद्ध हुए हैं उन्होंने अंतर्राष्ट्रीयता के विकास में बहुत रोड़े अटकाए हैं। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना के लिए या तो हमें सामान्य सिद्धांतों और आदर्शों को आधार बनाना होगा अथवा हमें विभिन्न राष्ट्रीय हितों में सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित करना होगा। आज के युग में यह सम्भव नहीं है कि राष्ट्र, फिर चाहे वह कितना बड़ा और शक्तिशाली क्यों न हो, दूसरे राष्ट्रों पर अपने विचार अथवा संस्थाएँ थोप सके। इसमें सफलता तो मिलेगी नहीं, ऐसा करने से अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में बाधा अवश्य आ जाएगी। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमारी अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को संस्थात्मक रूप मिलना चाहिए। संस्था बनाकर उसके अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के जो अनुभव होंगे, उससे आपसी मतभेद और अविश्वास दूर हो सकेंगे और एक ऐसा वातावरण तैयार होगा जिसमें लोग एक दूसरे की बात समझने का यत्न करेंगे और ऐसा मार्ग अपनाएँगे जिसमें सभी राष्ट्रों के हितों की रक्षा हो सके। अनेक विद्वान अब यह कहते हैं कि राष्ट्रीय राज्यों का जमाना अब लद चुका है और वस्तु स्थिति की माँग यह है कि प्रस्तुत राज्यों को मिलाकर बड़े-बड़े राज्यमंडल कायम किए जाएँ। कुछ विद्वानों ने माँग की है कि हमें एक विश्व व्यापी राज्य की स्थापना पर ध्यान

देना चाहिए। तथापि यह मार्ग कटकाकीर्ण है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि पहले हम उन कारणो को दूर करने का प्रयत्न करें जिनके कारण राष्ट्रो मे तनाव और मनमुटाव होते हैं। ऐसा करने पर ही वह वातावरण बना सकेंगे जिसमें बडी राजनीतिक इकाइयो की स्थापना हो सकती है। यह प्रसन्नता की बात है कि अब अतर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता को व्यापक रूप मे स्वीकार किया जाने लगा है। विचारको ने इस ओर भी ध्यान दिया है कि किस आधार पर हम अतर्राष्ट्रीय शाति स्थापित कर सकते हैं। अब यह भी स्वीकार किया जाने लगा है कि बिना शातिपूर्ण सह अस्तित्व (co-existence) के सिद्धात को स्वीकार किए अतर्राष्ट्रीय शाति और सहकारिता के प्रश्नो को नही सुलझाया जा सकता।

2 संयुक्त राष्ट्र संघ

अतर्राष्ट्रीय कानून के सम्बध मे हम पहले ही विचार कर चुके हैं। अब यह स्वीकार किया जान लगा है कि हमे अतर्राष्ट्रीय कानून की पुष्टि करनी चाहिए और सर्वसम्मति के आधार पर अतर्राष्ट्रीय कानूनो की रूपरेखा तैयार करनी चाहिए। जहां तक अतर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रश्न है, एक विश्व व्यापी सगठन के रूप मे राष्ट्र-सघ (लीग आफ नेशस) का जन्म प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ। आशा की जाती थी कि राष्ट्र-सघ शाति और सुरक्षा कायम कर सकेगा। वस्तुत: जब परीक्षा का समय आया तो राष्ट्र-सघ असफल प्रमाणित हुआ। लीग की असफलता का प्रमुख कारण यह था कि वे शक्तिशाली राज्य, जो लीग के आदर्शों को लागू करने मे सहायता दे सकते थे, स्वय इनमे आस्था नही रखते थे। लीग की इस दुर्दशा से राजनीतिज्ञो ने यह पाठ सीखा कि भविष्य मे हमे ऐसा अतर्राष्ट्रीय सघ बनाना चाहिए जो व्यावहारिक हो। अतएव, द्वितीय महायुद्ध के समय बडे-बडे राज्य एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की रूपरेखा बनाने मे लग गए। फिर उन्होने आपस मे विचार-विमर्श किया और अत मे एक सर्वमान्य सयुक्त राष्ट्र सघ (United Nations Organisation) के सविधान की रूपरेखा तैयार की। कुछ परिवर्तनो और सशोधनों के साथ 1950 ई० की सैनफ्रासिस्को कार्फ्रेंस मे इस सविधान को स्वीकार कर लिया गया। विभिन्न देशो द्वारा इसके सविधान को मान्यता देने पर सयुक्त राष्ट्र सघ का जन्म हुआ और 24 अक्तूबर 1945 ई० को इसने नियमित रूप से काम करना प्रारम्भ कर दिया।

घोषणा-पत्र की प्रस्तावना—सयुक्त राष्ट्र सघ के घोषणा-पत्र मे राज्य यह स्वीकार करते हैं कि (1) वे आगे आने वाली पीढियों को युद्ध से बचाने का प्रयत्न करेंगे, (2) मानव अधिकारो की स्थापना करेंगे, (3) सभी राष्ट्रो के समान

अधिकार मे आस्था रखेंगे, (4) वे ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न करेंगे जिसमे न्याय के आधार पर उन दायित्वो का सम्मान बना रहे जो सधियो तथा अतर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित हैं; और (5) व्यापक स्वतत्रताएँ प्रदान कर वे जीवन स्तर को ऊँचा करेंगे तथा सामाजिक प्रगति मे योग देंगे। सयुक्त राष्ट्रो के लोग यह विश्वास प्रकट करते हैं कि उपर्युक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए वे सहनशीलता से काम लेंगे और अच्छे पडोसियो की भाँति मिलकर शाति से रहेंगे। शाति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए वे मिल जुलकर काम करेंगे, सैन्य शक्ति का उपयोग विश्व-व्यापी हितों मे करेंगे और मानव समाज के उत्थान के लिए अतर्राष्ट्रीय सहयोग और साधनो का प्रयोग करेंगे।

सयुक्त राष्ट्र सघ के सिद्धांत—ऊपर लिखे हुए उद्देश्यो की पूर्ति के लिए घोषणा-पत्र मे निम्न बुनियादी सिद्धातो की चर्चा की गई है —

(1) सब सदस्य-राज्यो की प्रभुसत्ता समान है।

(2) प्रत्येक सदस्य घोषणा-पत्र के अतर्गत अपने दायित्वो को ईमानदारी के साथ निभाएगा।

(3) सदस्य राज्य आपसी झगडो का निर्णय शातिपूर्ण साधनो से इस प्रकार करेंगे कि शाति, सुरक्षा और न्याय को किसी प्रकार का खतरा न हो।

(4) कोई सदस्य-राज्य अन्य किसी राज्य की स्वतत्रता अथवा प्रदेश के विरुद्ध बल प्रयोग नही करेगा, अथवा इस प्रकार की धमकी नहीं देगा और न कोई ऐसा काम करेगा जो सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्यो के प्रतिकूल हो।

(5) सब राज्य घोषणा पत्र के अनुसार किए जाने वाले कार्यों मे पूरा सहयोग और सहायता देंगे।

(6) सयुक्त राष्ट्र सघ को यह आशा और विश्वास है कि वे राज्य भी जो इसके सदस्य नही हैं, इन सिद्धातो के अनुकूल आचरण करेंगे।

(7) सयुक्त राष्ट्र सघ ऐसी बातो मे हस्तक्षेप नहीं करेगा जो मूलत किसी सदस्य राज्य के घरलू मामले हैं, और न वह किसी सदस्य को इस बात के लिए बाध्य करेगा कि वह ऐसे मामलो को सयुक्त राष्ट्र सघ के सम्मुख पेश करे।

सदस्यता—सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता उन सब शाति प्रिय राज्यो को प्राप्त हो सकती है जो घोषणा-पत्र मे वर्णित उद्देश्यो को मानते हैं और उसके दायित्वो को स्वीकार करते है। सुरक्षा परिषद् (Security Council) की सिफारिश पर आम सभा (General Assembly) दो तिहाई के बहुमत से नए-सदस्य-राज्यों को स्वीकार करता है। इसमे सुरक्षा-परिषद् के पाँचो बड़े सदस्य-राज्यो की सहमति आवश्यक है। इनमे से यदि एक भी विरोध मे मत देगा तो सदस्यता की प्रार्थना अस्वीकृत हो जाएगी और फिर यह मामला आम सभा के सामने

उपस्थित नही होगा । सयुक्त राष्ट्र सघ के अब 122 सदस्य हैं ।

यदि कोई सदस्य घोषणा पत्र के सिद्धातो का उल्लघन करता है तो सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर आम सभा उसे सदस्यता से हटा सकती है । यदि सयुक्त राष्ट्र सघ किसी सदस्य राज्य के विरुद्ध अवरोध अथवा बलप्रयोग की कार्यवाही कर रहा हो तो सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर आम सभा उसे अधिकारो और सुविधाओ से वचित कर सकती है ।

सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रमुख अग

सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रमुख अग हैं—आम सभा (General Assembly), सुरक्षा परिषद् (Security Council) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) न्यासिता परिषद् (Trusteeship Council) अतर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय । इनको आवश्यकतानुसार अपने लिए सहायक अग स्थापित करने का अधिकार है ।

आम सभा—आम सभा इसकी सबसे बडी सत्ता है जो समानता के आधार पर सगठित की गई है । इसमें प्रत्येक सदस्य राज्य को एक मत देने का अधिकार है, यद्यपि यह अपने पाँच प्रतिनिधि भेज सकता है । इस सभा का साल मे एक नियमित अधिवेशन होता है, किंतु यदि आधे से अधिक सदस्य माग करें अथवा सुरक्षा परिषद् सिफारिश करे, तो विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है । आम सभा में महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का निर्णय उपस्थित और मतदान करने वाल सदस्यो के दो तिहाई के बहुमत से किया जाता है । ऐसे प्रश्ना म शाति और सुरक्षा, सदस्यो का चुनाव, सदस्य राज्यो का प्रवेश, न्यासिक और बजट सम्बधी प्रस्ताव आदि आते हैं । जो प्रश्न महत्त्वपूर्ण नही हैं अथवा प्रक्रिया सम्बधी हैं उनका निर्णय साधारण बहुमत से होता है । आम सभा एक वर्ष के लिए अपना सभापति चुनती है ।

इसके विचार सम्बधी कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण हैं । आम सभा घोषणा पत्र के अतर्गत किसी भी विषय पर विचार कर सकती है, किंतु जिस समय सुरक्षा-परिषद् किसी झगडे अथवा झगडे जैसी स्थिति पर विचार कर रही हो, उस समय आम सभा उस विषय पर तब तक कोई सिफारिश नहीं कर सकती जब तक सुरक्षा परिषद् स्वत उससे इसके लिए आवेदन न करे। किंतु आम सभा सुरक्षा परिषद् का ध्यान किसी ऐसी स्थिति की ओर दिला सकती है जिससे शाति भग होने का भय है । आम सभा म 3 नवम्बर, 1950 ई० को एक प्रस्ताव पास कर अतर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा के प्रश्न पर विचार करने के अपने अधिकार की घोषणा की । कुछ विद्वानो का मत है कि वस्तुत यह प्रस्ताव घोषणा पत्र की धाराओ के प्रतिकूल है । जो भी हो शाति और सुरक्षा स्थापित करने का दायित्व

अभी भी सुरक्षा-परिषद् पर ही है। आम सभा अन्य विषयों पर अपनी सिफारिश या तो सीधे सदस्य राज्यों को करती है अथवा सुरक्षा-परिषद् और संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंगों को।

आम-सभा का एक यह भी उत्तरदायित्व है कि वह उन संधियों और प्रतिज्ञा-पत्रों को स्वीकृति दे जिसकी संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी अंग ने सिफारिश की है। निःशस्त्रीकरण के नियमों पर भी विचार करने का इसे अधिकार है। अंतर्राष्ट्रीय कानून को आगे बढ़ाने और उसकी संहिता बनाने का काम भी इसे सौंपा गया है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी है कि आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शिक्षा के क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाए। इसका एक काम यह है कि यह सब मनुष्यों को बिना जाति, भाषा, लिंग और धर्म पर ध्यान दिए मानव-अधिकार और बुनियादी स्वतंत्रता दिलाए। आम-सभा संयुक्त राष्ट्र संघ के दूसरे अंगों के कार्यों और उनके विवरणों पर भी विचार कर सकती है।

आम-सभा के अन्य कार्यों में वित्त सम्बंधी कार्य भी हैं। यह बजट पास करती है और यह तय करती है कि सदस्य राज्य व्यय का क्या भाग देंगे। यह विशिष्ट एजेंसियों के बजट की जांच कर उन्हें स्वीकृति देती है। यदि कोई सदस्य राज्य अपने भाग का भुगतान नहीं करता और उसके ऊपर बकाया रकम उसके पिछले दो वर्षों के भाग के बराबर अथवा उससे अधिक है तो आम-सभा यह निर्णय कर सकती है कि उसे आम सभा में मतदान का अधिकार नहीं रहेगा। किंतु यदि आम-सभा यह समझे कि सदस्य राज्य इस स्थिति में नहीं है कि वह राशि की भुगतान कर सके, तो ऐसे सदस्य को वह मत देने की स्वीकृति दे सकती है। आम सभा के संविधानी कार्य भी हैं। घोषणा पत्र में संशोधन करने का अधिकार या तो आम सभा को है अथवा इस काम के लिए विशेष रूप से बुलाई जाने वाली कांफ्रेंस को। इस प्रकार के प्रस्ताव सदस्यों के दो-तिहाई के बहुमत से पारित और स्वीकृत होने चाहिए और इनमें पाँचों बड़े राज्यों की सहमति आवश्यक है। इन कार्यों के अतिरिक्त आम-सभा के कुछ चुनाव सम्बन्धी कार्य भी हैं। उदाहरण के लिए, आम-सभा सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों और आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के सदस्यों को चुनती है। वह संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रधान सचिव की नियुक्ति भी करती है। मतदान (parallal voting) की प्रणाली से आम सभा और सुरक्षा-परिषद् स्वतंत्र रूप से अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों को भी चुनती है। पिछले 20 वर्ष के समय में आम सभा के सम्मान और प्रतिष्ठा में काफी वृद्धि हुई है और अब यह एक प्रभावशाली संस्था बन गई है।

सुरक्षा-परिषद्—घोषणा-पत्र में सुरक्षा-परिषद् को शांति और सुरक्षा

बनाए रखने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है । इसमे 5 स्थायी सदस्य हैं जिन के नाम सयुक्तराज्य (अमेरिका), सोवियत सघ, यूनाइटेड किंगडम, फ्रास और चीन हैं । प्रारम्भ मे इसके 6 अस्थायी सदस्य थे जो दो वर्ष के लिए आम-सभा द्वारा चुने जाते थे । 17 दिसम्बर, 1963 ई० को इनकी सख्या बढाकर 10 कर दी गई है । इस प्रकार सुरक्षा परिषद् की सदस्य सख्या 31 अगस्त 1965 से 15 हो गई है । अस्थायी सदस्यों को चुनने मे इस बात का ध्यान रखा जाता है कि निर्वाचित सदस्य अतर्राष्ट्रीय शाति स्थापित करने मे सहयोग दे सकें । साथ ही भौगोलिक वितरण का भी ध्यान रखा जाता है । यह प्रथा भी चल पडी है कि एक बार चुने जाने के तुरत बाद किसी सदस्य-राज्य को अस्थायी सदस्य के रूप मे नही चुना जाता ।

परिषद् का प्रमुख कार्य अतर्राष्ट्रीय विवादो का शातिपूर्ण निपटारा कराना है । इसे ऐसे प्रत्येक कार्य पर विचार करना होता है जिससे या तो शाति-भग हो गई है या इसका खतरा है । इसे शाति स्थापित करने के लिए आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार है । आवश्यकता पडने पर यह बलप्रयोग भी कर सकती है । इसके अतिरिक्त यह नए सदस्यो की भर्ती के लिए आम-सभा से अपनी सिफारिश करती है । साथ ही, यदि किसी सदस्य ने घोषणा पत्र का उल्लघन किया है तो यह आम सभा को सिफारिश कर सकती है कि उसे राष्ट्र-सघ से निकाल दिया जाए अथवा उसे पुन वे अधिकार दे दिए जाएँ जो उससे छीन लिए गए है । सुरक्षा-परिषद् का यह भी काम है कि वह नि शस्त्रीकरण की योजनाएँ बनाए । इसके अतिरिक्त, यह सैन्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न्यासिक क्षेत्रों के शासन-प्रबध के विवरणो पर विचार करती है । साथ ही, अतर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के चुनाव मे यह आम सभा का साथ देती है । यदि कोई राज्य इस न्यायालय के निर्णय का पालन नही करता तो यह तय करती है कि उन निर्णय को मनवाने के लिए क्या उपाय अपनाएँ जाएं । मुख्य सचिव की नियुक्ति के लिए यह अपने सुझाव आम सभा को देती है और घोषणा-पत्र मे सशोधन के लिए कान्फ्रेंस बुलाने के बारे में भी यह सुझाव दे सकती है ।

परिषद् का कोई भी सदस्य ऐसी किसी स्थिति पर इसका ध्यान आकर्षित कर सकता है जिससे विश्व शाति को खतरा हो । प्रधान सचिव भी ऐसा कर सकता है । यदि किसी झगडे से शाति-भग होने का डर है तो परिषद् राज्यों को इसे शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा निपटाने का सुझाव दे सकती है जिससे झगडा जोर न पकडे । उदाहरण के लिए यह युद्धविराम अथवा सेना को वापस लौट जाने के सुझाव दे सकती है । यदि ये उपाय कारगर न हो तो वह सदस्यो को झगडालू राज्य से कूटनीतिक सम्बध तोडने की सलाह दे सकती है । इसके अति-

रिक्त यह अपने सदस्यों से अपराधी राज्य अथवा राज्यों के साथ यातायात और सचरण के साधन तोड़ने को कह सकती है। यदि आवश्यकता हो तो यह आर्थिक सम्बधों को तोड़ लेने की सलाह भी दे सकती है। इन सबसे भी यदि काम न चले तो यह आवश्यकतानुसार सैनिक कार्यवाही कर सकती है। प्रत्येक सदस्य राज्य के लिए आवश्यक होगा कि परिस्थितियों के अनुसार सयुक्तराष्ट्र सघ को वह अपनी सेना से सहायता दे। सैनिक विषयों पर सलाह करने के लिए एक सैनिक कार्यसमिति बनाने की योजना है जिनमें पाँचों बड़े राज्यों के सेना-अध्यक्ष अथवा उनके प्रतिनिधि सदस्य हैं।

परिषद् एक स्थायी सस्था है। इसकी सभाएँ बराबर होती रहती हैं और इनमें छोटे-बड़े का अतर नहीं होता। इसमे विशेष मामलों को पारित करने के लिए पाँचो स्थायी सदस्य और कम से कम चार अस्थायी सदस्यों की सहमति आवश्यक है, लेकिन प्रक्रिया-सम्बधी मामलों को किन्ही नौ सदस्यों की सहमति यथेष्ट मानी जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी महत्त्वपूर्ण मामलों में पाँच बड़े राष्ट्रों में से प्रत्येक को अपनी नकारात्मक वोट द्वारा किसी भी प्रस्ताव को रोक देने का अधिकार मिला हुआ है। इसे निषेधाधिकार (Veto) कहते हैं। पिछले 20 वर्षों में सोवियत सघ ने इसका बार बार उपयोग किया है। कई बार उसने इसका उपयोग काश्मीर के प्रश्न पर भारत का पक्ष समर्थन करते हुए किया। इस निषेधाधिकार का आधार यह है कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए पाँचो बड़े राष्ट्रों की सहमति आवश्यक है अर्थात् एसे किसी महत्त्वपूर्ण मामले मे जिस पर इन पाँचों बड़े राज्यों में आपसी मतभेद है, सुरक्षा-परिषद् कोई प्रस्ताव पास नहीं करती। यद्यपि कुछ लोगों ने इस निषेधाधिकार की आलोचना की है तथापि एक दिलचस्प बात यह है कि जब सयुक्त राष्ट्र सघ के घोषणा-पत्र का मसौदा बन रहा था उस समय इसका समर्थन सभी बड़े राज्यों ने विशेषत सयुक्त राज्य (अमरिका) ने जोरों के साथ किया था। इसके अतिरिक्त हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सयुक्त राष्ट्र सघ एक अतर्राष्ट्रीय सस्था है जिसको किसी बड़े राष्ट्र अथवा राष्ट्र समूह के विरुद्ध एक शस्त्र के रूप में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। अत इस निषेधाधिकार से एक लाभ यह हुआ कि सयुक्त राष्ट्र सघ ने एसे कम निर्णय करने के प्रयत्न किए जिन्हे लागू करना बहुत कठिन होता। कुछ विद्वान कहते हैं कि यदि यह निषेधाधिकार न होता तो सयुक्त राष्ट्र सघ कभी का नष्ट हो गया होता।

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्—घोषणा-पत्र में यह स्वीकार किया कि आपसी सघर्ष और युद्ध के मूल कारण प्राय. आर्थिक और सामाजिक होते हैं। अत इनका महत्त्व स्वीकार करते हुए यह निश्चय किया गया कि आम सभा

के अतिरिक्त एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् भी स्थापित की जाए। अब इसके 27 सदस्य हैं जो आम-सभा द्वारा 3 वर्ष के लिए चुने जाते हैं। 3 वर्ष बाद एक-तिहाई सदस्य त्याग-पत्र दे देते हैं, किंतु वे पुन निर्वाचित हो सकते हैं। सभापति एक वर्ष के लिए चुना जाता है। परिषद् का अधिवेशन प्राय वर्ष मे तीन बार होता है। प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है और परिषद् साधारण बहुमत द्वारा निर्णय करती है। जो विषय इसके सामने उपस्थित होते हैं उनमे से प्रमुख हैं (1) जीवन स्तर को ऊँचा उठाना, बेकारी को दूर करना और आर्थिक-सामाजिक विकास के लिए प्रयत्न करना, (2) अतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओ का हल ढूँढना और सास्कृतिक तथा शिक्षा के क्षेत्र मे सहयोग करना, (3) मानव अधिकारो का पालन कराना और बिना भेदभाव के सब मनुष्यों को बुनियादी स्वतन्त्रता दिलाना। परिषद् उपर्युक्त विषयो का अध्ययन करती है और उनके विवरण तैयार करती है। यह प्रतिज्ञा-पत्रो का मसौदा बनाकर विचार के लिए आम सभा को भेजती है। उपर्युक्त विषयो पर यह अतर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस अथवा विचार-गोष्ठियाँ (seminars) आमन्त्रित करती है। इसके अतिरिक्त यह आम सभा अथवा अन्य विशिष्ट सगठनो से सिफारिश कर सकती है। काम चलाने के लिए यह प्रादेशिक या अन्य आयोग स्थापित कर सकती है। इसकी कुछ सहायक समितियाँ भी हैं जो इसे कार्य करने में सहायता देती हैं।

न्यासिक परिषद्—यह परिषद् राष्ट्र सघ के मैंडेट्स (mandates) कमीशन की उत्तराधिकारी है। इसके अतर्गत वे सब मैंडेट्स रख दिए गए जिन्हे स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हुई है। इनके अतिरिक्त द्वितीय महायुद्ध मे पराजित राज्यों से छीने हुए औपनिवेशिक क्षेत्र भी इसके अधीन कर दिए गए हैं। इनके अतिरिक्त, सदस्य-राज्य स्वेच्छापूर्वक अपने अधीन प्रदेशो को उसके अधिकार-क्षेत्र के अतर्गत रख सकते हैं। न्यासिक पद्धति (trusteeship) के उद्देश्य हैं :—

(1) जातीय सस्कृति की रक्षा करते हुए देशवासियो की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बधी उन्नति करना;

(2) अतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा मे सहायता देना;

(3) इन प्रदेशों को स्वशासन अथवा स्वतन्त्रता दिलाने में सहायता देना,

(4) मानव-अधिकार और बुनियादी स्वतन्त्रताओ को मान्यता दिलाना;

(5) लोगो मे यह भाव पैदा करना कि वे एक दूसरे पर आश्रित हैं;

(6) इन क्षेत्रो के निवासियों को समान अधिकार दिलाना।

जो क्षेत्र न्यासिक पद्धति के अतर्गत होंगे उनके लिए प्रबधक सदस्य-राज्य होंगे। इन क्षेत्रों के सम्बध मे जो समझौते होंगे सयुक्त राष्ट्र सघ उन पर विचार

करके मान्यता देगा। ये प्रबधक राज्य प्रति वर्ष न्यासिक परिषद् को प्रशासनिक ब्योरे भेजेंगे जिसमें वे पूरे तथ्य और आंकड़े देंगे जिनसे यह पता लग सके कि इन प्रदेशो में क्या विकास हो रहा है। प्रबधक राज्य इस बात के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध रहेंगे कि वे इन क्षेत्रो का शासन-प्रबंध देशवासियों की भलाई और उनके हितो की वृद्धि के लिए करेंगे। इस परिषद् के सदस्य वे सदस्य राज्य होगे जो न्यासिक प्रदेशो का प्रबंध करते हैं। इनके अतिरिक्त, सुरक्षा परिषद् के वे स्थायी सदस्य भी, जो उक्त श्रेणी मे नही आते, इसके सदस्य होगे। प्रबध करने वाले और प्रबध न करने वाले सदस्यो मे बराबरी बनाए रखने के लिए आम सभा आवश्यक संख्या मे अन्य सदस्य-राज्य चुनेगी। इस परिषद् की बैठक साल मे कम से कम दो बार होती है। इसके निर्णय उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के साधारण बहुमत से होता है। ध्यान देने योग्य बात है कि इसके सदस्य राज्य होते हैं, व्यक्ति नही (पिछले राष्ट्र-सघ मे बात बिल्कुल विपरीत थी)। परिषद् न्यासिक क्षेत्रो से सीधी याचिकाएँ स्वीकार कर सकती है और अध्ययन के लिए घटना स्थल पर आयोग भी भेज सकती है। वह विवरणो पर विचार करके प्रबधक-राज्यों को सुझाव भी दे सकती है।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय—यह न्यायालय सयुक्त राष्ट्र सघ के 'स्थायी न्यायालय' का उत्तराधिकारी है। इसकी स्थापना जिस कानून के आधार पर हुई है वह राष्ट्र सघ के घोषणा-पत्र का एक अभिन्न अग है; तथापि सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य राज्य स्वत इस न्यायालय के सदस्य नही हो जाते। इसके लिए उनकी स्वीकृति आवश्यक है। इस न्यायालय में 15 न्यायाधीश हैं जो आम सभा और सुरक्षा-परिषद् द्वारा स्वतन्त्र रूप मे समातर मतदान (parallel voting) की प्रणाली से चुने जाते हैं। एक राज्य से एक से अधिक न्यायाधीश नही चुना जाता। निर्वाचित होने के लिए व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विशेषज्ञ होना चाहिए। उसे उच्च नैतिक देश के चरित्र वाला होना चाहिए और उसमे वे योग्यताएँ होनी चाहिए जिनसे वह अपने सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बन सके। न्यायाधीश 9 वर्ष के लिए चुने जाते हैं, किंतु 3 वर्ष बाद एक तिहाई सदस्य पद से हट जाते हैं। मुख्य न्यायाधीश का चुनाव 3 वर्ष के लिए होता है। किसी मामले की सुनवाई के लिए 9 न्यायाधीशों का होना आवश्यक है। निर्णय उपस्थित न्यायाधीशों के बहुमत से होते हैं।

न्यायालय के सम्मुख राज्य अपने झगड़े पेश कर सकते हैं। सुरक्षा परिषद् के सुझाव और आम-सभा द्वारा निर्धारित शर्तों पर ऐसे राज्य भी, जो सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य नही हैं, न्यायालय की शरण ले सकते हैं। मामलों की सुनवाई के लिए दोनों पक्षों की सहमति आवश्यक है, अर्थात् स्वेच्छापूर्वक ही अत-

राष्ट्रीय झगडे न्यायालय के सम्मुख पेश किए जा सकते हैं। सदस्य-राज्य यदि चाहे तो वे यह घोषणा कर सकते हैं कि कुछ बातों मे वे न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र अनिवार्य रूप से मानने के लिए तैयार हैं। ये बातें निम्नलिखित हो सकती हैं सधियों की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बधित कोई प्रश्न, किसी ऐसे तथ्य को स्थापित करना जिसके स्थापित हो जाने से अतर्राष्ट्रीय दायित्व भग करने का अभियोग लग सकता है, और अतर्राष्ट्रीय समझौते अथवा दायित्व पूरा न करने की दशा मे क्षतिपूर्ति के लिए दी जाने वाली राशि को निर्धारित करना। सदस्य-राज्य न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र को अपने ऊपर लागू करने की घोषणा, शर्तों-सहित अथवा बिना शर्त के, कर सकते हैं। यद्यपि कई राज्यों ने कई ऐसी घोषणाएँ की हैं, तथापि ये घोषणाएँ बहुत सीमित हैं। अत न्यायालय का अनिवार्य अधिकार-क्षेत्र बहुत कम है।

झगडों का फैसला करने मे न्यायालय अतर्राष्ट्रीय कानून, अतर्राष्ट्रीय समझौतों, अतर्राष्ट्रीय रीति रिवाजों, सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत सामान्य सिद्धांतों, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के पूर्व-निर्णयो, और प्रख्यात न्याय विशेषज्ञों की सम्मतियो को मान्यता देता है। घोषणा-पत्र के अनुसार राज्य निर्णयो को मानने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं, किंतु यदि एक पक्ष इसे मानने से इकार करदे तो दूसरा पक्ष इस मामले को सुरक्षा-परिषद् तक ले जा सकता है और सुरक्षा-परिषद् का यह कर्तव्य होगा कि निर्णय को लागू करने के लिए वह उचित कदम उठाए। अतर्राष्ट्रीय न्यायालय सयुक्त राष्ट्र सघ के विभिन्न अगो अथवा उसकी विशिष्ट सस्थाओं की प्रार्थना पर उन्हे कानूनी प्रश्नो पर सलाह दे सकता है।

सचिवालय—सचिवालय सयुक्त राष्ट्र सघ की प्रशासनिक सस्था है। इसका प्रधान 'मुख्य सचिव' (Secretary General) है जो सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर आम-सभा द्वारा 5 वर्ष के लिए चुना जाता है। इसका पुनर्निर्वाचन सम्भव है। वह सयुक्त राष्ट्र सघ के सभी अगो मे सचिव के रूप मे कार्य करता है और अन्य ऐसे कार्य भी करता है जो यह सस्था उसे सौंपती है। यह सघ के कार्यों का वार्षिक विवरण बनाकर आम-सभा को भेजता है। उसे इस बात का अधिकार है कि वह सुरक्षा-परिषद् का ध्यान ऐसे झगडों की ओर दिलाए जिनसे विश्व शांति और सुरक्षा के भग होने का डर है। वह आम-सभा का विशेष अधिवेशन बुलाता है। उसका काम है कि सचिवालय के अन्य पदाधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति करे। इन नियुक्तियों के समय वह भौगोलिक आधार का भी ध्यान रखता है। सचिवालय के कई विभाग हैं. सुरक्षा-परिषद् विभाग; सार्वजनिक सूचना विभाग, आर्थिक विभाग; सामाजिक विभाग, न्यासिक विभाग, कानूनी विभाग, कार्फेंस विभाग, प्रशासनिक तथा वित्तीय विभाग, और

सामान्य सेवाओं-सम्बन्धी विभाग। प्रत्येक विभाग एक 'सहायक मुख्य सचिव' के अधीन है। इन विभागों का कार्य तथ्यों और सूचनाओं को एकत्रित करना, अन्तर्राष्ट्रीय बातों की छानबीन करना और प्रशासन है।

यूनेस्को (Unesco)

संयुक्त राष्ट्र संघ से संलग्न विशिष्ट संगठनों में यूनेस्को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह राष्ट्र-संघ के 'अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक-सहयोग संगठन' का उत्तराधिकारी है, किन्तु इसका संगठन अधिक व्यापक उद्देश्यों से हुआ है। इस संगठन का उद्देश्य शिक्षा सम्बन्धी, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करना है। इसने मानव अधिकारों और बुनियादी स्वतन्त्रताओं के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसी की प्रेरणा से संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानव अधिकारों के घोषणा पत्र को स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त यह 'विधि शासन', और 'न्याय की स्थापना' के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इसके तत्त्वावधान में अनेक सम्मेलन और विचार गोष्ठियाँ बुलाई गई हैं जिन्होंने शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसका एक कार्यकारी बोर्ड है और स्वतन्त्र सचिवालय भी। इसका सम्मेलन नीति निर्धारित करता है जो दो वर्ष में एक बार होता है। कार्यकारी बोर्ड के 22 सदस्य हैं जिनका काम सम्मेलन द्वारा स्वीकार किए हुए कार्यक्रम को कार्य-रूप देना है।

मानव अधिकारों की घोषणा

आम-सभा ने 10 दिसम्बर, 1948 ई० को मानव अधिकारों की घोषणा को स्वीकार किया। इस घोषणा में 30 धाराएं हैं। इसके प्रथम दो और अंतिम धाराओं में आम बातें हैं, 3 से लेकर 21 धाराओं में राजनीतिक और नागरिक अधिकारों की चर्चा है, और 22 से 27 धाराओं में आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों का वर्णन है।

घोषणा पत्र में यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य-मात्र स्वतन्त्र उत्पन्न होता है और उसको आत्म सम्मान और अधिकारों की प्राप्ति होनी चाहिए। साथ ही उन्हें एक दूसरे के प्रति भ्रातृ-भाव रखना चाहिए। घोषणा के अनुसार ये अधिकार, बिना किसी भेदभाव के, सभी देशों में उपलब्ध होने चाहिए। इस घोषणा में जिन नागरिक और राजनीतिक अधिकारों का वर्णन है, वे ऐसे हैं जिनको लोकतन्त्रीय संविधानों में बराबर मान्यता दी जाती रही है। इनमें प्रमुख हैं: जीवन, स्वतन्त्रता और सुरक्षा का अधिकार, अत्याचार और उत्पीड़न से रक्षा का अधिकार, कानून के आगे समता का अधिकार, मनमाने ढंग पर बंदी बनाए जाने और देश निकाले से रक्षा का अधिकार, सार्वजनिक और न्यायपूर्ण मुकद्मों

का अधिकार, अपराधी प्रमाणित न होने तक निरपराध माने जाने का अधिकार; राज्य के अंदर घूमने-फिरने का अधिकार, राज्य के बाहर आने-जाने का अधिकार, दमन से बच कर विदेश में शरण लेने का अधिकार, राष्ट्रीयता का अधिकार, परिवार की सुरक्षा का अधिकार, पति पत्नी की समानता का अधिकार, सहमति के आधार पर विवाह करने का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, विचार, विश्वास और धर्म का अधिकार, विचारों के प्रकाशन का अधिकार, शांतिपूर्ण ढंग से मिलने और संघ बनाने का अधिकार, इच्छानुसार सरकार बनाने का अधिकार, मताधिकार, सार्वजनिक कार्य और राजनीति में भाग लेने का अधिकार, सरकारी नौकरी करने का अधिकार, आदि।

इनके अतिरिक्त घोषणा में कुछ आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार भी हैं जिन्हें मनुष्य के आत्म-सम्मान और स्वतंत्रता के लिए आवश्यक कहा गया है। इसमें सामाजिक सुरक्षा के अधिकार को व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक माना गया है। इसके अतिरिक्त, कार्य करने का अधिकार, इच्छानुसार काम चुनने का अधिकार, संतोषजनक कार्य की दशाओं का अधिकार, समान कार्य के लिए समान वेतन का अधिकार, न्यायपूर्ण वेतन का अधिकार, मजदूर सभाएँ बनाने का अधिकार, आराम करने और अवकाश का अधिकार, सवेतनिक छुट्टी पाने का अधिकार, बेकारी, बीमारी, अपंगता तथा वृद्धावस्था में सामाजिक सहायता पाने का अधिकार, शिक्षा पाने का अधिकार और जनसमुदाय के सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने की स्वतंत्रता का उल्लेख है। यह भी कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य को ऐसी सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पाने का अधिकार है जिसमें विश्व-शांति और सुरक्षा हो और उसे अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के अवसर मिलें। साथ ही, यह घोषणा हमें इस बात का स्मरण भी कराती है कि जहाँ हमारे अधिकार हैं वहाँ हमारे कर्तव्य भी हैं जिनका पालन किए बिना हम अपने अधिकारों का समुचित उपभोग नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह ऐसे कार्य करे जिससे अन्य व्यक्तियों के उपर्युक्त अधिकारों के उपभोग में बाधा पड़े।

सन् 1956 ई० में आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने यह निर्णय किया कि वह समय-समय पर रिपोर्ट प्राप्त करे कि इन मानव-अधिकारों का विभिन्न देशों में किस प्रकार पालन हो रहा है। प्रत्येक सदस्य-राज्य से कहा गया कि वह तीन साल बाद इस प्रकार की रिपोर्ट दे। सन् 1957–59 ई० से सम्बंधित रिपोर्ट 67 सदस्य-राज्यों ने दी और उन पर विचार किया गया। यूनेस्को के आग्रह पर सारे संसार में 10 दिसम्बर को मानव अधिकार दिवस मनाया जाता है। आशा की जाती है कि धीरे-धीरे दुनिया के समस्त देशों में ये अधिकार

सभी मनुष्यों को पूरी तरह प्राप्त हो जाएँगे।

मूल्यांकन

संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्बंध में लोगों की विविध धारणाएँ हैं। कुछ लोगों का मत है कि संयुक्त राष्ट्र संघ शांति और सुरक्षा की स्थापना में असफल रहा है और निर्बल राज्यों के अधिकारों की रक्षा करने में भी उसे विशेष सफलता नहीं मिली। आलोचक कहते हैं कि जब कभी ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका संयुक्त राज्य (अमेरिका) अथवा सोवियत संघ का घनिष्ठ सम्बंध होता है तो संयुक्त राष्ट्र संघ कोई कदम नहीं उठा पाता। यही नहीं समय समय पर अनेक विचारक संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों का छिद्रान्वेषण करने लगते हैं। यह सत्य है कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक आदर्श संस्था नहीं है। अधिकतर विद्वान यह मानते हैं कि इसमें कई दोष हैं संगठन के भी और कार्य प्रणाली के भी। लेकिन इन दोषों के कारण इसके महत्व को स्वीकार न करना अनुचित होगा। वस्तुतः इसका महत्त्व हमारी समझ में तभी आएगा जब हम यह सोचें कि यदि संयुक्त राष्ट्र संघ न होता तो क्या विश्व शांति और सुरक्षा कायम रह सकती थी?

हमारा विश्वास है कि अनेक दोषों के रहते हुए भी संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसी संस्था है जिसने मानव जाति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। पिछले 20 सालों में इसने हमें युद्ध और विनाश से बचाया। इस बीच में अनेक बार बड़े बड़े राज्यों के आपसी सम्बंध बने और बिगड़े, राज्यों में मनमुटाव इतना बढ़ा कि उसे 'शीत युद्ध' की संज्ञा दी गई। यदि यह शीत युद्ध' यथार्थ युद्ध में परिणत नहीं हुआ तो इसका बहुत कुछ श्रेय संयुक्त राष्ट्र संघ को मिलना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ का सबसे बड़ा लाभ यह है कि लगभग सभी राज्य (लगभग इसलिए कि चीनी जनतंत्र इसमें नहीं है) इसमें सम्मिलित हैं, और उनके आपसी सम्बंध चाहे जितने बुरे हों, वे एक सामान्य स्थान पर मिल-बैठ कर अपनी बातें कह सकते हैं। इसका कम से कम यह लाभ तो होता ही है कि हमें यह पता लग जाता है कि हमारी बातों का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, और आज कोई राज्य अंतर्राष्ट्रीय जगत् में अकेला नहीं रहना चाहता। अतः अपनी नीति निर्धारित करते समय उन्हें दूसरे राज्यों की भावनाओं का ध्यान रखना पड़ता है जिसका प्रभाव विश्व शांति की दृष्टि से अच्छा होता है। लेकिन इस से भी बड़ी बात यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने अनेक सफलताएँ भी प्राप्त की। उदाहरण के लिए फ्रांस, इजराइल और ब्रिटेन का स्वेज पर आक्रमण ही ले लीजिए। इसे रोकने में संयुक्त राष्ट्र संघ को जो अभूतपूर्व सफलता मिली वह किसी भी संस्था के लिए एक गौरव की बात हो सकती है। एक दूसरा उदाहरण है पराधीन देशों और उपनिवेशों को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता दिलाने में इसका

योग। इस सम्बंध में इसने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसका परिणाम यह है कि आज 50 से भी अधिक ऐसे नव-स्वतंत्रता प्राप्त राज्य हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बन चुके हैं। यही नहीं मानव अधिकारों की घोषणा बना कर इसने जो सफलता पाई है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी। इसके अतिरिक्त, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि हम आवेगों में न बहकर इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने मानवता को विनाश के मुख से बचाया है। इसका आशय यह नहीं है कि आगे *हम इस संगठन की उन्नति नहीं कर सकते। किंतु इसके लिए यह आवश्यक है* कि हमारे आपसी मतभेद दूर हों और हमारे अंदर मिल जुल कर कार्य करने की प्रवृत्ति बढ़े। इस सम्बंध में शास्त्रीकरण की जो सबसे बड़ी बाधा है, उसे हमें दूर करना होगा, अर्थात् निःशस्त्रीकरण के काम को हमें तेजी के साथ आगे बढ़ाना होगा। जब तक हम हिंसा और युद्ध से अपनी आस्था नहीं हटाते और शांतिपूर्ण सह अस्तित्व के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करते, स्थायी आधार पर विश्व शांति और सुरक्षा स्थापित नहीं हो सकती। हमें विश्वास है कि विश्व की जनता शांति चाहती है और यदि हम शांत चित्त से इस प्रश्न पर विचार करें तो कोई कारण नहीं कि हम ऐसे सामान्य विचारों पर नहीं पहुँच सकें जो हमें विश्व शांति की स्थापना में सहायक हों। विश्व शांति और जनसाधारण की समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि हम समस्त बाधाओं को पार कर सक्रिय कदम उठाएँ। हम इस प्रश्न पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करें कि वर्तमान परिस्थितियों में किन सिद्धांतों और आदर्शों के आधार पर एक विश्वव्यापी संगठन बनाया जा सकता है जो मानव समाज को शांति, सुख और समृद्धि दे सके।

●

BIBLIOGRAPHY

Acton, J. E. E. D., *The History of Freedom and Other Essays*, Edited by Figgis and Lawrence, 1909.

Agarwala, A. N., *Socialism Without Prejudice*, Allahabad, 1947.

———————, समाजवाद की रूपरेखा, आगरा, 1947

Agarwal, N. N, *Nationalities Problem in the USSR*, 1960.

———————, बापू का बलिदान हमारे लिए खुली चुनौती है, आगरा, 1948

———— & C. K, नागरिक-शास्त्र के मूल सिद्धान्त, देहली 1967.

Ahmad, Ilyas, *The First Principles of Politics*, Allahabad, 1937.

Alexandrowicz, C. H., *Constitutional Developments in India*, Bombay, 1957.

Allen, C. K., *Law in the Making*, 2nd Edition, 1930

Allen, J. W., *A History of Political Thought in the Sixteenth Century*, London, 1961.

Altekar, A. S., प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, प्रयाग, 1959.

American College Dictionary, New York, 1947.

Amos, Sheldon, *The Science of Politics*, 1883.

Angell, Norman, *The Public Mind*.

Appadorai, *The Sustance of Politics*, 1957.

Bagehot, Walter, *Physics and Politics*, New York, 1883.

Barker, Ernest, *The Study of Political Science and its Relation to Cognate Studies*, Cambridge, 1928.

————————, *Political Thought in England, 1848-1914*, London, 1942.

————————, *Reflections on Government*, O. U. P., London, 1942.

————,	*Politics of Aristotle*, Oxford, 1946
————,	*Social Contract*, O U P, 1946
————,	*Principles of Social and Political Theory*, O U P, 1952
Barnes E,	*Sociology and Political Theory*, 1924
Beard Charles,	*The Economic Basis of Politics*, 1922.
————,	*Economic Origins of Jeffersonian Democracy*, 1915
————,	*Research in Social Sciences*, 1929
Beni Prasad,	*The Democratic Process*, O U P 1935
————,	नागरिक-शास्त्र, प्रयाग 1937
Bentham, Jeremy,	*A Fragment of Government*, London, 1921.
————,	*Introduction to the Principles of Morals and Legislation*
Bluntschli, J K,	*The Theory of the State*, 3rd Eng. Edition, Oxford, 1895
Brogan, D W,	*American Political System* 1944.
Brown, Bernard E	*New Direction in Comparative Politics*, New Delhi, 1962
Brown, Ivor,	*English Political Theory*, London, 1929.
Brown, Jethro,	*The Austinian Theory of Law*, 1906
Bryce, James,	*The American Commonwealth*, London, 1926.
————,	*Studies in History and Jurisprudence*, Oxford, 1901
————,	*Modern Democracies*, London, 1921.
Buckle,	*History of Civilization in England*, London, 1936.
Burgess, J W.,	*Political Science and Constitutional Law*, Boston, 1898
Catlin, G F G,	*The Science and Methods of Politics*, New York, 1924
————,	*A Study of the Principles of Politics*, London, 1930
————,	*Systematic Politics*, Toronto, 1962
Cobban, Alfred,	*Dictatorship*

Coker, Francis C., *Recent Political Thought*, New York, 1934.
Cole, G D. H., *Self-Government in Industry, Revised Ed*, London, 1919
————, *Social Theory*, 3rd *Edition*, London, 1923.
————, *Guild Socialism Restated*
————, *Evolution of Socialism.*
————, *Essays in Social Theory*, London, 1962.
Cooley, *Use and Abuse of Political Terms,*
Commons, J, R, *Proportional Representation*, 2nd Edition, 1907.
Contemporary Political Science, Unesco, Paris, 1950.
Croce, Bernard, *My Philosophy*, 1949.
Crossman, Richard, *Government and Governed*, London, 1945.

Davidson, *Utilitarianism from Bentham to J S. Mill*, London, 1935
Dicey, A. V., *The Law of the Constitution*, London, 10th Edition, London, 1959.
Dobb, Maurice, *Studies in the Development of Capitalism*, New York, 1947
Dunning, W. A, *A History of Political Theories*, New York, *1950*

Ebenstein, W. *Great Political Thinkers*, New York, 1951.
Esslinger, William, *Politics and Science*, New York, 1955.

Field, G C., *Political Theory*, London 1956.
Finer, H., *The Theory and Practice of Modern Governments*, London, 1932.
————, *Governments of Greater European Powers*
Friedrich, Karl, *Authority*, Cambridge, Massachusetts, 1958.
Fundamentals of Marxism-Leninism, Mascow, 1961.

Garner, J. W., *Introduction to Political Science*, New York, 1910.
————, *Political Science and Government*, Calcutta, 1961.

Gassett, Josh Ortegay, *The Revolt of the Masses*, 1932.

Gettell, R. G., *Introduction to Political Science*, Boston, 1923.

————, *History of Political Thought*, New York, 1924.

————, *Political Science*, Calcutta, 1961.

Giddings, F. H., *Principles of Sociology*, New York, 1920

Gilchrist, R. N., *Principles of Political Science*, Madras, 1940

Ginsberg, Morris *The Psychology of Society*, 8th Edition, London, 1951.

Ghoshal, *History of Hindu Political Theories*

Gladden, E. N., *The Civil Service*, London, 1956.

Goodnow, Frank, *Politics and Administration*

Hallett, *Proportional Representation*

Hallowell, *Main Currents in Modern Political Thought*, New York, 1960.

Hayes, C. J. H., *Essays on Nationalism*, New York, 1928.

Hearnshaw, *The Social and Political Theories of Some Great Medieval Thinkers*, London, 1929.

Hertz, Fredrick, *Nationality in History and Politics*, London, 1944

Hobhouse, L. T., *The Metaphysical Theory of the State*,

Hocking, W. E., *Law and Rights*.

————, *Man and Society*.

Holland, T. H., *Elements of Jurisprudence*, 13th Edition, Oxford, 1924.

Humphreys, *Proportional Representation*, 1911.

Jenks, E., *A Short History of Politics*, London, n. d

————, *The State and the Nation*, London, 1928.

Jenks, J. W., *Principles of Politics*, New York, 1916.

Joad, C. E. M., *Introduction to Modern Political Theory*, Oxford, 1927.

————, *Guide to the Philosophy of Morals and Politics*

Jouvenal, B. de, *Sovereignty*, Cambridge Massachusetts, 1957

————, *The Pure Theory of Politics*, London, 1963

Kohn, Hons, *The Idea of Nationalism*, New York, 1946

Korovin, Y A, *International Law*, Moscow, n d

Laski, Harold J, *A Grammar of Politics*, London, 1948

————, *The State in Theory and Practice*, London, 1951.

————, *American Presidency* London, 1940

————, *Parliamentary Government in England*, London, 1938

————, *Dangers of Obediance and other Essays*,

Laslett, Peter, *Philosophy, Politics and Society*, Oxford, 1956

————, *John Locke Two Treatises of Government*, Cambridge, 1960

Lasswell, H J &
Kaplan, Abraham, *Power and Society*, 1950.

Laswell, H. J, *The Political Writings of Lassvell*, Illinois, 1951

Leacock, Stephen, *The Elements of Political Science*, London, 1929

Lee-Smith, H B, *Second Chambers in Theory and Practice*

Lenin, V. I, *Development of Capitalism in Russia*, Moscow, 1956.

————, *Selected Works in Two Volumes*, Moscow, 1946.

————, *Collected Works*, Vol. XVIII, New York, 1930

————, *Collected Works*, Vol XIX, New York, 1942.

Lewis, G Cornewall *Methods of Observation and Reasoning in Politics*, London 1852

——————, *Influence of Authority on Matters of Opinion*, London, 1875.

Lippmann, Walter, *Public Opinion*, 1922.

——————, *The Phantom Public*, New York, 1927.

Locke, John, *The Second Treatise of Government*, Ed, P Peardon, New York, 1952

Lord, A R, *Principles of Politics*, London, 1931

Loria, Achille, *The Economic Foundations of Society*, 1907

Lowell, *Public Opinion and Popular Government*

———, *Public Opinion in War and Peace*, 1923

Macdonald, Ramsay, *The Socialist Movement*, London, 1931

Machiavelli, Niccolo, *The Prince*, Ed by Vincent, London, 1952

MacIver, R M, *The Modern State*, New York 1932

— & Page C H, *Society An Introductory Analysis*, London, 1957

Maitland, *Collected Papers*, Vol I.

Marriott, *The Mechanism of the Modern State*,

Martin, Kingsley, *French Liberal Thought in the Eighteenth Century*, London, 1929

Marx, Karl, *Selected Works in Two Volumes*, Moscow, 1951-52

————, *Poverty of Philosophy*, Moscow, n d

————, *The Critique of the Gotha Programme*, Moscow, 1952

————, *Capital*, Vol I London, 1949.

——————, *German Ideology*, Calcutta, n d

— & Engels, Fredrick, *Historical Materialism*, Bombay, 1946.

——————, *Correspondence*, Calcutta, 1945

——————, *Manifesto of the Communist Party*, Moscow, 1948.

Maxey, C. C. *Political Philosophies*

McIlwain, *The Growth of Political Thought in the West*, London, 1932.

Mc Intosh, James, *Law of Nature and Nations*, 1950

Mendlovitz, S H, *Legal and Political Problems of World Order*, New York, 1962.

Merriam, C E, *History of Theory of Sovereignty since Rousseau*, 1900.

——————, *New Aspects of Politics*, New York, 1925

—— & Barnes, *A History of Political Theories, Recent Times*, New York, 1932

Mill, J S., *System of Logic*, 8th Edition, 1900

————, *Utilitarianism, Liberty and Representative Government*, Ed, Dr Lindsay, London, 1931.

Munro, W B, *The Governments of Europe*, New York.

——————, *The Government of the United States*, 1946,

Muir, Ramsay, *How Britain is Governed?*, London, 1933

——————, *The Socialist Case Examined*, London,

Myrdal, Gunner, *Beyond the Welfare State*, London, 1960.

Oakeshott, *Hobbes's Leviathan*, Editor, Oxford,

Panikkar, K. M, *The Afro-Asian States and their Problems*, London, 1959.

Parsons, Talcott, Shils, E A, and Tolman, Edward C, *Towards a General Theory of Action*, 1951.

Penneck J R, & Smith D G *Political Science. An Introduction*, New York, 1961.

Pfiffner, J M, & Presthus, R Y, *Public Administration*, New York, 1953

Phillimore, Robert, *International Law*, 2nd Edition, London, 1871.

Pollock, Frederick, *An Introduction to the History of the Science of Politics*, London, 1918.

————, *First Book on Jurisprudence*, 2nd Edition,

Popper, Karl, *The Open Society and Its Enemies*, New York, 1950

Ritche, G D, *Natural Rights*, 2nd Edition, New York, 1903

Rivers, *Psychology and Politics*, London, 1923

Robson, W. A, Editor, *The University Teaching of Social Sciences Political Science*, Unesco, 1954

————, *Justice and Administrative Law*

Rodee, C C, & Christol, *Introduction to Political Science*, New York, 1957.

Roucek J S, Ed, *Twentieth Century Political Thought*, 1948

Rousseau, J J, *Social Contract*, Ed. by G D H. Cole, London, 1935.

Russell, Bertrand, *Roads to Freedom*, Allahabad, 1946

Sait, E M, *Political Institutions* A Preface, New York 1838.

Salmond, John, *Jurisprudence*, 8th Edition, Ed. by C A V. Manning, London, 1930

Sabine G. H, *A History of Political Theory*, New York, 1957.

————, राजनीति का दर्शन, Trans by Vishwa Prakash Gupta, Delhi, 1964

Samuel, Herbert, *Practical Ethics*, London, 1935.

Schuman, F L, *International Politics*, New York, 1933.

————, *International Politics*, New York, 1948

Seeley, John S, *Introduction to Political Science*, London, 1923

Sidgwick, Henry, *The Elements of Politics*, London, 1908.

————, *The Development of European Polity*, London, 1920

Sinclair, T A., *A History of Greek Political Thought*, London, 1959

Siegfried, Andre, *America Comes of Age*, 1927.

Soltau, Riger H, *An Introduction to Politics*, London, 1952

Stace, *Philosophy of Hegel*,

Stalin, Joseph, *National Question and Leninism*, Moscow, 1950.

——————, *Concerning Marxism in Linguistics* New Delhi, 1953

Strong, C F, *Modern Political Constitutions*, London, 1937

Tara Chand, Ed., *History of Freedom in India*, Vol I, New Delhi, 1961

Tawnery, R. H, *Equality*,

Tocqueville, de, *Democracy In Action* Trans, by Reeves,

Vyshinsky, Andrei Y, *The Law of the Soviet State*, New York, 1954

Wallas Graham, *Human Nature in Politics*, 3rd Edition, London, 1924

Wayper, *Political Thought*

Webb, Beatrice, *My Apprenticeship*, London 1926.

Weldon, T D *The Vocabulary of Politics, Penguin*, 1955.

Wheare, K C *Federal Government*,

Wilde, E N, *The Ethical Basis of the State.*

Willoughby, W W., *An Examination of the Nature of Politics*, New York 1919

Willoughby, W, F, *Principles of Public Administration*, Allahabad, 1952

Willoughby, *The Government of Modern State*,

Wilson, F G, *The Elements of Modern State*, New York, 1936

Wilson, Woodraw, *The State*,

Young, Kimble, *Social Psychology*, 1930

Young, Ronald, Ed, *Approaches to the Study of Politics*, London, 1957.

Zimmern, Alfred E, *Nationality and Government*, London, 1919.

————, Ed, *Modern Political Doctrines*, London, 1939.

भारत सरकार के वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की मानक ग्रंथ योजना के अन्तर्गत हिन्दी माध्यम मण्डल, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित व निकट भविष्य में प्रकाशित होने वाली कुछ अन्य पुस्तकें :—

प्राचीन भारत का इतिहास—

लेखक—डा० ओम् प्रकाश,
प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
किरोड़ी मल कॉलिज, दिल्ली विश्वविद्यालय।

आधुनिक शासन् प्रणालियाँ—

लेखक—श्री कृष्ण कान्त मिश्र,
प्राध्यापक, राजनीति विभाग,
हिन्दू कॉलिज, दिल्ली विश्वविद्यालय।

यूरोप का इतिहास—

लेखक—डा० किशोरी सरन लाल,
रीडर, इतिहास विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय।

हिन्दी माध्यम मण्डल, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।